श्री ॐ

राजस्थान मंच प्रकाशन

डॉ॰ रामानन्द तिवारी

अभिनन्दन ग्रंथ



सम्पादक

दुबे उमादत्त अनजान



मंच

राज्य की यशोगाथा बिम्ब और सम्भावनाओं के संकल्प

राजस्थान मंच

का प्रकाशन

डॉ० रामानन्द तिवारी
अभिनन्दन ग्रंथ

सम्पादक

दुबे उमादत्त अनजान

□

प्रकाशक :
राजस्थान मंच
जे १/२, से० १३,
राम कृष्ण पुरम, नई दिल्ली-११००२२

□

प्रथम संस्करण

□

मूल्य : एक सौ रुपये (१००-०० रु०)

□

मुद्रक :
श्री श्याम सुन्दर गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
औद्योगिक क्षेत्र, नारायणा भाग-२
नई दिल्ली-११००२८

A RAJASTHAN MANCH PUBLICATION
DR. RAMANAND TIWARI ABHINANDAN GRANTH
Editor
DUBEY UMA DUTT ANJAN

डॉ० रामानन्द तिवारी अभिनन्दन ग्रन्थ

मान्यार्थ प्रति

सादर भेंट ।

सम्पादक

दुबे उमादत्त अनजान

प्रकाशक

राजस्थान मंच

दिल्ली, कानपुर, बम्बई, जयपुर

डॉ० रामानन्द तिवारी

* अभिनन्दन ग्रंथ समिति *

संरक्षक

झाबर मल्ल शर्मा

अध्यक्ष

त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी

उपाध्यक्ष

डॉ० ज्ञान प्रकाश पिलानिया

नाथूलाल जैन   काशीराम शर्मा

सदस्य

कलानाथ शास्त्री, डॉ० आनन्द स्वरूप पाठक, प्रेमचंद्र गोयल

कृष्ण कुमार भटनागर, मोहन लाल मधुकर

राम कृष्ण शर्मा, गोपाल प्रसाद मुद्गल, श्याम सुन्दर शर्मा

सम्पादक : मुख्य संयोजक

दुबे उमादत्त अनजान

समर्पण

राजस्थान मंच की गतिविधियों का मैं प्रशंसक तथा सहयोगी रहा हूं। मंच ने पंडित झाबर मल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन तथा राजधानी में इसका समारोह पूर्वक समर्पण करके एक स्तुत्य कार्य किया है। इस बार जब मंच ने प्रसिद्ध साहित्यकार, दर्शन व शिक्षा शास्त्री और मनीषी विचारक डॉ० रामानन्द तिवारी को सम्मानित करने के लिए अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन-समर्पण की योजना बनाई तो मुझे इस आयोजन से जुड़ने में हार्दिक प्रसन्नता हुई।

डॉ० तिवारी व उनके साहित्य से मेरा पूर्व परिचय रहा है। मैं उनकी नवनीतम कृतियों का पाठक रहा हूं और उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों के प्रति सम्मान रखता हूं। निश्चय ही वे अभिनन्दनीय हैं। उन्होंने कृपापूर्वक यह भेंट स्वीकार कर हमारा मान बढ़ाया है। मैं भारतीनन्दन जी का सादर अभिवादन, अभिनन्दन करता हूं।

राजस्थान के राज्यपाल महामहिम शर्मा साहब का कृतज्ञ हूं जिन्होंने ग्रंथ समर्पण समारोह में पधार कर हमारा गौरव बढ़ाया है। मैं राज्यपाल महोदय का अपनी ओर से तथा राजस्थान मंच व भरतपुर वासियों की ओर से हार्दिक स्वागत व अभिनन्दन करता हूं।

मेरा विचार है कि डॉ०.तिवारी जैसे निस्पृह साधकों का सम्मान हमारा नैतिक दायित्व है। राजस्थान मंच तो ऐसे संकल्प से बंधा ही हुआ है फिर भी अभिनन्दन ग्रंथ की तैयारी और मुद्रण बहुत श्रम साध्य कार्य हैं और मैं यह मानता हूं कि यदि मंच को डॉ० ज्ञान प्रकाश पिलानिया का सक्षम नेतृत्व और श्री दुबे उमादत्त अनजान की निष्ठा और कर्मठता प्राप्त न होती तो हमें इस ग्रंथ के दर्शन न हो पाते। मैं इन दोनों मित्रों का आभारी हूं।

कुछ विशिष्ट कारणों से हमें यह आयोजन भरतपुर में करना पड़ रहा है। भरतपुर पिछले अनेक वर्षों से डॉ० तिवारी की कर्मभूमि रहा है और उन्हें इस क्षेत्र के लोगों की अपार श्रद्धा प्राप्त है। निश्चय ही यहां के लोग इस समारोह से आत्मीयता अनुभव करेंगे। जिन सज्जनों ने डॉ० रामानन्द तिवारी अभिनन्दन ग्रंथ समर्पण समारोह को सफल बनाने में सक्रिय योगदान दिया है वे सभी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं ग्रंथ के सम्पादक, सभी लेखकों तथा उन अन्य लोगों का आभार मानता हूं जिन्होंने अपने पाण्डित्य, परिश्रम और सहयोग से मंच को कृतकार्य किया है।

अन्त में, मैं ग्रंथ के साहित्य प्रेमी मुद्रक श्री श्याम सुन्दर गर्ग को धन्यवाद देना चाहता हूं जिन्होंने बड़े उत्साह और श्रम पूर्वक ग्रंथ का सुन्दर मुद्रण किया है।

—**त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी**
सभापति अभिनन्दन ग्रंथ समिति

अभिनन्दन

राजस्थान मंच सही अर्थ में राज्य की यशोगाथा, बिम्ब और सम्भावनाओं का संकल्प है। मच ने अपने शैशव काल से ही राष्ट्रीय स्तर के आयोजन आरम्भ कर दिए थे। पहला उल्लेखनीय आयोजन था, फरवरी, १६७० में महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की स्मृति में शताब्दी समारोह। यह राजस्थान में भी उपेक्षित हो रहे डिंगल-पिंगल के साहित्य के प्रति तो राजस्थान मंच की समुचित श्रद्धांजलि थी ही, विस्मृत हो रहे उस महाकवि को राष्ट्रीय स्तर पर पुनः प्रतिष्ठित कराने का भी एक सफल प्रयत्न था।

जहां मंच द्वारा समय-समय पर आयोजित "परिचय गोष्ठियों" के माध्यम से राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों की प्रतिभाओं का सम्मान एक स्तुत्य प्रयास रहा है वहीं इसके द्वारा अनेक रचनाकारों की महत्वपूर्ण कृतियों के विमोचन समारोह भी अत्यधिक चर्चित कार्यक्रम रहे हैं।

राजस्थान के विभिन्न अंचलों की यात्रायें मंच का एक अर्थपूर्ण उद्देश्य रही हैं। मंच परिवारा द्वारा की जाने वाली ये यात्रायें अंचल विशेष की विशेषताओं और प्रतिभाओं से परिचित कराती हैं और मंच को इन क्षेत्रों की विरल विभूतियों के सम्मान का सुअवसर प्रदान करती हैं।

१६७५ में मंच की एक ऐसी ही यात्रा का परिणाम था "पंडित झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ" द्विवेदी युग के प्रतिष्ठित पत्रकार और ओझा युग के उत्कृष्ट इतिहासकार, साहित्य वाचस्पति पंडित झाबर मल्ल शर्मा की गरिमा के अनुरूप प्रकाशित उक्त ग्रंथ जहां उन वयोवृद्ध विद्वान के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचायक है वहीं वह राज्य के साहित्य, कला, संस्कृति, इतिहास, पत्रकारिता और प्रगति आदि अनेक पक्षों पर प्रभूत प्रकाश डालने वाले वरेण्य विद्वानों, विदुषियों के उत्कृष्ट लेखों का संग्रह भी है। स्वयं पंडित जी की प्रतिनिधि रचनाओं ने इसकी गौरव वृद्धि की है।

राजस्थान मंच से मेरा परिचय इसी ग्रंथ की तैयारी व भेंट किए जाने की अवधि में हुआ। मेरी दृष्टि में मंच कोई संस्था न होकर एक परिवार है। इसके सभी कार्यक्रम पवित्र भावनाओं से प्रेरित होते हैं और सर्मपित साधना से पूर्ण। राजस्थान मंच को डॉ० लक्ष्मी मल्ल जी सिंघवी, श्री त्रिलोकी नाथ जी चतुर्वेदी, पंडित काशीराम जी शर्मा और श्री नाथू लाल जी जैन जैसे अध्यक्षों का आशीर्वाद और मार्ग-दर्शन तथा भाई अनजान जी जैसे निष्ठावान संचालक की सेवाओं का सुयोग प्राप्त रहा है। इन सभी लोगों ने मिलकर मंच को यशस्वी बनाया है। मैं भी इस परिवार में सम्मिलित होकर गौरवान्वित हुआ हूं।

अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से बहुचर्चित और सम्मानित डॉ० रामानन्द जी तिवारी भारतीनन्दन को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करने का निर्णय मेरे द्वारा राजस्थान मंच का अध्यक्ष पद ग्रहण करने से पूर्व वाले सत्र में लिया जा चुका था। इसका क्रियान्वयन इस सत्र में होना था। यों आदरणीय तिवारी जी के अभिनन्दन के औचित्य के विषय में तो दो मत हो ही नहीं सकते किन्तु अभिनन्दन ग्रंथ की तैयारी और फिर समर्पण समारोह के आयोजन में कितना समय, श्रम और व्यय लगता है, इसके अनुमान से मैं किंचित संकोच में पड़ गया यद्यपि मैं मंच के संस्थापक-संचालक श्री अनजान की कार्य-कुशलता और लगनपूर्ण श्रमशीलता से परिचित हूं तथापि अध्यक्ष के नाते, एक ओर अपने कर्तव्य पालन की भावना और दूसरी ओर दिल्ली से दूरी व अर्थ संग्रह की अपनी सीमाओं से भी अपरिचित नहीं था। पर जब मुझे यह बताया गया कि ग्रंथ के लिए अधिकांश सामग्री एकत्र कर ली गई है तथा मेरे वरिष्ठ और घनिष्ठ मित्र श्री भागीरथ राय जी विश्नोई की सहायता से ग्रंथ के लिए कागज खरीदा जा चुका है और इस आयोजन को

पंडित त्रिलोकी नाथ जी चतुर्वेदी का भी आशीर्वाद मिल चुका है तो मुझे श्री अनजान द्वारा चुकाए जाने वाले इस गुरु ऋण को स्वीकृति देने में विलम्ब नहीं हुआ।

अब ग्रंथ पूरा हो चुका है तथा हम उसे समारोह पूर्वक डॉ० तिवारी को भेंट भी कर रहे हैं तथापि मैं नहीं जानता कि वह उनकी गरिमा और हमारी आकांक्षाओं के अनुरूप बन पड़ा है या नहीं। जहां तक उसकी सामग्री का प्रश्न है वह ग्रंथ का मान बढ़ाने वाली है पर सीमित साधनों के कारण हम इसमें डॉ० तिवारी के साहित्य का पर्याप्त परिचय नहीं दे पाए हैं। मैं यह अवश्य कहना चाहता हूं कि जहां बहुविध सहायता और सहयोग देने वाले सज्जनों ने मंच के इस आयोजन को सफल बनाया है वहीं यदि अन्य क्षेत्रों से भी हमें आवश्यक सहायता उपलब्ध हो सकती तो ग्रंथ को और विशाल, उपयोगी तथा सुन्दर बनाया जा सकता था।

डॉ० रामानन्द तिवारी जी 'भारतीनन्दन' केवल दर्शन के अध्यापक नहीं हैं। वे सच्चे दार्शनिक, एकान्त सेवी साधक और योगी हैं। पर उनकी एकान्त सेवा निवृत्ति मार्गी नहीं है। वे पूर्ण प्रवृत्ति मार्गी हैं, इस दृष्टि से कि वे राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों से कभी विमुख नहीं रहे हैं। वे अध्यापक रहे हैं और उस अवधि में गुरु के दायित्वों का पूरा वहन करते रहे हैं। सच्चा गुरु केवल ग्रंथों का अध्यापन नहीं कराता। वह अपने शिष्यों के चरित्र का निर्माण करता है, राष्ट्र के प्रति उनके दायित्वों का बोध कराता है, समाज के प्रति कर्त्तव्यों के पालन की सहज प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। यह सब दायित्व डॉ० तिवारी ने प्रभूत मात्रा में निभाया है। इसीलिए जहां जहां डॉ० तिवारी रहे हैं, वहां-वहां के लोग उन्हें विस्मृत नहीं कर सकते।

डॉ० तिवारी आत्म-प्रदर्शन और अहंकार प्रदर्शन से दूर रहते हैं पर कदाचित् उन्होंने अपने 'आत्म' और 'अहं' को राष्ट्र के 'आत्म' और 'अहं' से एकीकृत कर दिया है। भारतीय राष्ट्र की गरिमा, भारतीय संस्कृति की वरिमा और भारतीय दर्शनों की महिमा प्रकाश में लाने के प्रयत्नों में वे सदा दत्त-चित्त रहे हैं और इसीलिए उनकी रचनाओं में भारत के गौरव का स्वर प्रधान है।

काव्य और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी डॉ० तिवारी की देन स्मरणीय है। 'पार्वती' महाकाव्य जैसी प्रौढ़ रचना उनके कवित्व के उच्च स्तर की निदर्शक है तो काव्यशास्त्र सम्बन्धी उनकी रचनायें काव्य के आदर्शों को प्रकट करने में पूर्णत: सफल हैं।

संस्कृति की दिशा में भी डॉ० तिवारी की देन कम नहीं है। उनकी कृति 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में कला एवं काव्य का विवेचन संस्कृति की भूमिका में ही किया गया है। पार्वती महाकाव्य की पृष्ठभूमि भी सांस्कृतिक ही है। संस्कृति विषयक कुछ निबन्धों का संग्रह 'शिक्षा और संस्कृति' नामक ग्रंथ में द्रष्टव्य है। 'हमारी जीवन्त संस्कृति' नामक ग्रंथ में सांस्कृतिक पर्वों और प्रतीकों का उल्लेख है।

जैसा कि ऊपर विवेचन कर चुका हूं डॉ० तिवारी सही अर्थ में शिक्षक हैं। वे सही अर्थ में शिक्षाशास्त्री भी हैं। शिक्षण की शैली और पद्धति के विषय में उनके विचार बहुत स्पष्ट हैं। सार यह कि इस एकान्त साधनारत विद्वान ने एकान्त साधना अपने विचारों को लेखबद्ध करने के लिए की है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि इस उत्कृष्ट लेखक की रचनाओं को मान्यता प्राप्त हुई है। साहित्य अकादमी जैसी संस्थाओं ने डॉ० तिवारी को पुरस्कृत-सम्मानित कर अपने कर्त्तव्य का पालन किया है।

मंच ने ऐसे सुयोग्य विद्वान का अभिनन्दन के लिए चयन किया, इसके लिए मंच के तत्कालीन अधिकारी बधाई के पात्र हैं।

"डॉ० रामानन्द तिवारी अभिनन्दन ग्रंथ" राजस्थान के राज्यपाल महामहिम श्री कल्याण दत्त जी

शर्मा साहब के कर कमलों द्वारा महाकवि को भेंट किया जा रहा है, यह हमारे गौरव का विषय है। सम्माननीय अतिथि स्वयं बहुत बड़े विद्वान हैं और विधि तथा प्रशासन के साथ-साथ साहित्य, संस्कृति और धर्म जैसे विषयों में उनकी गहरी पैठ है। मैं उनका स्वागत, अभिनन्दन करता हूं।

माननीय श्री त्रिलोकी नाथ जी चतुर्वेदी ग्रंथ समिति के अध्यक्ष तो हैं ही वे मंच के संरक्षक और इस आयोजन के प्रेरणा स्रोत भी हैं। वे विविध विषयों के प्रकाण्ड पंडित हैं और विद्वानों के सम्मान में अत्यधिक रुचि रखते हैं। यह श्रीमान की ही कृपा का फल है कि आज हम अपने कार्य का संतोष पूर्वक समापन कर रहे हैं। चतुर्वेदी साहब की कृपा के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

डॉ० तिवारी के साहित्य का मूल्यांकन करने वाले तथा उनके व्यक्तित्व का परिचय देने वाले सभी लेखकों, लेखिकाओं का आभार मानना मेरा पुनीत कर्तव्य है। उनके सहयोग के बिना यह ग्रंथ इतना महत्वपूर्ण और उपयोगी नहीं बन सकता था।

ग्रंथ के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने में सहायता के लिए डॉ० शकुन्तला रानी तिवारी का परिश्रम, सौजन्य और सहयोग उल्लेखनीय रहा है। मैं उनका हार्दिक आभार मानता हूं।

ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोग के लिए सेठ संतोषी लाल जी गोयल तथा पंडित द्वारिका प्रसाद जी शर्मा के नामों का उल्लेख करना चाहता हूं। साथ ही भरतपुर के वे सभी महानुभाव जिन्होंने समर्पण समारोह के भव्य आयोजन में तत्परता पूर्वक सफल सहयोग दिया है मंच के धन्यवाद के पात्र हैं। मेरा आभार।

अभिनन्दन ग्रंथ के सम्पादन, प्रकाशन, मुद्रण और समर्पण समारोह सभी की व्यवस्था में एक नाम अवश्य जुड़ा है और वह है दुबे उमादत्त अनजान। ये सभी दायित्व उन्होंने पूर्ण सफलता से निभाये हैं। अत: उनसे अधिक धन्यवाद का पात्र कौन हो सकता है। वे मंच के प्रधान संचालक हैं और तिवारीजी के शिष्य भी। यह कार्य उनकी मनोकामना भी था और कर्तव्य-पालन भी। वे हमारी बधाई के पात्र हैं। मैं उनका हृदय से अभिनन्दन करता हूं।

मुद्रक सामान्यत: व्यवसायी होते हैं पर इस ग्रंथ के मुद्रक श्री श्याम सुन्दर गर्ग साहित्य प्रेमी हैं और साहित्यकारों के प्रति श्रद्धालु। "आप अपना संकल्प तो पूरा कीजिए, मुद्रण का पारिश्रमिक फिर देखा जाएगा" ऐसा वाक्य है जो किसी साधारण मुद्रण व्यवसायी के मुंह से नहीं निकल सकता। ऐसे उदारमना मुद्रक श्री गर्ग भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में किन्तु सर्वाधिक आभार मैं प्रणम्य महाकवि भारतीनन्दन जी का मानता हूं जिन्होंने राजस्थान मंच का अभिनन्दन स्वीकार कर हमारा गौरव और मान बढ़ाया है। उन जैसे महान साहित्यकार और मनीषी विचारक के लिए अभिनन्दन ग्रंथ जैसी भेंट विशेष महत्व नहीं रखती किन्तु इससे मंच की महत्वाकांक्षा पूरी हुई है। यह हमारे सौभाग्य और संतोष का विषय है।

मुझे प्रसन्नता है कि यह पुण्य कार्य इसी सत्र में सम्पन्न हो रहा है और कदाचित श्री अनजान की अभिलाषा भी यही थी।

—ज्ञान प्रकाश पिलानिया

सम्पादकीय

बचपन में हस्तलिखित दैनिक-पत्र "अग्रदूत" से लेकर, कालेज पत्रिकाओं तथा विशेष अवसरों पर अनेक संस्थाओं व आयोजनों द्वारा प्रकाशित स्मारिकाओं के सम्पादन तो खिलवाड़ ही कहे जाएंगे किन्तु मंच के पिछले प्रकाशन पंडित झाबर मल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ के सम्पादन में एक सक्रिय सहकर्मी की भूमिका इस क्षेत्र में मेरी उपलब्धि की पृष्ठ भूमि मानी जा सकती है। सम्पादन कार्य कितना ज्ञान, श्रम, समय और मनोयोग चाहता है यह मैं उक्त ग्रंथ के प्रधान सम्पादक पंडित काशीराम जी शर्मा की लगन, विद्वत्ता और सम्पादन-कुशलता से जान पाया हूं।

यों निर्णय यही था कि डॉ० रामानन्द तिवारी अभिनन्दन ग्रंथ का सम्पादन भी शर्मा जी ही करेंगे किन्तु पारिवारिक और कुछ अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में अपनी उलझनों और व्यस्तता के कारण उन्हें इस निमित्त पर्याप्त अवकाश नहीं मिल पा रहा था अतः मुझे ही यह काम सम्भालना पड़ा।

यहां पर इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में मुझे निरन्तर उनका मार्ग दर्शन, परामर्श और सहयोग प्राप्त होता रहा है। यों भी उनके द्वारा स्थापित मानक के सहारे इस ग्रंथ को पूरा करने में सहायता मिली है अतः मैं उनका ऋणी हूं।

जैसा मैंने कहा खण्डों के क्रम निर्धारण और रचनाओं को क्रम देने की बहुत कुछ प्रक्रिया पूर्व प्रकाशन के आधार पर रही है। खण्डों के नाम भी वही हैं किन्तु इनमें कुछ आंशिक परिवर्तन उपयोगी जान पड़े हैं।

सुमनांजलि में पद्यबद्ध रचनाएं पहले रखी गई हैं और संदेशादि बाद में। इनमें भी पहले देववाणी को स्थान दिया गया है। इस खण्ड की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसके सभी रचनाकार डॉ० तिवारी के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हैं।

व्यक्तित्व खण्ड में सत्रह लेख हैं। आरम्भ के तीन लेख क्रमशः संस्कृत, हिन्दी व अंग्रेजी में हैं और उनमें डॉ० तिवारी के बारे में पर्याप्त जानकारी मिलती है। शेष लेखों को मैंने कालक्रमानुसार रखा है अर्थात लेखकों ने डॉ० तिवारी को जिस क्रम (वय) से जाना, इस दृष्टि से। साथ ही इन लेखों के माध्यम से मैं डॉ० तिवारी के व्यक्तित्व के हर रूप, पक्ष का परिचय दिला पाने के लिए प्रयत्नशील रहा हूं। इन लेखों में आपको उन्हें विद्यार्थी, बाल सखा, कालेज के सहपाठी, मित्र, पति, पिता, गुरु और स्वजन रूप में जानने का अवसर मिलेगा।

कृतित्व खण्ड में वास्तव में डॉ० तिवारी की रचनाएं नहीं अपितु उनकी रचनाओं के विषय में विशिष्ट लेख हैं। कृतित्व खण्ड के माध्यम से डॉ० तिवारी के साहित्य की विविध विधाओं तथा क्षेत्रों के वैशिष्ट्य का परिचय कराना मेरा अभीष्ट रहा है। इस खण्ड के सभी लेख विशिष्ट विद्वानों व विदुषियों द्वारा डॉ० तिवारी के सम्बन्धित साहित्य के गहन अध्ययन और अनुशीलन के पश्चात लिखे गए हैं। इस निमित्त इन सभी को काफी समय और श्रम व्यय करना पड़ा है। इन लेखों से इस ग्रंथ की उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ी है। अतः मैं इन लोगों का विशेष आभारी हूं। कृतित्व खण्ड के ये लेख डॉ० तिवारी की काव्य, समीक्षा, शिक्षा, दर्शन, चिन्तन, संस्कृति, कला और भाषा सम्बन्धी अनेक कृतियों के विषय में प्रामाणिक और व्यापक परिचय देते हैं। महाकाव्य पार्वती पर पांच लेख हैं जो हिन्दी की इस अद्वितीय और अनूठी रचना के भिन्न-भिन्न आयामों से परिचित कराते हैं। इनमें से अन्तिम "पार्वती"

के विषय में सुधी साहित्यकारों व प्रसिद्ध पत्रों, पत्रिकाओं की मूल्यवान सम्मतियों का सुन्दर संकलन है। डॉ० तिवारी द्वारा रचित अंग्रेजी पुस्तकों सम्बन्धी परिचय इस खण्ड का एक महत्वपूर्ण अंश है। "भारतीनन्दन एक विहंगम दृष्टि" वास्तव में डॉ० तिवारी के व्यक्तित्व और कृतित्व की संक्षिप्त झांकी है और अपनी शैली के कारण सरस व उपयोगी भी।

विविधा खण्ड में उन रचनाओं का संकलन किया जाना था जो अन्य खण्डों में नहीं दी जा सकती थीं यथा राजस्थान मंच के प्रतिनिधियों से डॉ० तिवारी का साक्षात्कार और डॉ० तिवारी की जन्मभूमि से सम्बन्धित एक लेख। अनेक बार डॉ० तिवारी ने राष्ट्रीय महत्व के अपने विचारों के सम्प्रेषण के लिए कुछ पत्र व पत्रिकाएं भी प्रकाशित की हैं। इन पत्रों (चिन्तन और परिप्रश्न) में लिखे गए उनके अग्रलेख भी विविधा खण्ड में शामिल कर लिए गए क्योंकि इनसे डॉ० तिवारी के पत्रकारिता जीवन की भी एक झलक प्राप्त होती है। साथ ही इस खण्ड में वे कुछ अन्य लेख हैं जिन्हें डॉ० तिवारी से विशेष आग्रह करके लिखवाया गया है। मेरी राय में इनसे इस ग्रंथ का मान बढ़ेगा।

ग्रंथ का मुद्रण आरम्भ होने के बाद कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हुई जो मूलतः विलम्ब के कारण और स्पष्टतः निर्धारित खण्डों के छप चुकने के कारण प्रकाशित नहीं की जा सकी है। इस बात का मुझे भी उतना ही खेद है जितना कि सम्बन्धित लेखक या लेखिका को हो सकता है। हां, विविधा खण्ड के छपते-छपते भी जो सामग्री मुझे मिल चुकी थी उसका भावना व गौरव दोनों ही दृष्टियों से मैंने इस खण्ड में उपयोग कर लिया है भले ही वह क्रम व स्थान की दृष्टि से अटपटी ही क्यों न जान पड़े। इनमें कुछ काव्य हैं और एक अंग्रेजी लेख। इस लेख के लेखक श्री त्रिलोकी नाथ जी चतुर्वेदी डॉ० तिवारी और उनके साहित्य से परिचित हैं और इस ग्रंथ के प्रेरणा स्रोत भी। राजकाज में अत्यधिक व्यस्त चतुर्वेदी साहब द्वारा यह लेख लिखा जाना, डॉ० तिवारी के प्रति आदर और मेरे प्रति स्नेह का भाव प्रकट करता है और इस निमित्त मैं उनका आभारी हूं।

साहित्य खण्ड में डॉ० तिवारी की रचनाओं के कुछ नमूने संकलित किए गए हैं। इस खण्ड का एक उद्देश्य डॉ० तिवारी की आरम्भ से अब तक की रचनाओं और उनके विषयों का परिचय देना रहा था पर कुछ सीमित स्थान में उनके विपुल साहित्य का अंशतः उल्लेख भी कहां सम्भव था। जो भी हो, उनकी पद्य व गद्य रचनाओं में से कुछ ऐसे उद्धरण संकलित किए गए हैं जो भाषा और विषय दोनों क्षेत्रों का संकेत देते हैं। इसमें कालक्रम का भी ध्यान रखने का प्रयत्न रहा है।

साहित्य खण्ड का आरम्भ डॉ० तिवारी की उन पद्य रचनाओं से होता है जो स्कूल, कालेज काल से लेकर पार्वती महाकाव्य व विगत दशक में रचित खण्ड काव्यों तक का परिचय देती हैं। ये आरम्भिक व किशोर रचनाएं ब्रजभाषा, खड़ी बोली तथा संस्कृत व अंग्रेजी में लिखी गईं थीं जब कि काव्यों के लिए विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया गया है। गद्य रचनाएं भी छात्र जीवन से आरम्भ हुई हैं जिनमें अंग्रेजी में लिखा उनका एक लेख एक फिलम की समीक्षा है जो प्रयाग के दैनिक लीडर में प्रकाशित हुआ था। इस संदर्भ के लिए हम उसके आभारी हैं। हिन्दी के तीन लेखों का सम्बन्ध क्रमशः दर्शन, काव्य, शिक्षा और संस्कृति से है जब कि अंग्रेजी लेखों में भारतीय दर्शन और संस्कृति विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

ग्रंथ में डॉ० तिवारी व उनके परिवार के कुछ चित्र, पार्वती का एक अंश (उनके हाथ से लिखा गया) तथा मेरे नाम लिखे गए एक पत्र की प्रतिलिपि प्रकाशित की गई है। डॉ० तिवारी के प्रकाशित व अप्रकाशित साहित्य की सूचियों से उनकी कृतियों के नामों, विषयों, भाषा व प्रकाशन/लेखन वर्षों की जानकारी मिलेगी।

ग्रंथ आज जिस रूप में आपके सामने है उसके लिए जिन लोगों का सक्रिय सहयोग मुझे मिला है उसकी चर्चा यहां आवश्यक है। इस कार्य में मेरी प्रेरणा के स्रोत रहे हैं, श्री त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी, डॉ० ज्ञान प्रकाश पिलानिया, पंडित काशीराम शर्मा तथा डॉ० आनन्द स्वरूप पाठक।

ग्रंथ के लिए अपनी कविताएं, संदेश और लेख भेजने वाले सभी विद्वानों और विदुषियों का आभारी हूं जिनकी कृतियों के संकलन से इस ग्रंथ को ग्रंथ बनने का सुयोग मिला और जिनकी भावनाओं और धारणाओं से डॉ० तिवारी का अभिनन्दन किया जा रहा है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन की (डॉ० तिवारी से) अनुमति दिलवाने से लेकर इसको अन्तिम रूप दिए जाने तक की प्रक्रिया में जिनका सर्वाधिक और उल्लेखनीय योगदान रहा है वे हैं मेरी परम आदरणीया गुरु पत्नी डॉ० शकुन्तला रानी तिवारी। यह उन्हीं के परिश्रम का प्रसाद है कि मैं ग्रंथ की तैयारी के लिए वांछित और आवश्यक सामग्री, संदर्भ, चित्रादि प्राप्त कर सका। पुस्तकों, पाण्डुलिपियों और फुटकर सामग्री की खोज, लेखन, टंकण और प्रेषण की सारी व्यवस्थाओं में उनकी सहायता मेरा सम्बल रही है। किन लोगों से मुझे किस विषय पर लेख मिल सकेंगे, लेखों के लिए क्या सामग्री आवश्यक होगी जैसे अनेक विषयों पर उनके मूल्यवान सुझावों व सक्रिय सहयोग ने मुझे सम्पादन कार्य में सुविधा प्रदान की है। उनकी इस कृपा में मुझे उस सेवा और तपस्या के दर्शन हुए हैं जिसे वे निरन्तर अपने दार्शनिक और साहित्यकार पति (डॉ० रामानन्द तिवारी) की साधना की सफलता के लिए करती आई हैं। उनकी सरलता और कर्मठता ने मुझे उनका आजन्म ऋणी बना दिया है। मैं उनकी प्रतिभा और लगन के समक्ष विनयावनत हूं। मेरे शब्दों में तो इतनी सामर्थ्य नहीं है जो उनके महान कार्यों का किंचित वर्णन भी कर सकें पर हां इसका एक अन्य उपाय मुझे अवश्य सूझा और वह उनके विषय में डॉ० तिवारी से हठ पूर्वक लिखवाया गया लेख "मेरी भामती मेरी गीता" जिसे मैंने विविधा खण्ड में प्रकाशित किया है। निश्चय ही यह उन जैसी सहृदय, कर्मठ और त्यागमयी नारी के प्रति एक अच्छी और सच्ची अभिव्यक्ति है। और अब इन पंक्तियों के माध्यम से मैं पुनः उस स्नेहमूर्ति और कल्याणी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

ग्रंथ के प्रूफ पाठ में मुझे अपने मित्रों श्री उमाशंकर श्रीवास्तव, श्री गुमान सिंह रावत व डॉ० हरियश राय के साथ-साथ अपनी बेटियों, कुमारी अर्चना दुबे तथा कुमारी अंजना दुबे से बहुत सहयोग मिला है। अर्चना व अंजना ने प्रेस कापी तैयार कराने में भी मेरा हाथ बटाया है। इन सभी के सहयोग के लिए आभारी हूं।

सहयोगियों की सूची में भले ही भाई श्याम सुन्दर जी गर्ग का नाम सबसे बाद में आ रहा है किन्तु वास्तव में ग्रंथ के सुन्दर व आकर्षक मुद्रण, उसके गेट अप की भव्यता तथा प्रेस सम्बन्धी अन्य कार्यों में उनका तत्पर सहयोग उल्लेखनीय योगदान रहा है। ग्रंथ की पूर्णता के लिए उनके प्रयत्न सराहनीय रहे हैं और उन्होंने इसे व्यवसाय मानकर नहीं सेवा मान कर किया है। मैं उनका आभारी हूं।

इन सब बातों के होते हुए भी ग्रंथ में कुछ भूलें अवश्य रह गई हैं। उनका दायित्व मेरा है और अपनी त्रुटियों के लिए मैं कोई बहाना नहीं खोजना चाहता, केवल इतना भर स्मरण कराना चाहता हूं कि मैं "अनजान" हूं।

—दुबे उमादत्त अनजान

विषय-सूची

सुमनांजलि

व्यक्तित्व

कृतित्व

विविधा

साहित्य

सादर अभिनन्दन

—बोधराज स्वामी

चकित राष्ट्र की दृष्टि मुग्ध मन जिसको रही निहार,
शिक्षा और साहित्य जगत का जो चर्चित चंदन है।
काव्य कला संस्कृति दर्शन का जो सशक्त उद्‌गाता,
मरुधरा के आंगन उभरा अति अपूर्व नन्दन है।
यह सच्चे साधक, शिक्षक के गौरव का सम्मान,
कविर्मनीषी विरल विभूति का विनम्र वंदन है।
"राजस्थान मंच" के द्वारा यह "अनजान" प्रयास,
सुकवि "भारतीनंदनजी" का सादर अभिनंदन है।

सुमनांजलि





डॉ० रामानन्द तिवारी "भारतीनन्दन"

महामहिम आचार्य

श्रीमदमृत वाग्भवाचार्याणां

आशीर्वचनम्

रामानन्दसुधीप्रणीतमतुलं श्रीराष्ट्रभाषामयं,
दृष्ट्वा ग्रन्थमुदारभावभरितं सत्यं शिवं सुन्दरम् ।
लप्स्यन्ते परमं धियाप्यमलया लोकाः पठिष्यन्ति ये,
आचार्योऽमृतवाग्भवः कथयते सत्यं शिवं सुन्दरम् ।।

'भारती-नन्दनाय' शुभाशंसा:

—कलानाथ शास्त्री

प्रयागभुवि दर्शनानि परिशील्य विद्यामठे,
तदौपनिषदीर्गिरः श्रमभरेण योऽधीतवान्,
ततः सुविमलं यशोऽलभत "पार्वती" काव्यतः
स जीवतु शतं समाः सुकवि-भारती-नन्दनः ।।

सत्यं शिवं च सुन्दरममृतमयं काव्यतत्त्वमन्विष्य ।
येनाऽस्माकं संस्कृतिरुद्भटवाचा विवेचिता सुचिरम् ।।
येनौपनिषद-दर्शन-तत्त्वान्या ऽऽ विष्कृतानि सद्ग्रन्थैः ।
उपनिषदामस्माकं सुविमृष्टा तदनु मूल्य-मीमांसा ।।
"सावित्री"-कथया यो गुरुतर-संस्कृतिमयानि गुम्फितवान् ।
तत्त्वान्यनुकरणीयैः काव्यपदैः खण्डकाव्यसरणिगतैः ।।
येन हि साम्ब-सदाशिव-दाम्पत्यं कार्तिकेय-जन्म तथा ।
सन्दृब्धं खलु हिन्दीभाषायां "पार्वती" महाकाव्ये ।।

रामानन्द-तिवारि-नाम विदितो यो दर्शनाम्भोनिधि-
हिन्दीकाव्यजगत्यपूर्वमहिमा सारल्यमूर्तिः स्वयम् ।
राजस्थानधरां चिरं विमलयत्वन्वर्थ काव्यामृतै—
रस्मत्प्रान्तसुधीसमूहतिलकोऽसौ भारतीनन्दनः ।।

इत्याशास्ते सततं देवर्ष्यवटङ्कभृद् विदां सेवी ।
मथुरानाथतनूजो रामानन्दोत्सवे कलानाथः ।।

रामानन्दतिवारी भारतीनन्दनः जयति

—काशीराम शर्मा

राजस्थानं धन्यं धन्यतरं वै भरतपुरं नगरम् ।।
मान्यं रामानन्दं सेवन्ते यत्र सच्छिष्याः ।।१।।
नंदस्य नन्दनेन प्राग्वन्दनीया कृता व्रजभूमिः ।।
दर्शनशास्त्रविदग्धो भारतीनन्दनोऽद्य पुनः कृतवान् ।।२।।
तिमिरहरो वै मिहिरो तनोति सर्वासु दिक्षु चालोकम् ।।
वाचस्पतिरिव विद्याऽऽलोकं वितनोत्यसौ विद्वान् ।।३।।
रीतिं वृत्तिं वृत्तं ध्वनिं रसं गुणं ह्यलंकारम् ।।
भावं स्वकीय काव्ये सुयोजयत्यसौ कविवर्यः ।।४।।
रचनानिपुणो धन्यः शास्त्रनिरूपणकुशलश्च धन्यतरः ।।
तीर्णो ज्ञानसमुद्रो येन विशालः स धन्यतमः ।।५।।
नंदनकाननमध्ये सुशोभते यथा देवदेवेशः ।।
दर्शनकाननमध्ये रामानन्दस्तथाहि वागीशः ।।६।।
नः सौभाग्यं सुतरां यदुद्यता वयं तस्य सम्माने ।।
जयतु सदा बुधवर्यः रामानन्दो महा महामान्यः ।।७।।
यत् पाठितास्तु शिष्यास्तिष्ठन्ति सुविस्तृते हि मरुदेशे ।।
तिष्ठतु तस्य सुकीर्तिस्त्रैलोक्ये सर्वदा सुतराम् ।।८।।

श्रीमतां विविधविद्योविद्योतमानमानसाम् नैकप्रबन्धनिर्माणसमुच्छलितसुयशः सिन्धूनाम् शील - सौजन्य - सदाचार - सुरभितदिङ् मण्डलानाम् विबुधवृन्दमण्डनायमानानाम् डॉ० रामानन्दतिवारी महानुभावानाम् शुभाभिनन्दनावसरे

—प्रभात शास्त्री

समुल्लासितः सुमनः परिमलोल्लासः

सा जयत्यर्थसन्दोहसूत्रसन्धानकौशले ।
काचिदाश्चर्यगुटिका कमलासनकामिनी ।।
तिवारी वारितानेकप्रतिवादिकदम्बकः ।
रामानन्दश्चिरंजीव्यात्काव्यानन्दतरङ्गितः ।।

रागं विद्यावधूनां निरूपधिकलयन् माधुरीं वाचि सिञ्चन्
नम्रः साधुष्वमन्दं दलितकलिमलः पार्वतीवर्णनाभिः ।
तिग्मांशुः शिष्यचेतस्तिमिरपरिहृतो वारिधिः सद्गुणानां
रीतिं नीतौ नियच्छन् शतमिह शरदां धीधनोऽयं धिनोतु ।।

वाग्देवताङ्घ्रि पंकजमधुनिस्यन्दानुरागिणं विबुधम् ।
सहृदयसुहृद्भिरुदितः सुखयतु वाचां समुल्लासः ।।

नन्दनो ह्यभिनन्द्यते

नन्दति भारती तस्या नन्दनो ह्यभिनन्द्यते ।
भावास्तेन गता व्यक्तिमानन्दो मुखरायते ।।

—डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा

भारतीनन्दन अभिनन्दन

—डॉ० फतहसिंह

असुंदर, अशिव, असत्य 'अनर्थ', जहां कहलाता आज 'यथार्थ'।
बुराई का विज्ञापन मात्र जहां है मानव का पुरुषार्थ।
'पार्वती' के कवि का है वहां बहुत ही श्लाघनीय वंदन।
सत्य, शिव, सुंदर के द्रष्टा! भारतीनंदन! अभिनन्दन ॥१॥

उपेक्षित उत्पथगामी देख युवाजन का जयन्त कर्तृत्व।
दिखाई सेनानी की दिशा सिखाया उसको निज दायित्व।
करे तारक-वध जिस पर बैठ, दिया वह उसे जैत्र स्यंदन।
सत्य, शिव, सुंदर के द्रष्टा! भारतीनंदन! अभिनंदन ॥२॥

देखकर संस्कृति के अवशेष हुये जो अर्थहीन निष्प्राण।
बनाया उनको पुनः समर्थ जगत् का करने नव-निर्माण।
तुम्हारा वह उर्वर मस्तिष्क, तुम्हारा वह मौलिक चिन्तन।
सत्य, शिव, सुंदर के द्रष्टा! भारतीनन्दन! अभिनन्दन ॥३॥

अपरिमित मानव-शिशु की शक्ति व्यक्त करने की सुंदर रीति।
सफल करके दिखलादी स्वयं, नई व्यावहारिक शिक्षा-नीति।
दिया नवनीत स्नातकों को क्षीरसागर का कर मंथन।
सत्य, शिव, सुंदर के द्रष्टा! भारतीनंदन! अभिनन्दन ॥४॥

तुम्हारी स्नेह-सिक्त वह दृष्टि, तुम्हारा आर्जवमय व्यवहार।
मरुस्थल में हरियाली तुल्य, कर रहा व्यापक पर-उपकार।
भर रहा कृतयुग की गागर, कर रहा कलियुग का खण्डन।
सत्य, शिव, सुंदर के स्रष्टा! भारतीनन्दन! अभिनन्दन ॥५॥

"त्याग, तप, सेवा, पावन प्रेम, बनें दाम्पत्य-दुर्ग-आधार।"
काव्यमय कान्तासम्मित सीख करी निज जीवन में साकार।
तुम्हारा ऋतुमय जीवन दिव्य करेगा जगती का मण्डन।
सत्य, शिव, सुंदर के स्रष्टा! भारतीनंदन! अभिनन्दन ॥६॥

सबल संबल शाकुन्तल प्रेम पा गई रामानन्दी दृष्टि।
मिल गया मंगलमय वरदान, रच गई अमर त्रिवेदी सृष्टि।
हुआ कृतकृत्य त्रिवर्ग स्वदेश धरा का करने को मण्डन।
सत्य, शिव, सुंदर के द्रष्टा! भारतीनन्दन! अभिनन्दन ॥७॥

...........सोने में सुहागौ है

— गोपाल प्रसाद मुद्गल

सूधौ सौ सुभाव पायौ भारती के नन्दन नें,
साहित सनेहीन कौं हिय अनुरागौ है ।
बानी के वरद पूत, जुटे जाके चारों ओर,
मनिका-मनन के मिलाइबे कौ धागौ है ।
ग्यान अरु सादगी संयोग हमें ऐसौ लगै,
ग्यान बोर बोर बिनै चासनी में पागौ है ।
जाकी गुन गरिमा कौ गान चहुं ओर करें,
"रामानन्द" काहै, भैया ! सोने में सुहागौ है ।।
चिन्तन की भाव भूमि पाई है धरोहर में,
साहित सृजन मन आठौं याम लागौ है ।
जाकी किरपा सौं "पारबती" कौ दरस मिल्यौ,
"सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्" भाव जागौ है ।
जहँ पै निवासु कियौ, तहँ पै प्रकास कियौ,
जाकौ तेज लख अँधियार भूत भागौ है ।
जाकी गुन गरिमा कौ गान चहुँ ओर करें,
"रामानन्द" काहै, भैया ! सोने में सुहागौ है ।
सोरौं में जनम लियौ, वीर भूमि कार कियौ,
लोहागढ़ अंचल के प्रानन समागौ है ।
उपजैं अनत औ अनत छवि लहैं, देखौ—
सरसुती साधना सौं चहुँदिसि छागौ है ।
गुटन सौं नहीं काम, काम जाकौ काम सौं है,
साधना में रत, देखौ पीछौ है न आगौ है ।
जाकी गुन गरिमा कौ गान चहुँ ओर करें,
"रामानन्द" काहै, भैया ! सोने में सुहागौ है ।।

तुम !

दुबे उमादत्त अनजान

तुम एक बीज संसृति के अक्षय वट के,
बन गए रेत की धरती की हरियाली ।
पा गए सहारा कितने भूले भटके,
वरदान बन गई जीवन दृष्टि निराली ।

तुम एक किरण उस अक्षय ज्योतिर्मय की,
जो बनी तेज की पुंज, ज्ञान की धारा ।
बन मंगलकारी प्रभा, अभय के नय की,
अनगिनत जनों का जिसने भाग्य संवारा ।

तुम अमित तेज की एक प्रबल चिनगारी,
जो बनी ज्योति की पावन परम शिखा है ।
शुचि ज्ञान शक्ति संयम की छवि सुखकारी,
कल्याण जगत का जिसमें सहज दिखा है ।

तुम एक बूंद हो उस रस के सागर की,
कविता को जिसने सचमुच सुधा बनाया ।
तुम अमर कथा हो सत्य शिवम् सुन्दर की,
जग को मंगल का जिसने पाठ पढ़ाया ।

तुम वही वर्ण हो चिर जीवन के स्वर के,
जो व्यक्त हुआ है ग्रंथों के प्रणयन में ।
उभरा है संचित ज्ञान कोश बन कर के,
शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, कला, दर्शन में ।

मानवों के भूप

—पाण्डेय भानुप्रसाद 'भानु'

व्रज में कवित्त कहे, गीत गाए छायावादी,
पार्वती जैसे महाकाव्य के रचैया हैं।
लेखक हैं स्वनाम धन्य, सत्यं शिवं सुन्दरम् के
विविध विषय भाषाओं के अद्‌भुत लिखैया हैं।
पालनहार संस्कृति के, दर्शन के अध्यापक,
सबके हितकारी सहज स्नेह के रखैया हैं।
राजस्थान अकादमी ने दिया है 'मनीषी' पद
'रामानन्द' सचमुच नाम सार्थक करैया हैं।
'छन्द' 'गीत' 'काव्य' रचे, 'रस' 'भाषा' 'कला' रुचे
'दर्शन' 'शिक्षा' 'संस्कृति' पर ग्रंथ लिखे अनूप हैं।
खण्ड काव्य 'सत्यकाम' 'चन्द्रगुप्त' 'तुलाधार',
'सावित्री' 'अहल्या' 'उमा' नारियों के रूप हैं।
'दर्शन की भूमिका', 'गीता' 'उपनिषदों' का ज्ञान,
'शिक्षा और संस्कृति', 'काव्य का स्वरूप' हैं।
महाकवि तत्व द्रष्टा, शिक्षा के अनूठे रत्न,
राजस्थान बस रहे, मानवों के भूप हैं।
"भारतीनन्दन" की प्रशंसा में लिखा यह कथ्य,
बासी औ रूखा तुच्छ जूठा-सा लगता है।
कोई भी महान कवि, अनुपम से अनुपम लिख,
कहे "हुआ पूरा" गर्व झूठा-सा लगता है।
सरल स्वभाव, वेश, ज्ञान का विशाल क्षेत्र,
भारतीय ठेठ, जो अनूठा सा लगता है।
उस हेतु लिखा इसे हस्ताक्षर कैसे कहूँ,
मुझको यह निरक्षर का अंगूठा सा लगता है।

बधाई

राजस्थान मंच प्रसिद्ध साहित्यकार और दर्शन शास्त्री डॉ० रामानन्द तिवारी के सम्मान में महत्वपूर्ण अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन कर रहा है। मैं राजस्थान मंच को इस निर्णय के लिए बधाई देता हूं और मंच की इन साहित्यिक एवम् सामाजिक गतिविधियों की सराहना करता हूं। मंच ने इससे पूर्व भी ऐसे आयोजन कर राजस्थान का गौरव बढ़ाया है। राजस्थान मंच के ये आयोजन सचमुच में राजस्थान की सांस्कृतिक धारा को आगे बढ़ाने के महत्वपूर्ण प्रयास हैं।

—मुख्य मंत्री राजस्थान

हार्दिक अभिनन्दन

परम प्रेमास्पद दुबे श्री पं० उमादत्त जी अनजान ! राजस्थान मंच ने भारतीय संस्कृति के विशिष्ट व्याख्याकार दर्शन शास्त्री, महाकवि डॉक्टर रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन, समर्पण का निर्णय लिया है—यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैं आपके इस सत्प्रयास की हृदय से सराहना करता हूं।

भारतीनन्दनजी का हार्दिक अभिनन्दन।

झाबरमल्ल शर्मा

भारतीनन्दन चिरायु हों

प्रिय अनजान, तुम्हारे सत्संकल्प के लिए बहुत-बहुत बधाई। हमारे भारतीनन्दन चिरायु हों और स्वदेश और विश्व की इसी प्रकार सेवा करते रहें। यही प्रभु से प्रार्थना है।

डॉ० फतह सिंह

यशस्वी विद्वान

यह बहुत ही हर्ष का विषय है कि राजस्थान मंच डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन कर रहा है। डॉ० तिवारी दर्शन के यशस्वी अध्यापक, सुप्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री एवं मनीषी साहित्यकार हैं। यह गौरव की बात है कि डॉ० तिवारी को उनकी रचनाओं के लिए राजस्थान साहित्य अकादमी, उत्तर प्रदेश व केन्द्रीय सरकार ने पुरस्कृत किया है। उन्हें डालमिया पुरस्कार भी प्रदान किया गया है।

मैं राजस्थान मंच को डॉ० तिवारी जैसे यशस्वी विद्वान के सम्मान में अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने के लिए बधाई देता हूं। मैं डॉ० तिवारी की दीर्घायु के लिए ईश्वर से कामना करता हूं।

—मोहनलाल सुखाड़िया

महान दार्शनिक

प्रिय अनजान, यों अपनी यशस्वी कृतियों, सरल व संत स्वभाव, निष्कपट और सहज व्यवहार, आदर्श स्वरूप और अनुकरणीय योजनाओं के कारण डॉ० रामानन्द जी तिवारी अभिनन्दनीय हैं ही, पर राष्ट्रीय स्तर पर उनका अभिनन्दन करके तुम भी एक अभिनन्दनीय सुकृत्य कर रहे हो, मेरी बधाई ।

उस महान दार्शनिक, विचारक, साहित्यकार और शिक्षक को मेरी हार्दिक शुभकामनाएं ।

—नन्दकिशोर पाठक

उल्लेखनीय अवदान

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है कि डॉ० रामानन्द तिवारी को एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है । विद्यालय प्रवेश के समय से ही मैं बालक रामानंद के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आश्वस्त था और आज शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्रों में उसके उल्लेखनीय अवदान से संतुष्ट और अभिभूत हूं ।

अपने सम्बन्ध के नाते मैं उस करुणावरुणालय से उसकी दीर्घायु तथा लोक-परलोक की समृद्धि के साथ-साथ भगवत्कृपा एवम् भगवद्भक्ति की प्रार्थना करता हूं ।

— हरिदास गंगाशरण शर्मा

राजस्थान के गौरव

मैं आरम्भ से ही राजस्थान मंच के आयोजनों का साक्षी और सहयोगी रहा हूं। मंच ने राजस्थान की संस्कृति व गौरवमय इतिहास को राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत करने के कई सफल प्रयास किए हैं। राज्य के विकास की विपुल संभावनाओं पर भी इसका ध्यान गया है। राजस्थान मंच द्वारा डॉ० रामानन्द तिवारी के अभिनन्दनार्थ एक ग्रन्थ प्रकाशित करने के कार्यक्रम का मैं स्वागत करता हूं और आयोजन की सफलता के लिए अपनी शुभ-कामनाएं प्रेषित करता हूं।

डॉ० तिवारी राजस्थान के गौरव हैं और उनकी साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में की गई सेवाएं अद्वितीय हैं। वे हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में साधिकार लिखते हैं और उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय कृतियों की रचना की है। राजस्थान साहित्य अकादमी ने डॉ० तिवारी को अपनी सर्वोच्च उपाधि "मनीषी" से अलंकृत किया है। भारतीय संस्कृति के व्याख्याता व हिन्दी के यशस्वी साहित्यकार और कवि के रूप में उन्हें अनेक पुरस्कारों द्वारा भी सम्मानित किया गया है।

मैं डॉ० तिवारी के प्रति अपना सम्मान प्रकट करता हूं व उनके चिरायु होने की मंगल कामना करता हूं।

—रामनिवास मिर्धा

महाकवि भारतीनन्दन

बन्धुवर अनजानजी, डॉक्टर रामानन्द तिवारी अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने की मंच की योजना हिन्दी सेवा की दिशा में आपका परम स्तुत्य कार्य है। महाकवि भारतीनन्दन जी का सम्मान हिंन्दी हित संवर्द्धन में एक सामयिक कदम है। हमारी ही उपेक्षावृत्ति से साहित्य के अनेक महारथी विस्मृति के गर्त में चले गए हैं और इससे हिंन्दी की अपूरणीय क्षति हुई है।

इन अभिनन्दन ग्रंथों के माध्यम से आप बड़ा काम कर रहे हैं। हमें आप पर गर्व है।

—वृन्दावन दास

संस्कृति के व्याख्याता

मानव समाज के इतिहास की एक निश्चित धारा है। सभ्यता और संस्कृति की इस धारा में प्रगति बनी रहे इसलिए समय-समय पर मानव समाज में ऐसे महापुरुष जन्म लेते रहे हैं जो भागीरथ प्रयास करके इस वेग को गतिमय बनाए रखते हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि, संस्कृति के व्याख्याता, दार्शनिक और शिक्षा शास्त्री श्री रामानन्द तिवारी की गणना इस कोटि के महापुरुषों में की जा सकती है। उनके व्यक्तित्व को समझने के लिए उनकी रचनाओं का अध्ययन और उनकी रचनाओं का साधारणीकरण करने के लिए उनके व्यक्तित्व का अध्ययन आवश्यक है। यह अभिनन्दन ग्रंथ इस प्रयास में निश्चय ही सहायक होगा।

मेरे मित्र शतायु हों और उनकी कीर्ति कौमुदी दिन दूनी रात चौगुनी प्रकाशित हो।

—सत्यप्रकाश वार्ष्णेय

महान शिक्षक

मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि हमारे मित्र डॉ० रामानन्द जी तिवारी के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है। डॉ० तिवारी सही अर्थ में एक महान शिक्षक हैं। एक सच्चा शिक्षक आजीवन विद्यार्थी रहता है। रामानन्द जी बराबर दर्शन, कविता, भारतीय संस्कृति आदि विषयों पर अध्ययन करते रहे हैं और अपने ज्ञान भण्डार द्वारा अपने विद्यार्थियों को लाभान्वित करते रहे हैं। ज्ञान भण्डार ही एक ऐसा भण्डार है जो 'वितरित' करने से परिपक्व ही नहीं होता वरन् बढ़ता है। रामानन्द जी ने समन्वय के सिद्धांत को अपने जीवन में पूरी तौर से उतारा है और इसलिए ही उन्होंने यह संभव कर दिखाया है कि जीवन के दिखावटी चमक-दमक के चलते-फिरते मूल्यों के बजाय साधना, प्रेम और संतोष का जीवन ही आंतरिक सुख प्रदान कर सकता है। इस सुअवसर पर हम अपने मित्र, सच्चे शिक्षक, कवि व 'योगी' रामानन्दजी का अभिनन्दन करते हुए ईश्वर से उनकी दीर्घायु की प्रार्थना करते हैं।

—मुकुट विहारी माथुर

सौम्यमूर्ति

प्रिय श्री अनजान जी, यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजस्थान मंच डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन पर अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित कर रहा है। डॉ० तिवारी भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान, सौम्य मूर्ति एवं सहृदय साहित्यकार हैं। उनके व्यक्तित्व में चिन्तन और काव्य का अद्भुत समन्वय हुआ है। आत्म प्रचार के इस युग में भी वे स्वांतः सुखाय के भाव से साहित्य और चिन्तन की साधना में रत रहे हैं। इस प्रकार के मनीषी के अभिनन्दन का निर्णय लेने के लिए आपको हार्दिक बधाई। ईश्वर डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन को दीर्घायु करें। उनके प्रति मेरी शतशत मंगलकामनाएं।

—गोकुल प्रसाद शर्मा

मनीषी साहित्यकार

राजस्थान मंच द्वारा सुप्रसिद्ध दर्शन शास्त्री और मनीषी साहित्यकार डॉ० रामानन्दजी तिवारी के सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन-समर्पण के अवसर पर, मैं अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

— रामनिवास लखोटिया

जाज्वल्यमान नक्षत्र

"डॉ० रामानन्द तिवारी हमारे प्रदेश और क्षेत्र के ही नहीं वरन् समस्त हिन्दी साहित्य जगत के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। उनका जीवन हिन्दी साहित्य एवं संस्कृति के प्रति एक समर्पित जीवन है। मेरा विश्वास है, उनकी कृतियां हमारे साहित्य में अमर रहेंगी और उनका योगदान हिन्दी साहित्य के लिए एक विशिष्ट देन माना जायेगा। मैंने अपने को इस योग्य तो कभी नहीं माना कि मैं सच्चे अर्थ में तिवारी जी का इतना स्नेह भाजन बन सकूं किन्तु उनकी स्वाभाविक उदारता और स्नेह की सीमा बहुत स्थिर थी। सदैव उन्होंने मुझे अपने स्नेहियों में माना और महाकाव्य 'पार्वती' और सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' से लेकर Unique India तक अपनी सभी कृतियों की एक प्रति मुझे भेंट की जिसका मैं और परिवार के सभी सदस्य सदैव आभारी रहेंगे। डॉ० रामानन्द तिवारी ने साहित्य और संस्कृति की वास्तविक सेवा की है। मैं उनका हृदय से अभिनन्दन करता हूं और ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वे दीर्घजीवी हों!"

—राजबहादुर

समर्पित साधक

वास्तव में अभिनन्दनीय व्यक्तियों का अभिनन्दन कर रहा है राजस्थान मंच। इस रूप में उसका चयन उच्च कोटि का और निष्पक्ष होता है। आज राजस्थान मंच द्वारा सम्मानित होना राष्ट्रीय गौरव की बात बन चली है।

ऐसे महत्वपूर्ण आयोजनों और सुरुचिपूर्ण ग्रंथों के प्रकाशन के लिए बधाई!

समर्पित साहित्यकार डॉ० तिवारी का हार्दिक अभिनन्दन।

— विश्वदेव त्रिवेदी

विरल विभूति

राजस्थान मंच सही अर्थों में एक राष्ट्रीय संगठन है। विभिन्न क्षेत्रों की मूर्धन्य प्रतिभाओं का सम्मान और अभिनन्दन, मंच की व्यापक दृष्टि और उदार भावनाओं का प्रमाण है। राज्य की महत्वपूर्ण उपलब्धियों से सम्पूर्ण राष्ट्र को परिचित कराने वाले उसके अद्वितीय आयोजन अत्यन्त सफल व यशस्वी हुए हैं। मेरी बधाई।

डॉ० तिवारी का अनेक क्षेत्रों में अद्भुत योगदान रहा है। वे मात्र भारतीय संस्कृति के व्याख्याकार ही नहीं, उसके युगानुकूल रचनाकार भी हैं। उनकी मौलिक उद्भावनाएं स्तुत्य हैं! उनका साहित्य विपुल और महान है। उनका आचरण अनुकरणीय है। ऐसी विरल विभूति को मेरा नमन है।

—'प्रेमी' खेमराज शर्मा

Foremost Author

I have known Dr. Ramanand Tiwari for quite a long time. Our first meeting took place at Kota (Rajasthan) where both of us had gone to join a marriage party. It was a coincidence that both of us started serving the cause of education at Jodhpur.

Dr. Tiwari at that time was a budding educationist, full of ideas and a bent of mind to put them in practice. He had a rare thorough command over Hindi and English. Ethics, culture and criticism were his favourite subjects,

Besides his doctoral thesis on Ethics of Shankaracharya and a few other books of Philosophy, Dr. Tiwari published his monumental epic PARVATI in Hindi based on the story of Shiva Parvati and Kumar Kartikeya. Parvati earned a good name for him and many prizes too.

Now a perusal of some of his master works, both in Hindi and English, shows clearly that the bud has assumed the form of a blossom. We find him among one of the foremost authors of our country.

I wish Dr. Saheb to live long to serve goddess Saraswati through his facile pen and a mature mind for a long time to come. I have a right to express this wish being his senior at least in age by nine years.

—N. K. Sharma

आशीर्वाद

प्रियवर ! आप भारतीनन्दन जी का अभिनन्दन कर रहे हैं यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ। उन्हें भेंट करने के लिए एक अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है यह उचित ही है। जिस मनीषी ने दर्शन साहित्य और शिक्षा जगत को इतने अमूल्य महत्वपूर्ण और विशाल ग्रंथ भेंट किए उसे हम सम्मानित न करें यह कृतघ्नता ही होती। आपका आभार।

वयोवृद्ध होने के कारण मैं तिवारी जी को आशीर्वाद देता हूं। वे यशस्वी और दीर्घजीवी हों। मेरी मंगल कामनाएं !

—वैद्य प्यारेलाल शर्मा

विरल गुणों के भाण्डार

डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीय संस्कृति के व्याख्याता ही नहीं सच्चे अर्थों में उसके प्रतीक हैं। अनेक विरल गुणों के भंडार डॉ० तिवारी को महा-मानव कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

उनके सरल विचार, गम्भीर समस्याओं को सुलझाने के सूत्र हैं। उनका सौम्य व्यवहार, उनके पाण्डित्य से कहीं अधिक प्रभावी है और उनका सात्विक रहन-सहन, सादा जीवन तथा उच्च विचार का स्पष्ट प्रमाण है।

अपनी नहीं किन्तु दूसरों की मान मर्यादा का वे बड़ा ध्यान रखते हैं। छोटे से छोटे व्यक्ति की महत्वपूर्ण उक्ति या घटना का उल्लेख उनके वार्तालाप का पावन प्रसंग है।

मैं उनके दीर्घायुष्य और स्वस्थ व सुखी जीवन के लिए शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

डॉ० तिवारी को मेरा शत-शत प्रणाम।

— विष्णुदत्त दुबे

आदर्श मानव : डॉक्टर तिवारी

—गोपेश शरण 'आतुर'

डॉक्टर तिवारी के व्यक्तित्व में प्रशंसनीय सदगुण सन्निहित हैं। श्री तिवारीजी विद्वान, मौलिक चिन्तक, शिक्षा शास्त्री, दार्शनिक एवं अनेक वृहत् तथा उच्चकोटि के हिन्दी और अंग्रेजी ग्रंथों के रचयिता हैं किन्तु इससे उनकी सादगी और सरलता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और उनके निरभिमानी एवं आदर्श जीवन से बहुत से लोग प्रेरणा प्राप्त करते हैं। श्री तिवारीजी के जीवन में जितनी सादगी है उतनी ही सरलता भी है छोटा-बड़ा कोई भी कभी भी मिले उसका अत्यन्त सरलता से समाधान करते हैं।

डॉ० तिवारी मौलिकता सम्पन्न साहित्यकार हैं। डॉक्टर साहब की साहित्यिकता एवम् मौलिकता की छलक उनके सामान्य से सामान्य वार्त्तालाप में मिलती है। उनके प्रत्येक विषय से संबंधित वार्त्तालाप में साहित्यिकता का पुट अवश्य होता है। आपके सामान्य से सामान्य कथन में काव्यात्मकता देखने को मिलती है।

डॉक्टर तिवारी कथन द्वारा नहीं आचरण द्वारा शिक्षा देने में विश्वास रखते हैं। आपके आचरण से प्रभावित होकर आपका परिवार तो आदर्श परिवार बना ही है, अन्य सम्पर्क में आने वाले भी आदर्श बने हैं।

सेवा निवृत्त प्राध्यापक तथा सेवा निवृत्ति के उपरांत से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधीनस्थ दर्शन शास्त्र के शोध प्राध्यापक श्री तिवारी जी एक प्राथमिक विद्यालय के सफल संचालन हेतु प्रयत्नशील हैं। आपका कहना है कि अंग्रेजी माध्यम वाले विद्यालयों को ही अच्छी शिक्षा देने वाले विद्यालयों के रूप में क्यों माना जाता है, संस्कृत और हिन्दी माध्यम वालों को क्यों नहीं ? संस्कृत और संस्कृति के प्रति गहरा अनुराग तिवारीजी के हृदय में है। वे भारतीय बालकों को भारतीय संस्कारों से युक्त देखना चाहते हैं। प्राथमिक शिक्षा को नींव की ईंट मानते हुए डाक्टर साहब इसी स्तर से बालकों में भारतीय संस्कार भरना चाहते हैं। महाविद्यालय के एक प्राध्यापक का प्राइमरी शिक्षा तथा प्राइमर (जो उन्होंने लिखी है) के प्रति लगाव देखकर प्रतीत होता है कि यह व्यक्तित्व नींव से कंगूरे तक प्रयत्नशील है। इस प्रकार के सर्वांगीण रूप से विकसित व्यक्तित्व कम ही मिलते हैं।

तिवारी जी के हृदय में चिंतन, लेखन तथा शिक्षण के प्रति गहरा प्रेम है। तिवारीजी के लेखन की अजस्र धारा एक लम्बे समय से प्रवाहित रही है और आज भी है।

आशा है परम पिता परमात्मा की अनुकम्पा से आप साहित्य-जगत की श्रीवृद्धि करते हुए अपने विचारों से जनजीवन को प्रेरणा देते रहेंगे।

आस्तिक और आस्थावान व्यक्ति

डॉ० रामानन्द तिवारी एक आस्तिक और आस्थावान व्यक्ति हैं। लक्ष्मण जी के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा है क्योंकि उनके जन्म स्थान सोरों में भी लक्ष्मण जी का एक मन्दिर है। अनेक वर्षों से वे भरतपुर के लक्ष्मण मंदिर में दर्शनार्थ आते रहे हैं। उनकी विद्वत्ता और सरलता मुझे प्रभावित करती रही है। वे दीर्घकाल तक धर्म और संस्कृति की सेवा करते रहें, यही मेरी श्री लक्ष्मण जी महाराज से प्रार्थना है।

—महन्त गंगादास

महापुरुष

आदरणीय अनजानजी, मैं डॉ० तिवारी के पास तीन वर्ष तक रहा हूं और आज जो कुछ हूं उनकी कृपा का परिणाम है। उनके जीवन का मर्म समात्वभाव है जिसका मैंने उनके पास रहकर अनुभव किया है।

आप अभिनन्दन ग्रंथ के लिए जो कुछ परिश्रम कर रहे हैं वह निश्चित ही बहुत बड़ा कार्य है। यह सच्चे साधक, सच्चे दार्शनिक और सच्चे ऋषि पुरुष की अटूट साधना का अभिनन्दन है।

आप ऐसे महापुरुष का अभिनन्दन कर रहे हैं जो छात्रों के भटकाव को अपने व्यक्तित्व के स्पर्श से चरम उत्कर्ष की ओर ले जाता है।

— विष्णुचन्द्र पाठक

शत शत प्रणाम

मैं जब जब डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन के विषय में विचार करने बैठता हूं तो अपने समाज पर तरस की भावना हृदय में जन्म लेने लगती है। इस देश में हर क्षेत्र में गुटबन्दी है। यहां प्रतिभा की नहीं प्रचार की तूती बोलती है। प्रेस यहां चौथी शक्ति (Forth Estate) नहीं बल्कि एक दुकान का नाम है। घर का प्रेस है या प्रेस वालों से रिश्ता है तो आप खूब छप व बिक सकते हैं और यदि ऐसा नहीं है तो डॉ० तिवारी की भांति सैकड़ों बहु-मूल्य ग्रंथ लिखकर घर बैठे रहिए। कितने लोग यह जानते हैं कि डॉ० तिवारी के जितने ग्रंथ छपे हैं वे उनके कुल सृजन का शतांश भी नहीं हैं। बहुत लोगों के लिए उनका नाम व उनकी उपलब्धियां भी आश्चर्यजनक खबर हो सकती है। महामानवों की यहां यही नियति है।

सत्य तो यह है कि कम छपने, बिकने वाला अधिक छपने बिकने वालों से कम महत्वपूर्ण नहीं हो जाता। मात्र मात्रा ही महत्व का माप दण्ड नहीं हो सकती। प्रतिबद्ध प्रचार और कीर्ति का सुनियोजित व्यापार आज की उप-लब्धि भले हो किन्तु उसका जीवन काल लम्बा नहीं हो सकता। फिर भी यह विडम्बना तो है ही कि यह बेईमानी धड़ल्ले से चल रही है। बाजार में रुप के प्रदर्शन से समाज का असली सौन्दर्य अनदेखा रह सकता है। शायद यही विवशता संसार को रहस्यमय बनाए हुए है। यह चाहे प्रदर्शन के क्षेत्र की बात हो या सौन्दर्य सृष्टि शास्त्रों (यथा कला, साहित्य, संगीत इत्यादि) की।

डॉ० तिवारी ने अपनी अगली पीढ़ी को साहित्य या विचार को आगे बढ़ाने न भेज कर अखिल भारतीय सेवाओं में भेजा यह समकालीन समाज पर एक करारा व्यंग्य है। समाज में दुकान सुन्दरियों की प्रतिष्ठा बनी रही और प्रभा तरल स्वर्गिक सौन्दर्य की उपेक्षा होती रही तो कोई भी भला आदमी डॉ० तिवारी की भांति इस क्षेत्र में न तो स्वयं पग रखेगा न अपने बच्चों को ऐसा करने देगा। अनेक दिग्गज साहित्यकारों के बच्चे प्रतिभाशाली नहीं हुए पर डॉक्टर तिवारी के तो दोनों पुत्र आरम्भ से ही कीर्तिमान स्थापित करने लगे थे और इसी कारण आज वे देश के शीर्षस्थ संवर्ग में हैं। यदि वे साहित्यकार बनते तो हमारा समाज उन्हें क्या देता ?

मंच को अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन के लिए अनेक साधुवाद। डॉ० तिवारी को शत शत प्रणाम।

---डॉ० ज्ञानचन्द्र त्यागी

हमारे गौरव

पूज्य डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन हर्ष की बात है। वे हमारे गौरव हैं। सोरों सूकर क्षेत्र उन पर गर्व करता है।

—डॉ० रामकृष्ण शर्मा

मूर्धन्य विद्वान

अतीव प्रसन्नता का विषय है कि मूर्धन्य विद्वान डॉ० तिवारी पर आप अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने जा रहे हैं। डॉक्टर तिवारी के व्यक्तित्व और कृतित्व से मैं अभिभूत रहा हूं।

—रामरज पाल द्विवेदी



डॉ० तिवारी



चन्दौसी में—१९३६



इलाहाबाद में—१९४१

पार्वती-महाकाव्यस्य प्रणेता डॉ० रामानन्दः तिवारी

जीवन-वृत्तम् कृतित्वं च

—युगेशः जैनः

राजस्थानस्य महती विभूतिः डॉ० रामानन्दः तिवारी 'भारती-नन्दन' स्व-नवनवोन्मेषशालिन्या प्रतिभया विविधरसपरिप्लावितया च काव्यकलया पाण्डित्यपूर्णेन आलोचकत्वेन च भारतीय-साहित्य-संसारम् सुतरामलङ्करोति। साहित्यानुरागिभिः सहृदयैः महाकवेः रामानन्दस्य अभिनन्दनम् स्तुत्यम् कार्यमिति मे प्रतिभाति।

पारिवारिकी पृष्ठभूमिः

उत्तरप्रदेशे एटा-जनपदस्य विख्यातः गङ्गातीर्थं शूकरक्षेत्रस्य (सोरों इति नगरस्य) महत्त्वम् धर्मानुरागिभिः अविदितम् नास्ति। क्षेत्रोऽयं पण्डा-वृत्तये प्रसिद्धमेव अतः समीपस्थेभ्यः बहवः ग्रामेभ्यः ब्राह्मणाः पण्डा-वृत्तये अत्र प्रावसन्। अत्रैव केनचित् संन्यासिना पं० प्यारेलाल महोदयः शिष्यत्वेन गृहीतः आयुर्वेद-शास्त्रे च दीक्षितः। ततस्तेन पण्डा-वृत्तिम् विहाय वैद्य-वृत्तिः आश्रिता रोग निवारणाय च बहूनां चमत्कार-पूर्णाम् औषधानामनुसन्धानं कृतम् परम् अर्थाभावस्तु तस्मै कष्टकरः एवासीत्। पितुःअग्रजस्य च अकाल-मरणात्-षोडशवर्षीयः सः विशालं परिवारमपालयत्। अस्यैव महाभागस्य प्रथम-पत्न्या नवदशोत्तरनव-दशशततेम (१९१९) ख्रिस्ताब्दे अगस्त-मासस्य तृतीये दिवसे सोरों-नगरे एव रामानन्दः अजायत।

बाल्य-कालम् प्रारम्भिकी च शिक्षा

शैशवे एव मातृ-वियोगात् बालोऽयमन्यैः परिवारजनैः पालितः। संयुक्ते परिवारे उपेक्षा-भावमनुभूय मातृ-स्नेह-वञ्चितोऽयं बालकः शैशवादेव अन्तुर्मुखी भूत्वा सरस्वत्याः अङ्कम् समाश्रयत्। एकान्त-प्रियस्य अस्य अभिरुचिः विद्याध्ययेन साहित्य-सृजने च दिनानुदिनं प्रावर्धत। अस्य मातुलः पं० श्रीवल्लभ-दीक्षितः सोरोंस्थितस्य प्राथमिकविद्यालयस्य मुख्याध्यापकः आसीत् अतः अस्यैव प्रेरणया अस्मिन्नेव प्राथमिक-विद्यालये बालकः रामानन्दः विद्याध्ययनमारभत्। दैवानुग्रहात् स्वप्रतिभया चायं बालकः हिन्दी-मिडिल- परीक्षायां प्रथमां श्रेणीमलभत। अस्य अध्यापकेषु पं० लीलाधर शर्मा पं० किशोरी लालः च शर्मा च विशेषतः स्मरणीयौ। १९३४ इति वर्षे अनेन राजकीय-उच्च-विद्यालयात् 'हाई स्कूल' इति परीक्षायाम् प्रथमां श्रेणी प्राप्ता।

अध्यवसायी विद्यार्थी

ततश्च योग्यता-छात्रवृत्तिं प्राप्य रामानन्द-महोदयः चंदौसी-नगरस्य श्यामसुन्दर 'इंटर कालेज' इति महाविद्यालयात् 'इंटर' इति परीक्षायामपि प्रथमां श्रेणीमधिगतवान्। समस्ते उत्तरप्रदेशे अनेन दशमं

स्थानं प्राप्तम् । अनेन उत्साहितः सः उच्चशिक्षा-प्राप्तये प्रयाग-विश्वविद्यालयं प्राविशत् ।

विद्याध्ययन-व्ययाय छात्र-वृत्ति-राशिः अल्पा एव आसीत् अतः अनेन धनिकबालकान् तेषाम् गृहेषु अध्याप्य स्वावलम्बनाय प्रायतत । अर्थाभावेऽपि अनेन कठोरेण परिश्रमेण १९३८ इति वर्षे बी० ए० परीक्षायाम् उच्चद्वितीयश्रेणी प्राप्ता । ततश्च १९४० इति वर्षे अनेन एम० ए० (दर्शन शास्त्र) इति परीक्षा उत्तीर्णा । बाल्यादेव संस्कृत-साहित्ये अस्य अभिरुचिः आसीत् अतः १९४६ इति वर्षे अनेन वाराणसी-स्थितात् राजकीय-संस्कृत-महाविद्यालयात् 'दर्शन शास्त्री' इति परीक्षायां प्रथमा श्रेणी अधिगता। दर्शनशास्त्रे निरन्तरम् शोधरतः रामानन्द-महोदयः १९४७ इति वर्षे 'शंकराचार्यस्य आचार-दर्शनम्' इति विषयमधिकृत्य 'डी० फिल' इति उपाधिं प्राप्नोत् । १९५७ इति वर्षे अनेन 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' इति विद्वत्तापूर्णः निबन्धः प्रस्तुतः राजस्थान-विश्वविद्यालयात् च 'पी० एच० डी०' इति उपाधिं प्राप्ता । अधुनापि अयं मनीषी 'उपनिषत्सु लौकिक-नैतिक-सामाजिक-मूल्यानामध्ययनम्' इति विषयेशोध-रतः वर्तते ।

गृहस्थ-जीवनम्

१९४८ इति वर्षस्य दिसम्बर-मासे आगरा-नगरस्य साधारण-कुलोत्पन्नया-ब्राह्मण-कन्यया शकुन्तला-महाभागया सह रामानन्दस्य विवाहः सम्पन्नः । अल्पशिक्षितापि सा उच्चशिक्षां प्राप्य स्व-पत्युः साहित्यिक-जीवने सहयोगिनी अभवत् स्व-शीलेन उदारव्यवहारेण च परिवारस्य जीवनं सुखपूर्णम् व्यदधात् । विदुषी इयम् १९६० इति वर्षे एम० ए० (संस्कृत) परीक्षाम् उत्तीर्य । १९६५ इति वर्षे पी० एच० डी० इति उपाधिम् अलभत । तिवारी-महोदयस्य ज्येष्ठः पुत्रः श्रीमान् विनोद मणिः दिवाकरः आई० पी० एस० इति परीक्षामुत्तीर्य बिहार-राजस्य आरक्षि-विभागे उच्चाधिकारी वर्तते । कनिष्ठः च पुत्रः श्रीमान् प्रमोद दीपक सुधाकर, आई० ए० एस० परीक्षाम् उत्तीर्य उत्तर-प्रदेशे प्रशासनिकः अधिकारी अस्ति । अस्य पुत्री अर्चना दिव्यशीला एम० ए० (हिन्दी) इति परीक्षामुत्तीर्य अधुना 'महाकाव्येषु जीवन-दर्शनम्' इति विषयमधिकृत्य शोध-रता वर्तते ।

आदर्शः शिक्षकः

रामानन्द-महोदयः विद्यार्थी जीवने एव अध्यापन-वृत्तिम् समाश्रयत । विद्याध्ययनं समाप्य अयम् १९४७ इति वर्षे जोधपुर-स्थिते जसवन्त-महाविद्यालये दर्शनशास्त्राध्यापकः नियुक्तः । १९५१ इति वर्षे जयपुर-स्थिते महाराजा-महाविद्यालये अयम् स्थानान्तरितः अभवत् । १९५३ इति वर्षे अयम कोटा स्थिते राजकीय-महाविद्यालये स्नातक-विभागाध्यक्षः नियुक्तः । १९५६ इति वर्षे भरतपुरस्य महारानी-श्री जया महाविद्यालये अस्य स्थानान्तरणभवत् । अत्रैव १९७४ इति वर्षे अयम् राजकीयसेवायाः अवकाशं प्राप्नोत् ।

भारतीनन्दनस्य काव्य-वैभवम्

शैशवादेव अन्तर्मुखी रामानन्दः प्राथमिककक्षासु अध्यापक-कवीनां सम्पर्कात्-काव्य-संस्कारान् अलभत । सप्तवर्षीयः असौ गृह-प्राङ्गणे तुलसी-विटपस्य स्तम्भ-निर्माणावसरे हिन्दी-भाषया प्रथमां कवितामरचयत् । 'भारतीनन्दन' इत्यभिधानेन अयम् राष्ट्र कविम् श्री मैथिलीशरणगुप्तमनुकृत्य छन्दसां रचनाम् समस्यापूर्तिम् च कर्तुमारभत । यौवनात् प्रागेव अयम् बहूनाम मञ्जुलानां भावानाम् अभिव्यञ्ज-

कानां 'कवित्त-सवैया' इति छन्दसां सृजनमकरोत् । छायावाद-प्रभावितोऽयम् बहूनि भावपूर्णानि सरसानि गीतानि असृजत् । १९३७ इति वर्षात् १९४० इति वर्ष-पर्यन्तम् रचितेषु एषु गीतेषु श्रीमत्याः महादेव्या अनुभूतिमयं स्पन्दनम् पन्तमहोदयस्य-शब्द-लालित्यम् प्रसाद-निराला-महाभागयोः च भाव-गाम्भीर्यम् द्रष्टव्यम् । १९३७ इति वर्षे अनेन 'परिणय' इति नाम गीतिकाव्यं प्रकाशितम् । १९३८ इति वर्षे अनेन 'कल्पना' इति काव्यं रचितं १९४० इति वर्षे 'प्रणायिका' काव्यम् कृतम् ।

१९५७ इति वर्षे पार्वती-महाकाव्यस्य प्रकाशनात् भारती-नन्दनस्य काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटिता काव्य-जगति च प्रसृता । शिव-पार्वती-परिणयमधिकृत्य रचिते पार्वती-महाकाव्ये ज्ञान-शक्त्योः समुचितः समन्वयः दृश्यते । 'विकास-मार्गाविरोधकानां दानवानां विनाशं विना मानव-जातेः प्रगतिः अशक्या' इति महाकाव्यस्य निष्कर्षः । महाकाव्येऽस्मिन् भारतीनन्दनः आधुनिक-भारतस्य नवनिर्माणाय आध्यात्मिकं क्रान्तिपूर्ण मार्ग प्रादर्शयत् । वस्तुतः महाकाव्यमिदं हिन्दी-साहित्यस्य अमूल्यं निधानं वर्तते ।

रामानन्दस्य विद्वत्ता आलोचकत्वम् च

पार्वती-महाकाव्यस्य रचनानन्तरम् रामानन्द-महोदयः समालोचना-क्षेत्रे उन्नतिं कर्तुमारभत । हिन्दी-समालोचनायाः मौलिक-चिन्तन-परम्परां संवर्धयितुमयम् गद्य-विधयाबहून् ग्रन्थान् अरचयत् । 'सौन्दर्यं रूपाह्शियित्वम्', 'कला नवनवरूपाणां सृष्टिः अस्ति', संस्कृतिः चिरन्तन-रूपाणां भावात्मिकायाः आराधनायाः सामाजिकी परम्परा अस्ति 'समात्मभावश्च अस्य साधनायाः मौलिकी प्रेरणा वर्तते' इत्येतानि सिद्धान्तानि तिवारी-महोदयस्य मौलिक-चिन्तनं प्रकटयन्ति । अधोलिखिता ग्रन्थाः 'अस्य आलोचनात्मिकां प्रतिभां प्रदर्शन्ति —

१. सत्यं शिवं सुन्दरम (भागद्वयम्)
२. अभिनव-रस-मीमांसा
३. काव्यस्य स्वरूप
४. काव्य-मीमांसा
५. भाषा-विज्ञानम्
६. विविधाः निबन्धाः

दर्शनशास्त्रे तिवारी-महोदयस्य अभिरुचिः सुविदिता एव । 'शंकराचार्यस्य आचार-दर्शनम्' 'भारतीय दर्शनस्य भूमिका' भारतीयं जीवन-दर्शनम्' च इत्यादयः ग्रन्थाः अस्य गम्भीर-चिन्तनस्य शोध-वृत्तेः च फलम् । संस्कृति-क्षेत्रे 'भारतीय-संस्कृतेः प्रतीकाः', 'इन्डियन कल्चर', 'थाट इन कल्चर' इत्यादिषु ग्रन्थेषु अयम् संस्कृतेः रहस्याम उद्घाट्य तद्विषयकानां विविधान् भुमान् अखण्डयत् । अयम् महानुभावः आंग्लभाषायाम् अपि विविधान् ग्रन्थान् अरचयत्, यथा हि सौन्दर्यस्य स्वरूपः अनुपमः भारतः, भारतस्य सन्देशः, जीवनस्य आध्यात्मिकः आधारः आध्यात्मिकः अस्तित्ववादः' इत्यादयः

पुरस्काराः

साहित्य —साधकः रामानन्दः विविधैः पुरस्कारैः अलंकरणैः च सम्मानितोऽभूत् येषां संक्षिप्तं दिग्दर्शनमपि अस्य महत्त्वम् प्रतिपादयति ।

ग्रन्था:	दातार:		राशि.
१. भारतीय दर्शनस्य परिचय:	उत्तर-प्रदेश-राज्यम्		५००/-
भारतीय दर्शनस्य भूमिका	,,	—	६००/-
पार्वती-महाकाव्यम्	डालमिया-पुरस्कार:	—	२१००/-
,,	केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय:	—	२०००/-
,,	उत्तर-प्रदेश-राज्यम्	—	१०००/-
भारतीय-संस्कृति-विषयका: निबन्धा:	राजस्थान-साहित्य-अकादमी (मीरा-पुरस्कार)	—	२०००/-
अभिनव-रस-मीमांसा	,,	—	२०००/-
सत्यं शिवं सुन्दरम्	उत्तरप्रदेश राज्यस्य विशिष्ट पुरस्कार:		१०००/-

अपरं चायम् विद्वान् लेखक: १९७३ इति वर्षे 'राजस्थान-साहित्य-अकादमी' इति संस्थया 'मनीषी इति अलंकरणेन सम्मानित:।

अस्तु, तिवारी-महोदयस्य सर्वतोमुखी प्रतिभा विविधेषु क्षेत्रेषु चमत्कारपूर्ण काव्य-कौशलम् प्रकाण्डम् च पाण्डित्यं प्रादर्शयत् । अस्य महाभाग्य अभिनन्दनं कृत्वा 'राजस्थान-मंच' इति संस्था गौरवम् अनुभवति । 'जीवेत् शरद: शतम्' इत्येव अस्माकं कामना वर्तते ।



डॉ० रामानन्द तिवारी के व्यक्तित्व की भूमिका

—राम कृष्ण शर्मा

मनीषी की परम गरिमामय उपाधि से अलंकृत, लब्ध प्रतिष्ठ दार्शनिक, पार्वती महाकाव्य के यशस्वी प्रणेता, सत्यं-शिवं-सुन्दरम् जैसे अति गहन चिन्तन और असाधारण मौलिकता से ओत-प्रोत ग्रन्थ तथा हिन्दी व आंग्ल भाषा में अनेक उच्च स्तरीय ग्रन्थों के लेखक डा० रामानन्द तिवारी 'भारतीनंदन' वस्तुत: मां भारती के नेह पात्र नंदन कहलाने के अधिकारी हैं। बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न भारतीनंदन ने वरदगिरा के पुनीत मंदिर में जो साहित्य सुमन अर्पित किये हैं, उनकी पावन सुरभि भारतीय संस्कृति सद्धर्म तथा उदात्त मानवीय गुणों की उन्नायक और कालातीत माहात्म्य की उपलब्धि कही जा सकती है।

पारिवारिक परिवेश:—

भारतीनंदन का जन्म ३ अगस्त सन् १९१९ में पुनीत सरिता भागीरथी के वात्सल्यमय अंक में स्थित सुप्रसिद्ध तीर्थधाम सौरों के एक मध्यवर्गीय सनाढ्य विप्र परिवार में हुआ। आपके पूज्य पिता पं० प्यारेलाल त्रिवेदी एक परम धर्मनिष्ठ, सतोगुणी वृत्ति के व्यक्ति थे। उन्होंने गंगागुरू अथवा पंडागिरी को पुरुषार्थपूर्ण व्यवसाय न मानते हुये, एक संन्यासी महाराज की विशिष्ट अनुकम्पा से भिषग विद्या का अर्जन किया तथा वैद्यक को अपना व्यवसाय बनाया। सौरों की संस्कृत पाठशाला से संस्कृत शिक्षा में दीक्षित होने के कारण पं० प्यारेलाल त्रिवेदी एक कुशल तथा निष्ठावान वैद्य के रूप में जनसेवा करने और आजीविका उपार्जन में संलग्न हो गये। अर्थलाभ को अपने व्यवसाय का उद्देश्य न मानने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति सदैव ही डावांडोल रही। किन्तु अर्थाभाव ने सतोगुणी वृत्ति को कभी प्रपीड़ित नहीं किया आज भी सौरों नगर के टेढानीम मौहल्ला में बाजार के एक नुक्कड़ पर उनकी वैद्यक की दुकान स्थित है जिसे उनके अनुज पं० व्रजनंदन त्रिवेदी चलाते हैं।

पं० प्यारे लाल त्रिवेदी के दो विवाह हुये थे। उनकी प्रथम धर्मपत्नी श्रीमती चमेली देवी जिले के मारैहरा ग्राम के दीक्षित परिवार से थीं। इन्होंने दो पुत्रों को जन्म दिया। इनके कनिष्ठ पुत्र का नाम रामानंद रखा गया। रामानंद जी के जन्म के ३ वर्ष पश्चात ही दुर्दैव ने मां की वात्सल्यमयी गोद को इनसे छीन लिया और बालक रामानंद अपने पूज्य पिता की देखरेख में ही पोषित होने लगे।

शिक्षा दीक्षा:—

रामानंद जी की औपचारिक शिक्षा का श्री गणेश उनके निवास स्थान सौरों की नगरपालिका द्वारा संचालित प्राथमिक शाला में सन् १९२४ में हुआ। उन्होंने सौरों में कक्षा ७ तक शिक्षा प्राप्त की। उस जमाने में नगरपालिका की शाला का स्तर आज के पब्लिक स्कूल के समान माना जाता था। उसमें उच्च स्तरीय परिवारों के बालक ही प्रवेश पा सकते थे। किन्तु बालक रामानंद को यह सुयोग उनके पूज्य मामाजी श्री वल्लभ जी के स्नेह के कारण प्राप्त हो गया था। श्री वल्लभ जी उस समय नगरपालिका

प्राथमिक विद्यालय के प्रधानाध्यापक थे।

रामानंद जब दूसरी कक्षा में ही थे तभी पुनः एक दुःसह्य प्रहार नियति के निर्मम हाथों इन्हें झेलना पड़ा। इनके पूज्य मामाजी श्री वल्लभ जी का स्वर्गवास हो गया। किन्तु रामानंद को नगरपालिका द्वारा संचालित पाठशाला में अध्ययन का सुयोग उनकी विशेष अनुकम्पा से प्राप्त हो ही चुका था। इसका रामानंद जी को विशेष लाभ मिला। उस समय अन्यत्र शिक्षा व्यवस्थित नहीं थी। यत्र-तत्र अव्यवस्थित रूप से बच्चों को एकत्रित कर लिया जाता था तथा उनको संस्कृत के रूप रटाये जाते थे। यही कारण था कि सौरों जैसे बड़े कस्बे में उस समय तक कोई भी छात्र स्नातक भी नहीं बन पाया था। साक्षरता के सहारे पंडागिरी करना ही वहां के वातावरण में जीवन के विकास और प्रगति की चरम सीमा मान ली जाती थी। किन्तु रामानंद जी के तो संस्कार ही कुछ भिन्न प्रकार के थे। उन्होंने प्रारम्भ से ही अध्ययन को गंभीरता से लिया। रामानंद में यह गंभीरता उस अवस्था में सहज और अचेतन रूप में ही पैदा हुई थी। सजग स्मृति विकसित होने से पूर्व ही स्नेहमयी जननी का अदृश्य के अवगुंठन में लीन हो जाना इस सहज गाम्भीर्य का नैसर्गिक कारण माना जा सकता है। उस अल्पायु में सम्पूर्ण बाह्य जगत से एक विरक्ति का सा भाव खाने पीने, ओढ़ने पहिनने तथा सम्पूर्ण रहन-सहन और अभिव्यक्ति में यह अचेतन उदासीनता संस्कार जन्य थी जो आगे चलकर सजग और सुदृढ बनी। इस बाह्य पर्यावरण के प्रति विराग भाव से अध्ययन के क्षेत्र में जो गाम्भीर्य जनमा, वह प्रत्येक कक्षा में प्रथम स्थान लाने में बड़ा ही सहायक सिद्ध हुआ।

सौरों से कक्षा ७ उत्तीर्ण करने के पश्चात रामानंद को गव० स्कूल एटा में प्रवेश हेतु भेजा गया। गव० स्कूल में उस समय ऐसी परम्परा चल रही थी कि अन्यत्र से कक्षा ७ उत्तीर्ण छात्रों को पुनः कक्षा ७ में ही प्रवेश दिया जाता था। किन्तु असाधारण प्रतिभा के आधार पर रामानंद को कक्षा ८ में प्रवेश दिया गया। यह भी वस्तुतः नियति का ही कोई अप्रत्यक्ष इंगित था। आठवीं कक्षा की वार्षिक परीक्षा में सम्पूर्ण विद्यालय में रामानंद का प्रथम स्थान रहा। फलस्वरूप इसको ८ रु० माहवार की छात्रवृत्ति प्रदान की गई। ९वीं तथा १०वीं कक्षाओं में भी रामानंद जी ने प्रथम श्रेणी से प्रथम स्थान प्राप्त किया और उस असाधारण उपलब्धि के लिये इनको १६ रु० माह की छात्रवृत्ति स्वीकृत हुई, जो उस जमाने में महत्वपूर्ण मानी जाती थी। सन् १९३४ में रामानंद जी ने हिन्दी, संस्कृत व मैथ्स में विशेष योग्यता के साथ प्रथम श्रेणी में मैट्रिक उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात चंदौसी के श्यामसुन्दर इन्टर कालिज में प्रवेश प्राप्त किया।

सन् १९३६ में तर्क शास्त्र के साथ इन्होंने इन्टर मीडियट की परीक्षा प्रथम श्रेणी व योग्यता में १०वें स्थान के साथ उत्तीर्ण की। पुनः इस उपलब्धि हेतु इनको २० रु० माह की छात्रवृत्ति प्रदान की गई। इन दिनों विषम आर्थिक कठिनाइयों का सामना छात्र रामानंद की नियति में निर्दिष्ट था। किन्तु गंभीर स्वभाव व एकान्तिक रुचि ने सम्बल का काम किया तथा बिना किसी से एक शब्द कहे रामानंद ने प्रतिदिन मात्र एक बार ही भोजन से निर्वाह करते हुये अपने अध्ययन को अबाध रखा और सन् १९३८ में इलाहाबाद से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। सन् १९४० में दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली।

शोध कार्य:—

दर्शन शास्त्र में शोध कार्य के अभिलाषी रामानंद जी ने अपने गुरू डा० रानडे से परामर्श लिया तथा 'शंकराचार्य के आचार दर्शन' जैसे महत्वपूर्ण विषय को शोध हेतु चुना। विषय की गहनता और

महत्ता को ध्यान में रखते हुये उन्होंने यह अनुभव किया कि इस शोध कार्य हेतु संस्कृत की सुदृढ़ पृष्ठभूमि आवश्यक थी। दृढ संकल्प प्रबल इच्छा शक्ति और अटूट लगन व्यक्ति को किसी भी कठिनाई के समक्ष झुकने नहीं देती और फिर जो शैशव काल से ही प्रत्येक चुनौती की अग्नि परीक्षा में तप-तपकर कुन्दन बन चुका हो, प्रत्येक विषमता और आपत्ति ने जिस व्यक्तित्व में साहस, आत्मविश्वास और श्रमशीलता के गुण भर दिये हों, वह तो पर्वत शिखर को भी झुका सकता है, अनन्त अम्बुधि की उत्ताल तुंग तरंगों के पार भी पहुंच सकता है। रामानंद जी ने ऐसी ही मनः स्थिति में १६ प्रश्न पत्र एक साथ लेकर बनारस से मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण की तथा प्रथम श्रेणी में तीनों खंड उत्तीर्ण करके दर्शन शास्त्री की उपाधि प्राप्त की।

संस्कृत का अपेक्षित गहन ज्ञान प्राप्त करके रामानंद जी ने डा० रानडे की देखरेख में शोध कार्य प्रारम्भ किया। विषय की गहनता के अनुरूप पर्याप्त अध्ययन, मनन तथा लेखन कार्य चलता रहा। निर्धारित अवधि में ही शोध कार्य पूर्ण कर लिया गया। विश्वविद्यालय की ओर से डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन जैसे विश्व विख्यात दार्शनिक को परीक्षक नियुक्त किया गया। सन् १९४७ में रामानंद जी को इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने डी फिल की उपाधि से अलंकृत किया।

सन् १९४७ में ही डा० रामानंद तिवारी ने जसवन्त कॉलिज जोधपुर में दर्शन शास्त्र के व्याख्याता के रूप में राजकीय सेवा में प्रवेश किया। सन् १९५१ में आप महाराजा कॉलिज जयपुर में स्थानान्तरित होकर आये तथा सन् १९५३ में पदोन्नत होकर दर्शन विभाग के स्नातक स्तरीय अध्यक्ष के रूप में कोटा महाविद्यालय में नियुक्त हुये। सन् १९५५ में आप को स्नातकोत्तर अध्यक्ष के रूप में पदोन्नत करके पुनः महाराजा कॉलिज, जयपुर में भेजा गया। नवम्बर सन् १९५६ में तिवारी जी महारानी श्री जया महा विद्यालय भरतपुर में दर्शन विभाग के अध्यक्ष के रूप में स्थानान्तरित किये गये।

महारानी श्री जया महाविद्यालय भरतपुर में रामानंद जी ने कुछ ऐसे कीर्तिमान स्थापित किये, जिन्हें वास्तव में एक ऐसा ही व्यक्ति कर सकता है, जिसका सम्पूर्ण जीवन सरस्वती की सेवा के लिये ही सहज, सहर्ष समर्पित हो। सन् १९६० में रामानंद जी को स्नातक महाविद्यालय के प्राचार्य के पद पर पदोन्नत किया गया। किन्तु डा० तिवारी ने इस पद को अस्वीकार करते हुए अपना सृजन कार्य अबाधित और अनवरत रक्खा। तत्पश्चात सन् १९६१ में पुनः उनसे तत्कालीन शिक्षा सचिव श्री विष्णु दत्त जी ने इसी पद को संभालने हेतु आग्रह भी किया किन्तु डा० तिवारी ने पुनः बड़ी विनम्रता और सहज त्याग-वृत्ति के साथ इसे सरस्वती-सेवा में बाधक मानकर अस्वीकार कर दिया। किन्तु सन् १९६२ में जब से श्री जया महाविद्यालय के तत्कालीन प्राचार्य श्री शांति स्वरूप जी शर्मा सेवा निवृत्त हुये तो डा० तिवारी को संस्था और छात्रों के व्यापक हित में प्राचार्य का पद संभालना ही पड़ा।

डा० तिवारी जुलाई सन् १९६२ से जनवरी सन् १९६३ तक प्राचार्य के पद पर कार्य करते रहे। अपने इस व्यस्ततम् कार्यकाल में भी तिवारी जी ने महा विद्यालय में भारतीय संस्कृति, शिक्षा व जीवन पद्धति, जिनके कि वे अनन्य उपासक रहे, की अमिट छाप और स्मरणीय चित्र अंकित किये। आज भी महा विद्यालय के प्राङ्गण में वृक्षों की छाया में निर्मित सीमेन्ट के विस्तीर्ण चबूतरे तथा खुले अध्ययन कक्ष शान्ति निकेतन का सादृश्य उभारते हैं। किन्तु वरदगिरा का यह लाड़ला सुवन अधिक समय तक इस प्रशासनिक पद पर रहकर अपने प्रमुख लक्ष्य को बाधित सहन नहीं कर सका। जनवरी सन् १९६३ में

तिवारी जी ने इस पद का स्वेच्छा से त्याग कर दिया तथा पुनः अधिक उमंगातिरेक और नवोत्साह के साथ सरस्वती की अर्चना के गीत गुंजरित हो उठे। इसके पश्चात भी हर वर्ष शिक्षा विभाग, राजस्थान सरकार की ओर से तिवारी जी को उनकी पदोन्नति के सम्बन्ध में सूचना दी जाती रही, किन्तु उन्होंने हर बार अत्यधिक विनम्रता और शालीनता के साथ उसे अस्वीकार कर अपना चिन्तन, अध्यापन व लेखन कार्य अनवरत रक्खा। यहां तक कि सन् १९७१ में शिक्षा विभाग, राजस्थान ने केवल डा० तिवारी को सम्मानित करने के उद्देश्य से ही एम० एस० जे० कॉलिज, भरतपुर में दर्शन शास्त्र विभाग में स्नातकोत्तर कक्षायें प्रारम्भ करके तिवारी जी को स्नातकोत्तर अध्यक्ष का पद प्रदान किया।

डा०तिवारी जुलाई सन् ११७१ से २ अगस्त सन् १९७४ तक दर्शन विभाग, म० श्री जया महा विद्यालय भरतपुर के अध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे। ३ अगस्त सन् १९७४ से वे सरस्वती सेवा से निवृत हुये। किन्तु राष्ट्र को अभी उनके विद्वतापूर्ण निर्देशन की और आवश्यकता थी। अतः विशिष्ट गौरव प्रदान करते हुये विश्व विद्यालय अनुदान आयोग ने डा० तिवारी को मार्च १९७५ से ३ वर्ष के लिये प्रोफेसर ऐमेरेटस के रूप में नियुक्ति प्रदान की। इन तीन वर्षों में डा० तिवारी ने शोधार्थियों का समुचित मार्ग दर्शन किया तथा स्वयं ने भारतीय उपनिषदों का गहन अध्ययन अनुशीलन करते हुये **"सैक्यूलर, सोशल एण्ड एथीकल वैल्यूज इन द उपनिषद्स"** शीर्षक से शोधपूर्ण ग्रन्थ की रचना की, जो प्रकाशित भी हो चुका है। डा० तिवारी के असाधारण महत्व के शोधकार्य निर्देशन व लेखन से प्रभावित हो, यू० जी० सी० ने पुनः तीन वर्षो के लिये इस गौरव को परिवर्द्धित कर दिया। इस द्वितीय कार्यकाल में तिवारी जी ने **"सैक्यूलर, सोशल एण्ड एथीकल वैल्यूज इन द गीता"** ग्रन्थ की रचना की, जो गीता जैसे महान ग्रन्थ पर ऐसी विशद विवेचना का अपने ढंग का प्रथम ग्रन्थ है।

पारिवारिक जीवन की एक झलक:—

रामानंद जी का पारिवारिक जीवन एक ऐसा भव्य और अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करता है, जिसमें देवधरा आर्यावर्त की वास्तविक संस्कृति, धर्म निष्ठता, उदात्ततम जीवन मूल्य और मानवता का चरमोत्कर्ष समन्वित हो जाता है। रामानंद जी ने अपने विद्यार्थी जीवन को सच्चे अर्थ में ब्रह्मचर्य आश्रम के अनुरूप ही व्यतीत किया। यह जीवन काल "सादा जीवन उच्च विचार" का उज्ज्वलतम् उदाहरण था। एम० ए० डी० फिल, दर्शन शास्त्री बनकर ही उन्होंने विशुद्ध भारतीय पद्धति से गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया। आपका मंगलमय परिणय सन् १९४८ में आगरा निवासी पं० रामस्वरूप शर्मा, टेलीग्राफ सुपरवाइजर की सुपुत्री शकुन्तला रानी के साथ हुआ।

श्रीमती शकुन्तला रानी एक आदर्श भारतीय नारी के रूप में अपने पति के साथ रहकर उनकी सेवा भी करने लगीं तथा साथ ही साथ इतने उच्च कोटि के विद्वान पति के स्कंध से स्कंध मिलाकर चलने के लिये अपनी योग्यता भी बढ़ाने लगीं। शकुन्तला जी विवाह के समय मात्र मिडिल पास थीं। उन्होंने गृहस्थ जीवन के गुरुतर उत्तरदायित्वों का वहन करते हुये सन् १९५३ में मैट्रिक किया, सन् १९५५ में इन्टर किया तथा सन् १९५७ में वे राजपूताना विश्व विद्यालय से स्नातक बन गई। सन् १९६० में शकुन्तला जी ने संस्कृत में एम० ए० कर लिया। इतने पर भी शकुन्तला जी की ज्ञान पिपासा और शिक्षा के प्रति मानसिक क्षुधा तृप्त न हुई और उन्होंने "महाभारत में धर्म" विषय पर सुप्रसिद्ध विद्वान डा० फतह सिंह के निर्देशन में राजस्थान विश्व विद्यालय से सन १९६५ में पी० एच० डी० की उपाधि भी प्राप्त

कर ली। गृहस्थ के निरन्तर परिवर्द्धित होते हुये उत्तरदायित्वों का समुचित व प्रसन्नतापूर्वक पालन करते हुये, अतिव्याप्त पतिदेव की तन मन से अबाध सेवा करते हुये भी, इस प्रकार उच्चतम शिक्षा पा लेना अपने आप में एक असाधारण उपलब्धि ही मानी जाएगी।

सन्तान सुख :

श्रीमती शकुन्तला रानी तिवारी ने सन १९४९ में प्रथम पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम करण विनोद मणि दिवाकर किया गया। विनोद ने प्रारम्भ से एम० ए० तक सदैव प्रत्येक कक्षा में प्रथम श्रेणी से प्रथम स्थान प्राप्त किया। बी० ए० और एम० ए० (इतिहास) में विनोद ने स्वर्ण पदक प्राप्त किये। विनोद कुछ समय तक आर० ई० एस० अधिकारी रहे तथा कुछ समय आर० ए० एस० अधिकारी रहे। सम्प्रति वे बिहार राज्य में आई० पी० एस० अधिकारी के रुप में सेवारत हैं। उनका विवाह सन् १९७६ में २१ जनवरी के शुभ मुहूर्त्त में आगरा निवासी श्री रामगोपाल उपाध्याय की सुपुत्री उमा उपाध्याय से हुआ।

जनवरी १९५१ में तिवारी जी को दूसरे सुपुत्र की प्राप्ति हुई जिसका नाम प्रमोद दीपक सुधाकर रखा गया। प्रमोद भी अपने भ्राता के सदृश्य ही सदैव प्रथम श्रेणी से प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। उन्होंने बी०एस०सी० एवं एम०एस०सी० (भौतिक शास्त्र) में स्वर्ण पदक प्राप्त किये। प्रमोद का अपनी असाधारण वैज्ञानिक प्रतिभा के बल पर टाटा इन्स्टीट्यूट बम्बई में शोध हेतु चयन हुआ। प्रमोद के अध्यापकों का विचार है कि यदि वे वैज्ञानिक के रूप में ही कार्यरत रहते तो एक दिन निसन्देह उनको कृतज्ञ मानवता नोबल पुरस्कार प्रदान करके ही उऋण हो पाती। प्रमोद की उपलब्धियों को देखते हुये यह अतिशयोक्ति नहीं लगती।

प्रमोद ने कुछ समय तक जोबनेर में प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। फिर वे आर० ए० एस० अधिकारी बने। तत्पश्चात उनका चुनाव आई० एफ० एस० में हुआ। फिर वे ऐलाइड सर्विसेज में चयिनित होकर पोस्ट एंड टेलीग्राफ विभाग के उच्चाधिकारी बने। तत्पश्चात आई० पी० एस० अधिकारी बने और सम्प्रति वे उत्तर प्रदेश में आई० ए० एस० अधिकारी के रूप में कार्यरत हैं। प्रमोद का शुभ विवाह मथुरा निवासी श्री विष्णुदत्त दुबे की सुपुत्री कल्पना दुबे से हुआ है।

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रकवि स्वर्गीय बाबू मैथिली शरण गुप्त ने साकेत में विदेहराज जनक की पुत्रियों की वंदना करते हुये निम्न पंक्ति लिखी है: —

"सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियां पूतशीला।"

तिवारी जी को भी सौभाग्य ने यही वरदान दिया। उनके गृह में सितम्बर सन् १९५३ की शुभ वेला में एक ऐसी ही शुभ कन्या का जन्म हुआ। जिनका नाम अर्चना दिव्यशीला रखा गया। अर्चना ने भी उच्च शैक्षणिक कीर्तिमान स्थापित करते हुये बी० ए० और एम० ए० (हिन्दी) प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किए तथा "हिन्दी महाकाव्यों में जीवन दर्शन" विषय पर शोध कार्य भी पूर्ण कर लिया है। अर्चना का विवाह ग्वालियर निवासी पं० भगवानदास जी के प्रतिभाशाली पुत्र डा० जयदेव शर्मा के साथ मई १९७७ को सम्पन्न हुआ। डा० जयदेव शर्मा रुड़की विश्वविद्यालय में रीडर हैं तथा हाल ही में कनाडा से विशेष अध्ययन करके लौटे हैं।

शैशवकालीन प्रेरणायें :

मानव जीवन का शैशव उस उर्वरा भूमि के सदृश्य होता है जिसमें समुचित काल में विधिपूर्वक डाला हुआ बीज अंकुरित होकर वृक्ष रुप में परिणित हो जाता है तथा बीज की प्रवृत्ति के अनुरूप सुरभित पुष्प और मधुरफल अथवा घातक विष भरे कटक उत्पन्न करता रहता है। शैशवकाल जीवन का बीजारोपण काल होता है। फलतः यही व्यक्तित्व का निर्माणकाल भी है। अनेक महापुरुषों के जीवन का अध्ययन करने से यह स्पष्ट रूपेण ज्ञात होता है कि बचपन की प्रेरणायें अथवा प्रभाव आगामी जीवन के निर्णायक तत्व सिद्ध हुये। भारतीनंदन की विराट साधना गहन चिन्तन तथा असाधारण कृतित्व का सूत्र भी उनके शैशव से दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध है।

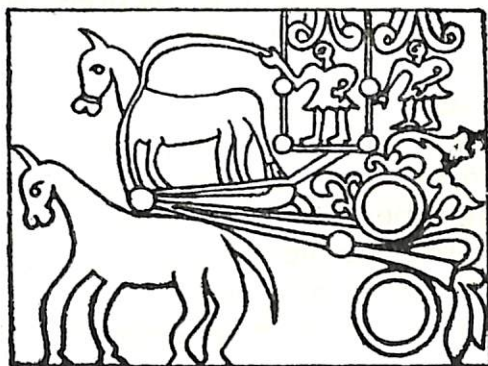
पूर्व इंगितानुसार ३ वर्ष की अबोध आयु में ही वात्सल्य की निधि जननी को खोकर शिशु रामानंद असामान्य पर्यावरण में पोषित हुये। दूसरी मां का भी निधन शैशव में ही हो गया। पिता कुछ शोक विह्वल होकर तथा कुछ आजीविका के उपार्जन में अति व्यस्त रहकर इस दुधमुंहे शिशु का कितना दुलार दे पाये होंगे —यह कल्पना भी दुरुह और कष्टसाध्य है। फिर आज से लगभग छः दशक पूर्व का भारतीय संयुक्त परिवार कितने विस्फोटक वातावरण में जीता था – यह भी प्रायः सर्व विदित है। बालक रामानंद को अनजाने ही आत्म केन्द्रित और अन्तर्मुखी तथा समय पूर्व ही अति गंभीर और एकान्तिक बन जाना पड़ा, यह निसर्ग का ही विधान था। इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार और साहस भी भला किसे हो सकता था।

रामानन्द बचपन से ही वाह्य जगत से उदासीन, अपने आप में केन्द्रित और शरीर से यद्यपि सीमाओं में आबद्ध किन्तु मन से चिन्तन सम्पृक्त रहने लगे इसके पीछे नियति का ही अपरिहार्य विधान था। एक विशेष बात यह भी थी कि उनके बचपन और किशोरावस्था का शिक्षा जगत भी आज की परिस्थितियों से भिन्न था। प्राथमिक तथा माध्यमिक शालाओं के अध्यापक यद्यपि औपचारिक योग्यता में सीमित होते थे, फिर भी उनमें अपने ढंग की एक प्रबुद्धता और सुरुचि तथा शालीनता रहती थी। अध्यापक प्रायः प्रशिक्षित मिडिल ही हुआ करते थे किन्तु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे नैतिक व शैक्षणिक साहित्यिक मूल्यों का चारों ओर व्यापक प्रभाव था। अध्यापकों में अध्यापन के प्रति गहन रुचि और निष्ठा रहती थी। शिक्षक शिक्षार्थी सम्बन्ध आत्मीयता और माधुर्य तथा सद्भावना पर आधारित रहते थे। रामानन्द जी के कोमल मन तथा उत्तम मस्तिष्क पर इस वातावरण का सृजनात्मक और अनुकूल प्रभाव पड़ा। शैशव से ही रामानन्द जी की वृत्तियां ऊर्द्धमुखी रहीं। सहज व अचेतन विरक्ति भाव इसमें और भी सहायक सिद्ध हुआ।

छात्र रामानन्द सामाजिक और सामुदायिक गतिविधियों से असम्पृक्त व उदासीन रहने के कारण स्वाभाविक रूप से अपने अध्ययन में गहन व एकाग्र रुचि लेने लगा। मकान, खाना, पहिनना अथवा किसी सामाजिक मनोरंजन और इतर कार्य कलापों में सक्रिय भाग लेना इस छात्र की रुचि में ही नहीं था। शेष बची थीं दो चीजें —पढ़ना अथवा एकांतिक चिन्तन। अपरिपक्व और अबोध मस्तिष्क भी पूर्व संचित सुसंस्कारों के फल से चिन्तन शील हो उठता है —यह असामान्य होते हुये भी संभव है

उपर्युक्त पृष्ठभूमि ने शिशु, किशोर और तत्पश्चात युवा, प्रौढ़ और पूर्ण परिपक्व रामानन्द के उस व्यक्तित्व का निर्माण किया जो तब से लेकर अब तक पचास से भी अधिक मौलिक, उच्चकोटि के

असाधारण और शाश्वत महत्व के ग्रन्थों का प्रणेता बना। यही पृष्ठभूमि थी उस महाकवि के विराट व्यक्तित्व की जिसके मुख से दिव्य प्रेरणा बनकर 'पार्वती' जैसा अप्रतिम महाकाव्य फूट पड़ा। इन्हीं तत्वों ने निर्माण किया उस प्रतिभा का जो सत्यं —शिवं – सुन्दरम के विराट चिन्तन और रुपायन की जननी है। इन, अपरिहार्य नियति चक्र के उपादानों ने रामानन्द को भारतीय संस्कृति का अमर चितेरा बना दिया और साहित्य, संस्कृति, कला, दर्शन, सौन्दर्य शास्त्र, भाषा विज्ञान आदि के असाधारण ग्रन्थ हिन्दी तथा आंग्ल भाषा के माध्यम से रूपायित हुये। वास्तव में ही मां सरस्वती अपने इस मेधावी सुवन को पाकर स्वयं कृतकृत्य हो गई है।



BHARATINANDAN : A PROFILE

—Madhav Singh Deepak

Dr. Ramanand Tiwari 'Bharatinandan' is a philosopher, poet, professor, critic and versatile scholar all put together. He is like a Vedic Rishi reborn in modern India. He was destined to be so from his early childhood, when circumstances compelled him to live in solitude. He was only three, when his mother passed away. His father, Pandit Pyarelal Trivedi was a Vaidya, who practised Ayurvedic medicine at Soron (Sukerkhet), situated on the bank of the holy Ganga, in the Etah district of Uttar Pradesh, where Bharatinandan was born on August 3, 1919. Soron is a town of pandas and priests, who earn their living from the visiting pilgrims throughout the year. It is said that the great saint poet, Tulsidas, was also born at Soron, although this claim has been disputed by some scholars. But for Bharatinandan it is beyond dispute.

His early miserable life compares well with that of Tulsidas, whose overflowing compassion emerged from poverty, neglect and humiliation. In addition to that, Bharatinandan received step motherly treatment, when his father married a second time. Unfortunately his step mother also died after a few years. The child was thus left to the mercy and care of a few other members in a Hindu undivided family. No body encouraged him to study except his maternal uncle, Pandit Shrivallabh Dixit, who was then Headmaster of the Soron Primary School. He, too, died early and then some other teachers cheered up the little Ramanand to go ahead. He also received merit scholarships. He passed his middle class examination in first division.

Then he left for Etah town to join a High school and matriculated in the year 1934. After that he joined the Shyam Sunder Inter college at Chandausi and passed the Intermediate examination in first division in 1936. He was entitled to government scholarship which enabled him to join the Allahabad University from where he graduated in 1938 and took his M. A. degree in philosophy in 1940. Meanwhile he continued to earn his livelihood as a

tutor and taught some children of noble families. He also continued to study *Sanskrit and took his Shastri degree in philosophy* from Government Sanskrit College, Varanasi in 1946. Earlier, he had got himself enrolled as a research scholar. He obtained the degree of D. Phil from Allahabad University in 1947 on the ethical philosophy of Shankaracharya. He was a promising student throughout his academic career.

A turning point in Bharatinandan's life came when he arrived in Rajasthan in 1947 as a lecturer in philosophy at Jaswant College, Jodhpur. He eventually made Rajasthan his home. It was here that his poetic personality unfolded itself. He was also acknowledged as a distinguished scholar and philosopher throughout the state. In 1951 he was transferred to Maharaja College Jaipur. Then he came to Government College, Kota in 1953 as the Head of the postgraduate department. In 1955, he was again transferred to Maharaja College, Jaipur. Finally in 1956 he arrived in Maharani Shri Jaya College, Bharatpur, where he taught for eighteen years. He was appointed as the Professor of philosophy in 1960. He could have joined as Principal elsewhere as he was offered to do so. But he declined. An administrative job would have interfered with his literary and philosophical persuit. This is one experience that I can share with Bharatinandan. I, too, have carefully avoided such jobs and confined myself to translating and editing work in the Lok Sabha, which goes on well with the literary hobby. A writer and a philosopher has to remain considerably withdrawn in order to spare his moments in pondering over the higher values of life. Bharatinandan retired on August 3, 1974 and settled at Bharatpur. His elder son Vinodmani Diwakar is an I. P. S. officer in Bihar Police, while his younger son Pramod Deepak Sudhakar is an I. A. S. officer in Uttar Pradesh. His daughter Archana Divyasheela is married to Dr. Jaydev Sharma, Reader in Roorkee University. Bharatinandan's wife Shrimati Shakuntala Devi is a scholar in her own right. She took her Ph. D. on "Religion in Mahabharat." True to the Brahmanic traditian, he has a well educated family.

Bharatinandan's poetic and philosophical writings deserve to be appreciated in detail. It will need several critics and writers to evaluate them thoroughly. I shall only attempt to put them in a chronological order. He is indeed a voluminous writer and a master in developing his theme scientifically. He is a splendid confi-

nation of a philosopher and a poet, though he may be predominently a philosopher.

In his student days Bharatinandan did attempt poems on traditional themes. He wrote on Abhimanyu, Lav-Kusha, Vabru Vahan Durgawati etc. He was also influenced by mysticism (chhayavad) His long poem 'Parinay' was published in 1937. He himsəlf translated his thesis on Shankaracharya into Hindi and got it published by the Hindi Sahitya Sammelan, Allahabad in 1950. While at Jodhpur, he wrote **'Bhartiya Darshan Ka Parichay** (A study of Indian philosophy) which he himself published in 1953. While at Jaipur he wrote a similar book **'Bhartiya Darshan ki Bhumika'** (An Introducation to Indian philosophy), published from Bharatpur in 1958.

Bharatinandan as a poet will live because of his monumental epic volume **'Parvati Mahakavya'** which he started writing at Kota in 1953 and completed it in 1955. The same year it was published from Kota. For this work he was awarded Dalmia Puraskar of Rs. 2100/- in 1956. The Central Ministry of Education also awardeel Rs. 2000/- and the U. P. Government awarded Rs. 1000/- for the same. In 1960 he was awarded all India Meera Puraskar by the Rajasthan Sahitya Academy, Udaipur on a volume **'Abhinav Ras Mimansa'** a collection of critical essays.

His other monumental work is 'Satyam, Shivam, Sunderam' running over twelve hundred pages. He would have received an award of five thousand rupees from the U. P. Govt. but the same year it was decided to award ten thousand rupees to Sumitranandan Pant and Bharatinandan had to console himself only with an award of one thousand rupees. He was also awarded the title of 'Manishi' by the Rajasthan Sahitya Academy. The Central Sahitya Academy has however, completely ignored a man of Bharatinandan's calibre.

It was the lake of appreciation from Hindi crities, scholars and readers which diverted Bharatinandan to writing in English. The Hindi publishers have proved to be no better than potato merchants. Even if they happen to accept a really good work they will keep it in a cold storage for a fairly long time. As for the journalists, the less said, the better. They run only after men in position. No budding poet or writer should depend on a book seller or a paper merchant or a magazine seller. This has also been my comman experience with Bharatinandan. After years of fruitless

effort in meeting publishers, I, myself, had to publish my first volume of poems **"Sat Sau Geet."** I also joined an English medium society. The P. E. N. (Poets, Essayists and Novelists). Bharatinandan brought out several books in English such as the **Concept of culture, Idea of Beauty, Unique India, Spiritual Foundation of Life. Spiritual Existentialism,** etc. He was also sponsered by the University Grants Commission to work on the **Bhagwad Geeta** and the **Upanishads.** Never the less his contribution to Hindi has not totally stopped. In 1970 he wrote and published **'Shiksha aur Sanskriti'** (Education and Culture). In 1972 he brought out **"Hamari Jeevant Sanskriti"** (Our everfresh culture), which shows that he is an everfresh writer even in his sixties.

Hindi literature can be proud that it has produced a literary giant like Dr. Ramanand Tiwari Bharatinandan. It boasts of Tulsidas also who, in his life time, was mocked and harassed by scholars, Whose successors now lie postrate to his work, Ramcharit Manas. Bharatinandan, like Tulsidas is a self made man, self made poet, publisher, philosopher and scholar. It is creditable for Dubey Uma Dutt Anjan to bring out an Abhinandan Granth for a genius like Bharatinandan.



श्री रामानन्द तिवारी–मेरी दृष्टि में

—आचार्य शील

भगवान श्रीराम ने वनगमन के समय जानकी जी से कहा था, "दिवस जात लागइ नहिं बारा।" जब मेरी दृष्टि घूम कर अतीत में ४० वर्ष से भी पीछे की कालेज की घटनाओं की ओर जाती है तो जीवन के धूमिल आकाश में प्राची क्षितिज में मुझे एक उदीयमान तेजस्वी नक्षत्र टिमटिमाता अथवा झिलमिलाता हुआ-सा दीखता है। नीलाम्बुज श्यामल कोमलांग भगवान् की विचित्र सृष्टि का कुछ-कुछ वैसा ही एक बालक मेरे सम्पर्क में आया, भोली आकृति, मधुर वाणी, शुचिस्मिति, नेत्रों में गंभीर भविष्य की छाया, भावुकता का दिव्य विग्रह, पिता एवं गुरुजनों के लिये वात्सल्य का प्रतिबिम्ब, भाव भक्ति एवं सेवा की प्रतिमूर्ति – क्या-क्या सद्गुण उस बालक में नहीं थे। गुरुजनों की सेवा करके मां भारती की आराधना कंटकाकीर्ण मार्ग में चलकर उस बालक ने की। कहीं से किसी प्रकार की सहायता न मिलने पर बिल्कुल आत्म निर्भर होकर भगवान के भरोसे पर उसने अपनी जीवन तरी भव सागर के प्रवाह जल में छोड़ दी और बोला:—

एहसान नाखुदा के उठाये मेरी बला।
किश्ती खुदा पै छोड़ दूं लंगर को तोड़ दूं॥

जब किसी ने पूछा, "रामानन्द! घर से कुछ सहायता न मिलने पर भी गाड़ी कैसे चलती है" तो कहा:—

युगल सरकार है सिर पर तसल्ली दिल में रहती है।
किसी की नाव पानी में मेरी रेती में चलती है।

नौका तूफ़ानों के थपेड़े खाती हुई आगे बढ़ी। एस० एम० इंटर कालेज की महानदी से निकलकर यह नाव इलाहाबाद विश्वविद्यालय के महासागर में पहुंची। सागर के तूफानों का उसी को पता है जिसकी नौका, जिसका जहाज कभी उनमें पड़कर दूसरे जहाज़ों से टकराया है। पर वाह रे! महा-मानव! तूने तूफानों की परवाह न करके सदा आगे ही बढ़ने का प्रयास किया। उसके इस अदम्य साहस को देखकर बरबस मेरे मुख से निकल पड़ा:—

जहाजों से जो टकराये उसे तूफान कहते हैं।
जो तूफानों से टकराये उसे इंसान कहते हैं॥

धीरे-धीरे बी० ए० की डिग्री लेकर एम० ए० में प्रवेश लिया। पूर्व जन्म का विरक्त ऋषि बालक इस जन्म में भी दर्शन की ओर बढ़ा और अन्ततोगत्वा दर्शनाचार्य बनकर ही रहा। भगवान् शंकर उसको दूसरा शंकर ही बनाना चाहते थे पर मां भारती भी निःसंतान रहना नहीं चाहती थीं उन्होंने उसको अपना प्यारा भारती नंदन बना ही तो दिया। इसमें सन्देह नहीं कि उसके तत्वान्वेषण का विषय शंकर

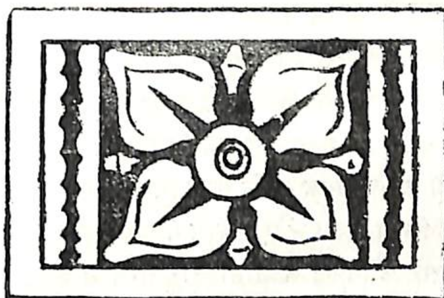
का आचार दर्शन रहा पर हृदय ने तो हिन्दी साहित्य की भारी कमी को पूरा कर दिया। दार्शनिक ग्रन्थों के रचनात्मक काल में ही मां पार्वती सामने आकर खड़ी हो गईं और बोलीं, "रामानन्द, संस्कृत वाङ्मय में भगवान् राम, कृष्ण, विष्णु आदि की चर्चा खूब है, हिन्दी के कवियों ने भी भगवान् राम कृष्ण की चर्चा जी भरकर की, पर हिन्दी साहित्य में शंकर उपेक्षित क्यों? उठो और इस कमी की पूर्ति करो।"

मां की आज्ञा को टालने का साहस रामानन्द में नहीं था। फलस्वरूप 'पार्वती' नामक महाकाव्य का प्रणयन हुआ जिस पर भारत मुग्ध है और कई साहित्यिक संस्थाओं के द्वारा यह पुरस्कृत भी है। भगवान् शंकर का जीवन चरित्र ही नहीं अपितु उनके जीवन दर्शन का इतना सार-गर्भित वर्णन इतर ग्रन्थों में मिलना दुर्लभ ही नहीं असंभव-सा है।

इस महामानव ने साहित्य की सेवा के आगे धन अथवा पद की चिन्ता कभी नहीं की। एक विख्यात महाविद्यालय का प्राचार्यत्व स्वेच्छा पूर्वक इसलिये छोड़ा कि भारतीनन्दन अपनी पूज्य मां के चरणों की सेवा दिल खोलकर कर सके!

मुझे रामानन्द पर गर्व है। उसका अभिनन्दन त्याग तपस्या और महती उपलब्धियों का अभिनन्दन है।

मेरी बधाई!



डॉ० रामानन्द तिवारी—मित्र : मानव : कवि

—सत्य प्रकाश वार्ष्णेय

बात सन् १९३४ की है कि एस० एम० कालिज चन्दौसी के टी० आर० के० हॉस्टल में श्री रामानन्द तिवारी ने प्रवेश लिया, मैं वहां पहले से ही रहता था। तिवारी जी कवि होने के साथ-साथ दार्शनिक भी हैं, इसका संकेत मुझे उसी समय मिल गया था जब वह हॉस्टल के तीन बिस्तर वाले कमरे में अकेले ही रहते थे। उनकी यह दार्शनिकता उनके महाकाव्य पार्वती और खण्ड काव्य सावित्री में दिखाई देती है।

तिवारी जी ने भारतीय दर्शन और हिन्दू संस्कृति के विषय में जो उल्लेखनीय शोध कार्य किया उससे भारतीय संस्कृति के गौरवमय पहलू का उद्घाटन होता है। मेरे मित्र तिवारी जी भारतीय संस्कृति और सदाचार की त्रिवेणी हैं। एक मध्यम वर्गीय परिवार में जन्म लेकर भी तिवारी जी ने पारिवारिक सुविधाओं का कोई लाभ नहीं उठाया और अपने व्यक्तित्व का स्वयं निर्माण किया।

शून्य से आरम्भ तक कोई भी मनुष्य यश, कीर्ति ओर गौरव के उच्चतम शिखरों तक कैसे पहुंच सकता है, यदि किसी को यह जानना हो तो उसे तिवारी जी की जीवन पाठशाला में झांकना होगा।

तिवारी जी के बारे में आज अनेक बातें याद आ रही हैं। क्या लिखूं ? क्या छोड़ दूं ? उनका व्यक्तित्व विराट है। कृतित्व बे-मिसाल है। अभिनन्दन के अवसर पर उनके बारे में कुछ भी कहूं कम होगा।

तिवारी जी आयु में मुझसे कुछ ही बड़े हैं इस नाते उनका स्नेह मुझे मिलता रहा है। वह अपने मित्रों से तथा सबसे दिल खोलकर मिलते हैं, दुराव या छिपाव न उनमें है न उनकी कविता में।

तिवारी जी ने हमारे जीवन के काव्य, दर्शन, संस्कृति धर्म कला तथा शिक्षा आदि के क्षेत्र में साहित्य रचना करके हमारा कल्याण किया। इन्होंने छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाने के लिए शिक्षा में कुछ मौलिक प्रयोग किए हैं। इस रूप में मेरे ये मित्र शिक्षा मनोवैज्ञानिक व शिक्षा-शास्त्री भी बन गए हैं। वह केवल कोरे नारे लगाने में विश्वास नहीं करते बल्कि सबके साथ मिलकर कार्य करने की प्रवृत्ति में विश्वास करते हैं; तभी तो एक दिन भी कभी किसी कक्षा में एक साथ न पढ़ने पर भी मेरे मित्र बने। मेरी कविता की प्रति रुचि मुझे और उन्हें एक दूसरे के निकट ले आयी और सम्बन्ध अटूट बन गये।

रामानन्द तिवारी आज तो महाकवि हैं पर उनकी प्रथम कविता सन् १९३७ में प्रकाशित हुई थी उस कविता का नाम था परिणय, जो मेरे परिणयोत्सव पर मुझे समर्पित की गई थी। उसकी पंक्तियां मैं आज भी गुनगुना लेता हूं :—

"आज बन साकार सुन्दर लोक जीवन सार आया।" इस कविता के बाद पार्वती महाकाव्य-सावित्री और खण्ड काव्य प्रकाशित हुए। इनके महाकाव्य पर अनेक पुरस्कार भी मिल चुके इनकी साहित्यिक अभिरुचि हमारे गुरू श्री गंगाशरण 'शील' के निर्देशन में पनपी। अपने छात्र जीवन में इन्होंने कॉलिज

पत्रिका का सम्पादन भी किया। इलाहाबाद में रहते हुए इन्होंने पाली तथा संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते हुए श्री रानडे के संरक्षण में दर्शनशास्त्र में शोध कार्य किया।

तिवारी जी एक सफल मित्र, आदर्श-मानव तथा सफल पारिवारिक होने के साथ-साथ आदर्श पिता हैं, जिन्होंने अपनी सन्तान को उच्च शिक्षा देकर सर्वगुण सम्पन्न सन्तान के पिता का गौरव पाया है, वही दूसरी ओर आदर्श पति के रूप में अपनी पत्नी को शोध कार्य करवाकर नारी जागरण तथा समानता के आदर्श को प्रतिस्थापित किया है।

मुझे उस बीते जमाने की याद आ रही है, जब १९३४ के जुलाई मास में चन्दौसी के हॉस्टल में नये और पुराने छात्रों की जान पहचान हुई थीं, उन्हीं छात्रों में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण रामानन्द से भेंट हुई। कौन जानता था कि ये भेंट चिरस्थायी हो जाएगी। मेधावी छात्र, सीधी-साधी वेशभूषा, बातचीत में कोई दुराव-छिपाव नहीं, नाम पूछने पर पता चला था, सौरों के रहने वाले रामानन्द तिवारी। आज मेरे मित्र सौरों, चन्दौसी, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश या राजस्थान से बंधे नहीं हैं बल्कि वह समूचे भारत का प्रतिनिधित्व करने वाले संवेदनशील साहित्यकार हैं इससे अधिक आत्मसंतोष की बात और क्या हो सकती है।

तिवारी जी मानव समाज को दिशा देने की क्षमता रखते हैं उनमें दूसरों को प्रभावित करने की पूर्ण योग्यता है। कवि होने के नाते उन्होंने हर बात को बहुत गहराई से पकड़ा है। तिवारी जी की लेखनी में अपूर्व क्षमता है, चेतना है और हृदय का स्पन्दन है।

भारती आनन्द रामानन्द की सत्य शिव सुन्दर सदा मुखरित रहे।



My Class Fellow & Hostel Mate

Col. **K. M. SAHAI**

In 1935, at S. M. College, Chandausi (U.P.) I met a boy who attracted me by his academic distinction and his distinctive Indian dress. He looked simple and unassuming, but was impressive in speech and writing. He was social and amiable. He wore dhoti and kurta and used no other dress as many students did in the college those days. The English dress was, as if, a taboo for him. He never wore it in the college at chandausi, nor at the Allahabad University where we graduated together and also had our post graduate education together. He was lean and thin of short stature, had a biggesh head and eyes that shone with intelligence and glittered with amusement. He came to Intermediate College Chandausi with three distinctions and a position at High School and an extra-ordinary proficiency in Hindi and Sanskrit, which earned him immediate reputation in the College. His name was Ramanand Tiwari and he came from SORON (Distt-Etah, U.P.).

Ramanand impressed me by intelligence and ability in studies and attracted me by his amiable sociability. There was plenty in him to attract me and there must have something in me to have attracted him. From the first meeting we were drawn together, we got closer and closer together through the academic years during which we had our education at Chandausi and Allahabad University, till I took commission in Indian Army in 1941.

We came closer to each other by a residential circumstance during our education. We happened to live in the same hostel during our Intermediate and university education. We lived in adjacent rooms when we resided in Haily Hostel of the S. M. Inter, College, Chandausi. We also lived in the same hostel at Allahabad University. At Chandausi particularly, our first and fresh companionship was very close and contant. Living in adjacent rooms we met and talked frequently every day. We went together for bathing, for taking our meals in the hostel-mess and for attending our

classes. We talked together about our studies and ambitions in life. Ramanand was academic by disposition and had no other ambition except to become a teacher. He was a scholar and a poet and fancied to become a scholar and poet of Hindi in which he possessed an amazing proficiency. It is no surprize to me to see that he has a reputation as an author and poet of Hindi. His ability in English also was not inferior to any one in the class, though he had taken his High School from Anglovernacular School, while many of us came from English Schools. We could talk better in English than he, but he was inferior to none in writing. It is no wonder that he has come out to be as brilliant a writer in English as in Hindi. His English books are equally admirable for their language and style.

I came from Theosophical High School, Benares with extra-curricular accomplishments in debate and sposts and an ambition for civil service. Ramanand came from a smaller place with little interest in extracurricular activities and sports. He had no ambiton for civil service. Academic and literary by disposition, he had no other idea except that of becoming a teacher. Simple in nature, he had little knowledge of the ways of the world. But he was inquisitive about things. He was responsive to friendly talks which he took as information. I used to narrate to him experiences of my Benares-Schooling, of my hostel-living at Benares, of my teachers and friends, there. He used to listen with interest.

I was particularly interested in tannis. Ramanand had no disposition for sports. As a poet he was more imaginative than active. I developed a little interest in Hindi poetry with him. He used to read to me his juvenile compositions which exhibited his command over language. I used to talk to him about tennis, about classes. We talked together about our studies and ambitions in wimbledon and Davis cup, about Tilden and Perry the tennis-heroes of those days. Ramanand got interest in tennis by my talks and more by my active involvement in college-tennis. He even began playing tennis with some other novice players. I had spare tennis rackets with me and that facilitated his playing the game. I am happy to learn that this early interest in tennis has been transmitted to his sons who are good players of tennis.

From Chandausi we came together to Allahabad for our graduation. We happened to live in the same hostel (Kayastha Patha-

shala) and our company continued till we post-graduated in 1940. I took my M.A. in History and he in Philosophy which amply suited his introvert and and reflective disposition. History and Philosophy both were famous in Allahabad for the great masters like Dr. Ram Prasad Tripathi, Dr. Ishawari Prasad and Prof. R. D. Ranade.

I joined Indian Army in 1941 and Ramanand continued to stay Allahabad for his research in philosophy. Research at Allahabad was a residential course in those days and took 4 to 5 years. However he persisted with research and took his doctorate in Philosophy after which he became a lecturer in Philosophy in Jodhpur. Later after formation of Rajasthan he served at Jaipur, Kota and Bharatpur where he settled finally due to vicinity to U. P.

We maintained our contact and friendship through correspondence for many years after we parted for our divergent carrers. There is something in the quality and affection that our esteem for each other has grown, matured and mellowed. I was impressed by Ramanand's scholarship but more by the qualities of his character and culture. He was a staunch vegetarian. He was an orientalist and had a deep love for ancient Indian culture, which now I find, has fulfilled in his works on the subject. I had an ambition for civil service. Some old students of S. M. College, Chandausi had succeeded in Indian Govt. Services and their names were displayed on the merit-board of the college. Vishnu Sahai and Bhagwan Sahai who retired as Governors, were among them. Their achievements inspired the students of the college. The Allahabad University was the cradle of I. C. S. The atmosphere of the university was surcharged by two powerful currents-one of Indian Govt. Services which was more powerful, and the other of scholarship, which was practically weaker though quite influential due to the eminence of the Masters at Allahabad and also due to its correlation with competitions. It were the cream of the University who succeeded at these competitions. Ramanand had no longing for civil service. He had an inclination to become a teacher, an author and a poet. He has attained eninence in the sphere of education, authorship and poetry, lately though indirectly he had proved his attainment at the Indian Govt. Services also. Of his two sons, one is I. P. S. and the other is in I. A. S.

Ramanand loved poetry and he published a little poetical book in 1937 while a student at Allahabad University. He presented a

copy of it to me which is among my precious possession to this day. Later he published a Hindi Epic Parvati which established his reputation as a poet in Hindi. He has written several critical and cultural works in Hindi. His contact with Prof. Ranade, the Great Master of Philosophy at Allahabad inspired him with a zeal for Philosophy. He translated his master's book on Upanishads into Hindi when he was a student at Allahabad. Lately after his retirement from Educational service of Rajasthan, he has himself written a huge book on Values in the Upnishads and has dedicated to his late Master.

I have no knowledge of Philosophy but he has presented to me his book on Upanishads. It is a measure of his friendly affection and modesty. His books are a testimony to his scholarship. It is a remarkable fact that he has eschewed writing texual books which could be more profitable, and has instead chosen; not only to write books of high standard but also spent his own money over publishing them. All this is in keeping with his philosophic disposition. He has maintained the high standards of erudition that were set by seers of India over the ages, his master being among them. He has proved to be a worthy disciple of a great teacher, as Prof. Ranade was.

Lately his younger son 'Pramod' who is an I. A. S. officer happened to be posted at Shahjahanpur which is my native district, and where I live now after my retirement from Army. My contact with Pramod at Shahjahanpur refreshed my relationship with his father and revived old memories of our long companionship at Chandausi and Allahabad. We had not met for many years after our parating after our postgraduation from Allahabad, though we had contact with each other through letters. I had not seen Ramanand for many years and I doubte if he continued with his orthodox style of living. From what I learnt from Pramod I inferred there had been no change in Ramanand's way of living and his views. He wore the same Indian dress in service as he wore as a student. His views were as oriental and orthodox as before. These views have been expresed by him in a number of books he has written on Indian culture and thought. The young adherent of oriental ways and views has now grown in to a strong exponent of them. This was no surprise to me as I saw in him as a student the germs of an oriental thinker that he is today.

I had no intrinsic disposition for orientalism like my friend. I was under the influence of the English way of living which was pervalent in educated society those days. I wore english dress. Spoke english, played tennis and aspired for civil service. But the influence of my family combined with the intimate effect of Ramanand's close companionship for six years during our education were responsible for retaining in my inner life a core of conviction of oriental ideas and a liking for Indian way of life. I developed a deep and abiding love for it. The same influences are responsible for my remaining a non-smoker a non-alcoholic and tea-totler. Ramanand's company emphasized those qualities of character that have become the foundation of my life. As a student he never preached his conviction but expressed them in his living. Now after living for long according to these convictions and also after thinking deeply about them he is rightly expounding them in his writings.

His company was a pleasure and also a profit to me. His friendship had been a treasure of my life. I feel the pride of a friend in his literary and philsophical achivements. The 'memories of our past companionship link the present with a living cord and are themselves enriched by the glory of the present. I feel elated to enlist myself as one of the old and early friend, fellow and mate of the poet, philosopher and author who is being felicitated for his extra-ordinary work today by Rajasthan Manch.



FORTY YEAR'S FRIENDSHIP

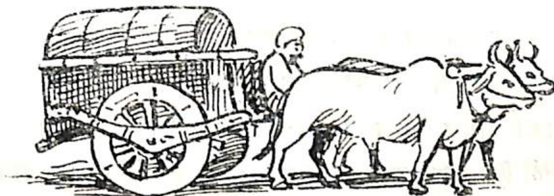
—P. C. Chaturvedi

In the year 1940, when I first met Dr. Ramanand we were both studying in the Allāhabad University. I found his enormous intellectual potential hidden under a shell of introversion. The poems he wrote and which are now in oblivion reflected upon his philosphic view of life. He thought life a misfortune which no one would want to repeat and which most people "supported with impatience and quitted with reluctance."

Under Professor Ranade his intelligence bloomed and his genius spread its wings to soar high into the spheres of philosophy. Ethics, the most unknown and recalcitrant aspect of Shankar's philosphy was subdued by Ramanand in his thesis and the higher echelons of philosophy students widely acclaimed the work. His command over English, Sanskrit and Hindi language was of a rare order.

With me his discussions were endless. He had some thing interesting and weighty to say on almost every aspect of philosophy. Shankar was his ideal and he lived upto it in almost every walk of life. His mission was to bring out the true nature of Hindu philosophy which he fulfilled in his career as a teacher, but his life as a student never ended. Among his innumerable works big and small "Secular, Social and Ethical values in the Upanishads" and "Unique India" are both proofs of his successful mission.

I have been the gainer in my long assocation with him and look forward to his rare visits to Allahabad which take us back 40 years to 6 Chatham Lines, Allahabad where we once lived together.



मेरे भाई : एक भावपूर्ण साधक

— प्रभा वाजपेयी

बात करीब ३०-३२ वर्ष पूर्व जोधपुर की है। एक आठ-दस वर्ष की बालिका अपने संगीत-शिक्षक के यहां प्रातः संगीत सीखने जाती थी। उनके यहां सुदर्शन व्यक्तित्व और गम्भीर प्रकृति वाले एक नवयुवक अतिथि ठहरे हुये थे। इस अतिथि से बालिका की भेंट प्रतिदिन होती। वे बड़े ही प्यार से उसे मिठाई खिलाते थे। कुछ समय बाद वे अस्वस्थ हो अस्पताल में भर्ती थे और वहीं उन्होंने उस बालिका से 'राखी' बंधवाने की अपनी इच्छा प्रकट की। बालिका भी बड़े हर्ष और उत्साह से राखी बांधने पहुंच गई। राखी बांधते-बांधते उसने देखा कि उनकी आखें भर आई हैं और वे बड़े स्नेह से उसे देख रहे हैं। उसकी कुछ समझ में नहीं आया। सम्भवतः उस वय में वह अन्तरमन के भावों, उनकी व्यथा-पुलक को समझ सकने में असमर्थ रही हो, किन्तु आज ··· इतना समय बीत जाने पर भी उस दिन की स्मृति को वह भुला नहीं पाई है। रक्षा-बंधन के पुनीत बंधन के अर्थ गाम्भीर्य को समझने की क्षमता उस दिन कदापि नहीं होगी, किन्तु आज उसे अपने भाग्य पर गर्व है और यह पवित्र-बंधन उसके जीवन की— बहुत बड़ी उपलब्धि है। यह बालिका और कोई नहीं मैं ही थी और आकर्षक व्यक्तित्व वाले नवयुवक, हिन्दी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार, प्रख्यात दार्शनिक एवं मनीषी डॉ० रामानन्द तिवारी। एक लम्बा समय व्यतीत हो गया है, फिर भी उनके मन में जोधपुर की उस रक्षा-बंधन — पर्व की अनुभूति अभी भी सजीव बनी हुई है। पिछले वर्ष उन्होंने लिखा था "बहन प्रभा, मेरे कवि-मन के अन्तर में जोधपुर को वह पहली राखी सदा प्रत्यक्ष रहती है। इस परोक्ष राखी को भी प्रत्यक्ष बना लेता हूं। तुम्हारा यह स्नेह सूत्र मेरे मन का मधुर बंधन है।" आज जब स्मृति के झरोखों से अतीत को देखती हूं, तो बहुत सी घटनाएं सजीव होने लगती हैं। विगत ३२ वर्षों से मुझे भाई साहब का पुनीत-स्नेह निरन्तर प्राप्त होता रहा है। बड़े भाई के अनुरूप उन्होंने समय-समय पर मुझे प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सहयोग प्रदान किया है। छात्र-जीवन में वे सदैव अध्ययन के महत्व को समझाते रहे। यह उसी प्रेरणा का परिणाम है कि आज मैं एक महाविद्यालय में व्याख्याता पद पर कार्य कर रही हूं।

मैंने भाई साहब को सदा से ही एक साधक के रूप में देखा है। अपने कार्य में लगे रहना तथा सदैव चिन्तन-मनन करते रहना, यही उनकी प्रकृति बन गई है। वास्तव में उनकी यह एकनिष्ठता ही उनकी सफलता का रहस्य है और उनके व्यक्तित्व का प्रतिरूप। जीवन संघर्षों ने उन्हें जीवन के यथार्थ से इतना जागरुक कर दिया था कि वे कहीं भी त्रुटि नहीं कर सकते थे। उनके व्यक्तित्व का गाम्भीर्य भी इसी की देन है। वस्तुतः उनका जीवन एक कठिन साधना रहा है। स्वावलम्बन और परिश्रम ने ही उन्हें अद्वितीय आत्मशक्ति प्रदान की है। समय की चुनौतियों को साहस के साथ स्वीकार करते हुये वे एक के बाद एक लक्ष्य को प्राप्त करते रहे। निःसंदेह - उनका कर्मठता के प्रति तीव्र आग्रह ही दूसरों के लिये

प्रेरणा स्वरूप है। यही कारण है कि वे आज विद्वत्ता के उच्चतम शिखर पर पहुंच सके हैं। इसमें कोई संशय नहीं कि उनकी विद्वत्ता एकांगी नहीं है! दर्शन, धर्म, साहित्य की त्रिवेणी ने ही उनके जीवन को संगम जैसा ही पावन और पूजनीय बना दिया है। ज्ञानार्जन के लिये उन्होंने भौतिक-सुखों को सदैव दूर रखा। वीतरागी की तरह जीवन व्यतीत करते रहे। आज के भौतिकवादी युग में ऐसी निस्पृहता बहुत कम देखने को मिलती है। वे कभी भी बहुत अधिक महत्वाकांक्षी नहीं रहे। अपने अध्ययन व सृजनात्मक कार्यों में बाधा स्वरूप 'प्राचार्य-पद' को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनकी योग्यता और दक्षता के आधार पर वे विश्व विद्यालयों में ऊंचे से ऊंचा पद प्राप्त कर सकते थे किन्तु अपने लक्ष्य से भिन्न जानकर उन्होंने कभी उसके लिये प्रयत्न नहीं किया। इन "शक्ति पदों" को न स्वीकारने या प्राप्त करने का उनके मन में कोई पश्चाताप भी नहीं है।

परिवार के प्रति वे अपने दायित्वों को सदैव एक आदर्श पति व पिता के रूप में पूर्ण करते रहे हैं। उनकी कर्मठता, सात्विकता, नियमबद्धता तथा व्यावहारिकता के कारण पारिवारिक — जीवन बहुत सुखी है। भाभी जी का संस्कृत में पी० एच० डी० करना बच्चों का प्रशासनिक सेवाओं में नियुक्त होना भाई-साहब की प्रेरणा व लगन का ही परिणाम है। अल्प संतोषी होकर वे सदा परिश्रम को पाथेय बना नये-नये संकल्पों को लेकर आगे बढ़ते गये और सफलता स्वयं उनका वरण करती रही। इतनी उपलब्धियों के होने पर भी वे एक सरल, सहज व्यक्ति के रूप में माने जाते हैं। प्रमाद की झलक उनमें कभी भी नहीं दिखलाई पड़ी। यद्यपि बहुत आत्मीयता के क्षणों में वे कभी-कभी विनोदी प्रकृति के दिखाई पड़ते हैं, नहीं तो गाम्भीर्य का आवरण उन्हें सदैव ढके रहता है। उनकी सौम्य प्रतिमा के साथ मर्यादाओं की रेखाएं स्वमेव ही खिंच गई हैं।

भाईसाहब सदैव शांत प्रकृति के रहे हैं। मेरी और उनकी आयु में काफी अंतर है इसलिये आज भी अपने संकोच और भय के कारण अधिक बात नहीं कर पाती हूं। उनके सामने सहज होना मेरे लिये सदैव असम्भव रहा है। यद्यपि उनका स्नेह मेरे प्रति अत्यधिक रहा है, किन्तु संकोच की सीमाएं मुझे बांधे ही रहती हैं। भाईसाहब की स्नेहसिक्तता के संदर्भ में एक घटना मुझे स्मरण आ रही है — एक बार मैं और मेरे पति (श्री प्रेमप्रकाश वाजपेयी) बिना किसी पूर्व सूचना के भरतपुर जा पहुंचे। उन दिनों भाईसाहब अलवर अपने पुस्तक-प्रकाशन कार्य से गये हुये थे। दो तीन दिन बाद उनका पत्र आया, जिसे पढ़कर सबको आश्चर्य हुआ, लिखा था कि "कल मैंने स्वप्न में देखा कि प्रभा और प्रेमप्रकाश भरतपुर आये हैं। यदि वे लोग आये हों, तो उनके आतिथ्य में कोई कमी नहीं रखना।" यहां तक कि उन्होंने विशेष व्यंजनों की सूची तक बना कर भेज दी थी। …किसे विश्वास होगा? मुझे भरतपुर से विदा करते समय सदा ही उनकी आंखें भर आई हैं। उनका संवेदन शील, कोमल हृदय बुद्धि-विवेक से संयुक्त होकर भी अनेक बार अनुभूतिप्रवण हो उठता है। आखिर कवि हृदय जो ठहरा। … भारतीय संस्कृति के वे पूर्ण समर्थक हैं, मात्र लेखक ही नहीं! छोटी बहन होने के कारण वे मेरे यहां की कोई भी चीज ग्रहण नहीं करते।

भाईसाहब की उपलब्धियों और सफलताओं में भाभी जी (डॉ० श्रीमती शकुन्तला तिवारी) का विशेष योगदान रहा है। ऐसा सुखद संयोग बहुत कम देखने को मिलता है, जब पति पत्नी दोनों ही सानु-रूप हों। लेखन-सृजन के अनुकूल वातावरण बनाना, लेखन सामग्री का संपादन, संकलन आदि कार्य करके वे छायावत् भाईसाहब के रचनात्मक कार्यों में लगी रहीं। अपने त्याग, समर्पण द्वारा उन्होंने अपने पतिव्रत

धर्म का समुचित पालन किया है। सत्य तो यह है कि भाईसाहब की ज्ञान साधना में वे "समिधा" बनकर अपने दायित्वों का निर्वाह करती रहीं, बिलकुल एकरूप, एकनिष्ठ होकर। अन्त में, यही कहना चाहूंगी कि अपने किसी आत्मीय के सम्बन्ध में लिखना, कुछ कहना काफी कठिन होता है। यह ऐसा दुसाध्यकार्य है, जो क्षमता सामर्थ्य के रहते हुए भी सम्पादित नहीं किया जा सकता। हृदय जो कहना चाहता है, वह नहीं कह पाता, अनुभूति इतनी सहज होती है कि शब्द ही नहीं मिलते ।···ऐसी स्थिति में कहना, लिखना सार्थक नहीं हो पाता और अभिव्यक्ति अधूरी रह जाती है। अपनी असमर्थताओं के आधार पर मैंने अपने पूज्य भाईसाहब का एक बिम्बात्मक स्वरूप अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। उनके प्रति मेरी श्रद्धा-भावना इन शब्दों के द्वारा व्यक्त हो सकी है या नहीं, कह नहीं सकती किन्तु ईश्वर से उनके दीर्घायु और यशस्वी होने की सदैव कामना करती रहती हूं।

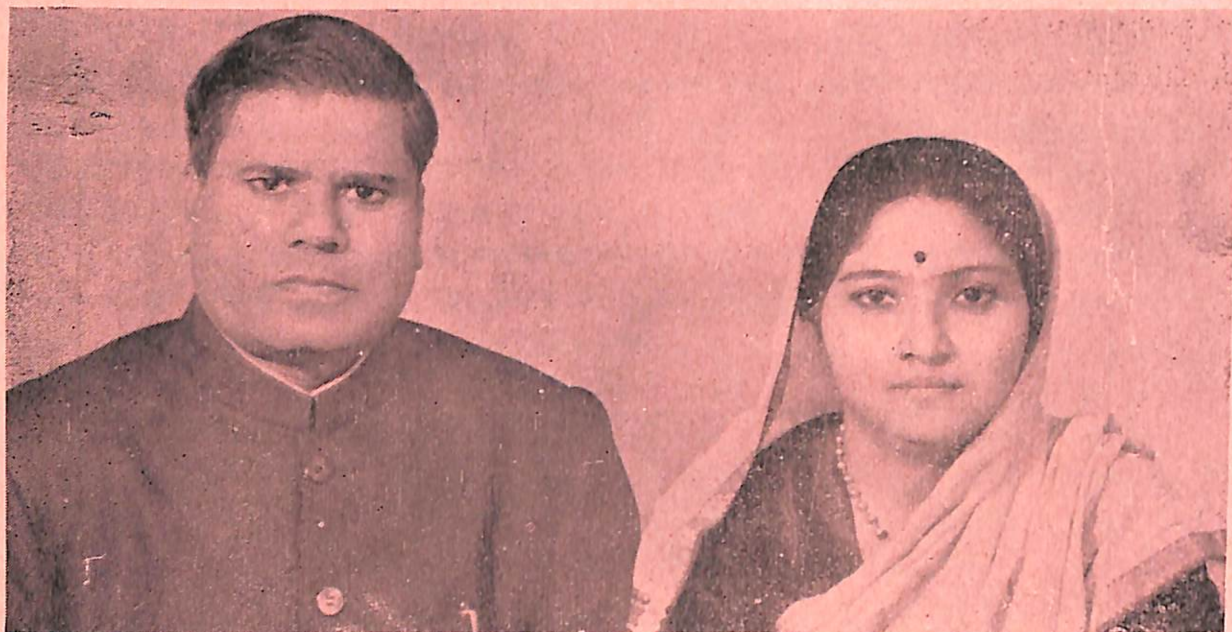


महाकवि



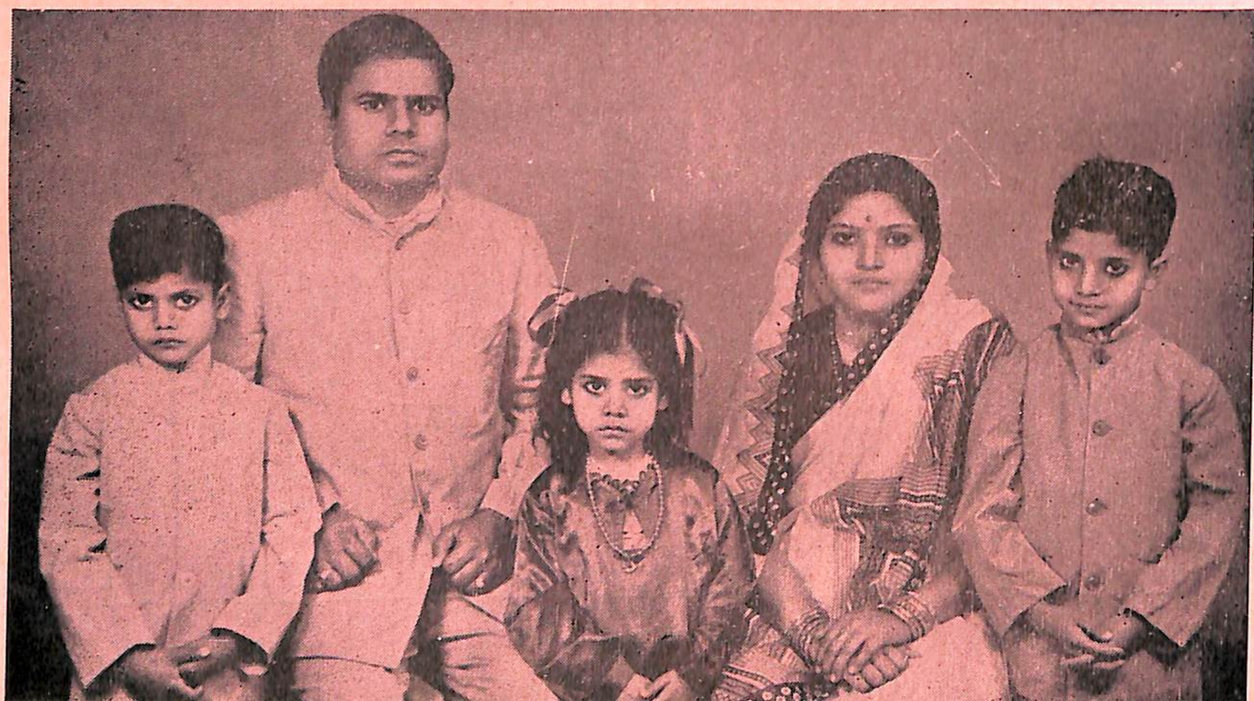
डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन

पति-पत्नी



डॉ० रामानन्द तिवारी : डॉ० शकुन्तला रानी तिवारी

तिवारी दम्पति बच्चों के साथ



प्रमोद, डॉ० तिवारी, अर्चना, श्रीमती तिवारी व विनोद

मेरे, कवि-दार्शनिक, पति : भारतीनन्दन

—डॉ० शकुन्तला रानी तिवारी

कवि और साहित्यकार अपनी कल्पनाओं और विचारों में डूबे रहते हैं। अतः वे व्यावहारिक जीवन और सम्बन्धों के उत्तरदायित्वों पर उचित ध्यान नहीं दे पाते। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि कितने महान कवि और साहित्यकार अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों का उचित निर्वाह करते हुए कितनी महान साहित्यिक उपलब्धि कर सके हैं। हिन्दी साहित्य के अवलोकन से तो परिवार और साहित्य-साधना की संगत का कोई उत्साहवर्धक प्रमाण नहीं मिलता। प्राचीन काल के महान कवियों में सूर और तुलसी ने परिवार का पालन नहीं किया। आधुनिक काल के महान कवियों में कुछ अविवाहित और कुछ विधुर रहे हैं। उनमें एक दिनकर ही ऐसे थे, जो पारिवारिक रहे, यद्यपि साहित्यकार के रूप में परिवार के साथ उनका कितना और कैसा सम्बन्ध रहा, यह खोज का विषय है।

मेरे पति केवल कवि ही नहीं, साहित्यकार, अध्यापक, विचारक और दार्शनिक भी हैं। इस दृष्टि से उनके पारिवारिक जीवन के निर्वाह का परिचय महत्वपूर्ण है। किसी भी स्त्री को पति का परिचय विवाह के बाद ही होता है। इससे पहले सम्बन्ध की चर्चाओं से कुछ पूर्वाभास अवश्य मिल जाता है। विवाह की बातचीत के समय मैंने भी सुना था कि ये कवि और दार्शनिक हैं। इस कारण घर के कुछ लोगों को असमंजस भी था। किन्तु ये दर्शन में पी० एच० डी० कर रहे थे और पी० एच० डी० करके जोधपुर के जसवन्त कालिज में प्रोफेसर हो गये। इनकी ये व्यवहारिक सफलता विवाह सम्बन्ध की भूमिका बनी। कवि और दार्शनिक कुछ विचित्र होते हैं। अतः विवाह की बातचीत साधारण ढंग से नहीं हो सकी थी। जोधपुर में ये एक कमरे में अकेले रहते थे। इनकी मां का बचपन में स्वर्गवास हो चुका था। परिवार के लोगों से अच्छा सम्बन्ध नहीं रहा। जोधपुर के एक त्रिवेदी परिवार ने वर पक्ष की रीतियों को निबाहा। उस परिवार की एक कन्या इनकी बहन बनी, जिनका आत्मीय सम्बन्ध आज भी अक्षुण्य है।

यों परिवार से छूटे हुए एक कवि दार्शनिक के पारिवारिक जीवन का आरम्भ हुआ। इनके सम्बन्ध में इतना ही कहना उचित है कि ये न तो वाचस्पति मिश्र की भांति पत्नी और परिवार की पूर्ण उपेक्षा करके एकांगी साहित्यसाधना में डूबे रहे और न अन्य सन्तुलित लोगों की भांति अधिक सुचारु रूप से पारिवारिक हितों का ही सम्पादन कर सके। एक प्रकार से इनकी स्थिति वाचस्पति मिश्र और सामान्य जन के बीच की रही है। कवि और दार्शनिक तो ये विवाह के पूर्व ही बन चुके थे। कल्याण और चिन्तन इनके व्यक्तित्व के अंग बन गये थे। उसमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता था। अध्यापक, पति और पिता बनकर इन्होंने अपने नये सम्बन्धों के उत्तरदायित्व को इतना निबाहा, जितना कि अपने मौलिक व्यक्तित्व की सीमा में सम्भव हो सका।

अध्यापक की हैसियत से इन्होंने निष्ठापूर्वक अपना कार्य किया, जिससे राजस्थान के अनेक

विद्यार्थी प्रभावित एवं लाभान्वित हुए। स्वतन्त्र भारत में जो कर्मनिष्ठा की अवनति हुई है उसे देखते हुए इनकी इस कर्त्तव्यनिष्ठा को सराहनीय कहा जायेगा। किन्तु पारिवारिक दृष्टि से अध्यापन की निष्ठा भी काव्य और चिन्तन की भांति घाटे का सौदा रही। पहले के महान दार्शनिक और साहित्यकार अध्यापक नहीं थे। उनमें परिवार वाले भी कम थे। काव्य और चिन्तन के साथ मिलकर अध्यापन की निष्ठा पारिवारिक हितों में बाधक हो जाती है। मन से अधिक व्यस्त अथवा त्रस्त रहने पर परिवार का अधिक मोह बनाये रखना कठिन है। कौन साहित्यकार अथवा अध्यापक अपनी साधना में कितनी निष्ठा रखकर पारिवारिक हितों पर कितना ध्यान दे पा रहे हैं, यह विचारणीय प्रश्न है? अधिकांश अध्यापकों की अध्यापन निष्ठा भी संदिग्ध है। काव्य, दर्शन और अध्यापन तीनों में निष्ठा रखते हुए पारिवारिक हितों का समुचित निर्वाह करने वाला व्यक्ति बिरला ही होगा।

इस भूमिका में इनकी जीवन चर्चा इनके लोक निर्वाह और इनकी साहित्यिक एवं दार्शनिक उपलब्धि की रोचक कथा है। विवाह के बाद ये पूर्ववत् चिन्तन और अध्यापन में संलग्न रहे। अधिकांश समय भी पढ़ने, पढ़ाने और लिखाने में बीतता था। ऊंची कक्षाओं को पढ़ाने के लिए तैयारी भी करनी पड़ती थी, जो अब बहुत कम लोग करते हैं। अधिक समय तक अकेले रहने के कारण चिन्तन इनका स्वभाव बन गया था, लेखन इनका व्यसन और धर्म था। अध्यापन, चिन्तन और लेखन से इनकी जीवनचर्या बहुत भारी बन गई। वेतन कम थे, घर-बाजार के काम भी आवश्यक थे। साधन सुविधाओं की कमी थी। पिछला जीवन अकेला और असन्तुष्ट रहा था। स्नेह और सन्तुलन देने वाले कोई सम्बन्ध नहीं रहे। चिन्तन के लिए कुछ मुक्तमन और अवकाश चाहिए। लेखन के लिए कुछ आर्थिक साधन चाहिए। इन सब की कमी के कारण इनका मन हर समय क्षुब्ध रहता था। अकेले और उपेक्षित जीवन के संस्कार वर्तमान कठिनाइयों से मिलकर क्रोध उत्पन्न करते थे। इस क्षोभ और क्रोध के भीतर ही ये जैसा भी हो सका अपने अध्यापन, लेखन और पारिवारिक पालन के उत्तरदायित्वों को निभाते रहे।

कवि और दार्शनिक होने के नाते इनको कुछ व्यावहारिक बातों के लिये श्रेय देना होगा। घर की आवश्यकताओं का ध्यान रखना, बाजार के घरेलू काम करना, घर की व्यवस्था में रुचि लेना, बच्चों के खाने-पीने, खेलने-पढ़ने आदि की व्यवस्था करना, इन बातों में मुख्य हैं। किन्तु इन सबके बीच क्षोभ और क्रोध बना रहता था, जिसकी छाया पारिवारिक जीवन को सदा आच्छादित करती रही। क्षोभ, क्रोध और व्यवहार के ऐसे ही धुंधलके में अनेक वर्षों तक हमारा पारिवारिक जीवन चलता रहा। इस बीच में इनके बड़े भाई की बीमारी ने मानसिक और व्यावहारिक कठिनाइयों को और बढ़ाया। ससुराल के सम्बन्ध से भी इनको जीवन में शान्ति और सन्तुलन मिलने में कोई सहायता नहीं मिली। पहले इनका व्यक्तिगत जीवन अकेला था, फिर पारिवारिक जीवन भी अकेला हो गया। लिखने पढ़ने में व्यस्त रहने के कारण अधिक मिलना-जुलना, घूमना नहीं हो पाता था। सम्बन्धों में कोई ऐसी जगह नहीं थी, जहां पूरे वर्ष में कभी जा सकते। यों जिस प्रकार विवाह के पूर्व इनका जीवन अकेले एक कमरे में बीता, उसी तरह से वह विवाह के बाद भी अकेला बना रहा। मैं विवाह तक एक पुरातनपन्थी परिवार में घर के भीतर ही रही, उसी प्रकार विवाह के बाद भी मेरा सामाजिक जीवन घर में ही बीता है। सामाजिक सम्बन्ध कम होने के कारण बच्चों को भी कहीं बाहर जाने का अवसर नहीं मिला। बच्चों को आरम्भ से ही किसी स्कूल में नहीं भेजा। हाई स्कूल तक घर में ही पढ़ाया। इस कारण वे भी घर में ही सीमित रहे। इस प्रकार

हमारा सम्पूर्ण पारिवारिक जीवन एकान्त तपस्या का उदाहरण बन गया। यह तपस्या सभी के लिये बहुत कष्टप्रद रही, किन्तु सभी तपस्याओं की भांति इसके भी बहुत लाभ रहे।

इस एकान्त तपस्या के जीवन में गृहकर्म के अतिरिक्त लिखाई-पढ़ाई की धूम रही। इनके लिये तो लिखना-पढ़ना ही जीवन का धर्म था। विवाह से पहले भी कविता लिखते रहे थे। दर्शन के अध्यापक बनकर दर्शन के ग्रन्थ लिखने का विचार किया। विवाह के तत्काल बाद तर्कशास्त्र की पाठ्यपुस्तक के दो भाग लिखे, फिर १९५० में 'भारतीय दर्शन का परिचय' लिखा। १९५२ में जयपुर आकर 'भारतीय दर्शन की भूमिका' लिखी। १९५३ तक स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ाने के कारण इनका बहुत कुछ समय तय्यारी में लग जाता था। १९५३ की जुलाई में कोटा में स्नातक विभाग के अध्यक्ष होने के बाद इनका अध्ययन और तैयारी का भाग बहुत हल्का हो गया। ऐसा लगा मानों अध्यापन का भार इनकी प्रतिभा के विकास को रोक रहा था। कोटा के संक्षिप्त प्रवास में प्रातःकाल ७ बजे से स्नातक कक्षाएं पढ़ाकर भी दो वर्ष की अवधि में ही 'पार्वती' महाकाव्य का प्रणयन किया। १९५५ में जयपुर आकर और फिर १९५६ में भरतपुर आकर भी इनका लेखन कार्य निरन्तर चलता रहा। १९५७ में भरतपुर में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के बारह सौ पृष्ठों के विशाल ग्रन्थ की रचना हुई। उसके बाद हिन्दी और अंग्रेजी के गद्य ग्रन्थों का लेखन निरन्तर चलता रहा। बीच में मेरे अनुरोध से कुछ खण्ड काव्य भी लिखे। इनकी इच्छा राम, कृष्ण आदि पर कुछ और महाकाव्य लिखने की थी, किन्तु अध्यापन, परिवार और विचार के भार के कारण वह पूरी न हो सकी और कुछ खण्ड काव्य लिखकर ही सन्तोष करना पड़ा। खण्डकाव्य भी कुछ अधिक संख्या में लिखना चाहते थे, किन्तु व्यावहारिक रूप में यह सम्भव न हो सका। अनेक पौराणिक आख्यानों में इन्हें जीवन के अर्थ दिखाई देते थे जिन्हें ये काव्य का रूप देना चाहते थे। सावित्री, अहल्या, उर्वशी आदि खण्डकाव्य इसके उदाहरण हैं। उर्वशी पर तो एक महाकाव्य ही लिखने की इच्छा थी। वह १९५४ में पार्वती महाकाव्य के प्रसंग में कामदहन लिखते समय अधिक प्रबल हुई थी। उसी समय उर्वशी पर एक लेख लिखा, जो ज्ञानोदय में प्रकाशित हुआ। इस लेख के प्रकाशन काल से दिनकर जी की उर्वशी को ठीक आठ वर्ष होते हैं, जिस अवधि की साधना का फल दिनकर जी ने अपनी भूमिका में बताया है।

'पार्वती' की आलोचनाओं से ये साहित्य समीक्षा की ओर प्रेरित हुए। सत्यं शिवं सुन्दरम् के प्रसंग में कुछ सांस्कृतिक विचार उठे। संस्कृति के सूत्र से आध्यात्म और भाषा विज्ञान की ओर इनकी गति हुई। इस प्रकार भरतपुर के चौबीस वर्ष के निवास में अनेक विषयों पर हिन्दी और अंग्रेजी में ग्रन्थ लिखे। इनके लेखन में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण घर में विद्या का ऐसा वातावरण बन गया कि जिससे सभी अभिभूति हो गये। मैंने अपने घर पर हाईस्कूल तक की पढ़ाई पूरी नहीं की थी। १९५३ में जयपुर में हाईस्कूल की परीक्षा दी। इसके बाद आगे भी पढ़ाई करती रही तथा १९६० में मैंने संस्कृत में एम० ए० और १९६५ में 'महाभारत में धर्म' विषय पर पी-एच० डी० किया। बच्चों को भी बचपन से पढ़ने-लिखने की धुन लग गई। पिता के अनुकरण से वे बचपन में ही छोटी-छोटी पुस्तकें बनाने लगे। हाईस्कूल तक किसी विद्यालय में न जाने के कारण घर में ही पढ़ते, लिखते और खेलते रहे। हाईस्कूल में प्रथम श्रेणी तथा उसके बाद विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान पाने के कारण उनके लिए भी विद्या की श्रेष्ठता एक लक्ष्य बन गई। १९७२ में जयपुर विश्वविद्यालय में शिक्षा पूरी करके हमारे दोनों पुत्र भारत सरकार की प्रशासकीय सेवा में चले गये। बड़ा पुत्र विनोद बिहार में आई० पी० एस०

में है। छोटा भाई प्रमोद उत्तर प्रदेश में आई० ए० एस० में है। उनसे छोटी पुत्री अर्चना प्रथम श्रेणी में बी० ए० और एम० ए० करके पी- एच० डी० कर रही है। उसके लिए सुयोग्य वर खोजने में इन्होंने बहुत दौड़ धूप की। तीनों के विवाह हो गये और तीनों के एक-एक कन्यारत्न हैं। १९७४ में राजसेवा से अवकाश ग्रहण कर उसके बाद ये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अन्तर्गत उपनिषद् और गीता पर ग्रन्थ लिखते रहे हैं। इधर कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों की सुदृढ़ भूमिका बनी है, जिसके आधार पर कुछ दार्शनिक लेखन करना चाहते हैं।

यों बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक इनका संपूर्ण जीवन अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन और लेखन में ही बीता है। इन सबका कुछ अधिक भार होने के कारण मन में आन्तरिक क्षोभ बहुत रहा तथा अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां भी पैदा हुईं। बचपन में परिवार का प्रेम न मिलने के कारण जीवन में एक मौलिक अभाव रहा। अध्ययन काल में भी आर्थिक कठिनाइयां रहीं और एकान्त का सन्ताप रहा। नौकरी और विवाह से भी ये क्लेश कम न हुए। नौकरी से जीविका की निश्चिन्तता हो गई, किन्तु वेतन कम थे तथा लेखन और प्रकाशन के व्यय ने हमारी आर्थिक कठिनाइयों को और अधिक बढ़ा दिया।

अध्यापन, चिन्तन, लेखन और प्रकाशन के अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था और राष्ट्रीय शिक्षा की चिन्ता भी इन्हें हमेशा सताती रही। हिन्दी में विचारात्मक गद्य के अभाव से दुःखी रहे। तथा स्वयं इसकी पूर्ति का प्रयास करते रहे। इसी चिन्ता से प्रेरित होकर 'भारतीय चिन्तन' और 'परिप्रश्न' नामक दो पत्रिकायें निकालीं, जो सहयोग के अभाव में न चल सकीं। इस पत्रकारिता ने हमारे व्यय और हमारी व्यथा को बढ़ाया। पांच सौ रुपये वेतन पाने वाला एक अध्यापक पांच सौ रुपये प्रतिमास के व्यय से 'भारतीय चिन्तन' के अंक छपाता रहा। भारतीय चिन्तन से पहले और बाद में पांच-पांच सौ रुपये व्यय करके समाज और शिक्षा सम्बन्धी योजनायें छपाईं। इन सब प्रकाशनों का वितरण से अधिक और कोई उपयोग नहीं था। इनके राष्ट्रीय और सामाजिक चिन्तन के सिद्धान्त बहुत गम्भीर हैं, किन्तु इनकी गम्भीरता ने हमारे मानसिक क्लेश और भार को बढ़ाया। अर्थ अपव्यय भी हुआ। इनके सामाजिक और राष्ट्रीय विचारों को हम घर में ही सुनते रहे। ज्ञान तो अवश्य कुछ बढ़ा होगा, किन्तु पारिवारिक जीवन का आनन्द इससे बहुत मन्द हुआ।

इनका शिक्षा सम्बन्धी चिन्तन घर तक ही सीमित नहीं रहा। राजसेवा से अवकाश ग्रहण करने के के बाद वह एक व्यावहारिक उन्माद बन गया लेखन कार्य में रत रहते हुए, अब एक आदर्श बाल विद्यालय का संचालन कर रहे हैं, जिनमें दो वर्षों से काफी धन व्यय होता रहा है। प्रकाशन और विद्यालय लाभकारी व्यवसाय हो सकते हैं किन्तु हमारे लिए तो ये व्ययकारी और क्लेशकर रहे हैं। लेखन और प्रकाशन की भांति विद्यालय की व्यवस्था का भार मेरे ऊपर रहा है। व्यय के अतिरिक्त श्रम भी रहा है। अपनी आविष्कृत नई शिक्षा प्रणालियों की अपार सामग्री के निर्माण का कार्य घर में ही होता रहा है। कागजों से तो घर सदा ही भरा रहा, अब पत्थर, सीमेन्ट लकड़ी, लोहा, गत्ता आदि की शिक्षण सामग्री का एक नया भंडार भर गया है।

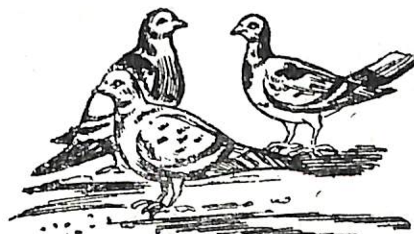
राट्र निर्माण और समाज कल्याण की अनेक योजनायें मन में बनाते रहे हैं। सीमाओं के कारण वह क्रियान्वित नहीं हो सकी हैं। किसी से सहायता लेने का स्वभाव नहीं रहा। सरकार की उपेक्षा हमारे लिए अनुग्रह रही है अन्यथा हमारे घर का अनुसंधान कार्यालय प्रकाशन भवन और शिक्षा सदन भानु-

मती का एक विशाल पिटारा बन जाता।

यों अधिक व्यस्त और त्रस्त रहकर भी मैं एक उन्मादी साहित्यकार का बौद्धिक और व्यावहारिक सहयोग जीवन भर करती रही हूं इसमें अपार श्रम और क्लेश रहा। केवल जीवन की सार्थकता का एक सन्तोष रहा। दाम्पत्य के विनोद विहार से तो हम बहुत कुछ वंचित रहे। बच्चों को भी पर्याप्त स्नेह नहीं मिल सका, किन्तु सबकी सुविधा की व्यवस्था हमेशा करते रहे। केवल मानसिक क्लेश रहा, जो अब जीवन की संध्या में सार्थकता और सफलता से कम हो रहा है। परिवार से उपेक्षित एक मातृहीन और उन्मादी साहित्यकार और साधारण अध्यापक की इस उपलब्धि को ही मैं तो बहुत मानती हूं कि उनने एक अल्पशिक्षित पत्नी को पी०-एच० डी० बना दिया तथा दोनों पुत्रों को विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान पाने एवं उच्च पदों के योग्य बना दिया। कन्या को भी पुत्रों के समान योग्यता और मान दिया। लेखन और प्रकाशन में इतना अपव्यय करते हुए भी हमारे रहने के लिये एक अच्छा भवन बनवा दिया। इसके अतिरिक्त अनेक विद्यार्थियों के जीवन को उत्साह देकर उन्नति की दिशा में प्रेरित किया, इन सब उपलब्धियों के योग से राजस्थान में इन्हें जो प्रतिष्ठा मिली है, वह मेरे लिए एक गर्व की बात है। साहित्यिक रचनायें और सामाजिक प्रतिष्ठा ही हमारी दो मुख्य उपलब्धियां हैं। आर्थिक अभाव रहते हुये भी वृद्धवय में हमें अपनी इन उपलब्धियों से सन्तोष है।

आज राजस्थान मंच के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर इनका सम्मान और इन्हें समर्पित किये जाने के लिये एक अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन मेरी व्यक्तिगत प्रसन्नता का कारण है।

इस आयोजन के प्रसंग में भी मुझे मंच के आग्रह से इनकी अनेक रचनाओं को खोजने और व्यवस्थित करने में कष्ट उठाना पड़ा है पर इस उपलब्धि पर मुझे संतोष और गौरव दोनों ही हैं। यों प्रकारान्त से यह मेरे श्रम का भी समुचित सम्मान है।



पूज्य गुरुजी

—विजय नारायण गुप्त

यह बड़े हर्ष की बात है कि राजस्थान मंच, दिल्ली मेरे परम पूज्य गुरुदेव डॉ० रामानन्द तिवारी भारती-नन्दन के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रंथ प्रस्तुत करने का एक वृहद आयोजन करने जा रहा है। मेरे विचार से महाकवि डॉ० तिवारी को यह सम्मान देकर मंच ने अपना गौरव बढ़ाया है। पार्वती महाकाव्य के प्रणेता एवं 'सत्य शिवं सुन्दरम्' जैसे ग्रंथों के लेखक डॉ० तिवारी हिन्दी जगत को एक अद्‌भूत देन हैं। शिव-पार्वती की कथा को लेकर कालिदास रचित 'कुमार सम्भव' के बाद कदाचित् इन दो हजार वर्षों के अन्तराल में 'पार्वती' जैसा कोई अन्य काव्य मिलना बड़ा दुर्लभ है। वैसे भी शिव-पार्वती की पूजा हमारे देश में प्राचीन काल से ही होती आयी है। गांव-गांव में एवं हर जलाशय के निकट शिव के मन्दिर इस बात के प्रमाण हैं कि शिव-पार्वती किस तरह भारत के जन-जन में अपना स्थान बनाये हुए हैं। पार्वती महाकाव्य में शिव-पार्वती के जिस ओजस्वी चरित्र का वर्णन कवि ने किया है और कुमार कार्तिकेय के माध्यम से जो भारतीय युवकों को संदेश दिया है -उसका महत्व इस महाकाव्य को पढ़कर ही ज्ञात हो सकता है। वैसे तो आपने साहित्य, दर्शन, कला, संस्कृति एवं शिक्षा पर इतना कुछ लिखा है कि उसका मूल्यांकन करना मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के लिए तो नितान्त असम्भव है और किसी सीमा तक मेरी समझ के परे भी है। किन्तु, मैं इतना अवश्य जानता हूं कि आपके ग्रंथ भारतीय शिक्षा जगत में एवं छात्रों के निर्माण में एक निश्चित दिशा अवश्य दे सकते हैं। 'छात्रो! उठो! जागो!' नामक ग्रंथ के माध्यम से जहां एक ओर आपने हमारे देश के छात्रों को एक संदेश दिया है वहां दूसरी ओर "आपका बालक होन-हार है' नामक पुस्तक से आपने छात्रों के माता-पिताओं को भी संदेश दिया है। आपका ऐसा विश्वास है कि यदि माता-पिता अपने बालकों के भविष्य पर समुचित ध्यान दें तो सभी बालक प्रतिभाशाली हो सकते हैं। यदि बालकों के विकास में कहीं कोई कमी आती है तो उसके मूल में कहीं-न-कहीं माता-पिता की गलती अवश्य होती है। हो सकता है हमारे भारतीय माता-पिता इस कटु सत्य से सहमत न हों लेकिन मेरे विचार से यह बात ध्रुव सत्य है।

मेरा प्रथम परिचय :—

जब मैं इस बात पर विचार करता हूं कि पूज्य गुरुदेव से मेरा प्रथम परिचय कब हुआ तो मैं अपने अतीत की यादों में खो जाता हूं। आज से पन्द्रह-सोलह वर्ष पहले की बात है। उन दिनों मैं 'महारानी श्री जया कालिज' भरतपुर में टी. डी. सी. विज्ञान के प्रथम वर्ष का छात्र था। उन दिनों आप कालेज में प्राचार्य के पद पर कार्य कर रहे थे। मेरी कक्षा के सभी साथी विज्ञान के छात्र थे और कुछ स्वभाव से विज्ञान के छात्र साहित्य में रुचि कम लेते हैं। जब मैं उस घटना को याद करता हूं तो ऐसा लगता है जैसे

कि यह घटना आज की ही हो। श्री योगानन्द जी शास्त्री हमको हिन्दी पढ़ाते थे। एक दिन किसी बात पर वे हम लोगों से नाराज हो गये और उन्होंने हमारी कक्षा को हिन्दी पढ़ाने से इन्कार कर दिया। कक्षा के कुछ साथी गुरुदेव से उनके कार्यालय में मिले तथा अपनी समस्या उनके समक्ष रखी। गुरुदेव ने शास्त्री जी से तो कुछ नहीं कहा किन्तु स्वयं ही हिन्दी पढ़ाने के लिये कक्षा में आ गये तथा आते ही हंसते हुए बोले, "जब तक तुम्हारे गुरु नाराज हैं तब तक हम तुमको हिन्दी पढ़ायेंगे।" उनकी यह बात सुनकर कक्षा के सभी छात्रों के हृदय में एक प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी वह दिन था जब मैंने उनको एक शिक्षक के रूप में पाया जिसका प्रभाव मेरे मस्तिष्क में सदैव रहेगा। दर्शन के प्राध्यापक होने के कारण हम सभी की यह धारणा थी कि आप बड़ी गंभीर प्रकृति के होंगे। किन्तु उस दिन जिस ढंग से हिन्दी का पाठ पढ़ाया उसमें उन्होंने इतना हास्य बिखेरा कि कुछ कहा नहीं जा सकता। मुझे अच्छी तरह याद है उस पाठ का नाम था 'नर से नारायण।' यह लेख हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार बाबू गुलाबराय का लिखा हुआ था। यद्यपि उस दिन के बाद आप हिन्दी पढ़ाने तो कभी नहीं आये, किन्तु उनका छात्र बनने की मनोकामना मेरे हृदय में बहुत तीव्र हो गयी।

एक नवीन ज्योति :—

विज्ञान का छात्र होते हुए भी मेरी रुचि साहित्य और दर्शन जैसे विषयों में ही अधिक रहती थी। कुछ समय बाद ऐसा हुआ कि गुरुदेव ने प्राचार्य के पद से त्यागपत्र दे दिया तथा कालिज में दर्शन विभाग के अध्यक्ष पद पर ही कार्य करते रहे। स्वभाव से ही चिन्तनशील एवं साहित्य साधना में रत रहने के कारण प्रशासकीय कार्यों में आपकी कुछ अरुचि ही रही। इसके साथ-साथ श्रीयुत विनोद जी, प्रमोद जी व बहिन अर्चना जी छोटे-छोटे बालक ही थे — उनकी शिक्षा में भी आप अपना सक्रिय सहयोग देते थे। किन्तु कालिज के प्राचार्य के रूप में गुरुदेव को इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि आप अपनी साधना में पर्याप्त समय नहीं दे पाते थे। परिणाम स्वरूप आप प्राचार्य पद से त्यागपत्र देने के बाद 'पुष्प वाटिका छात्रावास' के 'संरक्षक' के रूप में आ गये। अब सौभाग्य से गुरुदेव का निकट सम्पर्क मुझे और भी अधिक मिल गया। फिर कुछ ऐसा हुआ कि विज्ञान में मुझे असफलता मिली। उस समय मेरा हृदय बड़ा दुःखी था तथा जीवन अन्धकारमय प्रतीत होने लगा। कुछ ऐसी ही मनःस्थिति में मैं गुरुदेव से मिलने गया तथा उनके चरणों में बैठ गया। गुरुदेव ने मुझे धैर्य बंधाते हुए मुझे विज्ञान छोड़कर कला का विद्यार्थी होने के लिए प्रेरित किया। उस समय मुझे ऐसा आभास हुआ कि जैसे मेरे अन्धकार-मय जीवन को एक नवीन ज्योति मिल गयी हो। मेरा मन काफी हल्का हो गया तथा साहित्य एवं दर्शन की पुस्तकों को बड़ी रुचि से पढ़ने लगा। गुरुदेव का सान्निध्य प्राप्त करके हिन्दी, अंग्रेजी, दर्शन आदि विषयों में दिन-पर-दिन रुचि बढ़ती गयी और अन्त में उनके चरण-कमलों में रहकर बी. ए. (ऑनर्स) दर्शन से किया।

शिक्षा शास्त्री के रूप में :—

पूज्य गुरुदेव डा० तिवारी जी एक उच्च कोटि के शिक्षा-शास्त्री हैं। शिक्षा पर आपने अपने मौलिक प्रयोग सर्वप्रथम अपने बच्चों पर ही किये। पहली कक्षा से लेकर दसवीं कक्षा तक आपने अपने बच्चों को न तो किसी विद्यालय में पढ़ने भेजा और न ही किसी अध्यापक को घर पर ही पढ़ाने के लिए रखा। इस अवधि में उनकी सम्पूर्ण शिक्षा आपकी ही देख-रेख में सम्पन्न हुई। आपके सभी बच्चों ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। श्रद्धेय माताजी (श्रीमती तिवारी) की भी सम्पूर्ण शिक्षा गुरुदेव के मार्ग दर्शन में

हुई तथा संस्कृत में एम. ए. करने के बाद उन्होंने पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। आपके सम्पूण परिवार ने शिक्षा के क्षेत्र में जो उन्नति की है—वह इस बात का प्रमाण है कि आप शिक्षा के क्षेत्र में उच्च कोटि का मौलिक चिन्तन रखते हैं। लगभग १५ वर्ष पूर्व आपने 'Defence, Development and Education, नामक एक लघु पत्रिका प्रकाशित की थी जिसमें आपने शिक्षा के सम्बन्ध में भारत सरकार को अनेक सुझाव दिये। आपका विश्वास है **कि एक ही इमारत व कुछ अध्यापकों की सहायता से प्राइमरी से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा दी जा सकती है तथा उसी इमारत का उपयोग छात्रावास के रूप में भी किया जा सकता है।** किन्तु हमारी सरकार ने आपको ऐसा अवसर नहीं दिया कि राष्ट्रीय स्तर पर अपने शैक्षिक प्रयोग कर सकें। आपके अनुसार शिक्षा प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए जिसमें कि छात्र के अन्दर ज्ञान के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाये। इसके साथ-साथ छात्रों को विद्याध्ययन करते हुए अपना कुछ समय जीविका उपार्जन में भी देना चाहिए। इस तरह विद्यार्थी सदैव व्यस्त रहेगा तथा उसमें अनुशासन हीनता की समस्या पैदा नहीं होगी।

दार्शनिक के रूप में :—

पूज्य गुरुदेव डा. तिवारी निस्सन्देह एक उच्च कोटि के दार्शनिक हैं। किन्तु आपका दार्शनिक चिन्तन पूर्णतः व्यावहारिक है। भारतीय दर्शन के आप विशेषज्ञ हैं। भारतीय दर्शन की जो विशेषताएं हैं तथा जीवन में उनका जो व्यावहारिक मूल्य है – वह उनकी पुस्तकों से जिसमें 'भारतीय दर्शन का परिचय' 'भारतीय दर्शन की भूमिका, तथा यू. जी. सी. के सहयोग से हाल ही में प्रकाशित 'secular, social and ethical values in upanishads' में भली भांति परिलक्षित होता है। आपने साहित्य, शिक्षा संस्कृति, कला आदि विभिन्न विषयों पर जो ग्रन्थ लिखे हैं—उनमें आपके दार्शनिक चिन्तन एवं व्यक्तित्व की झलक भली भांति देखने को मिलती है।

अन्त में मेरी कामना है कि श्रद्धेय गुरुदेव डा. तिवारी जी के अमूल्य ग्रन्थ व उनका चिन्तन हमारे देश के शैक्षिक एवं सांस्कृतिक विकास में सहायक सिद्ध हो। यह बड़े आश्चर्य व गौरव की बात है कि आप हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी तीनों ही भाषाओं पर समान अधिकार रखते हैं। संस्कृत भाषा जन-साधारण की भाषा न होने के कारण आपने अपने सभी ग्रन्थ हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषाओं में ही लिखे हैं। वर्तमान में भी जहां आप एक ओर अपनी साहित्य साधना कर रहे हैं। वहां दूसरी ओर दर्शन के छात्रों के शोध कार्य में भी अपना सहयोग दे रहे हैं। इन पंक्तियों के साथ मैं आपके शान्तिमय एवं सुखमय जीवन की कामना करता हूं।

गुरुदेव आपके श्री चरणों में करता है यह शिष्य नमन।
तव, सत् शिव सुन्दर जीवन का अभिनन्दन, शत-शत वंदन ।।



मेरे मनीषी पिताश्री

—विनोद मणि दिवाकर

भारत की गौरव वृद्धि और भारतीय संस्कृति के पुर्ननिर्माण एवं पुनरुत्थान के लिए जिन मनीषियों की महत्वपूर्ण देन रही है उनमें पूज्य पिताजी, डा० रामानन्द तिवारी, का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने अध्यापन कर्त्तव्य के साथ-साथ भारत के इतिहास, पुरातत्व अन्वेषण, भारतीय संस्कृति, कला, दर्शन तथा काव्य के संरक्षण एवं विकास तथा भारतीय भाषा, साहित्य एवं धर्म के उन्नयन का जो अनुपम कार्य किया है वह युगों तक स्मरणीय रहेगा। उन्होंने भारत के अतीत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक साहित्यिक एवं धार्मिक महत्व को उजागर कर बौद्धिक समाज को उससे अवगत कराया।

पिताजी का व्यक्तित्व एक ऐसा अद्भुत व्यक्तित्व है जिसमें सहज आत्मीयता और अकुन्ठित विनोद-वृत्ति के साथ मौलिक सृजनात्मक प्रतिभा और गहन पांडित्य का विरल संयोग है। उन्होंने भारतीय संस्कृति हिन्दू धर्म और दर्शन की मौलिकता और महत्व को एक ऐसे जीवन्त तत्व के रूप में देखा जिसका अनुभव किया जा सकता है। शिव-पार्वती के कथानक पर आधारित हिन्दी का प्रथम शिव काव्य 'पार्वती' की रचना कर पिताजी ने हिन्दी वाङमय को गौरवान्वित किया 'पार्वती' के द्वारा उन्होंने भारतीय संस्कृति और धर्म की विविधता, संपन्नता और जीवन्तता के भविष्योन्मुखी पुन: सृजन का संदेश दिया है—

"होगा जयन्त अब नया तुम्हारा नेता,
संरक्षक सबका नहीं नृशंस विजेता।"

नए समाज सृजन में ज्ञान और शक्ति के संयोग पर प्रकाश डालते हुए पार्वती में उन्होंने व्यक्त किया है कि—

"हृदय में वेद कर में परशु भीषण धर रहा हूं,
युगों से शक्ति की यह साधना मैं कर रहा हूं।"

भारतीय नारी की "केवल श्रद्धा" की पुरातन मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है—

"केवल श्रद्धा नहीं शक्ति भी नर की नारी।"

भारत के अतीत की दुर्बलता के कारण में पार्वती के माध्यम से व्यक्त किया है कि—

"दुर्बलता का शाप बन गया
संसृति का रक्षित उत्कर्ष।"

अपने परिचय में पिताजी ने लिखा है कि:—

"मैं एक किरण उस अक्षय ज्योतिर्मय की,
जिसकी आभा से आलोकित अग जग है।

ऊषा में जिसके नित्य नवीन उदय की,
जयगीत सुनाता जाग्रत जीवन खग है।"

भारतीय समाज की दुर्बलता तथा पतन का कारण दुष्टों का संगठन तथा सज्जनों में संगठन का अभाव बताते हुए पार्वती में वर्णित है कि—

"किसी से बन न पाया योग
सज्जन संगठन का।"

पिताजी ने काव्य लेखन का प्रारंभ 'परिणय' से किया जिसकी परिणति महाकाव्य के रूप में 'पार्वती' में हुई। काव्य के अतिरिक्त दर्शन, संस्कृति आदि विषयों पर उनके अनेक ग्रंथ हैं जिनमें प्रमुख है—भारतीय दर्शन का परिचय, भारतीय दर्शन की भूमिका, भारतीय संस्कृति के प्रतीक, अभिनव रस मीमांसा, सेनानी, स्वतंत्रता का अर्थ, भारतीय जीवन दर्शन, सत्यं शिवं सुन्दरम्। इनके अतिरिक्त अनेक अप्रकाशित ग्रंथ भी हैं।

हिन्दी कवियों में ऐसे बहुत कम व्यक्ति होंगे जिन्होंने इतने अधिक रोचक, अविस्मरणीय संस्मरण इतने अधिक लोगों के मन पर छोड़े हों। ये संस्मरण चुटकुलों के रूप में नहीं हैं बल्कि सचमुच मन पर अंकित रह जाने वाले मानवीय अनुभव के रूप में हैं। प्राय: लेखकों और कवियों में परिवार की उपेक्षा का दोष देखा जाता है परन्तु पिताजी में यह दोष नहीं था उन्होंने परिवार की उपेक्षा कभी नहीं की। उन्होंने लेखक के समान परिवार पर भी पूरा ध्यान दिया। लेखक और कवि के दायित्वों के अतिरिक्त उन्होंने 'पिता' का उत्तरदायित्व भी पूरी कुशलता और जिम्मेदारी के साथ निभाया। हम सभी भाई, बहनों की शिक्षा हाई स्कूल तक उन्होंने घर में ही कराई, जो संभवत: एक अपवाद ही माना जाएगा। पढ़ाई के अतिरिक्त हम लोगों के खेलकूद तथा बहुमुखी विकास के लिए भी उन्होंने पूरा सफल प्रयत्न किया। अत: मेरे मतानुसार उन्हें लेखक और सुयोग्य कवि के साथ-साथ सुयोग्य पिता भी कहा जा सकता है।

एक अध्यापक तथा गुरु के रूप में भी उनकी उपलब्धि कम नहीं है। भारत में वर्तमान युग में बहुत कम अध्यापक ऐसे होंगे, जिनमें छात्रों की नि:स्वार्थ श्रद्धा हो, परन्तु प्राय: सभी छात्र जो पिताजी के संपर्क में आए वे आज भी उनका उतना ही सम्मान और श्रद्धा करते हैं, जो उनके अध्यापन काल में करते थे। अध्यापक के अतिरिक्त वे छात्रों के कुशल पथ प्रदर्शक, हितैषी तथा नैतिक मूल्यों के मार्ग दर्शक भी कहे जा सकते हैं। उनका प्रमुख गुण यह था कि वे छात्रों को 'गलत' और 'सही' का भेद समझा सके, छात्रों को गलत रास्ते से हटाकर सही रास्ते पर ला सके। उनका व्यक्तित्व एक ऐसा आदर्श है, जो छात्रों को सही दिशा और सही रास्ते की ओर उन्मुख कर सका।

एक समाज और धर्म के सुधारक के रूप में भी मैंने उन्हें देखा। उन्होंने भारतीय समाज और हिन्दू धर्म के दोषों का स्पष्ट वर्णन किया। उन्होंने भारतीय समाज और धर्म के सनातन दोषों को सरल रूप में समझाया तथा उनके निवारण का उपाय बताया। तथा दूसरी ओर उन्होंने भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति की उन महानताओं को भी बताया जो विश्व के किसी दूसरे धर्म, दर्शन और संस्कृति में नहीं पाई जातीं। ऐसा संभवत: भारत के किसी समाज सुधारक या धर्म सुधारक ने नहीं किया। भारतीय धर्म के पर्वों, संस्कारों, प्रतीकों, तथा मांगलिक कृत्यों और अनुष्ठानों की जो दार्शनिक और सांस्कृतिक व्याख्या उन्होंने की वह भारत के अतीत में किसी ने नहीं की। हिन्दू धर्म और संस्कृति के उन व्यावहारिक पक्षों

को उन्होंने बौद्धिक वर्ग के सन्मुख प्रस्तुत किया, जो शताब्दियों से अज्ञात और उपेक्षित थे। उन्होंने हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति और समाज की तुलनात्मक व्याख्या अन्य धर्मों, समाजों और संस्कृतियों के साथ की। इस पारस्परिक तुलना के कटु सत्यों, यथार्थों को सभी के समक्ष प्रस्तुत किया।

एक प्रशासक के रूप में मैंने उन्हें देखा। यह समय वह था जब उन्हें महारानी श्री जया कॉलेज के 'प्रिंसिपल' के पद पर नियुक्त किया गया था इस काल में भी छात्रों की भाषा, लेख, अनुशासन, सदाचार आदि के विकास पर उन्होंने निजी ध्यान दिया। तथा कॉलेज में अन्य विभिन्न प्रकार के प्रयोग तथा सुधार किए गए जो सभी दृष्टियों से लाभप्रद थे। छात्रों के स्तर को सुधारने की दिशा में भी सफल और सशक्त प्रयत्न किया गया। उन्होंने 'प्रिन्सिपल' के पद को कुछ महीनों बाद स्वेच्छा से छोड़ दिया जो आजकल के पदलोलुपता के युग में एक अपवाद माना जाएगा।

छात्रावास के वार्डन के रूप में उन्होंने छात्रों के पठन, लेखन और भाषण के विकास में निजी ध्यान दिया और इसे एक सफल उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया। छात्रों तथा वार्डन के बीच की दूरी को उन्होंने महत्व न देकर, छात्रों से पारिवारिक आत्मीयता का सम्बन्ध रखा। जो छात्र उनके समय में छात्रावास में रह चुके हैं वे उनकी आत्मीयता, व आदर्श जीवन-मूल्यों को आजीवन याद रखेंगे। छात्रावास में उन्होंने अनुशासन, सदाचार और ईमानदारी की जो परम्परा बनाई वह वर्तमान युग में अद्वितीय कही जा सकती है। यही कारण है कि उनके वार्डन-काल में उनके छात्रावास के छात्रों ने शिक्षा, खेलकूद, तथा अन्य क्षेत्रों में जो उच्च स्थान, पुरस्कार, पदक आदि प्राप्त किए वे अन्य वार्डन के समय में नहीं प्राप्त किए जा सके। शारीरिक और मानसिक, विकास की एक सशक्त परंपरा उन्होंने छात्रों में डाली। पिताजी का जीवन प्रारम्भ से ही स्वावलम्बी रहा। उन्हें बचपन तथा छात्र-जीवन में अपने पिता या अन्य पारिवारिक जनों का कोई सहयोग नहीं मिला। उन्होंने विद्यार्थी काल से ही पूर्णतः स्वावलम्बी जीवन व्यतीत किया। अतः उनके जीवन की उपलब्धियों का कोई हिस्सेदार नहीं है या कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसे उनकी उपलब्धियों का श्रेय दिया जा सके।

रचनाकार अपनी करुणा, यातना, एवं यथार्थ से अपनी कृतियों का सृजन करता है। प्रत्येक रचनात्मक क्षण अत्यन्त आत्मीय होता है यही आत्मीयता रचना को आकार और प्रेषणीयता प्रदान करती है। पिताजी की उत्कृष्ट रचनाएं अपने समय की ही पहचान नहीं बल्कि भविष्य को भी विश्लेषित करती हैं। वे अपने लेखन से मात्र वर्तमान मानवीय चेतना को ही उद्वेलित नहीं करना चाहते, वरन उसके माध्यम से वे ऐसे नवीन जीवन मूल्य भी देना चाहते हैं जो भावी संस्कृति और समाज का सफल मार्गदर्शन कर सकें। भारतीय गरिमा और अस्मिता की खोज के अभियान में पिताजी के ग्रंथ जिस महान उपलब्धि का धरातल प्रस्तुत करते हैं वह श्रेष्ठ और सर्वथा महत्वपूर्ण है, उनके इस अवदान और उसकी भावी संभावनाओं पर हिन्दी लेखकों को बहुत गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उनके व्यक्तित्व, कृतित्व और लेखन में मौलिक चिन्तन और जीवन्त अनुभव के इतने स्तर और आयाम हैं कि वे हर संवेदनशील लेखक और पाठक को उसके अपने जीवनानुभव और दृष्टि के संदर्भ में अलग-अलग आकर्षित करते हैं। उनके चिन्तन और कृतित्व में इस देश की सस्कृति के जीवन्त तत्वों का अन्वेषण, उनकी समकालीन सार्थकता की अभिव्यक्त करना मात्र ही नहीं है अपितु उनके सृजनात्मक प्रयोग का प्रयत्न तथा भविष्य का मार्गदर्शन भी है। वे एक नई संभावनापूर्ण दिशा की तरफ इगित करते हैं जिस पर ठीक ढंग से चलकर संभवतः हिन्दी साहित्य

के अध्येताओं तथा समाज को एक अधिक संतोषप्रद, सृजनात्मक उपलब्धि प्राप्त हो सकती है।

हिन्दी साहित्य और काव्य के अतिरिक्त पिताजी का चिन्तन और लेखन दर्शन, संस्कृति, भाषा-विज्ञान, शिक्षा, इतिहास, पुरातत्व, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, धर्म, रस, राजनीति आदि अनेक विषयों में रहा है। हिन्दी के अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी तथा संस्कृत भाषाओं में भी अनेक रचनाओं का सृजन किया। इसके अतिरिक्त उन्हें जर्मन, फ्रैन्च, नेपाली, बंगाली आदि भाषाओं का ज्ञान है। काव्यों के अतिरिक्त उनके अन्य अनेक प्रमुख ग्रंथ हैं—"A Brief outline of Indian Philosophy", "Defence Development & Education, Unique India, What is culture, living culture of India, Indian Philosophy of life, 'शिक्षा और संस्कृति', 'हमारी जीवन्त संस्कृति, "Secular Social ethical values in the upanishads." इन अनेक ग्रंथों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों, सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं पर उनके अनेक लेख विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

मैंने उन्हें केवल पिता के रूप में ही नहीं वरन, सृजनशील लेखक, विचारक, आलोचक, अध्येता और अध्यापक, धर्म और समाज सुधारक, कवि, प्रशासक, और मित्र तथा मार्गदर्शक के रूपों में बहुत निकट से देखा है और मैंने उन्हें प्रत्येक रूप में सफल पाया। उनके व्यक्तित्व में प्रत्येक समस्या अथवा घटना में सच्चे और मूल कारण को समझने और समझाने की क्षमता है तथा उसके सही निदान को अभिव्यक्त करने की दूरदृष्टि है। यही कारण है कि वे भारतीय समाज, धर्म और राष्ट्र की मौलिक समस्याओं और दोषों को ज्ञात कर सके जो युगों से अज्ञात थीं। तथा वे भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन के उन गुणों और विशेषताओं को सभी के सम्मुख रख सके जो पहले कभी किसी ने जनता के समक्ष प्रस्तुत नहीं कीं।

उनके व्यक्तित्व में एक ऐसा आकर्षक खुलापन और अपनत्व है कि उनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी अमिट यादगार रह जाती है।

पिताजी का सहज स्नेह, गरिमा तथा निश्छल व्यवहार हम सभी के लिए एक आदर्श है। उन्होंने हमें अनुशासन, जन सेवा और राष्ट्र सेवा की प्रेरणा दी है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर, पूज्य पिताजी को दीर्घायु प्रदान करे तथा वे दिनोंदिन उन्नति के पथ पर अग्रसर हों, और साहित्य, काव्य राष्ट्रीयता, जनसेवा, संस्कृति, दर्शन, आदि के क्षेत्रों में नए-नए सोपानों का सृजन करते रहें। उनके अद्भुत व्यक्तित्व और कृतित्व को असाधारण मानते हुए अन्त में, मैं यही कहूंगा कि—"न भूतो न भविष्यति।"



डॉ० रामानन्द तिवारी—मेरे गुरु

—डॉ० प्रकाश कुमार श्रीवास्तव

प्रातः स्मरणीय श्रद्धेय गुरुवर डॉ० रामानन्द जी तिवारी ने मुझे कितना कुछ दिया शायद वे स्वयं भी नहीं जानते हैं। और अगर जानते भी होंगे तो स्वीकार कब करेंगे ! देना तो उनका स्वभाव है, व्यापार नहीं। अपनी जिंदगी को कहीं से भी टटोल कर देखूं, किसी भी पहलू पर नज़र डालूं, हर जगह उनकी प्रेरणा, उनकी दीक्षा, उनका स्नेह, और उनका आशीर्वाद नजर आता है। आज जो कुछ भी हूं, उनकी कृपा से; आगे जो कुछ भी कर पाऊंगा, उनके आशीर्वाद से। जब भी उनके श्रीचरण स्पर्श किए तो वही सहज 'शुभाशीष' प्राप्त हुआ जो अपने आप में एक अथाह स्नेह का सागर है। अध्ययन में सरस्वती के रूप में, कला के क्षेत्र में स्वयं शिव बन कर, खेल के मैदान में स्वामी विवेकानन्द की तरह, और जीवन के दैनिक व्यापार में शक्ति-पुन्ज बने वे ही सदा मेरे साथ रहे हैं। ऐसे देव-तुल्य गुरु के विषय में क्या लिखूं ? उनके बारे में लिखने का विचार किया तो पाया कि आरम्भ तो अनगिनत हैं, अन्त हो ही नहीं सकता। दिल ने केवल 'मौन' रहने का संकेत दिया; तेरी लेखनी में इतनी शक्ति कहां कि तू उनके सम्बन्ध में कुछ लिख सके। परन्तु उनके प्रिय शिष्य होने के गर्व ने फिर उकसाया कि डा. रानडे के भक्त का विद्यार्थी यदि धृष्टता भी करता है तो सार्थक होती है। फिर, जिनके लिए कुछ करना है उनकी नज़र में तो शिष्य की ग़लती— बड़ी से बड़ी ग़लती भी क्षम्य है। निर्णय यही लिया कि लिखा जाए; कैसा बन पड़ेगा, इसकी चिन्ता मुझे क्यों हो, वे जानें।

लेकिन शुरू कहां से करूं ? खुद अपने से ही सही। इन्टरमीडियेट साइन्स से पास किया था मैंने १९५५ में। खेल-कूद और नाटक आदि में अधिक रुचि लेने के कारण विज्ञान छोड़कर कला में जाना चाहता था परन्तु पिताजी— उस समय के प्रायः प्रत्येक पिता की तरह—इन्जीनियर या डॉक्टर बनाना चाहते थे सो भरतपुर से जयपुर भेज दिया बी. एस. सी. करने। जैसा होना था, १९५६ में बी. एस. सी. के प्रथम वर्ष में ही सप्लीमेन्ट्री मिला और पिताजी को समझा बुझा कर वापस भरतपुर चला गया बी ए. करने। समस्या विषयों के चयन की थी। इंगलिश लिटरेचर और हिन्दी लिटरेचर लेना तो तय था, लेकिन तीसरा विषय क्या हो ? फ़िलोसोफ़ी कुछ 'अजीब' सा लगा और केवल इसीलिए ले लिया। महारानी श्री जया कॉलेज भरतपुर का वह कक्ष ठीक उसी रूप में आज तक आंखों के सामने है जिस रूप में उस समय था जब फ़िलोसोफ़ी की पहली क्लास डा. तिवारी ने ली थी; और उस प्रथम 'दर्शन' के तत्काल बाद ही यक़ीन हो गया था कि फ़िलोसोफ़ी न लेना कितनी बड़ी भूल होती। दर्शन के लोकप्रिय विषय न होने का एक बहुत बड़ा कारण दर्शन की शिक्षा प्रणाली का दोष पूर्ण होना है; इसके लिए स्वयं शिक्षक काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार हैं। इसी बिन्दु से डा. तिवारी की बात शुरू करना चाहूंगा।

मेरे जैसे उन अनेक भाग्यशाली विद्यार्थियों से, जो डॉ० तिवारी से बाक़ायदा पढ़े हैं, पूछिए कि

'दर्शन की शिक्षा' किसे कहते हैं ! 'उपनिषद' का सही अर्थ, जो केवल ज्ञान तक ही सीमित नहीं है अपितु ज्ञान प्रदान करने की प्रणाली को भी अपने में संजोए हुए हैं. डा. रामानन्द जी तिवारी का ही विद्यार्थी जान सकता है। शर्त केवल जिज्ञासा और लगन है, और फिर यह असम्भव है कि तिवारी जी के पास पढ़ कर ज्ञान-चक्षु न खुलें। तिवारी जी पढ़ाते हैं। विद्यार्थी बनकर बैठिए उनके पास और महसूस कीजिए कि अमृत की एक अनवरत धारा आपके मानस् में किस प्रकार प्रवाहित होती चली जाती है ; सूचना एवं शिक्षा के बीच यह जो भेद है, कम ही शिक्षक हैं जो समझते हैं। डा. तिवारी विद्यार्थी के दिमाग को कभी भी सूचनाओं से भर देने की कोशिश नहीं करते हैं। उनकी शैली इतनी सहज और जीवित है कि यह अहसास ही नहीं होता कि वे 'पढ़ा' रहे हैं। दूसरी बात यह है कि डा. तिवारी कभी भी 'प्रवचन' नहीं देते हैं। शिक्षा का उद्देश्य किसी मत-विशेष अथवा किसी एक सिद्धान्त का आग्रह हो ही नहीं सकता है। पूरे दो साल तक मैं डा. तिवारी के साथ रहा; कक्षा में, और उससे भी अधिक कक्षा के बाहर, उनसे प्रत्येक विषय पर बात करने और उनके विचार जानने के अवसर मिले। एक सच्चे शिक्षक की तरह कभी भी उन्होंने किसी भी विशेष दृष्टिकोण को 'लादने' का प्रयास नहीं किया। स्वतन्त्र चिन्तन का विकास डा. तिवारी जैसे शिक्षकों के विद्यार्थियों में ही हो सकता है; और 'दर्शन' का एक महत्वपूर्ण पक्ष स्वतन्त्र चिन्तन---सम्भवत: दर्शन की एकमात्र प्रणाली भी होता है। अपने विद्यार्थी को डा. तिवारी उस स्तर पर लाकर खड़ा कर देते हैं जहां से उसे अनन्त सम्भावनाओं का क्षेत्र दिखाई देता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वे अपने विद्यार्थी को पूर्ण संशय की स्थिति में डाल देते हैं, बल्कि यह कि वे अपने विद्यार्थी को प्रत्येक रूढ़ि से मुक्त करके एक ऐसी अवस्था में ले जाते हैं जहां 'दर्शन' की सार्थकता स्पष्ट नजर आती है।

उनके अध्यापन के बारे में एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कहना चाहता हूं; आज्ञा दीजिए कि इस बात को कहने के लिए एक संस्मरण प्रस्तुत करूं। करीब दस साल पहले इस विभाग ने उन्हें 'वेदान्त' पर एक भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। भाषण के बाद मेरे कुछ साथियों का मत यह था कि डॉ० तिवारी दर्शन जानते ही नहीं हैं, और वेदान्त के मामले में शून्य हैं। इस प्रकार की और भी अनेक टिप्पणियां सुनने को मिलीं। जो अब मैं कह रहा हूं उससे मेरी बात स्पष्ट हो जाएगी। डॉ. तिवारी को मैंने बदला हुआ कभी नहीं पाया; हां, वे गहरे-और गहरे होते चले गए ऐसी मेरी धारणा है। हुआ यह था कि उस भाषण के दौरान डॉ. तिवारी ने न तो कोई 'स्थिति' प्रस्तुत की थी और न ही किसी 'सिद्धान्त' को प्रस्तुत अथवा प्रतिपादित किया था। मंत्रमुग्ध-सा मैं सुनता रहा था कि किस प्रकार दैनिक जीवन के छोटे-छोटे, अथवा नितान्त महत्वहीन, व्यापारों की संवेदनाओं को उन्होंने उस 'परम-अनुभूति' से जोड़ा था। जीवन में पहली बार और शायद आखिरी बार भी मैंने देखा कि 'माया' तथा 'ब्रह्म' का भेद कैसे समझा जाना चाहिए। यह तो मुझे मालूम था ही कि डॉ. तिवारी की प्रणाली कभी भी 'तर्क' की शुष्क एवं निरर्थक प्रणाली नहीं थी किन्तु यह उसी दिन समझ में आया कि 'दर्शन' और 'फिलोसॉफी' में कितना अन्तर है। तर्क का कोई अन्त है ? कोई ऐसा तर्क हो सकता है क्या जिसका विरोध तर्क प्रस्तुत किया ही न जा सके ? क्या किसी सिद्धान्त पर जाकर हमेशा के लिए ठहरा जा सकता है ? यदि नहीं तो फिर डॉ. तिवारी दर्शन के अतिरिक्त क्या कर रहे थे। हुआ यह है कि लोगों ने 'बहस के लिए बहस' को ही दर्शन समझ लिया है। मेरे साथ चलो डॉ. तिवारी के पास, दावा है मेरा कि तुम तो उन तर्कों की कल्पना भी नहीं कर सकते जो डॉ. तिवारी को कंठस्थ हैं; और उनके उत्तर भी। भाई, ऐसा नहीं है कि

डॉ. तिवारी उसे नहीं जानते जिसे आप दर्शन कहते हैं। उस स्थिति में पहुंच पाओगे तो स्वयं तुम भी मानोगे कि 'तर्क की यह प्रणाली दर्शन के अध्ययन का उपकरण, अथवा कभी-कभी साधन तो हो सकती है, साध्य कभी नहीं। डॉ. तिवारी दर्शन को जीते हैं और उनकी शिक्षण-प्रणाली दर्शन को विद्यार्थी के जीवन का न केवल अंग बना देती है, अपितु दर्शन और जीवन का भेद ही समाप्त कर देती है। दर्शन को मात्र बुद्धि का विकास समझना दर्शन के प्रति एक अधकचरी दृष्टि का परिचायक है जीवन को टुकड़ों में बांध कर देखने वाले 'दार्शनिक' दर्शन को भी एक 'विषय' मानते हैं, और इसीलिए उसके प्रति भी उनका व्यवहार वैसा ही होता है जैसा कि किसी भी अन्य 'वस्तु' के प्रति। डॉ. तिवारी की समग्र-दृष्टि केवल तर्क अथवा प्रमाण तक ही सीमित नहीं है; वे दर्शन की जीवित अभिव्यक्ति हैं।

"सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्" का बड़ा भाग मैंने लिखा है। आप कल्पना भी नहीं कर सकते कि यह कहने भर में मुझे कितना गर्व होता है। पहले कई महीनों तो यह हुआ कि मैं उनकी बताई हुई किताबें उन्हें पढ़कर सुनाया करता था। शांत भाव से आंखें बंद किए वे सुनते रहते जहां उचित समझते निशान लगाने का इशारा कर देते। किसी योग्य समझा होगा तभी तो यह आज्ञा दे रखी थी कि मैं स्वयं भी जिस वाक्य अथवा अंश को महत्वपूर्ण समझूं निशान लगा दूं। प्लेटो, ब्रैडले, बोसान्को, क्रोचे, कान्ट, कॉलिन्ग वुड आदि के अनेक ग्रंथ उन्हें पढ़कर सुनाए। सोचिए कि इस क्रिया मात्र से मुझे क्या कुछ नहीं प्राप्त हो रहा होगा। उसके बाद, आर्य-समाज मन्दिर के पास वाले भरतपुर के उस मकान में प्रायः रोज शाम एक क्रम चलता था। वे मूढ़े पर आंख बन्द किए बैठे हैं और पास ही मैं कागज और कलम लिए; वे बोलते जाते, मैं लिखता जाता। यह तब तक चलता जब तक कि उनकी आंख नहीं खुलती, चाहे बीस मिनट हों, या दो घंटे। ग्रंथ जिन्होंने पढ़ा है जानते हैं कि कितना अथाह ज्ञान और असीम चिन्तन उसकी पृष्ठभूमि में है। उस ग्रंथ में और अन्यत्र भी उनके अनावश्यक विस्तार' की बात करने वाले विस्तार' और 'प्रवाह' के अन्तर को समझें। विस्तार में श्रम होता है, प्रवाह में सहजता; सहजता 'दार्शनिक' होती है, विस्तार 'तार्किक'। क्यों भूल जाते हैं लोग कि डॉ. तिवारी उतने ही कवि भी हैं जितने कि दार्शनिक। गलत कह गया; कविता और दर्शन में डॉ. तिवारी के लिए कोई भेद ही नहीं है। भेद हो भी कैसे सकता है? कविता, दर्शन और जीवन एक ही चीज़ के अलग-अलग दिखाई देने वाले पहलू हैं। कला यदि हृदय की 'मुक्ता-वस्था' है, तो दर्शन क्या कुछ और है? "पार्वती" का पाठ स्वयं डॉ. तिवारी के कंठ से सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ : बच्चे की तरह मैंने हठ की, और पिता की भांति उन्होंने पूरी की। "पार्वती" स्वयं में एक पूर्ण दर्शन है और इसीलिए एक सम्पूर्ण महा काव्य भी।

कितने हैं आज जो दिल से अपने विद्यार्थी को स्वयं अपने से आगे बढ़ा हुआ देखना चाहते हैं? डा. तिवारी में यह इच्छा कितनी प्रबल है और इसकी पूर्ति के लिए वे क्या करते हैं इसकी एक झलक प्रस्तुत करता हूं। भरतपुर के कॉलेज से मैंने उनके श्री चरणों के प्रताप से प्रथम श्रेणी में स्नातक की उपाधि ली, और फिर महाराजा कॉलेज जयपुर से दर्शन में प्रथम स्थान के साथ स्नातकोत्तर उपाधि लेकर प्राध्यापक नियुक्त हुआ, उदयपुर में। दो साल बाद चयनित होकर राजस्थान विश्व-विद्यालय के इस दर्शन विभाग में आ गया। बीच-बीच में उनके चरण स्पर्श करने का अवसर मिलता रहा; वही सौम्य मुद्रा, वही आशीर्वचन, सब कुछ हमेशा वही। डाक्टरेट के लिए कहते रहे, और जब मैंने कर ली तो भरी आंखों से मुझे सीने से लगा लिया। भरतपुर बुलाया मुझे डा. तिवारी ने, भाषण देने के लिए। संकोच बहुत था

पर गया, आदेश उनका था। वापस जयपुर आने के बाद खत मिला— वह खत जिसे जीवन की अन्यतम उपलब्धि के रूप में रखे हुए हूं। अंग्रेजी में लिखे उस पत्र के कुछ अंशों का अनुवाद देखिए और खुद महसूस कीजिए कि मेरा एक एक शब्द अक्षरशः सही है; उनके लिए कहीं भी मैंने अतिशयोक्ति नहीं की है— कर ही नहीं सकता क्योंकि उनकी शिक्षा आज्ञा ही नहीं देती है। हां, तो देखिए; "…जिस कॉलेज में तुमने मुझे दो साल तक लगातार सुना उसी कॉलेज में तुम्हें दो दिन सुन कर मुझे असीम प्रसन्नता एवं गर्व की अनुभूति हुई। स्पष्टता एवम् संस्कृति का जो प्रभाव तुमने विद्यार्थियों एवम् प्राध्यापकों पर छोड़ा है वह मेरे लिए अनन्त सुख और प्रसन्नता की बात है …कला पर तुम्हारा भाषण अपने आप में एक सम्पूर्ण कलाकृति था …आनन्द विभोर कर दिया तुमने। अस्तित्ववाद वाले भाषण को सुनकर अस्तित्ववाद के बारे में स्वयं मेरी धारणाएं इतनी स्पष्ट हुईं जितनी पहले कभी नहीं थीं …मात्र दो ही दिन में तुमने मेरा "ऋण" न केवल चुका दिया, अपितु मुझे ऋणी कर गए। मैं नहीं जानता कि मैं तुम्हारे लिए कुछ ऐसा कर भी पाया जिसका तुम्हें गर्व हो, किन्तु तुमने अवश्य वह कुछ प्राप्त कर लिया है जिसका मुझे अत्यधिक गर्व है …शुभाशीष।" मैं जानता हूं कि कहां वे और कहां मैं। इतना भर कह सकता हूं कि अपने विद्यार्थी की उन्नति की कामना और उस दिशा में प्रयास का इस पत्र से बढ़कर कोई दृष्टान्त मुझे नहीं मिलता। अपनी नई पुस्तक, उपनिषद् का गहन अध्ययन और मंथन जिसमें आपको मिलेगा, "राय जानने के लिए" भेजी मुझे। इतने सरल हृदय से और इतनी सहजता से अपने विद्यार्थी को जीवन-पर्यन्त कितने शिक्षक उन्नति के लिए उत्साहित करते हैं। शिक्षक हो तो ऐसा हो।

डा. तिवारी सिर्फ दार्शनिक, कवि, तथा शिक्षक ही नहीं हैं। वे एक सम्पूर्ण व्यक्तितत्व हैं, और जीवन की सम्पूर्णता जीवन के प्रत्येक पहलू को संवारती है। एक घटना सुनिए : मेरे पिता एक साधारण रिटायर्ड क्लर्क थे, सो पैसे की कमी थी ही। तिवारी जी को आभास कैसे न होता। जब दो महीने तक "सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्" का कार्य कर चुका तो यकायक चालीस रुपये मेरी जेब में डाले। इतने सारे रुपये एकदम पाकर मैं रो पड़ा और रुंधे गले से कारण पूछा। उत्तर यह नहीं था कि मेरी आर्थिक स्थिति के कारण मुझे पारिश्रमिक दिया गया था, बल्कि यह कि, "भाई प्रकाश कुमार (हमेशा मेरा यही पूरा नाम लेकर बात करते हैं) यह क्या कम है कि तुम अपना अमूल्य समय मेरे लिए दे रहे हो। दे तो क्या सकता हूं, पर यह स्वीकार कर लो तो मुझे खुशी होगी।" और फिर हर महीने, चाहे काम कितने ही दिन हुआ हो, बीस रुपये मुझे मिल जाते थे। कहना न होगा कि उस जमाने में वे बीस रुपये मेरी पढ़ाई का खर्चा चलाने के लिए जरूरत से ज्यादा ही होते थे। केवल इतना ही नहीं कार्य के बाद कुछ खाए-पिए बिना मैं आया हूं, ऐसा मुझे याद नहीं। कार्य के दौरान मुझे कॉलेज की हाकी टीम के सदस्य के रूप में जयपुर जाना था लेकिन संकोच के कारण कह न सका। खुद ही समझ गए और न सिर्फ मुझे जाने की आज्ञा दी, अतिरिक्त बीस रुपये भी दिए और यह भी कि "लेफ़्ट-इन की पोजीशन बड़ी महत्वपूर्ण होती है—अच्छी तरह खेलना।"

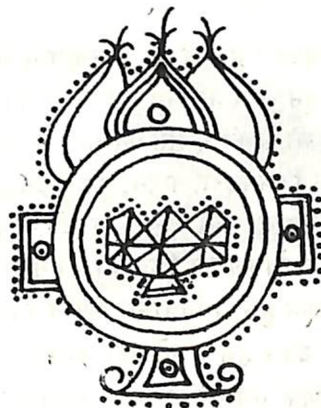
"एक सौ सत्ताइस बार" मैं अड़ा हुआ था; बन्धु महेन्द्र नाथ अरोड़ा (अब जोधपुर विश्व-विद्यालय में अंग्रेजी पढ़ा रहे हैं) जिद पर थे कि "नहीं, एक सौ पच्चीस बार।" कॉलेज के वरान्डे में यह लड़ाई इस बात को लेकर थी कि क्लास में डा. तिवारी ने "जो है सो" कितनी बार बोला था। पता नहीं कब आ गए थे और चुपचाप खड़े सुन रहे थे। मेरी पीठ पर हाथ रखा तो उनकी उपस्थिति का ज्ञान हुआ।

मुस्कराते हुए कहा, "जो है सो लड़ते क्यों हैं, जो है सो, कल फिर गिन लीजिएगा जो है सो।" और हंसते हुए चल दिए।

रत्ती भर अहं नहीं; कतई घमण्ड नहीं। वही बात माताजी की भी। तिवारी जी को देखिए दोनों हाथों में भरे थैले लटकाए चले आ रहे हैं। माता जी को देखिए घर का पूरा काम कर रही हैं अपने हाथों से। किसी के चेहरे पर कोई मलाल नहीं, सब कुछ हसते-हंसते। माता जी 'अर्द्धांगिनी' शब्द की सार्थक अभिव्यक्ति हैं डा. तिवारी के लिए। स्वयं डा. तिवारी यह जानते हैं और मानते हैं कि उनकी साधना में कितना अधिक योग श्रीमती डा. तिवारी का है। गृहणी की सच्ची प्रतिमा, सुन्दर, शिक्षित, सरल, स्नेही और विवेकी हैं माताजी। डा. तिवारी को क्रोध भी आता है, जब उनकी साधना में व्यवधान पड़ता है। कई बार बरसे मेरे सामने माताजी पर, किन्तु वे कि न सिर्फ मुस्कराकर चुप हो जातीं, "चंचल, चारु दृगंचल से" डा. तिवारी का श्रम भी हरतीं। पद-लोलुप न डाक्टर तिवारी कभी रहे. (कॉलेज का प्रिन्सिपल उन्हें जबरन बना दिया गया था, कुछ ही दिन बाद इस्तीफा दे दिया) और न ही श्रीमती तिवारी कभी धन अथवा प्रतिष्ठा के लिए चिन्तित हुईं।

शान्ति प्रिय डा. तिवारी इस आधुनिक शोर-शराबे से भरी मशीनी ज़िन्दगी के समर्थक कभी नहीं रहे। एक बार बोले, "अब तो इन्हें (सरकार को) चाहिए कि हिमालय की तराई में बस्तियां बनाएं।" दिखावे से बहुत दूर हैं तिवारी जी, वही सादा लिबास और वही सौम्य मुद्रा उनकी पहचान है। ऐसा नहीं कि जीवन के उतार-चढ़ाव तिवारी जी ने नहीं देखे हैं। लेकिन जीवन के प्रति वह दृष्टि उनके दर्शन का परिणाम है जो उन्हें निष्काम' बनाए हुए है और बनाए रखेगी।

कहने को बहुत कुछ है, इतना कुछ कि अन्त ही न हो। अभी तो यहीं समाप्त करने की आज्ञा इस कामना के साथ चाहता हूं कि डा. तिवारी को ईश्वर दीर्घायु करे और वे अपने 'दर्शन' से मुझ जैसों का मार्ग दर्शन करते रहें।



पूज्य पिताजी

—प्रमोद दीपक सुधाकर

अपने पूज्य पिताजी के बारे में कुछ लिखना दो कारणों से दुष्कर लगता है। एक तो अभिव्यक्ति और लेखक की वांछित प्रतिभा का अभाव और दूसरा उनके व्यक्तित्व के वर्णन में आत्म प्रशंसा के आ जाने का भय। फिर भी, स्मृति की सीमा रेखा शैशव के आनन्दपूर्ण दिनों में जहां तक जाती है, वहां से आज तक पिता, गुरु और मित्र के रूप में उनके अनिर्वचनीय सान्निध्य तथा अपने अन्तर्मन की गहन श्रद्धा भावना से प्रेरित होकर अपने अस्पष्ट विचारों को प्रस्तुत करने की परिश्रमपूर्ण चेष्टा कर रहा हूं।

शिक्षा, संस्कृति और मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का व्यावहारिक विश्लेषण पिताजी की विशेष रुचि का विषय रहा है। सैद्धान्तिक रूप से इसका विषद् विवेचन उनकी बहुसंख्यक कृतियों में समाहित है तथा व्यक्तिगत जीवन में इसका प्रयोग हम लोगों पर हुआ। हम लोगों से तात्पर्य हम तीनों से है, मैं, अग्रज व अनुजा। रचनात्मक प्रवृत्तियों तथा सचेष्ट मस्तिष्क के विकास की प्रक्रिया शैशव के प्रारम्भिक काल से ही सहज रूप में प्रारम्भ करने का नवीन प्रयोग हुआ। प्रारम्भ खेलकूद के माध्यम से हुआ। अक्षर-ज्ञान तथा अंकों की जानकारी के साथ ही मिट्टी, लकड़ी व बेंत से भांति-भांति की रचना करना तथा उन्हें कांच के टुकड़ों से सजाना तथा दुकान के रूप में व्यवस्थित करने में हम लोग व्यस्त रहते थे। प्रत्येक कार्य को श्रेष्ठ तर रूप से करने के स्नेहपूर्ण सुझाव अगली बार सुधार लाने में प्रेरक होते थे। हम लोगों के क्रिया-कलापों में पिताजी की रुचि उनके द्वारा खींचे गये छायाचित्रों के रूप में हम लोगों के बचपन के दिनों की अमूल्य धरोहर हैं।

शिक्षा की सामान्य प्रक्रिया से हटकर हम लोगों को स्कूल न भेजने का निर्णय लिया गया। घर पर ही प्रतिदिन लगभग दो घंटे देकर हम लोग प्रतिवर्ष एक कक्षा का पाठ्यक्रम पूर्ण कर लेते थे। पिताजी और माताजी आवश्यकतानुसार हम लोगों की प्रगति की समीक्षा कर लेते थे। इससे हमें काफी समय अतिरिक्त रहता था, जिसका उपयोग चित्रकारी, कैरम, बैडमिंटन, शतरंज, टेबिल टैनिस, लूडो आदि में होता था। शतरंज का बोर्ड घर पर बनाया गया तथा मिट्टी के मौहरे बनाकर उन्हें काला-सफेद रंगा गया। पिताजी की कार्य करने की बड़ी टेबिल पर किताबों का नैट लगाकर टेबिल टेनिस प्रारम्भ हुई। आंगन में नैट बांधकर बैडमिंटन प्रारम्भ हुआ। नियमित रूप से पिताजी इन खेलों को कभी नहीं खेले हैं, फिर भी इनकी प्रारम्भिक जानकारी देकर हम लोगों को अभ्यास के लिए उत्साहित किया। इसके साथ ही चारित्रिक गुणों की महत्ता पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यानों के साथ समझाई।

इस प्रयोग के परिणामों की सर्वमान्य मापदण्डों की कसौटी पर परीक्षा होने की उत्सुक प्रतीक्षा माता-पिता तथा अन्य हितैषियों को भी थी। इसका प्रारम्भ १९६५ की हाई स्कूल की परीक्षा से हुआ,

जिसमें मैं और भाई साहब एक साथ प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में सम्मिलित हुये तथा क्रमशः ७५% व ८१% अंक दोनों ने प्राप्त किये। प्री यूनिवर्सिटी में हम लोगों ने कालेज में प्रवेश लिया तथा कला में भाई साहब ने ७७% और मैंने विज्ञान में ८७% अंकों से राजस्थान विश्व विद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। यह क्रम भाई साहब द्वारा बी० ए० तथा एम० ए० में भी विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त करने तथा मेरे द्वारा बी० एस० सी० में द्वितीय और एम० एस० सी० में प्रथम स्थान प्राप्त करने तक चलता रहा। छोटी बहन अर्चना ने भी बी० ए० तथा एम० ए० प्रथम श्रेणी से पास किया। शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग में इससे अधिक उपलब्धि की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके साथ ही कालिज में बैडमिंटन, टैनिस और टेबिल टैनिस भी हम लोग नियमित रूप से खेलते रहे तथा टूर्नामैन्ट में व अन्य पाठ्यक्रमेत्तर गतिविधियों में भी पुरस्कार प्राप्त किये।

इसके उपरान्त प्रतियोगिता परीक्षाओं का क्रम प्रारम्भ हुआ। भाई साहब ने राजस्थान प्रशासनिक सेवा व उसके बाद भारतीय पुलिस सेवा में सफलता प्राप्त की। मैंने क्रमशः टाटा आधारभूत अनुसंधान संस्थान बम्बई, राजस्थान प्रशासनिक सेवा, भारतीय डाक सेवा, भारतीय वन सेवा, भारतीय पुलिस सेवा तथा अन्ततः भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा में सफलता प्राप्त की। राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी मसूरी तथा प्रशासकीय प्रशिक्षण संस्थान नैनीताल में बैडमिन्टन, टेबिल टैनिस, शतरंज तथा ब्रिज की प्रतियोगिताओं में सफलता तथा पुरस्कार प्राप्त किये।

अपने जीवन के विकास तथा सफलता के विभिन्न आयामों का पुनरावलोकन करने पर उन सभी की पृष्ठभूमि में पूज्य पिताजी की ही प्रतिच्छवि दृष्टिगोचर होती है। पिताजी की विचारधारा को कार्य-रूप में परिणत करने में सहयोग तथा अपने वात्सल्य से हम लोगों के विकास को विनियमित करने में माताजी का श्रेय है। यह श्रद्धा सुमन नतमस्तक होकर उन्हें सादर समर्पित हैं।



डॉ० रामानन्द तिवारी : महाकवि दार्शनिक

—डॉ० अनिल तनेजा

डा० रामानन्द तिवारी, : 'महाकवि दार्शनिक' इस समग्र शीर्षक से भारत की खोई परम्परा की सच्ची और जीवन्त अमूल्य निधि है, जिसका मूल्य आज सोया और खोया राष्ट्र नहीं जानता। राजस्थान मंच संभवत: उस ज्ञान और मूल्य को जगा सके, लौटा सके, इस रूप में यह छोटी सी लेखनी कुछ संकोच और 'तड़प के साथ' उठी है क्योंकि यह व्यक्तित्व केवल लिखा जाकर इस छापेखाने के युग में किताब के पन्नों में दब जाने के लिए नहीं है, बल्कि भारत राष्ट्र के राष्ट्रीय सांस्कृतिक स्वरूप को जीवित करने के लिए है जिसके अन्तर्गत देश की राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज शिक्षा, दर्शन, विज्ञान और जीवन एक व्यवस्थित सूत्र में बंध कर विश्व के समक्ष ज्ञान और जीवन के समन्वित स्वरूप का नमूना बन सके। यदि इस व्यक्तित्व की दी योजना से राष्ट्र के हर पहलू को संभाला जाए तथा इनके दैहिक जीवन की कम-से-कम पचास वर्ष की गारण्टी ली जाए तो प्राचीन युग का गरिमामय भारत बीसवीं शताब्दी के विश्व के अनुकूल नये सांचे में प्रस्तुत हो जाए।

यह व्यक्तित्व भारतीय परम्परा का कवि और दार्शनिक एक साथ है जिसके कवि और दार्शनिक आज दोनों बिखर कर तितर-बितर हो गए हैं और उस ज्योति की कोई-कोई फुनगी अब एकदम खोए और बदले रूप में हमारे सामने है। और इसी कारण कुछ निकट में कार्य करने वाले लोगों ने इस महान् व्यक्तित्व को कवि कहकर इनके दार्शनिक को अपमानित करने का कुप्रयास किया है तथा इनके लेखन के मर्म को न पहचान कर दर्शन जगत के लोगों ने 'अपने ढंग का विवेचन' कहकर उपेक्षा भाव भी दिखाया है।

भारतीय परम्परा में कवि और दार्शनिक एक सूत्रीय है यह भाव कवि शब्द से ध्वनित है—'कं ब्रह्मतत्त्वं विन्दति इति कविः'। भारतीय परम्परा में जानने का अर्थ वैसा होना है यह ज्ञान तिवारी जी के जीवन्त अस्तित्व के प्रत्येक अनुभव व अभिव्यक्ति में झलकता है। डा० तिवारी अपने काव्य और साहित्यिक लेखन में तो कवि हैं ही, पर वे अपने दार्शनिक लेखन में भी कवि हैं इसे उनके इस समय तक के सब से अन्तिम लेखन उपनिषद्[1] की आनुभविक और मूल्यात्मक विशद पृष्ठभूमि में देखा जा सकता है, जिसमें उपनिषद् के कवि सा विशाल एवं महान् कवित्व बोलता है, जीवन और ब्रह्माण्ड का कोई भी स्तर इनकी दृष्टि से ओझल नहीं होता। दार्शनिक ग्रंथों के अतिरिक्त जो इनके काव्य तथा साहित्यक लेखन समझे जाते हैं क्या उनकी विवेचन शैली दार्शनिक नहीं? उस पर भी एक विशेष बात यह है कि वह दार्शनिक केवल विवेचन करने वाला दार्शनिक नहीं है जो केवल चिन्तन करता हुआ वास्तविकता के कुछेक अंशों का ही अमूर्त्तीकरण करता हो, वरन् वास्तविकता से प्रतिदिन कार्य रूप में सम्पर्क करता

१ सेक्यूलर सोशल एण्ड एथिकल वैल्यूज इन दि उपनिषद्स १९७८।

हुआ अनुभव की गहनतर पृष्ठभूमि में से संभल-संभल कर स्थापनाएं करता है और कहीं सृजनात्मक भाव के वशीभूत अनुभूति को सहज अभिव्यक्ति देता है। उनका साहित्यिक लेखन दार्शनिक लगता है तो दार्शनिक लेखन काव्यमय। और ऐसा लगता है कि तिवारी जी प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की एक कड़ी बन गए हैं जिन्होंने सूत्रों और छन्दों की काव्यमयी शैली के दर्शन के दुर्गम और गूढ़ रहस्य उद्घाटित किए हैं। आज दार्शनिक जगत् उस काव्यमयी शैली का मर्म भूल गया है क्योंकि दार्शनिकों का स्वयं का दर्शन उनके जीवन से अछूता है। चिन्तन धारा जीवन से विलग-थलग चलती है। न उनके दर्शन में अनुभव के ठोस आधार प्राप्त होते हैं और न ही जीवन छन्द-सी यति और गति को लिए होता है। उनके जीवन की अविवेक ग्रस्त विसंगतियां साधारण जन में उनकी गुरुता को प्रतिष्ठित नहीं होने देती, फलतः आज भारत के जीवन पर दार्शनिकों का कोई प्रभाव नहीं है और उन्हें इस बात की चिन्ता भी नहीं है। अर्थात् देश की जीवन्त परम्परा में अब वीर्य नहीं रहा, दूसरे शब्दों में राष्ट्र विग्रह में मस्तिष्क नहीं रहा—क्या होगा इस देश का? यह स्वर तिवारी जी के जीवन व लेखन दोनों में मुखर है।

तिवारी जी का जीवन चिन्तन तप का जीवन है और प्रतिदिन का कार्यक्षेत्र उसकी प्रयोगशाला है। जीवन की प्रयोगशाला में साधारण पशु जीवन के गरल को चिन्तन द्वारा अमृत में परिणत कर वे काव्य के सुवर्णपात्र में प्रस्तुत करते हैं, पर इस अमृत को पिलाने के लिए उद्यत प्रतीत नहीं होते। जिस में एक ओर विनम्रता है कि यह ज्ञात न हो जाए कि इस अमृत को प्रस्तुत करने वाला कौन है तथा दूसरी ओर कला, संस्कृति, काव्य व दर्शन के चैतन्य को आह्वान है कि स्वयं देखने का प्रयास करो, स्वतन्त्र जीवन जिओ। दिखाने और आरोपण करने का आग्रह न उनके जीवन में है न उनके लेखन में है। आजीवन सृजन करते हुए भी एक छोटी-सी नगरी भरतपुर के वासी बन गए हैं। अपने सृजन की धारा से इतने तृप्त हैं कि इस बात की कोई चिन्ता कभी नहीं रही कि उन्हें कोई जाने। यह आक्रोश अवश्य है कि देश में वीर्य ला सकने वाली संस्कृति के संदेश उन्होंने अपने लेखन और कार्यक्षेत्र से सदैव दिए किन्तु हा! हतभाग्य भारत का और धिक् भारत के कर्णधारों की बुद्धि को जो सोई हुई है। तिवारी जी भारतीय मनीषी की विनम्रता तथा पश्चिमी सामाजिक स्वतन्त्रता में निहित अध्यात्म का जीवन्त आह्वान प्रस्तुत करते हैं। आज विश्व राज्य की इकाई बने भारत को इसी प्रकार के व्यक्तित्वों की आवश्यकता है।

तिवारी जी कवि और दार्शनिक स्रष्टा हैं। राजनीति अर्थशास्त्र, समाज, कला, काव्य, शिक्षा, दर्शन व विज्ञान सब संस्कृति के उच्चतर व गहनतर स्तर में समाहित हैं। दार्शनिक वह है जो तत्व को देखता हो और दिखा सकता हो, इसके साथ तिवारी जी के लिए यह जोड़ना पड़ेगा—'जो सृजन कर सके और करा सके'—संस्कृति के शास्त्रीय व ऐतिहासिक रूप में नहीं बल्कि जीवन्त रूप में। मानव के पशुस्तरीय मनोविज्ञान से लेकर देव स्तरीय मनोविज्ञान की पहचान इनके पास है। मानवीय और देव मनोविज्ञान का यथार्थ्य और मूल्य कुछ बन जाने में और बना सकने में है। ऐसी चेतना सदैव रचनात्मक रूप में रहती है। उसमें कभी भी पशु सा आक्रामक, ध्वंसक या सूक्ष्म प्रतिक्रियात्मक स्वरूप भी प्रस्तुत नहीं होता बल्कि वह सदैव उसी पर आरूढ़ रह सकने की दिशा में प्रयास करती है जो होना चाहिए। और यह तिवारी जी के प्रत्येक रूप में सहज है!

दूसरे शब्दों में यहां संस्कार की भावना सदैव प्रबल है और भावना[1] शब्द का समग्र और सही

1 मीमांसा दर्शन व योग दर्शन व काव्यशास्त्र पृष्ठभूमि।

अर्थ अपनी सारी विशेषताओं सहित साकार होना है जो कि पश्चिमी प्रयोग रूढ़ि के फीलिंग, इमोशन, सेन्टीमेण्ट और अभिव्यंजना से पूर्णतः भिन्न है। क्या, क्यों और कैसे बनना और बनाना चाहिए, होना और होना सिखाना चाहिए, इस दिशा में संस्कृति के प्रत्येक पहलू पर तिवारी जी का अनुभव व चिन्तन अनवरत चल रहा है !

संस्कार के भावों की भाषा भी संस्कृत[3] होनी चाहिए। तिवारी जी की भाषा इन्हीं संस्कृत भावों की भाषा है जो सर्वत्र काव्यमयी है और जिसमें रचनात्मक शक्ति विद्यमान है। इसे आज का दार्शनिक जगत् नहीं समझ पाया इसीलिए रूढ़ अर्थ में काव्यात्मक संस्कृत भाषा का प्रवाह मात्र समझ कर उनके विचार गांभीर्य को दार्शनिक जगत् युक्त सम्मान नहीं दे सका। जिसमें एक ओर दार्शनिक विवेचन की गहन सूझ है तो दूसरी ओर अस्तित्व को परिवर्तन के लिए उद्वेलित करने की क्षमता है। कविता के बावजूद उनकी भाषा में एक सहजता है जो व्याख्यान के समय उनके शिक्षक को वांछित बनाती है और सार्वजनिक प्रस्तुतीकरण में सांस्कृतिक सत्य के ग्रहण पर एक टैक्स और लगा आती है। तिवारी जी का सम्मान और स्वाभिमान, प्रदान की इसी जीवन्तता में सुरक्षित है। सभाओं व गोष्ठियों के नेतृत्व पद को प्राप्त पर असत्य गर्व के स्थान पर अपनी युक्तता अयुक्तता के प्रसंग को लेकर अपना उपहास स्वयं बना लेते हैं। हास्य और माधुर्य के मर्म ज्ञान के कारण सार्वजनिक जीवन में मृदु भी होते हैं तो युक्त बात कहने से न चूकने के कारण कभी कटु भी हो जाते हैं तथा रचना की सामर्थ्य सामने न दिखने पर मौन भी धारण कर लेते हैं। शिष्टता का आग्रह उनमें सुन्दर और शिव के समन्वित रूप में है। आज के दार्शनिकों और बुद्धिजीवियों की भांति सदैव कुछ कहने को लालायित नहीं दीखते बल्कि परम्परागत भारतीय विचारकों की जीवन्त शैली का वर्तमान रूप प्रस्तुत करते हैं। जीवन्त संगति और औचित्य का, वाचन में भी सर्वत्र ध्यान रखते हैं। राजकीय सेवा से उनमुक्त स्थिति में आज अपने आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य का भरपूर विनियोग करते हैं जब कि राजकीय सेवा काल में सेवा के अनुबन्धों का धार्मिक चेतना से अनुपालन करते रहे भले ही उससे सृजनात्मक स्थिति के कई तनाव भी उत्पन्न हुए हों। विवशता की स्थितियों में भी स्वत्व का विनियोग मूल्यात्मक बना रहे इसका परिचय तिवारी जी ने अपने सम्पूर्ण जीवन से दिया है।

तिवारी जी के सृजनात्मक काव्यमय और भाषा के वैचारिक व जीवन्त अवगाहन के लिए एक विशेष प्रकार की चित्तवृति व रुझान की आवश्यकता है जो मूल्यात्मक होने के कारण एक जीवन्त प्रक्रिया है जो विशिष्ट गुण व परिमाण में लगाव तथा अलगाव की अपेक्षा रखती है। लगाव सृष्टि करता है, अलगाव उसे सामान्यता और उच्चता देता है, तिवारी जी इसे जीते हैं इसलिए खूब जानते हैं। लगाव और अलगाव की समन्वित प्रक्रिया उनके जीवन के सारे सम्बन्धों में देखी जा सकती है। उनके पुत्र, पुत्री, पत्नी, शिष्य, मित्र, सहकर्मी, सम्पर्क में आने वाले छोटे बड़े, सभी से मूल्यात्मक सम्बन्ध हैं जिनमें सर्वत्र एक औचित्य, संगीत और सृजनात्मक अर्थ में एक भावना है जो अन्यत्र विरल ही होगी। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में जिसे उन्होंने समात्मभाव कहा है वह उनके जीवन्त सम्बन्धों में भी विद्यमान है।

भारती मां का अभिनन्दन और यह भावना ही इस मनीषी के जीवन का आद्योपान्त बल और वीर्य रही है। सम्पूर्ण परिवार इसी सरस्वती सम्मत भावना के वशीभूत उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर

[3] रूढ़ अर्थ में नहीं वरन् संस्कृति के निमातृ तत्व के रूप में। सांस्कृतिक भाषा विज्ञान १९७४ (अप्रकाशित) में व्यंजित तथा साहित्य कला भारती मन्दिर १९७०

हो सका है। सरस्वती की पावन धारा अभी भी यहां बह ही रही है।

ब्रह्म के मूल नादबिंदु के उपासक को भारती मां मानो स्वयं पत्नी के रूप में आकर आजीवन ब्रह्म-भाव में रहने के लिए ही पोषित करती रही है। इस कारण संसार के तथा कथित अभाव वास्तविक होते हुए भी विलीन से हो गए। ब्रह्म सेवी तिवारी जी के सृजनशील जीवन में सेवा अर्पित करते हुए पत्नी श्री ने तुलसी के 'बिनु श्रम नारि परम गति लहई' के आदर्श को पत्नी व माता दोनों के गौरव से विभूषित हो, अर्थ प्रदान किया। और ब्रह्म उपासना के गरिमामय जीवन में सन्तति लीलामात्र के रूप में पोषित होती रही। भारतीय पुलिस सेवा व भारतीय प्रशासनिक सेवा पदों की श्री को प्राप्त सुपुत्र जैसे पिताजी की आराधना का छोटा सा अंश हो सुपुत्री अर्चना तो पिताजी की सरस्वती अर्चना की प्रेरणा ही हो। यह इस जीवन्त कवि और दार्शनिक परिवार की अप्रतिभ छटा है। यद्यपि मानवीय धरातल पर देखा जाए तो इस सब के पीछे त्याग और स्नेह की प्रतिमा डा० श्रीमती तिवारी और समाधि लीन तिवारी जी के जीवन का बलिदान, सहिष्णुता समाधान और धैर्य किसी को भी अधीर बना दें। पर गणपति और शिव की आराधना ने इस दम्पति को जो मानसिक और बौद्धिक सम्पन्नता प्रदान की, उससे सम्पर्क में आने वाला कोई भी थाह पाता है। थाह देने की सामर्थ्य इनमें अद्वितीय है। आज के किसी भी कवि या दार्शनिक के पास ऐसा सामर्थ्य और वीर्य कहां?

जहां श्री पति स्वयं हैं वहाँ श्री अपनी सम्पूर्ण आभा के साथ विद्यमान रहती हैं! जगत् के सौन्दर्य के स्रष्टा के उपासक के पास सौंदर्य स्वतः रहेगा – इसका चरितार्थन तिवारी जी के परिवार में जीवन्त रूप में विद्यमान है!

इस समग्र सत्य शिव व सुन्दर की उपासना से विमुख के लिए तिवारी जी के कवि दार्शनिक को तथा दार्शनिक कवि को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। पर आज के भारत को ऐसे सम्पन्न व्यक्तित्व की मन्त्रणा शक्ति के मूल स्रोत के रूप में अतीव आवश्यकता है। इसे वास्तविक व्यवहार में परिणत कर समझा जाए तभी तिवारी जी के कवि दार्शनिक व स्रष्टा रूप की सार्थकता राष्ट्र को जीवन्तरूप में कुछ दे सकने में सिद्ध होगी। जो आभा, श्री व भावना उन्होंने अपने परिवार परिजन (सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक) व शिष्यों को दी, वह भारत राष्ट्र को प्राप्त हो सकेगी। तुलसी की भांति सम्पूर्ण जड़ चेतन को नमन करता हुआ यह विनम्र मनीषी कभी भी स्वयं सामने नहीं आएगा। राजस्थान मंच द्वारा अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन इस व्यक्तित्व के अभिनन्दन का प्रतीक मात्र तो हो सकता है किन्तु इस व्यक्तित्व का वास्तविक अभिनन्दन इसे राष्ट्र की मन्त्रणा शक्ति बनाने में होगा। छोटे मुख बड़ी बात भले ही लगे किन्तु यह बहुत बड़ा सत्य है। इसमें भारत राष्ट्र का सत्य शिव और सुन्दर अपने समग्र रूप में छिपा है, पर इसे खोज कर सामने लाना पड़ेगा, यह खजाना स्वयं सामने नहीं आएगा!

० ० ०

इस महान् 'कवि-दार्शनिक-स्रष्टा' का अभिनन्दन इस प्रस्ताव के क्रियान्वयन में ही हो सकता है। इससे इतर प्रकार के पुरस्कारादि तो इन्हें बहुत मिले पर उनका इनके जीवन व लेखन की प्रेरणा पुरस्सरण से कोई सम्बन्ध नहीं बल्कि विभिन्न पुरस्कारों में मिली राशि भी प्रकाशन सेवा साधना में साधन मात्र बन गई। ध्यानाकर्षण प्रस्ताव इस गुरुतम व्यक्तित्व में सूक्ष्म रूप में भी नहीं है। स्वयं के लेखन को दूसरों की सेवा में अर्पित करने हेतु सारी राशि राजकीय सेवा से अर्जित वेतन में से ही व्यय की गई। चुपचाप इस प्रकार के अतिरिक्त त्याग करता हुआ भारती मां का एकान्त नन्दन जनसम्पर्क में सदैव एक भ्रान्ति का

कारण रहा। यह भ्रान्ति तभी समाप्त हो जब इनके द्वारा आजीवन संवलित और परिवर्द्धित विचार व भाव सामर्थ्य को राष्ट्र के लिए मूर्त रूप में काम में लिया जाए। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' पर अटल यह व्यक्तित्व बिना आह्वान के अनधिकार चेष्टा नहीं करेगा। मन्त्रणा का राष्ट्रीय पद देकर ही इनसे राष्ट्र के लिए जीवन्त सेवा ली जा सकती है और भारत को प्राचीन भारत की राजनीति पर मन्त्र शक्ति का गौरव दिया जा सकता है!

भारतीनन्दन के जीवन, लेखन व व्याख्यान का स्वर है— राष्ट्र निर्माण की वृहद् चेतन प्रक्रिया में व्यक्तियों का लय होना चाहिए। इसी स्वर को प्रमुखता देते हुए मेरे अभिनन्दन प्रस्ताव का यही प्रमुख स्वर है, इनके ग्रन्थों का सम्पूर्ण ताना-बाना प्रस्तुत कर आरोपण करना नहीं। सामाजिक स्वतन्त्रता के अध्यात्म के आग्रही का स्वर यही है —'स्वयं देखो, युक्त कार्य करो और करने की प्रेरणा दो।' इस स्वर की ओर ध्यान दिलाने मात्र के लिए तिवारी जी के भारतीय परम्परा में दृढ़ता से मूलित किंतु युगानुकूल क्रान्तिकारी विचारों की झलक किंचित् विषयों पर देखना उपयुक्त होगी किन्तु यह सब उस प्रमुख स्वर के साहाय्य मात्र के लिए ही।

० ० ०

मानव जीवन की सारी संस्थाओं की शीर्ष संस्कृति है जो चिरन्तन रूपों की सामाजिक आराधना की परम्परा है।[4] और जीवन की सारी संस्थाओं के लिए जीवन्त संदेश है। जीवन्त संस्कृति और ऐतिहासिक संस्कृति के भेद[5] में यही स्वर निहित है। संस्कृति सृजनात्मकता के रूप में जीवन्तता की मूल चेतना है। एक विशेष परम्परा में मूलित किन्तु सृजनात्मक स्वतन्त्रता को लिए संस्कृति परिवर्तनशील युगस्थितियों में भी जीवन्त बनी रह सकती है क्योंकि इसकी मूल चेतना चिरन्तन रूप के अनुसंधान में है। यह चिरन्तन रूप ऐच्छिक और विधायक समर्पण की मांग करता है। अतिरेक के कारण अतिक्रामी है तथा निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। अपने ही स्वरूप के सर्वत्र प्राप्त होने के कारण रूपों की विविधता के प्रति जीवन्त सृजनात्मक प्रक्रिया कराता है। आध्यात्मिक अद्वैत की अनुभूति के कारण सर्वत्र अपना परोपकारी विस्तार करता है और कभी भी साधन परक व उपयोगितावादी संकीर्ण रूप धारण नहीं कर पाता और सर्वत्र एक समंजन की स्थापना करता है जिसके लिए परिमाण की सचेत नाप-जोख नहीं बल्कि अन्तः स्फूर्ति की अद्वैत प्रक्रिया सर्वत्र कार्यशील रहती है।[6]

संस्कृति के इस प्रारूप में समाज के विविध कार्यकलाप संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले सांस्कृतिक व्यसाय (कल्चरल अफेयर्स) बन कर मात्र प्रदर्शन और मनोरंजन के साधन नहीं बनते बल्कि अद्वैत आनन्द को लक्ष्य बनाकर निरन्तर एक ही सृजनात्मक प्रकिया के विविध पहलुओं और स्तरों को प्रकट करते हैं। भारतीय संस्कृति की विभिन्न विधाओं ने जब रूढ़िगत रूप धारण कर लिए तो देश और समाज को विनाश से बचाने के लिए कुछ समाज सुधारकों ने इसके बाह्य प्रकारों पर प्रहार किया किन्तु संस्कृति की मूल चेतना को समझने में कहीं भ्रांति हुई और भ्रांतिवश यह कुठाराघात जीवन के विविध रूपों व पहलुओं के गुणात्मक स्वरूप पर भी हो गया। यह कुठाराघात स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी[7] द्वारा

---

[4] सत्यं शिवं सुन्दरम्। भारती मन्दिर, भरतपुर राजस्थान १९६३

[5] हमारी जीवन्त संस्कृति। भारती मन्दिर भरतपुर १९७२

[6] दि आइडिया ऑफ ब्यूटी तथा कॉन्सेप्ट ऑफ कल्चर १९६२ अप्रकाशित

[7] एक गोष्ठी में प्रदत्त वक्तव्य

हुआ जब कि तिवारी जी विशिष्टाद्वैत पद्धति पर ईश्वर के सौंदर्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति पर मूल्यात्मक बल देते हैं। दूसरी ओर विज्ञान ने अपनी विषयात्मक खोज को विषयी के स्वातन्त्र्य पर लाद दिया फलस्वरूप भारतीय संस्कृति को सदैव संस्कारमयी सृजनात्मक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करने वाले मांगलिक पर्वों और उत्सवों की भावना का ह्रास हुआ जब कि तिवारी जी संस्कृति के इस प्रारूप द्वारा प्रत्येक युग परिस्थिति में सौंदर्य के अद्वयानन्द की ओर बढ़ सकने की दिशा बताते हैं। आज के विकसित विज्ञान, तकनीक अर्थशास्त्र व राजनीति को यदि इस प्रारूप की सम मिल जाए तो 'भारत सोने की चिड़िया' का रूप 'विश्व सोने की चिड़िया' में बदल जाए।

आज की विशेषीकरण पद्धति और बौद्धिक विश्लेषण की प्रक्रिया सौंदर्योन्मुख विचार व जीवन की एकता के खण्डन की ओर बढ़ रही है।[8] जब कि मानव विचार व जीवन की गरिमा और साधन और साध्य के, विषय और विषयी के विवेक को आन्तरिक संगति देने में है। विषयोन्मुख साधनों की बहुलता मनुष्यों की बुद्धि का विनियोग भी साधनात्मक और विषयात्मक बनाती जा रही है और मनुष्य अपने व्यापक स्वत्व की एकता के अमृतमय आनन्द को भूल कर मृत्यु के विखन्डन और विनाश की ओर बढ़ रहा है। तिवारी जी का जीवन्त संस्कृति का संदेश पार्थिव जीवन के वैयक्तिक व सामाजिक रूप को जीवन्त अनुभव में भी अमृतमय बनाने का है। इस सांस्कृतिक सृजनात्मक प्रक्रिया में अर्थशास्त्र[9] जीवन के सृजनात्मक पहलुओं के बीच अपना युक्त स्थान बना कर जीवन के सारे अर्थों को युक्त महत्व प्रदान करके उच्चतर अर्थ में कल्याणकारी अर्थशास्त्र की गरिमा को प्राप्त करेगा। **राजनीति**[10] शक्ति के मद को समर्पित न होकर समाज के आन्तरिक संगठन, बल, एकता व सौंदर्य को स्थापित करने के लिए होगी। **राष्ट्रीयता**[11] विभिन्न राष्ट्रों की सांस्कृतिक विविधता व मौलिकता को उजागर करने के लिए होगी, दूसरे राष्ट्रों पर साधन परक तथा विषय परक ढंग से हावी होकर पशुतापूर्ण नीचता का प्रदर्शन नहीं करेगी। राजनीति में शत्रु और मित्र की परिभाषा संस्कृति के उच्चतम सृजनात्मक रूप की एकता के खन्डन और मण्डन-कर्त्ता के रूप में होगी, स्वदेशी और विदेशी के रूप में नहीं।

शिक्षा[12] जीवन के यथार्थ को प्रकट करने के लिए तथा सांस्कृतिक सृजन की प्रक्रिया में संस्कृत होकर जीवन को लक्ष्यात्मक प्रगति देने के लिए होगी।

विज्ञान[13] का उद्देश्य मनुष्य की इन्द्रियों और बुद्धि को स्वस्थ रखना है जो कि दूसरी ओर स्वयं विज्ञान के विकास की अनिवार्य दशा है।[14] **दर्शन** के लिए बौद्धिक स्वस्थता अतीव आवश्यक है कि मनुष्य संगति ओर समंजन से विचार कर सके। मानसिक स्वस्थता दर्शन और विज्ञान की मानसिक दशा है तो शारीरिक स्वस्थता शारीरिक दशा है। दुर्भाग्य की बात यह है कि आज का वैज्ञानिक विकास उपकरणों के अधिकार को प्रस्तुत करने के कारण मनुष्य की इन्द्रियों मन व बुद्धि को अस्वस्थ बनाने में ही कारण

[8] स्पिरिचुअल फाउण्डेशन ऑफ लाइफ १९७० अप्रकाशित

[9] वही इकॉनॉमिक्स एण्ड सिविलिजेशन अध्याय में।

[10] वही पोलिटिक्स एण्ड नेशनेलिटी अध्याय में

[11] वही।

[12] शिक्षा और संस्कृति, भारती मन्दिर भरतपुर १९७०

[13] स्पिरिचुअल फाउण्डेशन के साइंस एण्ड फिलोसफी अध्याय में

[14] वही।

बन सका है और विज्ञान के इस मूल्य विपर्यस्त युग में दार्शनिक बुद्धि भी विषयाधीन-सी होकर आत्म-चेतना के रूप से वंचित सी हो रही है और सृजनात्मक जीवन्तता के स्थान पर दार्शनिकों को भी साधना-परक पराधीनता घेरे हुए है।

विज्ञान का कार्य बाह्य जगत का ज्ञान तथा हमारे व्यक्तित्व के चेतना-बाह्य अंश का ज्ञान प्रस्तुत करना है। दर्शन ही एक ऐसा विषय है जो मनुष्य के स्वत्व की ओर दृष्टिपात करता है। स्वत्व की सार्थकता का ज्ञान इसी से होता है। अब यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो समग्र वास्तविकता दो भागों में बंट जाती है। दोनों के सहयोग से विश्व का समग्र कार्यकलाप चलता है, इसलिए दोनों को युक्त स्थान मिलना चाहिए। यह अनुभव सिद्ध है कि विश्व का सारा कार्यकलाप चेतना के प्रयोजनों की पूर्ति में होता है पर विज्ञान की विषय बुद्धि ने विषयी की प्रयोजन वत्ता के अनुसंधान को धुंधला बना दिया है। विश्व में सौंदर्य अथवा आनन्द एकत्व को देखने के लिए इसका अनुसंधान अनिवार्य है। इसके बिना विषय जगत का अनुसंधान जीवन्त आनन्द के लिए पर्याप्त नहीं। विज्ञान और दर्शन के योगदान को सम्मिलित रूप से काम में लेकर ही विश्व के अद्वय सौंदर्य के आनन्द को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार विज्ञान और दर्शन संस्कृति के सनातन रूपों को देख पाने का परिवेश प्रस्तुत करते हैं। ऐन्द्रिक और बौद्धिक स्वस्थता ही संस्कृति की सृजनात्मकता में मूलभूत है।

भौतिक विज्ञान का सत्य विषयपरक और उपयोगितावादी दृष्टि को ही दे सकता है तो दर्शन का सत्य अस्तित्व के सारे स्तरों को लांघ जाने के कारण अमूर्त्त हो जाता है। तिवारी जी दर्शन के अद्वैत और और अमूर्त्त सत्य को संस्कृति की जीवन्त प्रक्रिया में सृजन की आह्लादकारी क्रिया के रूप में देखना चाहते हैं। प्रत्येक कार्य में जड़ व चेतन के साथ व्यवहार करते हुए एक समात्मभाव रहना चाहिए। सर्वत्र सत्य और शिव के साधन परक निम्न स्तरीय स्वरूप का अतिक्रमण सुन्दर के अतिरेक में विभोर होकर होना चाहिये। इसकी सिद्धि के लिए तिवारी जो तर्क भी अनुभव की भूमि से देते हैं कि मनुष्य के लिए सौन्दर्योन्मुख होना जितना सहज आन्तर आदेश है उतना सत्य और शिव की ओर उन्मुख होना नहीं।[15]

जीवन में सत्य और शिव की खोज सुन्दर के नियम में सहज बन कर की जानी चाहिए जिससे सृजनात्मक क्रिया स्वतः ही स्वार्थ साहित्य का निदर्शन करे। 'स्व' व 'पर' के भेद का अतिक्रमण करने वाली सृजनात्मक भावना समात्मभाव को अपनाए हुए तिवारी जी में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। भारतीय परम्परा में दृढ़ता से निष्ठावान होते हुए भी वे प्रत्येक नवीन विचार व परिस्थिति का स्वागत आत्मीय भाव से करते हैं, इसका परिचायक उनका साम्यवाद विषयक मत है भले ही वे साम्यवादी देशों को राजनैतिक व दार्शनिक दृष्टि से भौतिकवादी कहते हैं[16] किंतु इस अर्थवाद के पीछे वे उसमें सामाजिक स्वतन्त्रता के अध्यात्म को खोजते हैं।[17] जो वस्तुतः साम्यवादी व्यवस्था में प्राप्त नहीं होता। तिवारी जी का कहना है कि यदि साम्यवाद केवल अर्थ मूल्य के असन्तुलित संस्थान का आग्रही न हो तो सृजनात्मक समात्मभाव की गुंजाइश उसमें खूब है। भारतीय चतुर्विध मूल्य व्यवस्था का धर्म साम्यवादी

---

[15] दि आइडिया आफ ब्यूटी
[16] स्पिरिचुअल फाउडेशन्स आफ लाइफ के पालिटिक्स एण्ड नेशनेलिटी अध्याय में
[17] एक गोष्ठी का वक्तव्य

व्यवस्था में नहीं है जिसमें मानव सुलभ दायित्व का आन्तरिक गुरुभार छिपा होता है।

पश्चिमी प्रजातन्त्र भले ही अधार्मिक और दार्शनिक रूप से भौतिकवादी नहीं है पर उसकी राजनीति ने केवल भौतिक और लौकिक अभिरुचियों तक स्वयं को सीमित कर लिया है इसलिए जीवन में सौंदर्य की या सृजनात्मकता की समंजस अनुभूति यह प्रजातन्त्र नहीं दे सकता।[18] क्योंकि दूसरे शब्दों में यह चेतना के स्वतन्त्र विकास पर एक बाधक का ही आरोपण करता है। फिर भी तिवारी जी दुराग्रही हो संस्कृति के किसी रूप की भी विशेषताओं की अवहेलना नहीं करते।

पश्चिमी और साम्यवादी देशों की राजनीति में व्यक्तित्व के स्थान पर नेतृत्व प्रतिनिधित्व की जिस गरिमा को प्रतिष्ठित करता है तिवारी जी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।[19] और 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' कहने वाले भारत की राजनीति में नेतृत्व के नाम पर व्यक्तित्व अपनी पूजा करता है तथा देश का सैद्धान्तिक प्रतिनिधित्व नहीं करता इसकी निन्दा भी खूब करते हैं। भारतीनन्दन मां पर लगते किसी कलुष को सहन नहीं करते, खुले मस्तिष्क से आलोचना कर युगानुकूल भाव विनियोग की प्रेरणा देते हैं।

समकालीन भारतीय वेदान्तों में[20] तिवारी जी का वेदान्त **सामाजिक-सांस्कृतिक सृजनात्मक अद्वैतवाद** कहा जा सकता है जिसमें केवल भारतीय परम्परा में रूढ़ पर्वों और उत्सवों के ही प्रति अनुराग नहीं, बल्कि देश के किसी भी कार्य को पर्व व उत्सव के उत्साह से ही किया जाना चाहिए। जिस प्रकार पर्व और उत्सव एक विशेष प्रकार के नियम नियन्त्रण और विधायक योगदान के लिए होते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन स्वतन्त्रता के आन्तरिक नियम और सृजन को अभिव्यक्त करे तभी जीवन्त संस्कृति का उद्घाटन कर सकता है। यह व्याख्या उन्होंने केवल दार्शनिक विवेचन में ही नहीं दी बल्कि उनके काव्यों में भी यही स्वर मुखर है।

कविता की भाषा जीवन को गति देने वाली हृदयग्राही भाषा होती है। तिवारी जी विवेचन से बुद्धि को विश्वस्त करते हैं और कविता से हृदय का उद्वेलन करते हैं कि कुछ करने की भावना रखो। यही मानव जीवन का जन्मसिद्ध अधिकार है इसीलिए पृथ्वी को कर्मभूमि कहा है। तिवारी जी के सम्पूर्ण लेखन का एक ही स्वर है, ब्रह्मचेतना के अद्वय सौंदर्य को जीवन की जीवन्त क्रिया में उतार कर सृजनशील मानव बनो।

० ० ०

इन दिनों दर्शन के क्षेत्र में आदेशात्मक तर्कशास्त्र अधिक प्रचलित हो रहा है और इस तर्कशास्त्र का अनुप्रयोग (अप्लाइड) क्षेत्र राजनीति, विधि और समाज है। सच कहा जाए तो आदेशात्मक तर्कशास्त्र इम्पेरेटिव लोजिक इन क्षेत्रों का जीवन्त विचार है जो नेतृत्व के लिए जीवन के गहन और विस्तृत अनुभव तथा संस्कार युक्त सृजनात्मक भाव की अपेक्षा रखता है और युग व परिस्थिति की प्रत्येक चुनौती के सक्रिय और नवीन उत्तर की भी। दूसरी ओर भारतीय चिन्तन में शास्त्र का अर्थ है जो अपने शासन से

---

[18] स्पिरिचुअल फाउण्डेशन्स में पालिटिक्स एण्ड नेशनेलिटी अध्याय में

[19] विचार भारती संस्था की एक गोष्ठी में प्रदत्त वक्तव्य

[20] डा. टी. आर. पी. मूर्ति, डा. नन्दकिशोर देवराज तथा डा. रमाकान्त त्रिपाठी के वेदान्तों का, अखिल भारतीय दर्शन परिषद के अहमदाबाद में आयोजित रजत जयन्त समारोह फरवरी १९८० में 'भारतीय दर्शन के पच्चीस वर्ष' परिचर्चा में नामकरण किया गया।

सब की रक्षा करने की सामर्थ्य रखे क्या आज हम अपने किसी भी कार्यक्षेत्र को युक्त शासन या अनुशासन से चला रहे हैं? क्यों नहीं? केवल इसलिए कि आज हमारे पास व्यवहृत राजशास्त्र नहीं है। यह राज-शास्त्र वर्तमान युग की राजनीति तो है किन्तु इससे ऊपर इसमें यह अर्थ और गर्भित है कि यह सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि शास्त्र है जिसके नियंत्रण में जीवन की अन्य सब संस्थाओं को चलना चाहिए तभी राज्य[21] युग निर्माता कहा जाता है। संस्कृति शाश्वत रूप की आराधना के व्यवहृत रूप में राज्य में निहित होनी चाहिए तभी सम्पूर्ण राज्य की जनता में संस्कृति जीवन्त रूप धारण कर सकती है। इसलिए सृजनात्मक जीवन्त संस्कृति के आजीवन सेवी डा. रामानन्द तिवारी के जीवन की सार्थकता राजशास्त्र की मन्त्रणा के मूल उत्स के रूप में ही देखी जा सकती है।

सांस्कृतिक दुहिता के रूप में इस अयोग्य जन ने पिता का जितना शोषण किया है, यदि उसके बल पर राष्ट्र का पोषण हो सके तो इस जन का जीवन भी जीवन्त अर्थ में धन्य हो जाए।



21 महाभारत—शान्तिपर्व।

मानव संस्कृति के चरण-चिह्न

—हरीश चन्द्र शर्मा

महाविद्यालय में १९५८ में प्रवेश पाने के बाद स्नातक स्तरीय कक्षाओं में विभिन्न विषयों के प्राध्यापकों के भाषण, नया परिवेश, नया ज्ञान, नया अनुभव तथा एक अकथनीय स्फूर्ति के साथ इस सारी नवीनता को अपने में समा लेने की हार्दिक अभिलाषा। ऐसी मनःस्थिति में जब दर्शन शास्त्र की कक्षा में प्रवेश किया तो प्राध्यापक के तेजोमय मुख मण्डल की आभा से स्वयमेव ही मन नतमस्तक हो गया।

सफेद कुर्त्ता और धोती, स्वस्थ सुडौल शरीर, चमकता हुआ ललाट और उसके नीचे छोटी-छोटी आंखें जो ज्ञान गरिमा से दर्शन के अन्तर्मन में गहराई तक पहुंचने में सक्षम थीं भारतीय दर्शन की रूप-रेखा का उल्लेख जिस शब्द गाम्भीर्य के साथ वे कर रहे थे उसे मैं मन्त्र मुग्ध सा सुनता रहा। कक्षा समाप्त होते ही परिचय प्राप्त करने की उत्कण्ठा हुई। बताया जाता है कि आप हैं डा० रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन'। पूरे वर्ष षटदर्शन एवं जैन तथा बौद्ध दर्शन की गूढ़ मान्यताओं एवं सिद्धान्तों का बोध-गम्य वर्णन शैली में अध्ययन चलता रहा। जिस दर्शन को हमारे प्राचीन मनीषियों ने आत्म ज्ञान के स्तर से अभिव्यक्त किया था। उसे हम जैसे बाल-बुद्धि विद्यार्थियों के सम्मुख दैनिक जीवन के दृष्टान्तों के माध्यम से स्पष्ट किया जाता था। दर्शन की कक्षा में हम थोड़े से विद्यार्थी थे और सभी गुरुवर के व्यक्तित्व से पूर्णतः प्रभावित। उनकी गजराज जैसी मन्द-मन्द चाल, मन्द मुस्कान युक्त सम्बोधन, नपे तुले शब्दों में सम्भाषण आदि हम सभी का ध्यान आकर्षित करते थे। हम सभी डा० भारतीनन्दन जैसे महान विद्वान का शिष्य होने में सौभाग्यपूर्ण गौरव का अनुभव करते थे। विभिन्न मानद पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित होते थे तथा उनके ग्रन्थों पर राष्ट्रीय स्तर के कतिपय पुरस्कार भी प्राप्त हो चुके थे।

त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम की द्वितीय वर्ष की परीक्षा पास करने के बाद जब मैंने तृतीय वर्ष में प्रवेश किया तो एक दिन कालेज पुस्तकालय में प्रविष्ट होते हुए 'भारतीनन्दन' जी ने मुझसे कुशल क्षेम पूछने के बाद अपने घर आने को कहा। आर्य समाज रोड पर ऊपर की मंजिल की उन्मुक्त हवा से युक्त उनके तत्कालीन निवास स्थान पर मेरा पहुंचना मेरे जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना रही। यहां मैंने गुरुवर से पिता का दुलार और गुरुपत्नी से मातृवत स्नेह प्राप्त किया। मणि, दीपक और अर्चना उस समय छोटे ही थे। जब कभी जीवन की उन घड़ियों को याद करता हूं तो लगता है कि मैं वहीं उस अतीत में पहुंच गया हूं। और सब कुछ इसी समय घटित हो रहा है। उन दिनों ऊपर की छत पर पहुंचते ही दिखाई देती थी एक खाली कुर्सी और उसके साथ सटी मेज पर रखे हुए कुछ खाली पृष्ठ। मैं जाकर कुर्सी पर बैठ जाता और कुछ ही देर में गुरुदेव निकटवर्ती मुड्डे पर आसीन हो जाते। मेरा सौभाग्य था कि मुझे उनके शब्दों को

लेखनीबद्ध करने का अवसर प्राप्त हुआ। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के अवशिष्ट पृष्ठ और समूचे 'अभिनव रस मीमांसा' ग्रन्थ की रचना के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति एवं साहित्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण रचनाओं के समय मैं उपस्थित रहा। लिखते-लिखते अचानक पैन रुक जाता था और लेखन की चिन्तन धारा बदलकर सम्भाषण में परिवर्तित हो जाती थी। ऐसे ही क्षणों में मैंने अनेक बार गुरुवर के श्रीमुख से आत्मा, बुद्धि मन, इन्द्रिय, शरीर के तारतम्य, भारतीय मनीषियों की विभिन्न देवताओं की मान्यता की सार्थकता, संस्कृत भाषा के प्रत्येक शब्द में अन्तर्निहित गूढ़ अर्थ, जीवन में श्रेय और प्रेम का अन्तर आदि विभिन्न विषयों पर उपनिषद भावना से सारगर्भित वचनों का श्रवण किया। ऐसी चर्चाओं में पर्याप्त समय व्यतीत हो जाता था, पैन की स्याही सूख जाती थी।

सागर की प्रगाढ़ गहनता में जो शान्ति, नीरवता और रत्नभारिता रहती है वह सागर की सतही लहरों में उठने वाली उत्तङ्ग हिलोरों से अनुमानित नहीं होती। दर्शन, धर्म, संस्कृति जैसे गूढ़ विषयों पर चिन्तन करने वाले डा० 'भारतीनन्दन' जब अर्चना के सांभी के मांड़ने में सहभागी बनते थे और बिनोद-मणि तथा प्रमोद दीपक के साथ पतंग बनाने, माजा सूतने और कण्डीलें उड़ाने में साथ देते थे तो इस असाधारण व्यक्तित्व की विलक्षणता समझ से पर हो जाती थी। ज्येष्ठ मास की गंगा दशमी के आस-पास उनके निवास से ढलते सूरज के अंधेरे में जब कण्डीलें उड़ना शुरू होतीं तो आस-पास की छतों के लोग आश्चर्य मिश्रित उत्सुकता से गिना करते थे कि कितनी कण्डीलें एक ही पतंग के साथ आसमान में लहरा रही हैं।

जिन दिनों मणि, दीपक और अर्चना को प्राथमिक स्तर पर कुछ पढ़ाने का अवसर मिला तो शिक्षा के लक्ष्य, स्कूल के स्वरूप, अध्यापक के व्यक्तित्व, विद्यार्थी के कर्त्तव्य आदि के सम्बन्ध में भी डा० 'भारती-नन्दन' के चिन्तन की झलक मिली। वे अपने इस चिन्तन को चिन्तन के स्तर पर न रखकर व्यावहारिक रूप देने के लिए कृत संकल्प थे। विद्यार्थियों के हितार्थ उनकी उद्‌बोधनशील रचना "छात्रो! उठो, जागो" में १०८ आदर्श विचारों के साथ विद्यार्थी जीवन की साधना हेतु माला को पिरोया गया है। अभी दिसम्बर, १९७९ में जब १४ कृष्ण नगर, गोल बाग रोड़, भरतपुर में, गुरुवर के वर्तमान निवास स्थान पर दर्शन किये तो लगा कि काल का प्रभाव कुछ व्यक्तित्वों को अधिक परिवर्तित नहीं कर पाता। सेवा निवृत्त जीवन की एक पीड़ा जो सामान्य जन में परिलक्षित होती है गुरुवर में कहीं उसका आभास भी नहीं है। वे अभी भी उतने ही चुस्त, गम्भीर, चिन्तनशील, सक्रिय, भावनामूर्ति एवं श्रद्धास्पद हैं। यद्यपि वे कुछ समय पूर्व मथुरा यात्रा से वापस लौटे थे किन्तु पुराने शिष्य के प्रति उनके भाव में थकान का कोई चिन्ह नहीं था। सारे कुशल-क्षेम पूछने के बाद वे अपने निवास स्थान के निकट ही स्थित एक विद्यालय में ले गये जहां शिक्षा सम्बन्धी अपने चिन्तन और शैली को चरितार्थ करने में वे संलग्न हैं। सीमित साधनों में मनोवैज्ञानिक प्रणाली से प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थियों को वहां शिक्षा पाते देख मन में आया कि क्यों न उम्र घटाकर यहां फिर से पढ़ना शुरू कर दूं। प्रचार और विज्ञापनों में विश्वास न करने वाले उपनिषद् कालीन ऋषियों जैसे इस महान् व्यक्तित्व के जो भी सम्पर्क में आएगा, प्रभावित हुये बिना न रहेगा। किन्तु मानवता ऐसे मनीषियों से कितनी प्रभावित हो पाती है यह नियति का प्रश्न है। एक तथ्य निश्चित है कि ऐसे महापुरुषों के पदचिह्न मानव संस्कृति पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं।

दार्शनिक, शिक्षक एवं विचारक : डॉ० रामानन्द तिवारी

—राम प्रसाद शर्मा

'पार्वती' महाकाव्य के प्रणेता, भारतीय संस्कृति के प्रमुख प्रचारक तथा प्रबुद्ध दर्शन-शास्त्री मनीषी डॉ. रामानंद तिवारी भारतीनन्दन-अभिनन्दन ग्रंथ में कोई रचना प्रस्तुत करना परम सौभाग्य की बात है। डॉ. तिवारी एक व्यक्ति नहीं, अपितु अपने आप में एक महत्वपूर्ण संस्था है। कोई भी व्यक्ति जो उनके सम्पर्क में आया उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। मूल्यों के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा, कथनी और करनी में अन्तर न होना तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति विशेष आदर डॉ. तिवारी की महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं। अपने आदर्शों के प्रति अडिग डॉ. तिवारी ने कभी भी गलत बातों से किसी भी कारण सहमति प्रकट नहीं की। समाज की परेशानियां, दुःख तथा तकलीफें माननीय डॉ. तिवारी को दुःखी करती रहीं, और उन्हीं से प्रभावित होकर डॉ. तिवारी ने शिक्षा, संस्कृति एवं बालकों पर ग्रंथों की रचना ही नहीं की अपितु मौखिक रूप से अनेक व्यक्तियों को अपने विचारों से लाभान्वित किया।

डॉ. रामानंद तिवारी का शिक्षा के प्रति विशेष प्रेम रहा है। उन्होंने अपना जीवन शिक्षक से ही प्रारम्भ किया और अभी तक उसी कार्य से सम्बन्धित है। शिक्षा तथा संस्कृति के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार लेखों तथा पुस्तकों में ही व्यक्त नहीं किये अपितु उन्हें मूर्त रूप देने के लिए छात्रों तथा अपने बच्चों पर भी प्रयोग किये। इसी के फलस्वरूप उन्होंने अपने बच्चों को ही राजकीय सेवा के सर्वोच्च पदों पर ही नहीं पहुंचाया अपितु अपने साथियों और विद्यार्थियों को भी लाभान्वित किया। बच्चों के साथ कैसा व्यवहार किया जाये, इस बात की प्यास ने डॉ. तिवारी को समाज के हित में बच्चों पर एक पुस्तक 'आप का बालक होनहार है' लिखने को बाध्य किया, जिसे पढ़कर अनेक अभिभावक उनके जीवन भर ऋणी रहेंगे।

कक्षाओं में डॉ. तिवारी ने पाठ्य पुस्तक पर जोर न देकर विद्यार्थियों में दर्शन के प्रति प्रेम व मूल विचार उत्पन्न करने पर जोर दिया। पुस्तक पढ़ाते-पढ़ाते डॉ. तिवारी मस्तिष्क में आने वाले मूल विचारों की पुस्तकों, कापियों तथा नोट बुक या खुले कागजों पर लिखते जाते थे। कक्षा में हों चाहे रास्ते में, चाहे शयन कक्ष में डॉ. तिवारी चिन्तन शील रहते और मूल विचार उनके मस्तिष्क में आते रहते, उन्हें वे नोट कर लेते थे। डॉ. तिवारी मुझसे अनेक बार यही कहते रहते कि इतने विचारों को लिखना इस जीवन में कैसे सम्भव होगा? डॉ. तिवारी के इस प्रकार के मूल विचार उनकी नोट बुक्स तथा खुले कागजों में अस्त-व्यस्त पड़े हैं।

डॉ. तिवारी जीवन भर चिन्तन और लेखन में व्यस्त रहे हैं। लेखन की एक विशेष विधि से उन्होंने प्रायः समस्त कृतियों को लिखा है। वे स्वयं अपने हाथ से बहुत कम लिखते हैं। डॉ. तिवारी स्वयं बोलते जाते हैं और लिखने वाला उनके विचार लिखता रहता है। हिन्दी की सभी पुस्तकें इसी प्रकार लिखी गई हैं। पुस्तकें

व लेख लिखते समय विचारों का तांता डॉ. तिवारी के मस्तिष्क में जिस गति से आता था उसकी कल्पना डॉ. तिवारी तथा लिखने वाला ही कर सकता है। डॉ. तिवारी लिखाने से पूर्व कोई तैयारी नहीं करते हैं, परन्तु लिखाते समय उनके मस्तिष्क में विचार पर विचार आते-जाते हैं। लेखन के साथ अपने विचारों की विवेचना करना डॉ. तिवारी की एक विशेषता रही है। मुझे भी डॉ. तिवारी के लेखक के रूप में चार वर्ष कार्य करने का अवसर मिला। डॉ. तिवारी के सान्निध्य से मुझे अपने वैचारिक जीवन में बहुत लाभ हुआ।

शिक्षा तथा लेखन के प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम बहुत कम व्यक्तियों में देखने को मिलता है। शिक्षा में बालकों का जीवन उन्नत हो, इसी विचार से प्रेरित हो डॉ. तिवारी एक स्कूल चला रहे हैं। आधुनिक युग में स्कूल चलाना एक व्यवसाय हो गया है, परन्तु डॉ. तिवारी अपना पैसा और श्रम स्कूल चलाने में समाज सेवा के भाव से खर्च कर रहे हैं। अपने घर का कागज, स्लेट, पैंसिल, पैसा तथा श्रम छोटे बच्चों की पाठशाला पर इतने बड़े शिक्षा शास्त्री कम ही दे पाते हैं।

भारतीय संस्कृति पर डॉ. रामानन्द तिवारी ने केवल लेखों और पुस्तकों की ही रचना नहीं की अपितु उसे अपने जीवन में भी उतारा। उनका खान-पान, रहना, मकान तथा शिक्षा में यह संस्कृति पूर्ण रूप से परिलक्षित होती है। डॉ. तिवारी के घर में प्रवेश करते ही कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि इस मकान में कोई भारती संस्कृति का पोषक रहता है। मकान में आधुनिक चित्र कला के चित्र नहीं अपितु भारतीय संस्कृति के प्रतीक स्वस्तिक, श्रीचक्र , ॐ, श्री, स्थायी रूप से बनाये गये हैं। यज्ञोपवीत, सन्ध्या पूजा आदि डॉ. तिवारी के परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अंग है। संस्कृति, भाषा तथा ज्योतिष का ज्ञान डॉ. तिवारी के परिवार के प्रत्येक सदस्य को रूचिकर हैं। यही नहीं भौतिक शास्त्र से एम. एस. सी. किये उनके पुत्र श्री प्रमोद ने तो राजस्थान प्रशासकीय, सेवा में संस्कृत का प्रश्न पत्र चुना था। 'हमारी जीवन्त संस्कृति, डॉ. तिवारी की अमूल्य रचना है। इसी सन्दर्भ में मुझे एक घटना स्मरण आती है। एक बार एक जर्मन दम्पति महारानी श्री जया कालिज भरतपुर में आया था। जर्मन महिला ने सभी उपस्थित प्राध्यापकों से हाथ मिलाया था। जब डॉ. रामानन्द तिवारी की ओर जर्मन महिला हाथ मिलाने आगे बढ़ी तो डॉ. तिवारी ने हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया और विनम्रता-पूर्वक कहा कि हमारी संस्कृति में ऐसा नहीं होता।

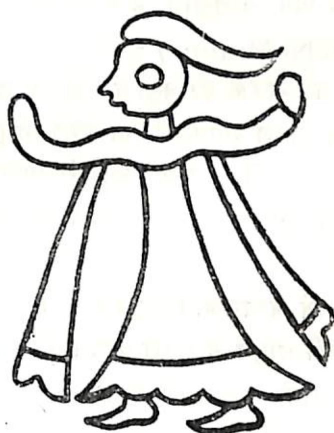
डॉ० तिवारी को मूल लेख और रचनाओं से ही प्रेम रहा है। अनुवाद के प्रति उनका कभी आग्रह नहीं रहा है। मुझे स्मरण है कि जर्मन दार्शनिक डायसन के ग्रन्थ के अनुवाद के लिए एक बड़ी राशि डॉ० तिवारी को मिल सकती थी, परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। अपने गुरू डॉ० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे द्वारा रचित दर्शन के एक महत्वपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, राजस्थान द्वारा करीब ४-५ वर्ष पूर्व प्रो० तिवारी के नाम से निकला है। यह अनुवाद प्रो० तिवारी ने अपने विद्यार्थी काल में किया था जब वे इलाहबाद में डॉ० रानडे के निर्देशन में अध्ययनरत थे। यह अनुवाद दर्शन के क्षेत्र में बहुत अच्छे अनुवादों में माना जाता है।

डॉ० तिवारी का केवल हिन्दी भाषा पर ही अधिकार नहीं है अपितु संस्कृत और अंग्रेजी पर भी समान अधिकार है। परन्तु उनका हिन्दी के प्रति विशेष प्रेम रहा है। इस विशेष प्रेम से प्रभावित हो डॉ० तिवारी को काठमांडू विश्व विद्यालय ने हिन्दी का प्रोफेसर नियुक्त किया था, जिसे उन्होंने सहज भाव से

अस्वीकार कर दिया ।

डा० तिवारी हिन्दी के प्राध्यापक नहीं अपितु दर्शन के प्राध्यापक हैं। भारतीय दर्शन में डॉ० तिवारी की विशेष रुचि रही है। दर्शन पर उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन, भारतीय दर्शन की भूमिका, भारतीय दर्शन, Secualr, Social and ethical Values in Upanishads आदि हैं। 'सत्यं, शिवम् सुन्दरम्' डॉ० तिवारी की अत्यन्त चर्चित एवं सार गर्भित रचना है। श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन डॉ० तिवारी का इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी० फिल० की डिग्री के लिए स्वीकृत शोध ग्रन्थ है। यह दर्शन को एक अमूल्य रचना है। यह डी० फिल० की डिग्री प्रो० तिवारी ने श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के निर्देशन में प्राप्त की थी। जब डॉ० तिवारी अपनी इस रचना को लेकर अन्तिम निर्देशन लेने डॉ० रानडे के पास गये तो डॉ० रानडे ने प्रो० तिवारी को इस पुस्तक का एक पृष्ठ खोलकर दिया और पढ़ने को कहा, जब डॉ० तिवारी ने उस पृष्ठ को पढ़ा तो डॉ० रानडे ने प्रसन्न होकर कहा कि मैं तुम्हें इसी पृष्ठ पर डी० फिल० की डिग्री प्रदान करता हूं।

डॉ० तिवारी ने अपने जीवन का उद्देश्य पठन, पाठन तथा लेखन ही बनाया। इसी प्रकार डॉ० तिवारी ने प्राचार्य पद व्यवधान पड़ने की आशंका के कारण स्वीकार नहीं किया। कुछ समय पश्चात मित्रों के आग्रह के कारण उन्होंने एम० एस० जे० कालिज में प्राचार्य पद सुशोभित किया परन्तु लेखन में बाधा के कारण उस पद से त्यागपत्र दे दिया। इसी भावना से प्रेरित डॉ० तिवारी आजकल भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अन्तर्गत दर्शन शास्त्र से रिसर्च प्रोफसर पद पर कार्यरत हैं। उन्हें मेरा शत-शत नमन।



चिर स्मरणीय धागा

—कुसुम नारायण

अगस्त १९६१ में महारानी कालिज जयपुर के कैन्टीन में बैठे हुये सुश्री प्रभा त्रिवेदी (वाजपेयी) दीदी से बातचीत हो रही थी, उस ही दौरान उन्होंने मुझे बताया कि उनके एक भाई भरतपुर में हैं, जो कि दर्शनशास्त्र के अध्यापक हैं। पढ़ाई-लिखाई के कार्य में तल्लीन रहते हैं। उनके यहां अलमारियां किताबों से भरी रहती हैं, वे मुझे बहन मानते हैं इत्यादि-इत्यादि।

उनके इस वर्णन से एक अजीब सी कल्पना आदरणीय तिवारी जी के व्यक्तित्व के बारे में मेरे मस्तिष्क में भर गई। प्रभाजी से मुझे एक क्षण के लिये ईर्ष्या भी हुई थी, यह मुझे अच्छी तरह याद है।

ठीक एक वर्ष बाद, नियति का कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मुझे भी इस परिवार के साथ उस ही पवित्र बन्धन से जुड़ना था, महारानी कालिज जयपुर से मेरा स्थानान्तरण महारानी श्री जया कालिज भरतपुर को हुआ। बहुत कुछ प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी मैंने आकर अपना पदभार संभाला। घर से पहली बार निकलने व शहर से बिल्कुल अनभिज्ञ होने के कारण बड़ी असमंजस की अवस्था में थी। यहां आकर मालूम हुआ कि कालिज के प्राचार्य (प्रिन्सीपल) का पद कुछ ही दिनों पूर्व आदरणीय तिवारी साहब ने संभाला है। कालिज में अकेली महिला प्राध्यापिका होने के कारण मैं आकर प्रिन्सीपल के कमरे में ही बैठती थी। तिवारी साहब मुझसे स्नेहपूर्वक बातचीत करते थे, 'क्लास ठीक चल रही हैं, कोई परेशानी तो नहीं" इत्यादि। एक दिन बातचीत में मैंने बताया कि मेरे एक भाई यहां डाक्टर रह चुके हैं, आप जानते होंगे। नाम (S. N. Mathur) सुनते ही उन्होंने बड़े सौम्य भाव से कहा "उनके हम पर बहुत अहसान हैं, उन्होंने मेरे बड़े लड़के को बड़ी बीमारी से बचाया है।" मुझे यह सुनकर अपने भाई पर कुछ गर्व हुआ, साथ ही इनके सरल व्यक्तित्व का भी भान हुआ।

परिवार में जाने पर आदरणीया भाभी जी मुझसे स्नेह से मिलतीं व मेरा मार्ग दर्शन करती थीं। उनके भी व्यक्तित्व के 'ओज' से जो कि एक पारिवारिक महिला में कम ही देखने को मिलता है, मैं प्रभावित रहती थी।

कुछ ही दिनों बाद 'राखी' का पर्व आया जो कि उनके यहां हरतालिका तीज को मनाया जाता है। आदरणीय भाभी जी ने मुझे तिवारी साहब के राखी बांधने को आमन्त्रित किया। वे मुझे बता चुकी थीं कि प्रभाजी को उन्होंने बहिन बनाया है, वे हर वर्ष राखी भेजती हैं। मेरा परिचय उनसे है, एक ही कालिज में पढ़े हैं, व यहां आने से पूर्व, वे और मैं दोनों ही साथ-साथ महारानी कालिज जयपुर में प्राध्यापिका भी थीं, यह मैं इन्हें बता चुकी थी।

राखी के इस पवित्र सूत्र को मुझे भी उस महान व्यक्ति के हाथों में बांधकर एक स्नेह डोर से आजीवन बंधने का कभी सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा, मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। उस समय स्वभाव

से कुछ संकोची होने के कारण एक पसोपेश की अवस्था में थी। इतने थोड़े से समय (करीब एक माह) के परिचय से वे मेरे व्यक्तित्व को किस प्रकार परख कर इतना दायित्वपूर्ण सम्बन्ध जोड़ने का निश्चय कर सके हैं, यह प्रश्न मेरे दिमाग में बार-बार उठ रहा था। मुझे उन जैसे सरल व्यक्तित्व पर ऐसा भार डालना चाहिए अथवा नहीं, मैं निश्चय नहीं कर पा रही थी। किन्तु एक वर्ष पूर्व 'प्रभाजी' से हुई ईर्ष्या मुझे इस पवित्र बन्धन से जुड़ने से रोक नहीं सकी।

पारिवारिक सम्बन्ध प्रगाढ़ होने से मुझे आपके परिवार से अत्यधिक स्नेह व मार्गदर्शन मिलता रहा। कालिज में आपका संरक्षण मिलने से अकेली महिला होते हुए भी मैं अपना कार्य निश्चित होकर करती थी। कक्षा सम्बन्धी कोई भी समस्या आने पर आदरणीय भाई साहब बड़ी गंभीरता से सुलझा देते थे। किन्तु यह प्रिन्सीपल का पद जो प्रशासन सम्बन्धी उलझनों से भरा है, गरिमामय होते हुए भी उनके स्वभाव के प्रतिकूल था, उन्होंने इसीलिए इस पद को जल्दी ही त्याग दिया। अपनी चिन्तन और लेखन की रुचि को एक प्रोफेसर रहकर ही वो बनाए रख सकते थे। साहित्य व दर्शन के लिए यह उनका महान त्याग था। उस समय उनके परिवार में लिखाई-पढ़ाई के अतिरिक्त और कोई गतिविधि विशेष नजर नहीं आती थी। भाभी जी अपनी पी० एच० डी० के कार्य में संलग्न थीं तथा बच्चे अपनी-अपनी पढ़ाई में।

बच्चों को दी जा रही गृह शिक्षा आलोचना व टिप्पणी का विषय बनी हुई थी। किन्तु बिना किसी की चिन्ता, किये वे अपने परीक्षण में लगे रहे। पारिवारिक गुरुकुल में शिक्षा अपने ढंग से प्रदान कर बच्चों को बोर्ड की परीक्षाएं केवल अनुभव के लिए दिलवाते रहे। इस पद्धति से शिक्षित बच्चे जब बोर्ड व यूनीवर्सिटी के पश्चात राज्य व राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगिताओं में प्रतिभा दिखाने लगे, तब उनके इस साहसिक कार्य की सबने प्रशंसा की।

बच्चों के समुचित विकास के लिए पारिवारिक जीवन की सरलता को बनाए रखना उनका जीवन लक्ष्य था। 'आधुनिकता' की वर्तमान तड़क-भड़क से परिवार को मुक्त रखने से आज भी उनका स्व-निर्मित गृह पारिवारिक गरिमा का प्रतीक प्रतीत होता है।

मुझे भी आदरणीय भाई साहब व भाभी जी अक्सर बातचीत के दौरान सरल जीवन की प्रेरणा देते रहे, तथा कार्यरत लड़कियों के विवाह सम्बन्धी समस्याओं को लेकर मेरे विचार भी एक निश्चित दिशा की ओर ढालते रहे। मेरी प्रतिक्रिया जानकर मुझे भी जीवन व्यवस्थित करने का प्रस्ताव, एक अन्य प्राध्यापक के माध्यम से, मेरे पिता को भिजवाकर, एक ही महाविद्यालय के दो प्राध्यापकों को 'जीवन साथी' बना देने का पुनीत दायित्व इस बहिन के प्रति भी उन्होंने निभा दिया।

अपने सरल पारिवारिक जीवन को लेकर वे लेखक व चिन्तन के क्षेत्र में एक महान विभूति बन सके हैं। उनके इस क्षेत्र में अग्रसर होने का बहुत कुछ श्रेय भाभी जी को भी है, जिन्होंने उनके लेखन व चिन्तन को ही अपना जीवन मान लिया। बाहरी वैभव से दूर रहकर उन्होंने एक 'त्यागशीला' पत्नी का आदर्श प्रस्तुत किया है।

उनके साहित्य को अधिक पढ़ने का मुझे समय तो नहीं मिल सका, किन्तु जितना भी कुछ देख सकी हूं, उसमें उनकी मौलिक विचारधारा, अपना जीवन-दर्शन देखने को मिला है। उनकी 'पार्वती' व 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जैसी कृतियां समाज व राष्ट्र के लिए महान उपलब्धियां हैं।

स्वभाव से दार्शनिक होते हुये भी विज्ञान के प्रति भी उन्होंने सदैव रुचि दिखाई है। विज्ञान के

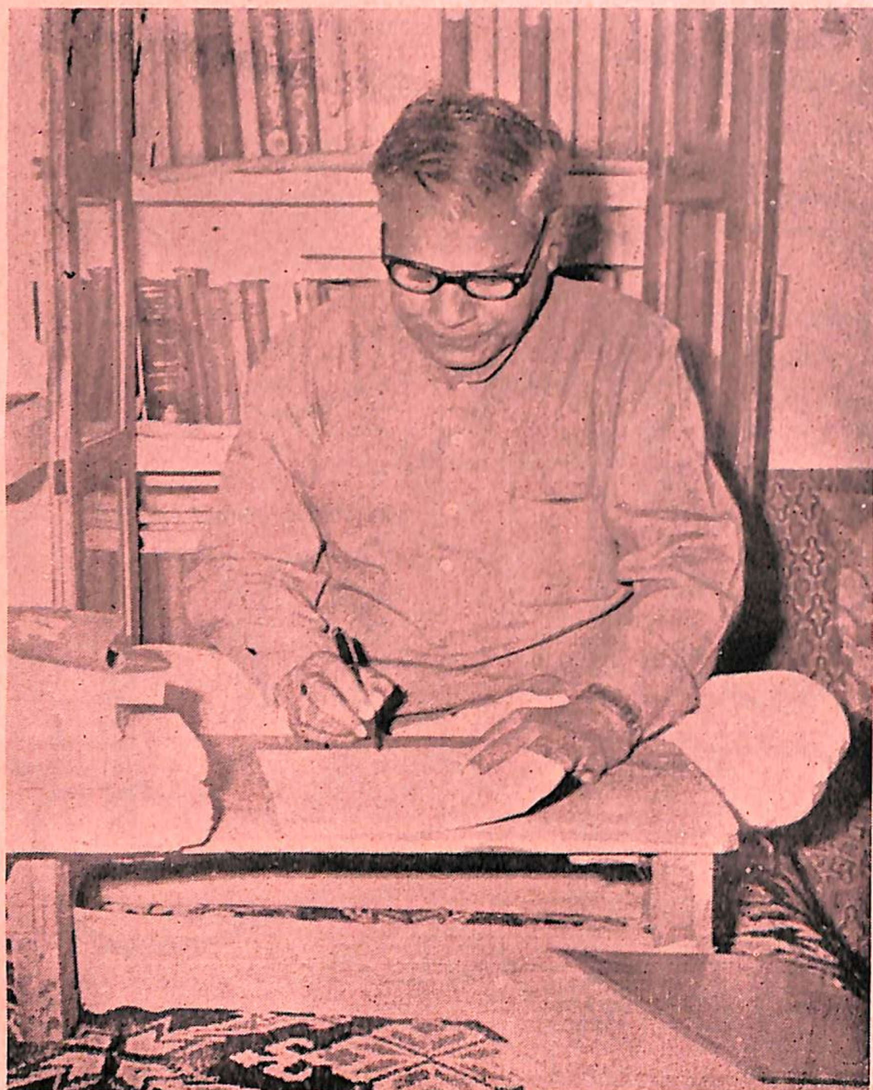
महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर उन्होंने मेरे पिता के साथ अक्सर विचार-विमर्श किया है। अपनी इसी जिज्ञासा को लेकर अपने पुत्र चि० प्रमोद दीपक को विज्ञान का छात्र बनाया। दोनों पुत्रों के साथ पुत्री को भी उच्च शिक्षा प्रदान करने के साथ ही, उसे गृहकार्य में भी निपुण बनाकर भारतीय परम्परा को निभाया है।

जगत में फैली हुई बुराइयों को लेकर वे अक्सर चिन्तित ररते हैं। शिक्षा सम्बन्धी कई योजनाएं उन्होंने सरकार को भी प्रस्तुत की हैं। अपनी विचारधारा को साकार रूप देने के उद्देश्य से ही उन्होंने एक छोटा-सा स्कूल प्रारम्भ किया है, जो कि वास्तविक अर्थों में शिक्षा प्रदान करने का कार्य कर सकेगा। सभी विषयों में बच्चों की नींव मजबूत करना तथा उनका सही चारित्रिक विकास ही उनके इस प्रयास की पृष्ठभूमि है।

सरल निस्वार्थभाव से सेवा करने वाले तथा साहित्य जगत में देदीप्यमान इस महान व्यक्तित्व के प्यार भरे पवित्र बंधन से मैं सदैव जुड़ी रहूंगी, इसके लिये मैं अपने को गौरवान्वित मानती हूं। साथ ही मैं आपके परिवार के उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूं।




कविता



डॉ० तिवारी लेखन मुद्रा में

अभिनन्दनीय तिवारी जी

—आचार्य कलानाथ शास्त्री

राजस्थान के जिन मनीषियों ने प्रचार की चमक से दूर रहकर तथा लाभ हानि की लौकिक चिन्ता किये बिना निरन्तर साहित्य साधना करके सरस्वती की उपासना को है उनमें डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन प्रथम पंक्ति में आते हैं। मेरी यह मान्यता रही है कि चन्द बरदायी के समय से लेकर आज तक राजस्थान में हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकारों की एक बहुत बड़ी संख्या प्रत्येक युग में सर्जनारत रही है किन्तु उनमें से बहुत कम साहित्यकार ऐसे होंगे जिनका नाम आजकल उपलब्ध होने वाले हिन्दी साहित्य के इतिहासों में आता है। इन पाठ्य इतिहासों में मीराबाई, दादू या सुन्दरदास आदि के नाम तो मिलेंगे किन्तु राजस्थान के अन्य साहित्यकारों का उतना भी उल्लेख नहीं मिलता जितना अन्य प्रदेशों के साहित्यकारों का। राजस्थान के विद्वानों का कम उल्लेख होने का कारण कुछ भी हो; जैसे यहां के लोग प्रचार की विद्या नहीं जानते हों, उनका प्रसार क्षेत्र सीमित रहा हो, संचार साधनों और प्रचार सुविधाओं के अभाव में उनकी कृतियां गंगा जमनी दोआबे वाले हृदय क्षेत्र में नहीं फैल पायी हों और जैसी कि कुछ विद्वानों की मान्यता है, जिस प्रदेश का इतिहासकार रहा उसने दूर के प्रदेशों के जुगनुओं का उल्लेख करने की बजाय अपने प्रदेश के सूर्य और शशि का उल्लेख करना ही पर्याप्त मान लिया हो, राजस्थान के सर्जकों ने राजस्थानी भाषा में भी कार्य किया अत: हिन्दी पर पूर्ण ध्यान केन्द्रित न हो पाया हो, इसी प्रकार के शायद कुछ कारण इस बात के रहे हों। यह कारण तो अवश्य ही सही नहीं जंचता कि उन बेचारों का स्तर ही नीचा था इसलिये उन लोगों का उल्लेख बनारस या इलाहाबाद के इतिहासकार कैसे करते।

तात्पर्य यह है कि राजस्थान की, शायद मध्यप्रदेश जैसे कुछ प्रान्तों की भी, कुछ प्रतिभाएं प्रत्येक युग में ऐसी रही हैं जो रीतिकाल में सेनापति और देव तथा आधुनिक काल में प्रसाद और पन्त की टक्कर की रही हैं किन्तु कालेजों के पाठ्यक्रमों में नियत इतिहासों में उनका उल्लेख नहीं आने से यह मान लिया जाता है कि वे स्तरीय नहीं थीं। कभी-कभी मैं सोचता हूं कि इस दृष्टि से यहां के कहलाने वाले लेखक चन्द्रधर गुलेरी सौभाग्यशाली हैं जिनका उल्लेख विपुल मात्रा में हुआ। या तो वे बनारस में रह आये इसलिये या उनकी प्रतिभा की चमक दब नहीं पाई इसलिये वे उजागर हो गये। पिछले वर्षों में तो रांगेय राघव और मणि मधुकर जैसे कुछ नाम ही सामने आ पाये हैं। बाकी तो स्थिति यह रही है कि झालरा-पाटन के गिरिधर शर्मा नवरत्न या जयपुर के पुरोहित प्रताप नारायण कविरत्न जैसे कवियों का और रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' जैसे आलोचकों का यदि रामचन्द्र शुक्ल ने उल्लेख कर दिया तो अन्यों ने उनका नाम लेना जरूरी नहीं समझा और इस प्रकार ऐसी अनेक प्रतिभाएं अखिल भारतीय क्षितिज पर नहीं चमक सकीं। भारतीनन्दन जी की साहित्य साधना, महाकाव्य और खण्डकाव्य से लेकर दर्शन ग्रंथों

तक फैली हुई है और जो गुणग्राही हैं उनके सर्वोच्च सम्मान भी किये हैं। "पार्वती" को उत्तर प्रदेश सरकार ने भलीभांति पुरस्कृत किया, डालमिया पुरस्कार मिला, राजस्थान एकादमी ने "मनीषी" का सम्मान दिया। यही नहीं देश के कोने-कोने से पुरस्कार मिले, पर वह रिकोगनीशन जो इस स्तर के विद्वान और सर्जक को मिलना चाहिये शायद अब तक उन्हें नहीं मिल पाया है। फिर भी वे निःसंग हैं, आत्मतुष्ट हैं। आचार्य किशोरीदास बाजपेयी जैसा ब्रह्मतेजोमय आक्रोश उन्होंने कभी नहीं दिखाया।

भारतीनंदनजी की सर्वाधिक प्रभावित करने वाली विशेषता यही है कि वे सही अर्थों में मूक साधक एवं सन्तोषी जीव हैं। मैं उनके जिन ग्रंथों का अध्ययन कर पाया हूं उनसे उनके अनेक पक्षों से निकट का परिचय हुआ है। पहला पक्ष है एक दार्शनिक का दूसरा महाकवि का तीसरा काव्यालोचक का।

दार्शनिक :

तिवारीजी डॉ० आर० डी० रानाडे जैसे तपस्वी दार्शनिक के शिष्य हैं। उपनिषदों के दर्शन की दीक्षा उन्होंने इसी विभूति से ली थी। तब से अपने समूचे शैक्षिक जीवन में उन्होंने दर्शन पढ़ाकर अनेक सुयोग्य विद्वान पैदा किये और दार्शनिक ग्रंथ लिखे। "भारतीय दर्शन का परिचय" भारतीय दर्शन की भूमिका कान्सेप्ट आफ कल्चर, आध्यात्मिक अस्तित्ववाद, 'जीवन के आध्यात्मिक आधार' आदि उनमें से उल्लेखनीय हैं। उपनिषदों की मूल्य मीमांसा पर १९५७-५८ में विश्व विद्यालय अनुदान आयोग की योजना के तहत उन्होंने जो ग्रंथ लिखा है मैंने उसे पढ़ने पर पाया कि उपनिषदों पर व्यापक एवं सर्वांगीण समीक्षात्मक दृष्टि डालने वाले बहुमूल्य ग्रंथों में से एक प्रमुख है। इसमें तिवारी जी ने अनेक ऐसे अछूत पक्ष छुए हैं जो सामान्य लेखक के लिए कल्पनातीत हैं। उपनिषदों में बुद्धि और निद्रा आदि से सम्बन्धित मूल्यों तक तो शायद अनेक लेखक भी पहुंच पाते किन्तु उपनिषदों में जैव सौन्दर्यात्मक मूल्यों, नैतिक मूल्यों की विसंगतियों, सैक्स के सम्बन्ध में दृष्टिकोण तथा ट्रांसवेल्यूएशन जैसे विषयों पर सर्वांगीण विवेचना करना और वह भी उस बेलाग दृष्टिभंगी के साथ जो इस ग्रंथ में है तिवारी जी जैसे व्यक्ति का ही काम है। उपनिषदों पर लिखने वाले भारतीय विद्वानों में अधिकांश उनकी गरिमा से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि उसका अन्य देशों और धर्मों के ग्रंथों से तुलनात्मक अध्ययन करने और कमियां बताने की बात नहीं सोच पाते। तिवारीजी ने इस सीमा से ऊपर उठकर अनेकों ऐसे निष्कर्ष भी दिये हैं जो नीरक्षीर-विवेक की परिभाषा में आते हैं। उदाहरणार्थ अपने ग्रंथ में उपनिषदों की कमियां बतलाने वाला एक अध्याय उन्होंने लिखा है जिसमें स्पष्ट किया है कि यूनानी दर्शन के न्याय सिद्धान्त जैसे किसी सिद्धांत का अभाव और क्रिश्चियन धर्म की सेवा एवं प्रेम जैसी अवधारणाओं (जिनके अनुसरण में रेडक्रास सोसायटी जैसी जनसेवी संस्थाएं और अस्पतालों द्वारा जन सेवा करके मिशनरी लोग लोकप्रिय हो जाते हैं) का अभाव भारतीय उपनिषदों की उल्लेखनीय कमी है। इस प्रकार उपनिषदों के मूल्यों की व्यापक और बहुमुखी मीमांसा में तिवारीजी का तपस्वी चिन्तक पूर्णतः प्रतिबिम्बित दिखाई देता है।

यह सब इसलिये सम्भव हो पाया है कि तिवारीजी संस्कृत, बृजभाषा, अंग्रेजी और हिन्दी इन सब में पारंगत होने के बाद वर्षों तक भारतीय दर्शनों और काव्यों में गोते लगाते रहे हैं, इसके अतिरिक्त राजनीति प्रशासन और प्रचार द्वारा धनसंग्रह के मायाजाल से दूर हटकर एकान्त में चिन्तन एवं मनन करते रहे हैं। उनके दर्शन एवं साहित्य के विषयों पर लिखी कुछ पुस्तकें इसका प्रमाण हैं। "भारत का संदेश" और हमारी जीवन्त संस्कृति जैसी पुस्तकों में उन्होंने भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुरूप जीवन

दर्शन की व्याख्या की है। यही दृष्टिकोण उनकी "कान्सेप्ट आफ कलचर" और 'आइडिया आफ ब्यूटी" जैसी कृतियों से भी उपलब्ध होता है। इन कृतियों के देखने से प्रतीत होता है कि भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं और चिन्तनधारा का तिवारीजी ने न केवल गहरा अध्ययन ही किया है बल्कि उसमें उनकी गहरी आस्था भी है। किन्तु यह आस्था अन्धविश्वास या दुराग्रह का रूप कहीं नहीं लेती। वह एक दार्शनिक और तार्किक तत्व-चिन्तक की आस्था है।

महाकवि

मेरी तो यह मान्यता है कि सफल कवि होने के लिये केवल अनुभूति, प्रतिभा या कल्पना ही आवश्यक नहीं है, चिन्तन, अध्ययन तथा ज्ञान की परम्परा से जुड़े रहना भी उसके लिये जरूरी है। हमारे यहां तो कवि होने के लिये ऐसी शर्तें पहिले से ही लगी हुई हैं।

"विद्वत् कवयः कवयः केवल कवयस्तु केवलं कपयः।"

सम्भवतः इसीलिये तिवारीजी के कवि में अनुभूति की गहनता और शैली की प्रखरता उपलब्ध है। उनके काव्य में दर्शन की गहराई और दार्शनिक ग्रंथों में काव्य जैसा लालित्य इसीलिये मिलता है।

"पार्वती" महाकाव्य में जो कालिदास के "कुमार सम्भव" की प्रेरणा से प्रसूत हुआ है शिव एवं पार्वती के प्रेम से लेकर कुमार कार्तिकेय के पराक्रम तक की कथा महाकाव्य शैली में निबद्ध है। इसमें कुमार नवजीवन का संदेश लेकर जाने वाले देवदूत सा लगता है। इसमें भारतीय महाकाव्य परम्परा के अनुरूप गरिमा भी है, उदात्तता भी है और काव्य सौन्दर्य भी। "सावित्री" खण्ड काव्य में कवि ने अध्यात्म के व्यावहारिक संजीवन सिद्धान्त के रूप में एक नया आयाम खोला है। सावित्री की निष्ठा और आत्मबल एक मृत्युंजय श्रद्धा के सिद्धांत की सृष्टि करते हैं। इसमें भी सर्गों का विभाजन है (नौ सर्ग हैं), यह भारतीय खण्ड काव्य परम्परा के अनुरूप है। तिवारी जी के "मैनका" "उर्वशी" "अहिल्या" और सत्यकाम आदि काव्यों की संख्या २० से भी अधिक है। इतने विपुल काव्य लेखन के साथ-साथ दर्शन ग्रंथों का लेखन उसके अतिरिक्त काव्यालोचन के समीक्षा ग्रंथों का लिखना राज्य सेवा में रहते हुए, (महाविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष), तिवारीजी किस प्रकार कर पाये यह देखकर कोई भी आश्चर्य चकित रह सकता है।

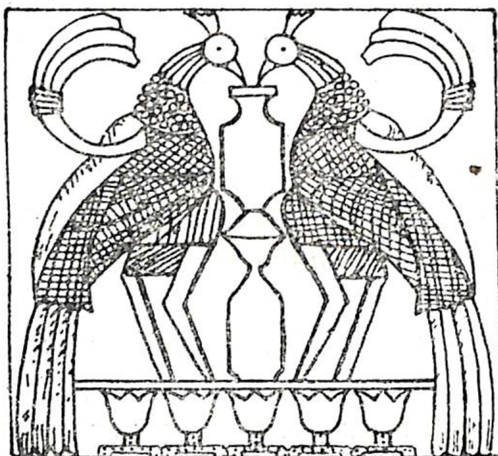
आलोचक

कवि और दार्शनिक के अलावा तिवारी जी का एक अन्य पक्ष भी है, काव्यालोचन सम्बन्धी ग्रंथों के लेखक का। ऐसे ग्रंथों में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' प्रमुख है जिसमें उन्होंने कला, सौन्दर्य, साधना, श्रेय आदि विषयों पर विस्तार से लिखा है। यह ग्रंथ दो भागों में प्रकाशित और तिवारी जी का पी०एच०डी० का शोध प्रबन्ध है जिसे उन्होंने "साहित्य का सांस्कृतिक विवेचन" नाम दिया है। यह ग्रंथ सौन्दर्य शास्त्र पर हिन्दी में लिखे गये इने-गिने ग्रंथों में से एक है। इसमें भारतीय सांस्कृतिक मान्यताओं के आलोक में इन विषयों की विवेचना तो की ही गई है पाश्चात्य विद्वानों के मतों की भी मीमांसा उपलब्ध है। प्रसंगवश संस्कृत और हिन्दी के काव्यों पर समीक्षात्मक दृष्टि डालते हुए लेखक ने जो अभ्युक्तियां दी हैं, उनमें से अधिकांश प्रभावित करने वाली हैं। उदाहरणार्थ उनका यह कथन कि भाई बहिन का सम्बन्ध एक गहरा और अनादि मानवीय सम्बन्ध है फिर भी साहित्य में इसकी पूर्णतः उपेक्षा हुई है। इसी प्रकार अपमान और उपहास, (भाग २ अध्याय ४१) अध्याय में रामचरित मानस को अपनी समालोचना की कसौटी पर परखते हुए उन्होंने उस पर उसी प्रकार का बेलाग निर्णय दिया है और बतलाया है कि राम की भक्ति

के अतिशय के कारण तुलसीदास जी ने अन्य सभी पात्रों विशेषत: विरोधियों का अपमान और उपहास किया है जो शालीन साहित्य में अनुचित है। उन्होंने बाली के साथ राम के व्यवहार की भी आलोचना की है। तिवारीजी का आलोचक पक्ष ऐसे ग्रंथों में प्रखरता से प्रकट हुआ है।

"अभिनव रस मीमांसा" उनके काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में प्रमुख है और इसमें उन्होंने अपने साहित्य और दर्शन के गंभीर अध्ययन का परिचय दिया है। तिवारीजी जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व और व्यापक विषयों पर लिखने वाले लेखक हिन्दी में बड़ी संख्या में नहीं मिलेंगे। राजस्थान में तो ऐसे लेखक और भी बिरले हैं। इसलिये राजस्थान के बुद्धिजीवियों का यह कर्तव्य हो गया था कि उन्हें वह सम्मान दिया जाए जिसकी देश के कोने कोने में गूंज फैल सके और उससे हमारे प्रदेश के रचनाकारों को अखिल भारतीय सम्मान मिलना सरल हो सके। इस अभाव की पूर्ति राज्य की यशोगाथा बिम्ब और सम्भावनाओं के संकल्प "राजस्थान मंच" (दिल्ली, कानपुर, बम्बई जयपुर) द्वारा की जा रही है। मंच द्वारा डॉ० तिवारी के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रंथ का समर्पण अपने आप में एक अभिनन्दनीय कार्य है और डॉ० तिवारी की साहित्यिक सेवाओं का समुचित मूल्यांकन भी।

मैं इस अवसर पर ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि तिवारी जी शतायु हों और हिन्दी के सागर को अपने बहुमूल्य मोतियों से भरते रहें, राजस्थान को गौरवान्वित करते रहें और अगली पीढ़ियों को प्रेरित करते रहें।



डॉ० तिवारी कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय

—धर्म प्रकाश धर्मेश

मानव-प्रणीत काव्य में आदिकाल से लेकर आज तक निरन्तर सत्य की खोज होती रही है। आरम्भ से लेकर आज तक दार्शनिक सत्य की खोज में, वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में, समाज-सुधारक सत्य की परख में, और साहित्यकार सत्य के ग्रहण, विकास और प्रसार में संलग्न रहे हैं। इन सब का मूल उद्देश्य —मानव मात्र का कल्याण रहा है। दार्शनिक सत्य में गहराई है—परन्तु सरलता नहीं, वैज्ञानिक सत्य में सुख है किन्तु आनन्द, सौंदर्य और रमणीयता नहीं है। किन्तु काव्यगत सत्य में गहराई, आनन्द, सौंदर्य और रमणीयता सब कुछ प्राप्य है। अगर कवि, कवि होने के साथ श्रेष्ठ दार्शनिक भी हो तो यह सोने में सुगन्ध की कहावत को चरितार्थ करता है। इसी प्रकार का मणि-कांचन संयोग हमें डा० रामानन्द तिवारी में मिलता है जो भारत के उन मनीषियों में से हैं जो हृदय से कवि और मस्तिष्क से दार्शनिक हैं। ऐसे 'भारतीनन्दन' को पाकर मां-भारती फूली न समाई।

डा० रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन' का कृतित्व विविध और विशद है। जिस साधना तथा तपस्या की अग्नि पर अपने जीवन को तपाकर इस मौन तपस्वी कवि ने हिन्दी साहित्य के लिये जो अमर साहित्य प्रदान किया है, वह हिन्दी ही नहीं अपितु समस्त भारत की अमूल्य निधि है।

डा० तिवारी ने काव्य के अतिरिक्त नाटक, कहानी, उपन्यास के क्षेत्र में कोई रचना नहीं की, फिर भी उनकी प्रतिभा बहुमुखी और रचनाएं विविध हैं। डा० तिवारी मूलत: कवि हैं। बाल्यकाल से लेकर विश्वविद्यालय तक वे काव्य रचना ही करते रहे। बाल्यकाल में यदि उनकी कविता ब्रजभाषा की समस्या पूर्तियों तक सीमित रही तो किशोरावस्था में कुछ छायावादी कवितायें रचीं। इनमें कुछ गीत, कुछ लम्बी कवितायें तथा दो काल्पनिक प्रबन्ध काव्य भी हैं।

काव्य के क्षेत्र में उनकी प्रमुख कृति 'पार्वती' महाकाव्य है, जो शिव-पार्वती की कथा पर आधारित हिन्दी का एक महत्वपूर्ण महाकाव्य है। 'पार्वती' की रचना १९५३-५५ के बीच हुई तथा १९५५ में ही उसका प्रकाशन हुआ। उसकी भाषा और विचार प्रौढ़ एवं उदात्त हैं। उसके आरम्भिक सर्गों में 'कुमारसम्भव' की छाया प्रतीत होती है किन्तु 'कुमारसम्भव' की तुलना में पार्वती का श्रृंगार बहुत पवित्र एवं उदात्त है। इन आरम्भिक सर्गों में भी श्रृंगार की अपेक्षा तप और साधना की पवित्रता का प्रभाव अधिक है। कार्तिकेय, तारक और त्रिपुरों के निमित्त से 'पार्वती' में भारतीय इतिहास, समाज और मानव सभ्यता की गम्भीर समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न किया गया है। सच तो यह है कि 'पार्वती' में कवि का काव्य व्यक्तित्व पूर्ण यौवन का निखार ले चुका है। शिव और पार्वती के पुनीत परिणय तथा दाम्पत्य जीवन को लेकर कवि ने आधुनिक भारत के लिये जिस क्रांतिकारी मार्ग को इस काव्य में प्रशस्त किया है वह निश्चित ही देश के भविष्य के विकास हेतु वरदान समझना चाहिये। कवि

ने 'पार्वती' में भारत के एकांगी अध्यात्म के अन्वेषकों द्वारा 'शक्ति' की साधना को भी आवश्यक माना है क्योंकि तभी ज्ञान के विकास की परम्परा को दुष्टों से सुरक्षित रखा जा सकता है। 'पार्वती' के 'परशुराम' पृथ्वी पर धर्म की प्रतिष्ठा हेतु इसीलिये 'ज्ञान' और 'शक्ति' के समन्वय का उद्बोधन करते हैं।

न होगा विश्व का उद्धार केवल ज्ञान भय से
प्रतिष्ठित धर्म होगा भूमि पर केवल अभय से।

क्योंकि असुर नम्रता या अहिंसा से कभी भी अपनी दुष्टता का त्याग नहीं करते। नारी के प्रति डा० तिवारी प्रसाद के समान श्रद्धामय गुण के साथ-साथ पुरुष की शक्ति के रूप में भी उसकी स्थिति स्वीकार करते हैं। उनका अभिव्यंजना शिल्प भी भावपक्ष के समान निश्चित ही बड़ा प्रभावोत्पादक है।

'पार्वती' के बाद १९६६-६८ के बीच डा० तिवारी ने 'सावित्री,' 'अहल्या,' 'ब्रह्मर्षि', 'सत्यकाम' आदि कुछ खण्डकाव्यों की रचना की। प्रत्येक खण्डकाव्य में जीवन और समाज के किसी सिद्धांत-सूत्र का अवलम्ब लेकर परम्परागत कथानक को अधिक अर्थवत्तता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है।

काव्य के अतिरिक्त काव्य-कला और साहित्य के स्वरूप एवं सिद्धांतों का विवेचन डा० तिवारी ने गम्भीरतापूर्वक किया है। 'पार्वती' के सम्बन्ध में कुछ आधुनिक आलोचकों के अनुदार आक्षेपों से प्रेरित होकर वे इस दिशा में अग्रसर हुए। उन्होंने मौलिक चिन्तन की परम्परा को बढ़ाने हेतु गद्य में काफी लिखा है। १९५८ में रचित 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' (दो भागों में) नामक विशाल ग्रंथ काव्य, कला और साहित्य के गम्भीर एवं विस्तृत विवेचन से परिपूर्ण है। आकार में विशाल होते हुए भी ये ग्रंथ एक प्रकार से सिद्धांत-सूत्रों का संकलन है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें कला और संस्कृति की भूमिका में काव्य और साहित्य का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में इनकी सैद्धांतिक परिभाषायें दी गयी हैं और इन परिभाषाओं के अनुसार काव्य का साहित्य में, साहित्य और काव्य का कला में तथा कला साहित्य और काव्य का संस्कृति में अन्तर्भाव किया गया है। सिद्धांत की दृष्टि से 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में समात्मभाव का प्रतिपादन किया गया है। समात्मभाव की भूमिका में रूप के अतिशय के योग से संस्कृति समृद्ध होती है। भाव का अतिशय ही संस्कृति के आनन्द का स्रोत है। रूप के अतिशय उसके निमित्त हैं। डा० तिवारी के मत में 'सौंदर्य रूप का अतिशय है,' 'कला नवीन रूपों की सृष्टि है,' 'संस्कृति चिरन्तन रूपों की भावपूर्ण आराधना की सामाजिक परम्परा है' तथा 'समात्मभाव इसकी साधना की मूल प्रेरणा है।' ये चार सिद्धांत डा० तिवारी के मौलिक चिन्तन के परिचायक हैं, जो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में मुखरित हुए हैं।

साहित्यिक आलोचना के इसी क्रम में डा० तिवारी ने काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ निबन्ध लिखे, जिनका संग्रह 'काव्य का स्वरूप' (१९६८) नामक ग्रन्थ में किया गया है। रस सम्बन्धी निबन्धों का भी एक संकलन किया गया है। रस के सम्बन्ध में उन्होंने १९६२ में 'अभिनव रस मीमांसा' नामक ग्रन्थ लिखा। यह संस्कृत काव्य शास्त्र के रस, सम्बन्धी चिन्तन को आगे बढ़ाने का एक मौलिक प्रयास है जिसमें समात्मभाव के आधार पर रस का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया, जो रस सम्बन्धी परम्परा के अभिमत से अत्यन्त भिन्न है। इसमें भरत के आदि रससूत्र, नवरस विभाग, साधारणी-करण आदि सर्वमान्य रस सिद्धांतों का खण्डन किया गया है तथा रस की एक नई परिभाषा एवं रस का एक नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। डा० तिवारी के मत में भरत का रससूत्र और नवरस का

विभाजन रसात्मक अनुभव की प्राकृतिक एवं व्यक्तिगत धारणा पर आश्रित है। दूसरी ओर आचार्यों ने उपनिषदों के 'रसो वै रसः' के आधार पर रस का आध्यात्मिकीकरण किया है। रस के प्राकृतिक और आध्यात्मिक ध्रुवों का सामंजस्य रस सिद्धांत में नहीं हो सका है। डा० तिवारी के मत में रस की मूलतः तीनों कोटियां 'आध्यात्मिक रस,' 'सांस्कृतिक रस' और 'भौतिक रस' होनी चाहिये। उनके अनुसार समात्मभाव इस सामंजस्य का तथा काव्यगत रस की व्याख्या का अधिक संगत आधार बन सकता है।

सन् १९७० में प्रकाशित 'साहित्य कला' नामक ग्रन्थ में रूप के अतिशय के द्वारा कलात्मक सौंदर्य की परिभाषा को काव्यशास्त्र के विविध सिद्धांतों के संदर्भ में बड़ी विदग्धता के साथ घटित किया गया है। अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि की रूप के अतिशय के द्वारा संगत व्याख्या की गई है तथा काव्यगत सिद्धांतों के मतभेदों का एक सिद्धांत सूत्र के द्वारा समन्वय किया गया है। इस प्रकार 'साहित्य कला' में कला की एक सामान्य परिभाषा की भूमिका में काव्य, नाटक आदि साहित्य के विविध रूपों तथा अलंकार, वक्रोक्ति आदि काव्य सिद्धांतों की व्याख्या की गई है।

साहित्यिक आलोचना के अतिरिक्त संस्कृति की दिशा में भी डा० तिवारी का चिन्तन अग्रसर हुआ। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में कला एवं काव्य का विवेचन संस्कृति की भूमिका में ही किया गया है। यों 'पार्वती' महाकाव्य की पृष्ठभूमि भी सांस्कृतिक है। उसमें 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। एक मांगलिक और सांस्कृतिक समाज की प्रतिष्ठा ही 'पार्वती' का उद्देश्य है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में संस्कृति के स्वरूप का विपुल विवेचन किया गया है। संस्कृति के सम्बन्ध में लिखे गये कुछ निबन्धों का संग्रह 'शिक्षा और संस्कृति' (१९७०) नामक ग्रन्थ में उपलब्ध है। सांस्कृतिक पर्वों और सांस्कृतिक प्रतीकों का संक्षिप्त विवरण 'हमारी जीवन्त संस्कृति' (१९७२) नामक ग्रन्थ में किया गया है। भारतीय संस्कृति के प्रतीकों का एक विस्तृत विवेचन एक स्वतंत्र ग्रंथ में किया गया है, जो 'भारतीय संस्कृति के प्रतीक' नाम से १९६० में 'अखिल भारतीय मीरा पुरस्कार' से पुरस्कृत हो चुका है। इस ग्रंथ में विभिन्न पर्वों-उत्सवों तथा मांगलिक अवसरों पर लगाये जाने वाले प्रतीकों का प्रतीकार्थ बतलाया गया है। सन् १९५८-६२ के बीच अंग्रेजी में लिखित 'Philosphy of Indian culture' नामक विशाल ग्रंथ में भारतीय संस्कृति के रूपों और सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन किया गया है। सन् १९६२ में लिखित 'Concept of Culture' नामक ग्रंथ में संस्कृति के सामान्य रूप का विशद् विवेचन है। १९६४ में लिखित 'Idea of Beauty' में सौंदर्य की परिकल्पना का मौलिक विवेचन है, जिसमें रूप के अतिशय के रूप में सौंदर्य की परिभाषा स्थापित की गई है और सौंदर्य के विभिन्न क्षेत्रों के संदर्भ में इस परिभाषा को घटित किया गया है। अधिकांशतः विद्वान् कला, धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, उद्योग की सामूहिक संज्ञा को संस्कृति मानते हैं परन्तु डा० तिवारी ने इन ग्रंथों में उक्त सामूहिक संज्ञा से भिन्न एक सजीव और सृजनात्मक परम्परा के रूप में 'संस्कृति' की स्थापना की है।

डा० तिवारी के अनुसार संस्कृति सौंदर्य और भाव का संगम है। रूप के अतिशय में कला का सौंदर्य निखरता है। भाव के अतिशय के साथ मिलकर कला का सौंदर्य संस्कृति के आनन्द का स्रोत बन जाता है। सामाजिक समात्मभाव के वातावरण में ही संस्कृति के सुमन खिलते हैं। संस्कृति और कला की परिभाषा के अतिरिक्त डा० तिवारी ने संस्कृति के दो रूपों में एक महत्वपूर्ण भेद किया है। उन्होंने

संस्कृति के इन दो रूपों को ऐतिहासिक संस्कृति और जीवन्त संस्कृति का नाम दिया है। ऐतिहासिक संस्कृति कला प्रधान होती है जो एक काल विशेष में एक व्यक्ति विशेष द्वारा रची जाती है। उसकी आवृत्ति नहीं होती। कला और काव्य की प्रसिद्ध कृतियां इसका उदाहरण हैं। जीवन्त संस्कृति भाव-प्रधान होती है। वह किसी विशेष काल अथवा विशेष व्यक्ति के संदर्भ में आबद्ध नहीं रहती। ऐतिहासिक संस्कृति की भांति वह कभी अतीत नहीं होती। वह सनातन होती है। उसकी निरन्तर आवृत्ति होती रहती है। इस आवृत्ति के क्रम में वह सदा वर्तमान और जीवन्त रहती है। भारतीय पर्व, उत्सव संस्कार आदि जीवन्त संस्कृति के उत्तम उदाहरण हैं। विविधता, जटिलता और विपुलता जीवन्त संस्कृति की समृद्धि के मानदण्ड हैं। इनकी दृष्टि से भारत की जीवन्त संस्कृति कदाचित विश्व में अनुपम और सबसे समृद्ध है। डा० तिवारी की यह सांस्कृतिक गवेषणा भारत के लिये अत्यंत गौरवपूर्ण है और इस गवेषणा के लिये वे स्वयं गौरव के पात्र हैं।

साहित्य और संस्कृति की दिशा में डा० तिवारी का अनुसंधान भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भी अग्रसर हुआ है। वर्ण ध्वनियों का विवेक भाषा का मूल है। इसी मूल को ग्रहण कर डा० तिवारी ने भाषा विज्ञान का एक नया सिद्धांत प्रस्तुत किया, जिसे उन्होंने सांस्कृतिक भाषा विज्ञान का नाम दिया है। 'सांस्कृतिक भाषा विज्ञान' के नाम से एक ग्रंथ उन्होंने १९७४ में लिखा। किंतु इसके पूर्व १९६५ में वर्णध्वनियों के विश्लेषण के सम्बन्ध में एक ग्रंथ लिखा। उनके मत में वर्णध्वनियों का विशेषतः स्वरों का ऐसा सूक्ष्म, स्पष्ट और निश्चित विवेक वैदिक संस्कृत में है, वैसा कदाचित किसी भी अन्य भाषा में नहीं है। भाषा के क्षेत्र में प्राचीन भारत की यह अनुपम उपलब्धि है। संस्कृति मनुष्य के संकल्प की रचना है। इस दृष्टि से यह वैदिक वर्ण विवेक, वैदिक भारतीयों के सांस्कृतिक अध्यवसाय का फल है। इसीलिये संस्कृत भाषा वास्तव में सांस्कृतिक है। वैदिक संस्कृत की सांस्कृतिकता के कारण ही संस्कृत भाषा मूलतः भारतीय है तथा उसका प्रयोग करने वाले वैदिक आर्य भी मूलतः भारतीय थे। डा० तिवारी के भाषा विज्ञान का यह सांस्कृतिक तर्क अभारतीय, आदिम, आर्यभाषा, भारत यूरोपीय भाषा परिवार, पश्चिम से आर्यों के आव्रजन के संदिग्ध सिद्धांतों को आमूल खंडित करता है। डा० तिवारी ने शब्दों के सांस्कृतिक सन्दर्भों के विवेचन के द्वारा सांस्कृतिक भाषा विज्ञान का संवर्धन किया है तथा संस्कृत के शब्दों की सांस्कृतिकता के आधार पर उनकी मौलिक भारतीयता को प्रमाणित किया है।

संस्कृति के सूत्र तथा अपने शिक्षा संस्कारों के प्रभाव से डा० तिवारी का चिन्तन दर्शन और अध्यात्म की दिशा में भी आगे बढ़ा। कुछ आध्यात्मिक संस्कार बचपन से ही पाये थे। प्रयाग विश्वविद्यालय में आकर प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर रामचंद दत्तात्रेय रानाडे के सान्निध्य में यह संस्कार और परिपुष्ट हुये। प्रयाग में अध्ययन करते समय ही उन्होंने प्रोफेसर रानाडे के उपनिषद् सम्बन्धी ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद किया, जो १९७२ में राजस्थान ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित हुआ है। प्रोफेसर रानाडे के निदेशन में ही 'शंकराचार्य का आचार दर्शन' शीर्षक के अन्तर्गत डी० फिल० की उपाधि ग्रहण की। इस ग्रन्थ में उदनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर श्री शंकराचार्य द्वारा भाष्यों के आधार पर वेदान्त के एक प्रायः उपेक्षित अंग 'आचार दर्शन' का सांगोपांग विवेचन किया है। सन १९५० में शंकराचार्य पर लिखित अंगरेजी शोध प्रबन्ध का हिन्दी में अनुवाद किया, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त 'भारतीय दर्शन का परिचय' एवं 'भारतीय दर्शन की भूमिका' नामक भारतीय दर्शन के दो छोटे परिचय

ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे हैं जिनमें उन्होंने भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों का संश्लिष्ट और तुलनात्मक परिचय प्रस्तुत किया है।

'पार्वती' महाकाव्य और 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की भाव भूमि में उनका दार्शनिक चिन्तन अध्यात्म और जीवन के समन्वय की दिशा में ही अधिक सचेष्ट रहा। सन् १९७० में उन्होंने जीवन के अध्यात्मिक आधारों के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ अंगरेजी में लिखा। आध्यात्मिक अस्तित्ववाद का प्रतिपादन भी उन्होंने एक अंगरेजी ग्रन्थ में किया। १९७४ में सेवा से निवृत्त होकर विश्वविद्यालय अनुसंधान आयोग की नियुक्ति के अन्तर्गत उपनिषद् और गीता पर दो ग्रन्थ लिखे जिनमें एक ओर अध्यात्म का जीवन से समन्वय किया गया है तथा दूसरी ओर ज्ञान, श्रेय आदि मूल्यों के आध्यात्मिक आधार का विवरण किया गया है। अध्यात्म को जीवन के निकट लाना और जीवन को अध्यात्म के निकट ले जाना ही उनके चिन्तन का विषय एवं उद्देश्य है।

एक शिक्षक के नाते शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करते हुए डा० तिवारी ने शिक्षा के आध्यात्मिक आधारों की भी खोज की है। ज्ञान की परार्थता और स्मृति की आध्यात्मिकता के द्वारा उन्होंने शिक्षा को एक साधना के रूप में प्रतिपादित किया है। 'शिक्षा और संस्कृति नामक ग्रंथ में उनके कुछ शिक्षा सम्बन्धी लेख संकलित हैं। 'शिक्षा के उपेक्षित अंग' नामक ग्रन्थ में उन्होंने धर्म, संस्कृति आदि के अध्यापन पर बल दिया है। 'बाल-विकास में' शिक्षा का सूत्र खोजते हुये उन्होंने वर्ण शिक्षा की रंगीन प्रणाली एवं व्यावहारिक प्रणाली का आविष्कार किया है। आजकल वह भरतपुर में इसी प्रणाली को व्यावहारिक रूप देने में संलग्न हैं।

यह डा० रामानन्द तिवारी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विहंगावलोकन मात्र है। डा० तिवारी बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में साहित्य एवं कला, दर्शन एवं मनोविज्ञान, धर्म एवं नीति और शिक्षा एवं संस्कृति जैसे विषयों का समाहार है। उनके काव्य में महादेवी के समान भावों का अनुभूतिमय स्पन्दन, पंत के समान कोमलकान्त पदावली और लालित्य तथा प्रसाद और निराला के समान भाव गाम्भीर्य की त्रिवेणी के दर्शन होते हैं जिसका अवगाहन कर एक नई स्फूर्ति एवं परमानंद की अनुभूति होती है। परन्तु डा० तिवारी आत्मश्लाघा एवं प्रशस्ति से कोसों दूर हैं। उनकी सादगी उनके व्यक्तित्व में और चार चांद लगा देती है। वे मौन तपस्वी हैं जो एक निष्काम योगी की भांति अपनी साहित्य की अधिष्ठात्री देवी की साधना में लीन हैं।

भगवान डा० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन को चिरायु करें और वे निरन्तर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि करते रहें।



भारतीनन्दन की रचनात्मक चेतना की प्रगति

—दुबे उमादत्त अनजान

"इस गांव में क्या कभी कोई बड़ा आदमी पैदा हुआ है ? ' एक शोधार्थी ने एक ग्रामीण से जानना चाहा। "नहीं भैया ! हमारे गांव में तो सिर्फ बच्चे ही पैदा होते हैं", ग्रामीण बोला ! जिज्ञासा जितनी सहज थी उत्तर भी उतना ही अर्थपूर्ण था ! उपलब्धियां जितनी महत्वपूर्ण होती हैं उनका इतिहास भी उतना ही रोमांचक होता है। बड़प्पन को जानने के लिए उसके बचपन को जानना आवश्यक होता है और वहीं से पता भी चलता है कि पूत के पांव पालने में किस प्रकार दिखते हैं। भारतीनन्दन जी की रचनात्मक चेतना की प्रगति का अवलोकन, हम आदि से अब तक के विकास, समय समय पर होने वाले परिवर्तनों और परिस्थितियों को जानकर हीं कर सकते हैं। इस विषय में मेरा ज्ञान डाक्टर रामानन्द तिवारी अभिनन्दन ग्रंथ की सामग्री के सूत्रों और स्वयं भारतीनन्दन जी के साथ अनेक बार हुई चर्चाओं पर आधारित है।

भारतीनन्दन जी का जन्म और आरम्भिक शिक्षा गंगा तट स्थिति तीर्थ (शूकर) क्षेत्र सोरों में हुई। महाकवि की नगरी की मुख्य भाषा ब्रजभाषा है ! घर और स्कूल सर्वत्र ब्रजभाषा ही बोली और समझी जाती रही है ! इस समय के शिक्षक तो बालकों को अपना विषय भी काव्य रूप में पढ़ाते थे ! नगरी में प्रायः होने वाले कवि सम्मेलनों में ब्रजभाषा की समस्या पूर्तियों का ही चलन और बोलबाला था। ऐसे ही काव्यमय वातावरण में घर के तुलसी चबूतरे पर इस दोहे की रचना और अंकन, भारतीनन्दन जी की काव्य कला का प्रथम प्रकाशन था:—

रामनाम के भजन ते मिटे सकल भव त्रास।
जिहि घर तुलसी वृक्ष, ते सदा लक्ष्मी वास।।

काव्य रचना का ऐसा अनुकूल वातावरण भारतीनन्दन जी की समस्या पूर्तियों को विकसित करने लगा। प्रोत्साहन और प्रशंसा उनकी प्रेरणा बनी।

हाई स्कूल तक खड़ी बोली केवल कक्षा की भाषा रही। वार्तालाप में ब्रज का ही प्रयोग होता था। हिन्दी के इस अल्प ज्ञान के बावजूद कवि ने हरिगीतिका छन्द में कुछ रचनाएं कीं। इन्टर करने के लिए भारतीनन्दन जी को चन्दौसी के श्यामसुन्दर कालेज में आना पड़ा। यहां उन्हें पाठ्य क्रम और अपने सह-पाठियों के द्वारा आधुनिक हिन्दी के छायावादी कवियों का प्रथम परिचय प्राप्त हुआ। प्रसाद और पन्त पाठ्यक्रम में थे। इन दोनों ही का भारतीनन्दन जी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। जहां उनके खड़ी बोली के आरम्भिक काव्य में पन्त की कल्पना और उनके भाषा माधुर्य का अनुकरण और प्रभाव मिलता है वहीं उनका प्रौढ़ काव्य प्रसाद की भाषा तथा उनकी भाव गम्भीरता से प्रभावित है।

इन्टरमीडिएट कक्षा से भारतीनन्दन जी छायावादी शैली में काव्य रचना करने लगे और स्नातक

तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में इस शैली का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष होने लगा। प्रयाग विश्वविद्यालय में उस समय छायावाद की प्रत्यक्ष प्रेरणा वातावरण में स्पष्ट परिलक्षित थी। प्रयाग इस वाद के प्रवर्तक कवियों का निवास था। पन्त, निराला, महादेवी जी और डॉ० रामकुमार वर्मा व नरेन्द्र शर्मा जैसे प्रमुख कवि उन दिनों प्रयाग में ही थे! पन्त के गुंजन और पल्लव तथा महादेवी जी व डॉ० वर्मा के काव्य संग्रह उस युग में हिन्दी प्रेमियों के कंठ हार थे। काव्यानुरागियों को पन्त के भावों की मधुरिमा तथा महादेवीजी के गीतों की मार्मिकता स्पंदित करती थी। उसी वातावरण में भारतीनन्दन जी ने भी कुछ मुक्तक कविताओं और कल्पना नामक एक काव्य का सृजन किया!

स्नातकोत्तर कक्षाओं में दर्शन का विशद अध्ययन भारतीनन्दन जी के काव्य में गंभीरता लाने लगा। उनकी शैली में अन्तर्भाव गहन होने लगे। उन्होंने जीवन की अन्तर्दृष्टि का अवलम्ब लेकर "अन्तर्लोक" नामक काव्य की रचना की और अपने जीवन की कुछ मूल भावनाओं के आधार पर "प्रयाणिका" नाम से एक काव्य की रचना आरम्भ की पर यह कृति अधूरी रह गई।

दर्शन के विद्यार्थी भारतीनन्दन जी अब दर्शन के गंभीर अध्ययन और अनुसन्धान में प्रवृत्त होने के कारण कविताएं नहीं लिख पा रहे थे। प्रयाग विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य प्रोफेसर रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे के अन्तेवास में भारतीनन्दनजी को उपनिषदीय वेदान्त की दीक्षा मिली। उन्होंने इस विद्यार्थी जीवन में ही प्रोफेसर रानडे के उपनिषद सम्बन्धी एक अंग्रेजी ग्रंथ का हिन्दी में अनुवाद किया जो अन्ततः १९७० में राजस्थान ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित किया गया। प्रो० रानडे के अन्तेवास में ही भारतीनन्दन जी ने शंकर के आचार दर्शन पर अपना शोध प्रबंध पूरा किया और १९४७ में डी०फिल० की उपाधि प्राप्त की। इस शोध प्रबंध का उन्हीं द्वारा अनूदित हिन्दी संस्करण १९५० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित किया गया था।

वेदान्त दर्शन सम्बन्धी उक्त दो अनूदित ग्रंथ भारतीनन्दन जी की प्रथम गद्य रचनाएं हैं। इससे पूर्व जन्म भूमि के प्रभाव में उनकी ब्रजभाषा की तथा प्रयाग के छायावादी प्रभाव में उनकी खड़ी बोली की पद्य रचनाओं की चर्चा मैं पहले कर चुका हूं! दर्शन के अध्ययन, अनुसंधान और कालान्तर में अध्यापन व लेखन के कारण उनकी काव्य रचना का क्रम मन्द होने लगा था और यहां तक कि १९४१ से १९५३ तक लगभग १२ वर्ष तक उन्होंने कोई काव्य रचना नहीं की। प्रयाग में प्रकाशित उनके परिणय नामक एक लम्बे गीत के अलावा पत्र पत्रिकाओं में भी भारतीनन्दन जी का कोई गीत या कविता प्रकाशित नहीं हुई थी। प्रयाग का वह किशोर कवि अब दर्शन का एक गम्भीर और चर्चित अध्यापक डॉ० रामानन्द तिवारी मात्र था। स्वयं उनके विचार में "कविता से कदाचित मेरा सम्बन्ध सदा के लिए छूट गया।" अध्यापक की आकांक्षा के अनुरूप उन्होने भारतीय दर्शन की भूमिका और परिचय नामक दो ग्रंथ लिखे। भारतीय दर्शन के ज्ञान को मौलिक आधार देने के लिए उन्होंने प्रयाग के तत्कालीन आचार्य पंडित भूपेन्द्रपति त्रिपाठी के सान्निध्य में साहित्य और दर्शन के मूल संस्कृत ग्रंथों का अनुशीलन किया। इस अध्ययन ने उनके दार्शनिक ज्ञान को प्रौढ़ व परिपक्व किया और यह उनके गम्भीर चिन्तन की प्रेरणा तो अवश्य बनी किन्तु काव्य रचना की आकांक्षा मन्द रही।

१९५५ के ग्रीष्मावकाश की बात है। मुझे डाक्टर तिवारी का संदेश मिला कि प्रेस के काम में तुम्हारी सहायता चाहिए। उन दिनों डाक्टर तिवारी कोटा में दर्शन के अध्यापक थे और मैं उनका शिष्य।

किसी दर्शन की पुस्तक के प्रकाशन की बात समझ कर मैं उनके साथ प्रेस पहुंचा ! पहले फर्मे का मशीन प्रूफ हाथ में आते ही मैं आश्चर्य से विमूढ़ और श्रद्धा और हर्ष के अतिरेक से अभिभूत हो गया ! मेरे पास डाक्टर तिवारी नहीं महाकवि भारतीनन्दन जी खड़े थे, मेरे हाथ में दर्शन की पुस्तक के नहीं महाकाव्य पार्वती के प्रथम पृष्ठ थे और मैं मंत्र मुग्ध होकर पढ़ रहा था वह पंक्तियां जो अब न जाने कितनी बार दुहराई जा चुकी हैं:—

नयनों के आलोक कमल पर राजे श्री कल्याणी,
मधुर कण्ठ की वीणा में हो मुखरित मंगल-वाणी,
भृकुटी पर बन काल अनय का नाचे भीषण काली
पालन सृजन नाश में निखरे नित जीवन की लाली।

मेरी जिज्ञासा का समाधान करते हुए भारतीनन्दनजी ने बताया कि सन् १९५३ में वासन्तिक नवरात्र के अवसर पर श्री शंकराचार्य का भवानी स्तोत्र पढ़ते-पढ़ते अचानक उनकी सोई काव्य प्रतिभा जाग उठी और पार्वती महाकाव्य के मंगलाचरण के आरम्भिक छन्द सहज ही रच गए। भवानी की प्रेरणा के इस अनुग्रह सूत्र को ग्रहण कर उन्होंने दो वर्ष में पार्वती महाकाव्य की रचना कर डाली। अध्यापन और छोटे-छोटे बच्चों वाले परिवार की व्यस्तता में यह विशाल महाकाव्य किस प्रकार रचा गया, उसे वह पार्वती के अनुग्रह का चमत्कार ही मानते हैं और हिन्दी संसार को तो छोड़िए उनके निकटस्थ मित्रों व शिष्यों को भी इसकी भनक न पड़ सकी इसे क्या कम आश्चर्यजनक माना जाए।

भारतीनन्दनजी के कथनानुसार "पार्वती एक अनुपम और असमय महाकाव्य है। शिवकथा पर आश्रित हिन्दी में कोई महत्वपूर्ण काव्य नहीं था, इस दृष्टि से यह अनुपम है किन्तु स्वाधीनता के पश्चात हिन्दी में भारतीय संस्कृति और परम्परा के प्रति विराग बढ़ने लगा और साथ ही विदेशीयता का व्यामोह तथा आधुनिकता का आकर्षण बढ़ने लगा, इस दृष्टि से पार्वती एक असमय महाकाव्य है। अनुपम होते हुए भी असमय होने के कारण पार्वती महाकाव्य का हिन्दी जगत में सचमुच आदर नहीं हो सका।"

भारतीनन्दनजी की उक्ति सही हो सकती है लेकिन सही यह बात भी है कि उस समय के हिन्दी जगत के मूर्धन्य लोगों को एक अज्ञात महाकवि का अवतरण जितना कौतूहल जनक लगा उतने ही वे पार्वती की श्रेष्ठता और महत्व के प्रति श्रद्धावनत भी हुए। अनेक नामधारी लोगों ने उनकी और पार्वती की भूरि-भूरि प्रशंसा की। साथ ही इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि साहित्यिक समाज के मंचों और माध्यमों (पत्र-पत्रिकाओं) में उसकी चर्चा एक पक्षीय रही। नई कविता के कुछ कर्णधारों ने पार्वती की काव्य कोटि पर कुछ तीक्ष्ण आक्षेप किए। पार्वती के कुछ आरंभिक सर्गों में कुमार सम्भव के कुछ सुविदित वाक्यों की छाया देखकर आलोचकों ने उसके पिछले १७ सर्गों की मौलिकता तथा सांस्कृतिक श्रेष्ठता पर कोई ध्यान नहीं दिया। अपनी प्रथम प्रकाशित कृति (महाकाव्य) से कुछ साहित्यिक प्रतिष्ठा की आशा रखने वाले कवि को हिन्दी समाज के इस व्यवहार से क्षोभ होना स्वाभाविक था। यह क्षोभ इस कारण और बढ़ गया कि वे साहित्य रचना से तो भिज्ञ थे किन्तु उसकी अनुवर्ती उपलब्धियों के लिए किए जाने वाले हथकण्डों से नितान्त अनभिज्ञ थे। उस पर निहित स्वार्थों वाले लोगों को उनके प्रतिष्ठित हो जाने से जो हानि हो सकती थी उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भाड़े के टट्टुओं की अनर्गल आलोचनाओं ने भी उनका मनोबल क्षीण किया।

पार्वती इन सबके बावजूद सम्मानित व पुरस्कृत हुई। शोध छात्रों के लिए महाकाव्यों के अन्तर्गत उसका अध्ययन आवश्यक हो गया और अब अनेक छात्र पार्वती पर भी शोध कर रहे हैं।

पार्वती की सायास उपेक्षा और उस पर किए गए आक्षेपों ने भारतीनन्दनजी को काव्य के स्वरूप और काव्य के सिद्धान्तों के अनुसंधान की दिशा में प्रेरित किया। "सत्यं शिवं सुन्दरम्" (१९५८) "अभिनव रस मीमांसा" (१९६२) "काव्य का स्वरूप" (१९६६) तथा "साहित्य कला" (१९७०) काव्य के स्वरूप के अनुसन्धान के ही परिणाम हैं। १९५५ में प्रकाशित पार्वती महाकाव्य जिस प्रकार भारतीनन्दनजी की प्रथम काव्य कृति है उसी प्रकार १९६२ में प्रकाशित उनका सत्यं शिवं सुन्दरम् नामक ग्रंथ समीक्षात्मक गद्य का प्रथम आलेख है। पर जिस प्रकार हिन्दी के कर्णधार पार्वती जैसे अनुपम महाकाव्य से विचलित नहीं हुए उसी प्रकार वे सत्यं शिवं सुन्दरम् जैसे गम्भीर आलोचना ग्रंथ से भी विस्मित नहीं हुए। ये दोनों ही कृतियां हिन्दी के व्यवहार जगत में पूर्णतः अर्चचित रहीं।

अपनी महत्वपूर्ण कृतियों के प्रति हिन्दी जगत की उदासीनता से खिन्न होकर भारतीनन्दनजी की रचनात्मक चेतना ने प्रतिक्रिया और प्रतिशोध से अंग्रेजी लेखन का अवलम्ब लिया। भारतीनन्दनजी ने अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा पाई थी और अध्यापन के आरम्भिक दशक में वे अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाते भी रहे थे। अंग्रेजी पर उनका अच्छा अधिकार है। विद्यार्थी काल में उन्होंने तत्कालीन चल चित्रों यथा बन्धन, सिकन्दर आदि के बारे में अंग्रेजी में लेख लिखे थे जिन्हें बहुत सराहा गया था। शंकराचार्य के वेदान्त पर प्रस्तुत उनका शोध प्रबंध भी अंग्रेजी में ही तैयार किया गया था।

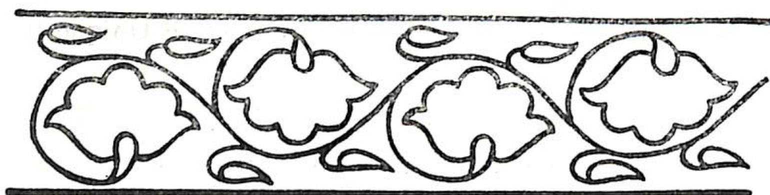
अपनी मौलिक काव्यवृत्ति, हिन्दी के प्रति सहज अनुराग और देश को मिली स्वाधीनता से उत्पन्न भाषा सम्बन्धी भावनाओं के भ्रम से उनका अन्तर्मन अंग्रेजी छोड़कर हिन्दी अपनाने चला था। शंकराचार्य सम्बन्धी अपने शोध प्रबंध का अनुवाद और दर्शन पर लिखे गए दो ग्रन्थ इस दिशा में उनके आरंभिक प्रयास थे तो उनके हिन्दी प्रेम की परिणति थी पार्वती और सत्यं शिवं सुन्दरम् जैसी विशाल और महत्वपूर्ण कृतियों की रचना। भाषा, विचार और संस्कृति की दृष्टि से ये दोनों ही अमूल्य ग्रन्थ श्रेष्ठ व सराहनीय रचनाएं हैं। इन ग्रंथों को पर्याप्त प्रोत्साहन न मिल पाना डा० तिवारी के लिए अंग्रेजी अपनाने की विवशता बना सत्यं शिवं सुन्दरम् का लेखन एक वर्ष के भीतर समाप्त कर देने के बाद १९५८ से ही वे संस्कृति और दर्शन सम्बन्धी ग्रंथों को अंग्रेजी में लिखने में संलग्न हो गए। उन्होंने १९५८ से आरम्भ कर चार वर्षों में भारतीय संस्कृति का दार्शनिक विवेचन (Philosophy of Indian culture) नामक एक विशाल ग्रंथ का प्रणयन किया। उसके पश्चात संस्कृति का स्वरूप (concept of culture) सौन्दर्य का स्वरूप (Idea of Beauty) अनुपम भारत (Unique India) भारत का संदेश (Message of India) जीवन के आध्यात्मिक आधार (Spiritual foundations of Philosophy) आध्यात्मिक अस्तित्ववाद (Spiritual existantialism) आदि ग्रंथों की रचना की। १९८० में Unique India प्रकाशित हुई है।

अंग्रेजी ग्रंथों के लेखन के इस अन्तराल में भी डॉ० तिवारी का हिन्दी प्रेम तथा काव्यानुराग पूर्णतः तिरोहित नहीं हुआ। न चाहते हुए भी उन्होंने साहित्य संस्कृति और भाषाविज्ञान सम्बन्धी अनेक ग्रंथों की रचना हिन्दी में भी की। अभिनव रस मीमांसा, भारतीय संस्कृति के प्रतीक, हमारी जीवन्त संस्कृति सांस्कृतिक भाषा विज्ञान, साहित्य कला आदि ग्रंथ इसी क्रम में लिखे गए।

भारतीनन्दनजी की काव्यप्रतिभा अनेक बार कुण्ठित होकर पुनः जाग्रत हो उठी है। उनका किशोर कवि दर्शन के अध्ययन अनुसंधान और अध्यापन से अभिभूत होकर बारह वर्ष तक सुप्त रहा। और जब वह जागा तो पार्वती प्रणेता महाकवि बनकर। इसके बाद क्षोभ के कारण अगले दस वर्ष पुनः उदासीनता में व्यतीत हुए! इस बार पत्नी की प्रेरणा उनका सम्बल बनी। बाल्यकाल से ही वे कुछ खण्ड काव्य रचने के आकांक्षी थे! प्रौढ़काल में अनेक खण्ड काव्यों के कथानक अर्थवान होकर उनकी प्रतिभा में अंकुरित होने लगे। अपनी पत्नी के प्रबल आग्रह पर १९६६ से १९६८ के दो वर्षों में उन्होंने लगभग बारह लघु खण्ड काव्यों की रचना कर डाली। इनमें से उमा, सावित्री, अहल्या, मेनका, तिलोत्तमा, शकुन्तला, उर्वशी आदि को नारी काव्य की तथा ब्रह्मर्षि, चन्द्रगुप्त, सत्यकाम व तुलाधार आदि को पुरुष काव्य की संज्ञा दी गई है।

हिन्दी में ऊपर वर्णित काव्यों व ग्रंथों के लेखन के बावजूद डॉ० तिवारी का मुख्य लेखन अंग्रेजी में ही रहा है। १९७४ में राजकीय सेवा से अवकाश प्राप्त करने के बाद से वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के तत्वावधान में उपनिषद और गीता का अध्ययन अंग्रेजी में ही करते रहे। इन अध्ययनों में उपनिषदों और गीता में समाहित लौकिक सामाजिक और नैतिक मूल्यों का विवेचन किया गया है। यह दोनों ग्रंथ Secular, Social & Ethical values iu Upanishda (1978) और Secular, Social &Ethical values in Geeta (1980) के नाम से प्रस्तुत और प्रकाशित हुई हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० तिवारी का कहना है कि "दर्शन सम्बन्धी कुछ मौलिक सिद्धान्तों का अंग्रेजी में प्रतिपादन मेरी अन्तिम अभिलाषा है जो समय की अनुकूलता से ही पूरी होगी।"

अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा पाने वाले व्यक्ति के साहित्यिक जीवन की यह परिणति आश्चर्य जनक नहीं किन्तु पार्वती और सत्यं शिवं सुन्दरम् जैसी महान कृतियों के प्रणेता की साहित्य साधना की यह निश्चय ही एक विडम्बना होगी। पार्वती के समान अनेक महाकाव्यों सथा सावित्री के समान अनेक खण्ड-काव्यों की रचना का उत्साह रखने वाले कवि के लिए काव्य रचना से विरत होकर विचार और विवेचन में उलझना ही क्या साधना का कम विक्षेप था जो स्वाधीन भारत में हिन्दी के लेखन के प्रति आस्था और अनुराग रखने वाले विचारक को अन्ततः अंग्रेजी में लिखने की विडम्बना स्वीकारनी पड़ी। भारतीनन्दन की रचनात्मक चेतना की प्रगति की समीक्षा करते समय यह प्रश्न चिह्न अवश्य उभरेगा कि क्या इसमें उनकी अपनी आस्था की दुर्बलता रही है अथवा इसके लिए हिन्दी समाज द्वारा श्रेष्ठतम रचनाओं के प्रति जानबूझकर की गई उदासीनता उत्तरदायी है।



भारतीनन्दन की काव्य कृतियां

—शकुन्तला पाराशर

प्रेरणा के स्रोत कविवर, बीज से प्रतिपल खपे तुम;
ज्योति देने हेतु सबको, दीप से प्रतिपल दिपे तुम।

प्रेरणा के दीप भारतीनन्दन की काव्य कृतियां साहित्य जगत की अमूल्य निधि हैं। कवि ने आरंभ में कुछ छायावादी कविताएं तथा लम्बे काव्य लिखे। मुक्तक कविताओं का एक संग्रह 'बिखराहार' है। 'परिणय' के नाम से लिखी एक लम्बी कविता १९३७ में लघु-पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुई। १९३८ के ग्रीष्मावकाश के एक मास में उन्होंने लगभग एक हजार छन्दों का छायावादी 'कल्पना' नामक काव्य 'ग्रंथि' के अनुकरण पर लिखा। 'ग्रंथि' के समान ही कल्पना, भाव, भाषा व पीयूष वर्ष छन्द इस काव्य में हैं। नौका विहार और स्वप्न का वर्णन भी 'ग्रंथि' के समान ही है। कल्पनामय होने के कारण इस काव्य का नाम "कल्पना" है।

इस अवधि के मध्य ही कवि ने बसन्त पर एक लम्बी कविता की रचना की। प्रति वर्ष एक-एक ऋतु पर कविता लिखकर ऋतुकाव्य को पूरा किया जिसको "ऋतुरागिनी" का नाम दिया। ऋतुओं का यह काव्य भावना प्रधान है। कालिदास के 'ऋतुसंहार' की भांति इस काव्य में ऋतुओं का प्राकृतिक वर्णन कम है। भारत भूमि के सन्दर्भ में ऋतुओं के प्राकृतिक एवं सामाजिक सन्दर्भों को समाहित कर 'ऋतु भारती' नामक ऋतुकाव्य रचने की, उनकी कामना रही, जो पूर्ण न हो सकी।

दर्शन के विद्यार्थी बनने के बाद कवि की चेतना पर चिन्तन की छाया पड़ने लगी। अतः चिन्तन में लीन रहते हुए कवि ने १९३९ में चिन्तन-प्रधान लम्बा काव्य लिखा जो तुकान्त काव्य है। इसमें भावमय चिन्तन की तरंगें मुक्तधारा में प्रवाहित हुई हैं। इसीलिए इस काव्य को 'चिन्तन' नाम दिया। 'कल्पना' की भांति 'चिन्तन' भी लगभग चार हजार पंक्तियों का काव्य है।

सन् १९४० में 'साधना' नामक काव्य प्रारम्भ किया जिसमें शैशव से लेकर जीवन के क्रमिक विकास को अंकित करने की योजना थी। 'पार्वती' महाकाव्य के अन्त में दिया हुआ कवि परिचय दुहरी तुक वाली एक ही रचना का उदाहरण है। परिस्थितियों के कारणों से 'साधना' काव्य अधूरा रह गया। यौवन काल में लिखित इस काव्य में जीवन का वर्णन यौवन से आगे नहीं बढ़ सका और कुछ वर्षों बाद जीवन के आगे बढ़ने पर जीवन की व्यस्तता में इसे पूरा करने का अवकाश न मिल सका।

सन् १९५३ के वासन्तिक नवरात्र में भवानी स्तोत्र का पाठ करते हुए अचानक भारतीनन्दन का सुप्त कवि जागृत हुआ, कविता की धारा प्रवाहित हुई, मंगलाचरण के छन्द लिख गये तथा महाकाव्य का प्रणयन आरम्भ हो गया। यह महाकाव्य कोटा में १९५५ के वासन्तिक नवरात्र की नवमी को पूर्ण हुआ तथा अगस्त १९५५ में ही कोटा से प्रकाशित हुआ।

'पार्वती' महाकाव्य में अचानक ही विद्यार्थी काल का छायावादी कवि एक महाकवि बन गया। छायावादी भावना और कल्पना के स्थान पर सामाजिक संवेदना उनके काव्य की प्रेरणा बनी। 'पार्वती' महाकाव्य शिव कथा पर आश्रित हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। प्रत्यक्ष में यह एक पौराणिक महाकाव्य है किन्तु पुराणकथा के आधार पर इसमें जीवन के सनातन एवं सामयिक सामाजिक तत्वों का गहन दिग्दर्शन किया गया है। 'पार्वती' का पूर्वार्द्ध 'कुमार सम्भव' के अनुरूप रचा गया है, किन्तु उसके उत्तरार्द्ध का कथानक और कथानक की व्याख्या अत्यन्त मौलिक है। मौलिक होने के साथ-साथ यह तारकवध की परम्परागत परिकल्पना से भिन्न है। 'कुमार सम्भव' में छः दिन के कुमार कार्त्तिकेय ने अपने अलौकिक विक्रम से तारक का संहार किया। पौराणिक परम्परा में कार्त्तिकेय पार्वती के औरस पुत्र नहीं हैं। वे अलौकिक रूप से 'शर' से उत्पन्न हुए, इसीलिये वे शरजन्मा कहलाते हैं। किंतु 'पार्वती' महाकाव्य में कार्त्तिकेय को पार्वती का औरस पुत्र माना गया है। वे परशुराम के शिक्षा केन्द्र में शस्त्र और शास्त्र की दीक्षा पाते हैं। शिक्षा प्राप्त कर वे स्वर्ग के सेनापति बनते हैं। सेनापति बनकर वे स्वर्ग में शक्ति-साधना के लिये देवताओं का उद्बोधन करते हैं। शक्ति साधना से स्वर्ग का कल्पान्तर हो जाता है। विलासी देवता शक्तिशाली योद्धा बन जाते हैं। उच्छृंखल जयन्त स्वर्ग का नायक बनता है। शक्ति से उद्वेलित होकर स्वर्ग के वासी शोणितपुर पर आक्रमण करते हैं इस आक्रमण में तारक का बध होता है और देवताओं की विजय होती है। तारक की पुत्री के साथ जयन्त का विवाह होता है। विजयी जयन्त के स्वर्ग लौटने पर इन्द्र और इन्द्राणी जयन्त को स्वर्ग का शासक बना देते हैं तथा स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण कर लेते हैं।

तारक बध के पश्चात् तारक के तीन पुत्र पलायन कर तपस्या करते हैं तथा ब्रह्मा से वर प्राप्त कर तीन पुरों की स्थापना करते हैं। पुराणों में यह लोहपुर, रजतपुर और स्वर्णपुर के नाम से हैं। पार्वती के कवि ने इन त्रिपुरों को बल, धर्म और अनाचार का प्रतीक मानकर इस अनाचार से पीड़ित समाज का मार्मिक वर्णन किया है। त्रिपुरों के अनाचार से व्यथित होकर जयन्त और कार्तिकेय शिव के निकट समाधान के लिए जाते हैं। शिव उन्हें रचनात्मक क्रान्ति का सन्देश देते हैं। ज्ञानपुर में सामाजिक उद्बोधन से इस क्रान्ति का प्रारम्भ होता है और स्वर्णपुर के सामाजिक आन्दोलन में इसका अन्त होता है। अनीति के गढ़ त्रिपुर इस क्रान्ति से नष्ट होते हैं और अन्त में एक न्यायपूर्ण और मंगलमयी शिव संस्कृति का निर्माण होता है। यही 'पार्वती' महाकाव्य का अभीष्ट लक्ष्य है। शिव के पाशुपत अस्त्र से त्रिपुरों का युगपत वेधन हुआ। ये शक्ति, ज्ञान और धन के मांगलिक समन्वय का प्रतीक है। यही समन्वय नवीन समाज के निर्माण का सूत्र है।

इस प्रकार 'पार्वती' महाकाव्य शिव के पौराणिक कथानक के आधार पर रचित लोकमंगल का का एक सशक्त महाकाव्य है। पुरातन कथा का कल्पना से रुपान्तर करके लक्षणा के संकेतों के द्वारा भारत के मध्यकालीन इतिहास और उसकी भव्य रचनात्मक सम्भावनाओं का निर्देश किया गया है। 'पार्वती' महाकाव्य 'कामायनी' की भांति प्रतीकात्मक तो नहीं है, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों और सामाजिक सत्यों के संकेत उसमें समाहित हैं। यह ऐतिहासिक महाकाव्यों की भांति पूर्णतः तथ्यात्मक न होकर एक सामाजिक लक्षण का काव्य है। रचनात्मक सामाजिक मंगल उसका मुख्य सूत्र है। इस मंगल का मूल आध्यात्मिक और रूप सांस्कृतिक है। तन्त्रों में आत्मा का नाम ही शिव है। पार्वती उनकी शक्ति है। शक्ति सृजनात्मक हैं। कुमार कार्तिकेय का जन्म, उनकी शिक्षा दीक्षा, उनका सेनापतित्व आदि साम्माजिक रचना की दिशा

के संकेत हैं। शिव और पार्वती के समान तपस्या से, कार्तिकेय की दीक्षा के समान शिक्षा से, स्वर्ग के समान सामाजिक परिवर्तन से तथा त्रिपुरों के समान सामाजिक क्रान्ति से एक मंगलमयी सांस्कृतिक परम्परा को निरन्तर बनाया जा सकता है। इन्द्र और शची का वानप्रस्थ वृद्धों के सत्ता मोह को त्यागने का संकेत करता है। भारतीय राजनीति में यह मोह व्याप्त है। देश के उद्धार के लिये इसका त्याग आवश्यक है। इस त्याग से ही युवकों को रचनात्मक क्रान्ति की प्रेरणा मिल सकती है। अधिकार, उत्तर-दायित्व और गौरव प्राप्त कर जयन्त के समान भटकते हुए राष्ट्र के नवयुवक एक शक्तिशाली भारत के निर्माता और नेता बन सकते हैं।

'पार्वती' यौवन का काव्य है। यौवन के समान ही उसकी भाषा और भाव ओजपूर्ण हैं तथा उसकी सर्ग योजना में निरन्तर उत्कर्ष है। कालिदास के समान शृंगार और भाषा का माधुर्य 'पार्वती' के कवि का अभीष्ट नहीं रहा। रचनात्मक ओज, सांस्कृतिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक आनन्द ये तीन 'पार्वती' के मुख्य भावात्मक तत्व हैं। तीनों ही यौवन के अनुरूप हैं। इन तत्वों से त्यागमयी साधना, सामाजिक सौन्दर्य और आत्मिक आनन्द सम्भव होते हैं। शिव पार्वती और कार्तिकेय इसके प्रतीक हैं। सामाजिक साधना का निर्देश होने के साथ-साथ 'पार्वती' महाकाव्य पारिवारिक जीवन का भी आदर्श है। शिव पार्वती के समान तपोभय प्रेम, कार्तिकेय के समान सेनानी सन्तान, इन्द्र और शची के समान वानप्रस्थ तथा कार्तिकेय, जयन्त के जैसे सख्य-सहयोग से ही आदर्श परिवार और आदर्श समाज का निर्माण हो सकता है। शिव पार्वती के साधनामय दाम्पत्य के अतिरिक्त परशुराम के समान वीर-विज्ञानी गुरू का सहयोग भी इसमें अपेक्षित है।

'पार्वती' महाकाव्य का कुमार दीक्षापर्व जीवन में गुरू और शिष्य के महत्व का निर्देश करता है। परशुराम की शिक्षा में शक्ति और ज्ञान का समन्वय समाज का रक्षा कवच है। अहिंसा के उपदेशों से दुर्बल हुए इस देश के लिए यह कवच आवश्यक है। ज्ञान, शक्ति और प्रेम का सन्तुलित समन्वय ही एक सांस्कृतिक समाज के निर्माण और उसकी सुरक्षा का सिद्धान्त बन सकता है।

समाज के सांस्कृतिक निर्माण की परिकल्पना 'पार्वती' महाकाव्य में भारतीय संस्कृति की परम्परा की भूमिका में की गई है। अन्तिम सर्ग में संवत्सर की शक्ति प्रतिष्ठा से आरम्भ होकर होली के रसपर्व में सम्पन्न होने वाली भारतीय पर्व परम्परा का सुन्दर वर्णन है, जो कदाचित ही किसी अन्य काव्य में मिलेगा। इस सांस्कृतिक परम्परा में सामाजिक आदर्श के सूत्र निहित हैं। जिस अहिंसा का निर्घोष बुद्ध से लेकर गांधी तक गूंजता रहा, वह वैष्णव अवतारों की आराधक संस्कृति का मूल मन्त्र नहीं है। इस अहिंसा के निर्घोष में भारत "विनाशाय च दुष्कृताम्" के शक्ति बीज को भूल गया। यही प्रमाद समस्त ऐतिहासिक विडम्बनाओं का कारण है।

भारतीय संस्कृति के अनेक सूत्र 'पार्वती' में सन्निहित हैं। अर्चना का प्रस्तावना पर्व शक्ति-साधना की प्राथमिकता का सूचक है। भारतीय संस्कृति के विशाल पीठ के रूप में हिमालय का विस्तृत वर्णन प्रथम सर्ग में किया गया है। यह वर्णन 'कुमार सम्भव' के हिमालय वर्णन की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिक सांस्कृतिक है। एक सौ आठ छन्दों का यह सर्ग हिमालय वर्णन की दृष्टि से अद्वितीय है। हिमालय हमारी संस्कृति का प्रहरी और पीठ है। महादेवी वर्मा ने चीनी आक्रमण के समय 'हिमालय' का जो संकलन काव्य प्रकाशित किया था उसमें 'पार्वती' का हिमालय वर्णन ही एक

खण्डित अंश है। अन्य सब रचनाएं अखण्ड रूप में संकलित हैं। 'पार्वती' महाकाव्य के हिमालय वर्णन के समान विस्तृत, विशद् और सांस्कृतिक हिमालय वर्णन कदाचित ही अन्यत्र मिल सकेगा।

सामाजिक क्रान्ति और नवीन धारणाओं से युक्त होते हुए भी 'पार्वती' एक पारम्परिक महाकाव्य है। मंगलाचरण के अतिरिक्त अन्य अनेक शास्त्रीय परम्पराओं का पालन जितना 'पार्वती' में किया गया है, उतना 'तारक वध' के अतिरिक्त कदाचित किसी अन्य महाकाव्य में नहीं किया गया है। शक्ति की प्रधानता नारी की महिमा, सृजनात्मकता आदि के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्ष्म परम्पराओं का निर्वाह 'पार्वती' में मिलता है। 'पार्वती' की भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के अर्थ में नहीं, वरन् सांस्कृतिक संदर्भों से युक्त शब्दों और प्रत्ययों की दृष्टि से अत्यन्त सांस्कृतिक है। 'पार्वती' के सर्गों और छन्दों का संख्या क्रम तांत्रिक है। महाकाव्य में २७ सर्ग, सत्ताइस नक्षत्रों के द्योतक हैं। अर्चना का एक अतिरिक्त सर्ग अट्ठाईसवें अभिजित नक्षत्र का सूचक है।

मंगलाचरण में २७ छन्द हैं। अन्य सर्गों में १०८ छन्द हैं। सर्ग के अन्त में सर्ग परिवर्तन नहीं है। यह परिवर्तन महाकाव्य को लय में विराम देता है। 'पार्वती' के ओजपूर्ण आरोह क्रम में विराम नहीं है। 'पार्वती' बिना विराम के आरोह की एक ओजपूर्ण रागिनी है। कुमार दीक्षा, त्रिपुर वध, त्रिपुर क्रान्ति आदि के सर्गों में यह ओज अत्यन्त प्रखर हो गया है। 'पार्वती' में छन्दों की पर्याप्त विविधता है और छन्दों का प्रयोग भावानुकुल हुआ है। कुमार दीक्षा सर्ग इसका उदाहरण है। इस अनाम कठिन छन्द का प्रयोग संस्कृत के स्रग्धरा छन्द की भांति बहुत कम हुआ है। कुमार दीक्षा के १०८ पद्यों में इस छन्द का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण हिन्दी छन्द काव्य में इस छन्द में रचित १०८ पद्य कठिनाई से मिल सकेंगे। इसके अतिरिक्त 'पार्वती' में हिन्दी के उन प्रचलित छन्दों का प्रयोग हुआ है जो कामायनी, साकेत आदि महाकाव्यों में व्यवहृत हुए है।

'पार्वती' एक छन्दोबद्ध और तुकान्त महाकाव्य है। 'पार्वती' की भाषा प्रौढ़ है और उसके अन्त्यानुप्रास प्रायः सहज, स्वाभाविक और अकृत्रिम है। सरल क्रियापदों के अनुप्रासों का प्रयोग 'पार्वती' में बहुत कम किया गया है। भाषा की प्रौढ़ता, भाव के ओज और अन्त्यानुप्रासों की सहजता की दृष्टि से हिन्दी के श्रेष्ठ महाकाव्यों के साथ 'पार्वती' की तुलना अपेक्षित है।

'पार्वती' की रचना के बारह वर्ष पश्चात भारतीनन्दन की काव्य प्रतिभा पुनः सजग हुई। कवि में भावों का सागर उद्वेलित हुआ जो महाकाव्य के रूप में न लहरा कर खण्डकाव्यों के रूप में विभिन्न धाराओं में प्रभावित हुआ। इन खण्डकाव्यों में वे पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानकों को संगत अर्थ देने का प्रयत्न करते रहे। उनके समस्त खण्डकाव्य इस दृष्टि से अर्थपूर्ण खण्डकाव्य हैं। दो वर्ष के अन्तराल में कवि ने ग्यारह खण्डकाव्य लिखे जिनमें सात नारी काव्य एवं चार पुरुष काव्य हैं। नारी काव्यों में नारी जीवन के विशिष्ट सत्यों का दिग्दर्शन किया गया है। ये नारी काव्य उमा, सावित्री अहल्या, उर्वशी, तिलोत्तमा, मेनका और शकुन्तला के कथानकों पर आश्रित हैं। पुरुष काव्य सत्यकाम, विश्वामित्र, चन्द्रगुप्त और तुलाधार के कथानकों पर आधारित हैं। इन पुरुष काव्यों में विशेष रूप से वर्ण व्यवस्था का समाधान किया गया है। गुण और कर्म के आधार पर वर्ण का निर्णय उचित माना है। सत्यकाम की सत्य साधना, विश्वामित्र की ब्रह्मर्षि बनने की कामना, चन्द्रगुप्त का क्षत्रियत्व और तुलाधार की धार्मिक भावना का दिग्दर्शन इसी आधार पर किया गया है। इन खण्डकाव्यों का उद्देश्य

भारतीय समाज को पुनर्गठन की प्रेरणा देना है। नारी काव्यों में जीवन के उन विशिष्ट सांस्कृतिक सत्यों की व्याख्या है, जो आज के समाज और आज की सभ्यता को भारतीय संस्कृति के अनुकूल निर्देशन दे सकते हैं।

इन खण्डकाव्यों में भाव और अर्थ की पर्याप्त गम्भीरता है। इनकी व्यंजना सूक्ष्म है। प्रत्येक काव्य में मंगलाचरण है, जो वस्तु निर्देश और देवता वन्दन के द्वारा परम्परा के पालन का सूचक है। अधिकांश कथानक पौराणिक और ऐतिहासिक हैं। कल्पना के द्वारा कथानक में परिवर्तन और परि-वर्धन करके उन्हें अधिक अर्थवान बनाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु कथानक के मुख्य सूत्रों को नहीं बदला गया है और न कोई असंगत कल्पना की गई है। संगत कल्पना और व्याख्या के द्वारा ही कथानक के अर्थ को समृद्ध किया गया है। खण्डकाव्यों की यह सार्थकता जीवन के सन्दर्भ में ही प्रतिष्ठित की गई है। परम्परागत कथा और जीवन के अर्थ की संगति इन काव्यों का उद्देश्य रही है। 'सावित्री' के समान काव्य में यह अर्थसंगति जीवन के आध्यात्मिक रहस्य के अनुरूप है। 'अहल्या' के समान काव्य में यह संगति मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक है। पुरुष काव्यों में यह संगति सामाजिक और राष्ट्रीय है। अस्तु समस्त काव्यों में कथानक, कल्पना और व्याख्या की अर्थ संगति जीवन के सत्य के अनुरूप है। 'पार्वती' के समान ही ये खण्डकाव्य परम्परागत कथानकों पर आश्रित होते हुए जीवन के ही काव्य हैं। काव्य रचना के क्रम में इन्हें 'पार्वती' का औरस कहा जा सकता है।

ये समस्त खण्डकाव्य आकार में लघु और भाषा में सरल हैं। सर्गों और छन्दों की दृष्टि से 'पार्वती' के समान इन खण्डकाव्यों का विधान भी तांत्रिक है। नवरात्र के सन्दर्भ से नौ (९) की संख्या शक्ति की वाचक है। समस्त खण्डकाव्यों के सर्ग और छन्द संख्या नौ से विभाज्य है। 'पार्वती' में २७ सर्ग और प्रत्येक सर्ग में १०८ छन्द हैं। खण्डकाव्यों में नौ सर्ग हैं। नारी काव्यों में छन्दों की संख्या ९ के पहाड़े के अनुरूप बढ़ती गई है। क्योंकि शक्ति वर्धमान है। पुरुष काव्यों के प्रत्येक सर्ग में ४५ छन्द हैं।

खण्डकाव्यों में कालक्रम की दृष्टि से अहल्या प्रथम है, किन्तु अर्थ और इतिहास के क्रम में उमा प्रथम है। सावित्री, अहल्या, उर्वशी, तिलोत्तमा, मेनका और शकुन्तला चाहे इसी क्रम में न लिखी गई हों किन्तु अर्थ और इतिहास के अनुरूप इनका यही क्रम उचित है।

इसके बीच सीता, दमयन्ती आदि कुछ अन्य खण्ड-काव्यों की रचना कवि को अभीष्ट थी जो व्यस्तता के कारण सम्भव न हो सकी। नारी चरित्र पर आश्रित ये नारी काव्य नारी के जीवन तत्व के विभिन्न पक्षों का निदर्शन करते हैं। कवि ने इन पक्षों को जो अर्थ दिया है वह कथानक के अनुरूप है। पात्रों का स्वरूप परम्परागत रूप में काव्यों में ग्रहण किया गया है। कल्पना और व्याख्या के द्वारा इन पात्रों के चरित्र को उनके शरीर से संगत बनाने का प्रयत्न किया गया है।

'उमा' काव्य में उमा के तपस्विनी रूप का अंकन है। तपस्या के लिए उद्यत पार्वती को ही 'उमा' का नाम दिया गया है। पार्वती की तपस्या अभीष्ट पति को प्राप्त करने की साधना है। इसीलिए पार्वती सौभाग्यकांक्षिणी कुमारियों और सौभाग्यवती नारियों का आदर्श रही है। वर्ष में अनेक व्रत व पर्वों पर उनकी पूजा होती है। 'उमा' काव्य में नारी की पति साधना को एक सांस्कृतिक रूप दिया गया है। कवि ने अपनी कल्पना से पार्वती के चरित्र को बाल्यकाल के ऐसे शिक्षा संस्कारों से सम्पन्न किया है जिनसे यह साधना सम्पन्न और सफल हो सकती है। संस्कारों की यह भूमिका 'उमा' काव्य में 'पार्वती'

महाकाव्य की अपेक्षा अधिक विशद् है । यही इस काव्य की रचना की सार्थकता है । कवि का विश्वास है कि नारी की साधना तथा तप ही मानव संस्कृति का आधार है । इस साधना के संस्कारों को बाल्यकाल से ही समृद्ध करने पर यह जीवन में प्रतिष्ठित हो सकते हैं । इसी धारणा से पार्वती के बाल्य जीवन में शील और तप के संस्कारों को समाहित किया गया है । परम्परागत कथानक के अनुरूप 'उमा' काव्य में शिव-पार्वती की तपस्या, कामदहन और पार्वती की तपस्या से प्रसन्न शिव के द्वारा उमा के वरण का वर्णन है । पार्वती के परिणय और विदा तक ही 'उमा' काव्य का कथानक समाप्त हो जाता है । सुखी और सफल दाम्पत्य के लिए कुमारियों के अभीष्ट शील संस्कार का निदर्शन 'उमा' काव्य का लक्ष्य है ।

शिव का तेज और तप कवि के अनुसार पुरुष का आदर्श है । शिव के काम दहन में पुरुष की अभीष्ट आध्यात्मिकता का संकेत है, जो सफल दाम्पत्य का आधार है । तपस्विनी पार्वती का वरण कर शिव ने अध्यात्म के अनुकूल जीवन में काम को समन्वित कर एक सांस्कृतिक आदर्श की स्थापना की । दाम्पत्य संस्कृति का यह आदर्श ''पार्वती' महाकाव्य में प्रतिष्ठित हुआ है 'उमा' काव्य में उसकी आवृत्ति हुई है । इस आदर्श के अनुसार नर-नारी दोनों का जीवन आत्मिक सम्भावना और सामंजस्य में सफल होता है । पुरुष के तप तेज प्रेम और आध्यात्म में नारी का सौभाग्य सफल होता है । नारी के तप, शील और सौन्दर्य से पुरुष का जीवन पूर्ण होता है । यही 'उमा' नामक खण्डकाव्य का तात्पर्यार्थ है ।

'सावित्री' खण्डकाव्य महाभारत में वर्णित सावित्री की पौराणिक कथा पर आश्रित है, जो ज्येष्ठ मास में होने वाले सावित्री व्रत के अवसर पर कही जाती है । कथा के अनुसार सावित्री ने सत्यवान का वरण किया और अपने सतीत्व के प्रताप से उन्हें यम के मृत्युपाश से बचाया । सतीत्व का यह चमत्कार अलौकिक रूप में विदित है । नारी के सतीत्व का आध्यात्मिक रहस्य इस चमत्कार में अन्तर्निहित है । इसी आध्यात्मिक रहस्य को कवि ने सावित्री की कथा का अर्थ मानकर काव्य में समन्वित किया है । इसी आध्यात्मिक अर्थ के आधार पर उसने सावित्री के कथानक की घटनाओं की व्याख्या की है । उमा के चरित्र की भांति सावित्री के चरित्र को भी कवि ने बाल्य के शील संस्कारों की भूमिका प्रदान की । सावित्री के शिक्षा और संस्कार उसके आध्यात्मिक शील को सम्पन्न करते हैं, जिसके प्रताप से उसने अपने मरणासन्न पति को यम के मृत्युपाश से बचाया । यम के साथ सावित्री के संवाद में कवि ने नारी के आध्यात्मिक शील की इस शक्ति का संगत वर्णन किया है ।

महाभारत में प्राप्त अल्प कथानक को कवि ने अपनी कल्पना से बाल्यकाल के शिक्षा संस्कारों के अतिरिक्त सावित्री की वर सम्बन्धी खोज, सावित्री के विवाह आदि प्रसंगों से कथानक के कलेवर को मांसल बनाया है । सावित्री के मृत्युंजय सतीत्व की भांति कवि ने अनेक राजकुमारों द्वारा सावित्री के तिरस्कार तथा सत्यवान की आत्मिक दुर्बलता की भी व्याख्या की है । कवि के अनुसार सावित्री के व्यक्तित्व का तेज ही उसके विवाह में बाधक रहा । अन्धे माता-पिता का अतिशय लाड़ सत्यवान की आत्मिक दुर्बलता और अल्पायु का कारण रहा । कवि की ये व्याख्यायें असंगत नहीं जान पड़तीं, इनसे कथानक को एक मान्य संगति मिलती है । अनेक राजकुमारों से तिरस्कृत सावित्री ने सत्यवान के समान शीलवान, सुन्दर किन्तु अल्पायु वर को पाकर ही अपने जीवन को धन्य माना । अल्पायु सत्यवान से ही वह सौभाग्यवती बनी और अपनी आत्मिक सम्भावना एवं सतीत्व के बल से अपने पति को मृत्युंजय शक्ति प्रदान की और उसके आयुष्य का संवर्धन किया । दाम्पत्य से ही कृतार्थ होकर राजकुमारी सावित्री ने वनवासिनी

का जीवन वरण किया। सावित्री का यह त्याग अनेक कुमारियों के लिए प्रेरणाप्रद आदर्श बन सकता है। सावित्री का मृत्युंजय सतीत्व भारतीय नारियों के लिए सौभाग्य का अमृत मंत्र रहा है। सतीत्व की महिमा के कारण ही भारतीय नारियां युग-युग से सावित्री का व्रत करती रही हैं। सावित्री की इस अल्प एवं अलौकिक कथा को कलेवर एवं अर्थ देकर कवि ने संस्कृति की परम्परा में मूल्यवान योग दिया है।

"अहल्या' खण्डकाव्य रामकथा के प्रसंग में प्रचलित अहल्या के अभिशाप और उसके उद्धार के वृत्त पर आश्रित है। इन्द्र के अतिचार से लांछित अहल्या गौतम ऋषि के शाप से पाषाणी बन गई। राम के चरणस्पर्श से उसका उद्धार हुआ। रामचरित के प्रसंग की यह मार्मिक घटना भारतीय परम्परा में अत्यन्त चर्चित है। केवट के प्रसंग में तुलसीदास ने उसका स्मरण किया है। भारतीनन्दन ने अपनी कल्पना और भावना से कथा के इस अल्प कलेवर को समृद्ध बनाया है। गौतम ऋषि के न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम से अभिन्न मानकर उनके आत्मदर्शन के अनुरूप कवि ने ऋषि दम्पत्ति के दाम्पत्य जीवन को एक मनोवैज्ञानिक भूमिका प्रदान की है। इस भूमिका में दार्शनिक पति के द्वारा उपेक्षित अहल्या के जीवन का वह अभाव स्पष्ट हुआ है जिसके कारण इन्द्र के अतिचार का पश्चात विरोध भी अहल्या के लिए सम्भव न हो सका। न्यायदर्शन में चेतना आत्मा का नित्यगुण नहीं मानी जाती। न्याय के इस सिद्धान्त से गौतम की पत्नी (अहल्या) के प्रति उदासीनता संगत होती है। वैसे सामान्य रूप से दार्शनिक विचारक और साहित्यकार अपनी साधना में अधिक संलग्न होकर प्रायः पत्नी और परिवार की उपेक्षा करते हैं। अहल्या के समान ही उनकी पत्नियों का जीवन शून्य हो जाता है। ऐसी ही शून्यता की भूमिका में कवि ने अहल्या के कथानक को उठाया है।

गौतम के शाप से अहल्या के पाषाणी होने के प्रसंग की कवि ने मनौवैज्ञानिक व्याख्या की है। प्रायः ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें मानसिक आघात से मनुष्य जड़ीभूत हो जाता है। कदाचित अहल्या भी इस दुर्घटना और शाप के आघात से जड़ीभूत हो गई। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने अपनी अपार करुणा से उसका उद्धार किया। उनकी उदारता से उसमें चेतना जागृत हुई। अहल्या के पाषाणी होने और उसके उद्धार की यह मनोवैज्ञानिक व्याख्या अत्यन्त संगत है।

कथा की भूमिका की भांति काव्य का उत्तर भाग भी कवि की कल्पना से निर्मित हुआ है। इसमें गौतम के मन में अहल्या के प्रति उदित होने वाले उदार भाव का अंकन है। राम की उदारता ही इसकी प्रेरणा है। राम के औदार्य की चर्चा सुनकर ही गौतम द्रवित हुए तथा अहल्या को अपना कर उन्होंने अपने उजड़े आश्रम को फिर बसाया।

अहल्या के प्रति गौतम की आरम्भिक उदासीनता तथा अन्त में राम की प्रेरणा से उदित होने वाली उदारता ये दोनों ही प्रतीकात्मक हैं। इस दृष्टि से 'अहल्या' काव्य, विचारकों, साधकों और साहित्यकारों के पारिवारिक जीवन की विडम्बना का निदर्शन करता है। यह गौतम के जीवन के कायाकल्प में विश्व को सन्देश देने वाले मनीषियों और कवियों के लिए एक सन्तुलित जीवन का सन्देश भी है।

'उमा' 'सावित्री' और 'अहल्या' नारी के सतीत्व से सम्बन्धित काव्य हैं। उमा तो सती का अवतार है। शिव के साथ उनका अनन्य दाम्पत्य हमारी परम्परा और संस्कृति का मूल आधार है। सावित्री ने अपने सतीत्व से ही अपने अल्पायु पति को मृत्यु के पाश से बचाया। सतीत्व का अध्यात्म ही 'सावित्री' काव्य का विषय है। अहल्या की गणना भी सतियों में की जाती है। यह भारतीय परम्परा में नारी के

उद्धार का उदाहरण है। 'अहल्या' काव्य में नारी के सतीत्व के पूरक पुरुष के समात्मभाव का सन्देश दिया गया है जो शिव के आत्मिक सौहार्द से प्रेरित है।

'तिलोत्तमा' 'उर्वशी' 'मेनका' और 'शकुन्तला' दिव्य नारियों के चरित हैं, जो अप्सरा कहलाती हैं। तिलोत्तमा अप्सराओं में सर्वश्रेष्ठ है, जिसे विधाता ने विश्व की तिल तिल सुषमा से रचा था। उर्वशी भी अप्सराओं में श्रेष्ठ है। मेनका उनमें अनुपम है। शकुन्तला मेनका की कन्या थी। ये सभी अप्सरायें अनुपम सौन्दर्य की प्रतिमाएं हैं। अप्सरा नारी के चिर युवा रूप का प्रतीक है। अप्सरा का विलास नर-नारी की निगूढ़ कामना है। मनुष्य जीवन दाम्पत्य के सतीत्व और अप्सरा भाव के मुक्त विलास का संघर्ष है। प्रेम और श्रृंगार की सभी कथाएं इन दोनों भावों के विरोध, उनके एकांगी प्रभाव अथवा उनके सामंजस्य के उदाहरण हैं। 'उमा', 'सावित्री' और 'अहल्या' काव्य सतीत्व के सामंजस्य की स्थापना करते हैं। 'तिलोत्तमा', 'उर्वशी', 'मेनका' और 'शकुन्तला' सती भाव और अप्सरा भाव के वैषम्य की विडम्बनाओं को अंकित करते हैं।

तिलोत्तमा विश्व दिव्य सौन्दर्य की साकार समष्टि है। यौवन और सौन्दर्य सहज ही विलास की प्रेरणा बन जाता है। सौन्दर्य का सम्मोहन और बिलास की प्रेरणा दानवी वृत्ति में संघर्ष के बीज बोती है। यह संघर्ष आत्मघाती है। 'तिलोत्तमा' काव्य में तिलोत्तमा की प्राप्ति के लिए शुम्भ और निशुम्भ दानव बन्धुओं का संघर्ष सौन्दर्य और विलास से प्रेरित विरोध का निदर्शन करता है। दानवी वृत्ति के सम्बन्ध में सौन्दर्य और विलास के सम्मोहन के विनाशक परिणाम को अंकित करना ही तिलोत्तमा काव्य का लक्ष्य है।

'तिलोत्तमा' का कथानक पौराणिक है। कथा के अनुसार शुम्भ और निशुम्भ दानव ब्रह्मा के वरदान से अत्यन्त शक्तिशाली बन गए। स्वर्ग को जीत कर उन्होंने त्रिलोक में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। सुर, नर, मुनि सभी पर दानव बन्धु घोर अत्याचार करने लगे। धर्म, संस्कृति और आचार सबको उन्होंने नष्ट कर दिया। ऐश्वर्य के मद और भोग में वे निमग्न रहने लगे। दानवों के अत्याचार से पीड़ित देवता ब्रह्मा जी के पास गए और उनसे अपनी वेदना व्यक्त की। ब्रह्मा जी ने उनके विनाश का एक उपाय निकाला। विश्वकर्मा को आदेश दिया कि वे विश्व के तिल-तिल सौन्दर्य का संग्रह करके सौन्दर्य की समष्टि से एक दिव्य नारी का निर्माण करें। तिलोत्तमा वही दिव्य नारी थी। दानवों के पास राज, धन और ऐश्वर्य तो इतना विस्तृत था कि उसका विभाजन विनाश का कारण नहीं बन सकता था। एक रूप ही अविभाज्य है और उस पर एकाधिकार का प्रश्न विनाश का हेतु बन सकता है। यही हुआ कि तिलोत्तमा को देखकर दोनों दानव-बन्धु उस पर अधिकार करने के लिए लड़ने लगे और एक-दूसरे के द्वारा मारे गये।

अविभाज्य रूप के एकाधिकार के लिए संघर्ष मनुष्यों के मन में छिपे हुए कितने शुम्भ-निशुम्भों के विनाश का कारण बन चुका है। तिलोत्तमा के कथानक को कवि ने इसी अर्थ से अर्थवान बनाया है। उदारता के साथ रूप को अपने किसी आत्मीय का सौभाग्य बनाना रूप के कारण होने वाले संघर्ष का सांस्कृतिक समाधान है। 'तिलोत्तमा' काव्य के अन्त में इसी समाधान की सम्भावना से दोनों दानवों को प्रेरित कर कवि ने उनके चरित्र का उन्नयन किया है। रूप के लिए संघर्ष के संदर्भ में यही उन्नयन मानवीय संस्कृति का उदार मार्ग बन सकता है।

'उर्वशी' काव्य में दिव्य सौंदर्य और यौवन के सम्मोहन को मानवीय अनुराग के संदर्भ में अंकित किया गया है। इसमें रूप दानवीय द्वन्द का कारण नहीं वरन् वह मानव के आन्तरिक संघर्ष का हेतु है। उर्वशी अत्यन्त रूपवती और चिर यौवना अप्सरा है, वह प्रत्येक मनुष्य की अन्तर्निहित कामना का प्रतीक है। व्यवहार की भाषा में उसे प्रेयसी का प्रतीक कह सकते हैं। नर-नारी दोनों के मन में यौवन के अनन्त और स्वच्छन्द विलास की कामना रहती है। लीला, कला आदि का भी विलास में संयोग होता है। रूप यौवन और कला के संयोग से यह विलास अत्यन्त आकर्षणमय बन जाता है। इसी विलास की कल्पना ने अप्सराओं के स्वर्ग की कल्पना की है। किन्तु धरती पर नर-नारी का सम्बन्ध दाम्पत्य के बन्धन में बंध गया है। दाम्पत्य का अपना महत्व और आदर्श है, उसकी सुख शान्ति अलग है। किन्तु धरती की नारी का सौंदर्य अल्पकालीन है वह मातृत्व के भार से क्षीण होता है। आयु के साथ रूप और यौवन का ह्रास होता है और दाम्पत्य में नीरसता आती है। राजा पुरूखा के जीवन में इसी नीरसता का निदर्शन और स्वर्ग की अनन्त यौवना उर्वशी के प्रति आकर्षण का प्रदर्शन किया गया है। उर्वशी काव्य में भारतीनन्दन ने नर-नारी के जीवन के इस संघर्ष का ही निदर्शन नहीं किया वरन् उतना समाधान भी प्रस्तुत किया है जितना कि मानव जीवन की सीमा में सम्भव है। वह समाधान यह है कि पतिव्रता यथा सम्भव अपने यौवन का संरक्षण करे तथा अपनी जीवन प्रक्रिया में कुछ कलात्मकता का संयोग करे। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि प्रौढ़ा स्त्रियां सन्तान के पालन में उसका सहयोग कर उसके मातृत्व के भार को हल्का करें।

'उर्वशी' काव्य में उर्वशी और पुरूखा की रानी का विरोध इतना तीव्र नहीं है। उनके स्नेह और सम्भावना को ही बढ़ाया गया है और अन्ततः जब पुत्र का दर्शन करने पर उर्वशी विलीन हो जाती है तो यही दिखाया गया है कि मानो वह रानी के अस्तित्व में समा जाती है। इस प्रकार अप्सरा की कल्पना और दाम्पत्य एवं मातृत्व के यथार्थ का समन्वय किया गया है।

नारी की दृष्टि से सौंदर्य यौवन का स्वच्छन्द विलास भी संकटपूर्ण है। दानवी आतंक और अत्याचार का भय उसमें रहता है। राक्षस के द्वारा उर्वशी का अपहरण नारी के इसी संकट का सूचक है। दाम्पत्य इस संकट में सुरक्षा प्रदान करता है। पराक्रमी पति का आश्रय ही नारी की सुरक्षा है। इस सुरक्षा की दृष्टि से स्वच्छन्द विलास की बलि भी अनुचित नहीं है। शील की सुरक्षा तथा सौंदर्य और यौवन की रक्षा, इनका समन्वय करने से दाम्पत्य जीवन स्वर्ग के समान सुखी बन सकता है। नर-नारी के जीवन की इसी स्वर्गिक सम्भावना का निदर्शन उर्वशी का उद्देश्य है।

मेनका भी उर्वशी के समान भूमि पर अवतरण करने वाली अप्सरा है। उर्वशी का अवतरण दिव्य और अक्षय यौवन के प्रति पुरुष के आकर्षण का परिणाम है, दूसरी ओर वह स्वच्छन्द नारी के लिए पराक्रमी पुरुष के आश्रय और संरक्षण के महत्व का द्योतक है। उर्वशी काव्य में इन दोनों आकांक्षाओं का दाम्पत्य के समात्मभाव एवं दाम्पत्य में कला के समन्वय के द्वारा किया गया है। मेनका काव्य दिव्य नारी के प्रति पुरुष के एक पक्षोय आकर्षण की विडम्बना को अंकित करता है। इसी प्रकार 'शकुन्तला' काव्य अर्ध दिव्य नारी के एक पक्षीय अनुराग की व्यथा का निदर्शन करता है।

मेनका के द्वारा विश्वामित्र के तपोभंग की कथा पुराणों में वर्णित है तथा परम्परा में विख्यात है। मेनका के अवतरण एवं विश्वामित्र के सम्मोहन के वर्णन में कवि ने अपनी काव्य कला का परिचय

दिया है। विश्वामित्र स्वर्ग प्राप्ति के लिए तप कर रहे थे। इन्द्र ने अपने पद की सुरक्षा के लिए मेनका को पृथ्वी पर भेजा।

मेनका के नूपुर नृत्य और रूप सम्मोहन से मुग्ध होकर विश्वामित्र तप को भूल गए और मेनका के साथ वन्य कुटी में सहवास किया। इसी सहवास का फल शकुन्तला का जन्म हुआ किन्तु मेनका स्वर्ग की अप्सरा थी। स्वच्छन्द नारीत्व दाम्पत्य और मातृत्व से बंधकर नहीं रह सकता। अत: मेनका शकुन्तला को छोड़कर स्वर्ग चली गई। विश्वामित्र गृहत्यागी तपस्वी थे, उन्हें भी दाम्पत्य और वात्सल्य के भाव का मौलिक बन्धन नहीं था अत: वे भी शकुन्तला को पत्तों में छिपाकर छोड़ गये। कुछ पक्षियों के पक्षों के तले शकुन्तला सुरक्षित रही। मार्ग से जाते हुए करुणाशील कण्व मुनि उसे उठाकर अपने आश्रम में ले गए। कण्व के आश्रम में पालित शकुन्तला की कथा महाभारत में मिलती है। कालिदास ने अपने नाटक में उसे अमर बनाया है। यही कथा भारतीनन्दन के 'शकुन्तला' काव्य का आधार है।

यौवन और सौन्दर्य की साधक दिव्य नारी का स्वच्छन्द विलास और वैभव के अभिलाषी इन्द्रों के द्वारा उसका उपयोग मेनका काव्य का अर्थतत्व है। नारी का स्वच्छन्द विलास मातृत्व या दाम्पत्य के अनुकूल नहीं है। मेनका ने शकुन्तला और विश्वामित्र दोनों का परित्याग करके इसे प्रमाणित कर दिया। गृहत्याग और तपस्या भी वात्सल्य के अनुरूप नहीं है, इसीलिए विश्वामित्र कण्व की भांति शकुन्तला का पालन नहीं कर सके किन्तु गृहत्याग और तप से सौन्दर्य के सम्मोहन का अन्त नहीं होता। वासनाएं दमित अवश्य हो जाती हैं परन्तु तनिक भी उत्तेजना पाने पर वे उभर आती हैं। विश्वामित्र का तपोभंग इसी निगूढ़ वासना की उत्तेजना का परिणाम है। उदार समात्म भाव, पारस्परिक सद्‌भाव, एकनिष्ठता और अद्वैत से युक्त दाम्पत्य तथा जीवन में कला के समन्वय एवं वात्सल्य के लीलामय अनुयोग के द्वारा ही एक सन्तुलित और सामंजस्य पूर्ण जीवन सम्भव हो सकता है। भारतीनन्दन ने अपने नारी काव्यों में इसी सन्तुलित जीवन का निर्देशन किया है।

'उमा' काव्य में शिव-पार्वती की साधना से संस्कृत दाम्पत्य में यह सामंजस्य अपने सिद्ध और सनातन रूप में अंकित किया गया है। सावित्री, काव्य में उसे नारी के उदार और त्यागमय अध्यात्म के द्वारा अनुष्ठित किया गया है। 'अहल्या' काव्य में वह गौतम ऋषि के भाव परिवर्तन के द्वारा सम्पन्न किया गया है। 'उर्वशी' काव्य में नारी जीवन में कला के समन्वय के द्वारा सम्भव बनाया गया है। 'शकुन्तला' काव्य में विलासी पुरुष के आत्म संशोधन तथा मोह से अभिशप्त नारी के तपोमय प्रायश्चित के द्वारा सम्पन्न हुआ है।

महाभारत और कालिदास के नाटक की कथा ही मूलत: 'शकुन्तला' काव्य का आधार है, किन्तु शकुन्तला काव्य में दुर्वासा के शाप का प्रसंग नहीं है। कालिदास ने दुर्वासा के शाप के द्वारा दुष्यन्त के चरित्र की रक्षा की है। भारतीनन्दन ने दुष्यन्त के चरित्र को उनकी राजसी विलासिता के यथार्थ रूप में अंकित किया है। दुष्यन्त दुर्वासा के शाप के कारण शकुन्तला को नहीं भूलते वरन लोकापवाद के कारण न भूलते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते। शकुन्तला आश्रम के तपोवास में अपनी भूल का प्रायश्चित करती है। सन्तान न होने के कारण दुश्यन्त निर्वासिता शकुन्तला की याद करते हैं। अन्त में इन्द्रलोक से लौटते समय पहले पुत्र फिर पत्नी के साथ उनका मिलन होता है। पश्चाताप से शुद्ध उदार हृदय से वे दोनों को स्वीकार करते हैं।

कवि के मत में शकुन्तला का प्रेम उसके जन्मगत अप्सरा भाव का प्रमाद है, जिसमें एक सरल तापस बाला का भोलापन भी उत्तरदायी है। शकुन्तला का निर्वासन और तपोवास उसकी भूल का प्रायश्चित है। दुष्यन्त का पश्चाताप उनके आत्म शोधन का साधन बना। भारतीनन्दन का 'शकुन्तला' काव्य गन्धर्व विवाह की अपेक्षा वैधानिक दाम्पत्य में पारस्परिक स्नेह और सद्भाव उदारता और कलात्मकता के द्वारा आत्म सामंजस्य की श्रेष्ठता का संकेत करता है। कालिदास के नाटक की भांति शकुन्तला का सौन्दर्य प्रेम और तप ही शकुन्तला काव्य का सर्वस्व नहीं है। 'शकुन्तला' काव्य में मर्यादित जीवन का एक सन्देश भी है।

उक्त नारी काव्यों के अतिरिक्त भारतीनन्दन ने कुछ पुरुष काव्यों की भी रचना की है। नारी काव्य और पुरुष काव्य दोनों का ही उद्देश्य सामाजिक है। नारी काव्यों में जीवन के विविध सन्दर्भों में नारी जीवन के मर्म को प्रकाशित किया है। पुरुष काव्यों में विशेष रूप से वर्णभेद की समस्या को सुलझाया गया है। गीता के अनुरूप जन्म के स्थान पर कर्म और गुण को वर्ण का आधार मानकर एक नवीन वर्ण व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की गई है। वर्ण परिवर्तन के कुछ प्राचीन उदाहरण लेकर इस योजना को चरितार्थ किया गया है।

'ब्रह्मर्षि' काव्य में राजर्षि विश्वामित्र के ब्रह्मर्षि पद प्राप्त करने की आकांक्षा का गुण कर्म के अनुकूल निदर्शन किया गया है। 'सत्यकाम' काव्य में छान्दोग्योपनिषद के सत्यकाम जावाल की कथा का आश्रय लेकर सरलता और सत्यवचन के सूत्र से सत्यकाम के वर्ण निर्धारण के प्रश्न को काव्यबद्ध किया गया है। गुरू के यहां दीक्षा पाकर सत्यकाम ने अपना एक नवीन गुरुकुल स्थापित किया, जिसमें उसने ब्रह्मचारियों को शिक्षा देकर कर्म और गुण के अनुरूप अपने ब्राह्मणत्व को प्रमाणित किया। 'चन्द्रगुप्त' काव्य में इसी धारणा के अनुरूप चन्द्रगुप्त के शूद्रत्व का परिहार करके उनके क्षत्रियत्व की स्थापना की गई है। इसके साथ-साथ पश्चिमोत्तर भारत की शक, पह्लव किरात आदि बर्बर जातियों को भी शौर्य और समाज रक्षा के आधार पर क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत समाहित किया गया है। 'तुलाधार' काव्य का आधार तुलाधार नामक व्यापारी की पौराणिक कथा है। व्यापारी होते हुए भी तुलाधार की सत्यनिष्ठा और सदाशयता की कीर्ति ने जाजलि मुनि का अभिमान खण्डित किया।

व्यवसाय से व्यापारी होते हुए भी तुलाधार सत्यनिष्ठा और सदाशयता के आधार पर ब्राह्मण तुल्य ही था, यही 'तुलाधार' काव्य का मन्तव्य है। 'हेमराज' काव्य अपूर्ण है। हेमराज को इतिहास में वैश्य माना जाता है। हेमू बक्काल के नाम से उसे अपमानित किया जाता है, किन्तु वस्तुतः हेमराज वीर सेनानी था। एक बार दिल्ली को विजय करके उसने अपने शौर्य को प्रमाणित भी किया। इसी शौर्य के आधार पर वह क्षत्रिय पद का अधिकारी है।

भारतीनन्दन ने अपनी समस्त काव्य कृतियों द्वारा मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त समस्याओं का विवेकपूर्ण समाधान प्रस्तुत किया है। आदर्शों की दृढ़ नींव पर अपनी कृतियों को स्थापित करते हुए कवि ने समाज को नई दिशा, नई गति एवं नवीन संदेश दिया है।

भारतीनन्दन की साहित्य समीक्षा सम्बन्धी कृतियां

—डॉ० चन्द्र किशोर पाठक

सामान्यत: कवि समीक्षक नहीं होता। समीक्षा कवि भारतीनन्दन का भी स्वभाव नहीं थी किन्तु अपने पार्वती महाकाव्य की कुछ अनुदार आलोचनाओं ने उन्हें समीक्षा की ओर प्रेरित किया। **सत्यं शिवं सुन्दरम्** तथा साहित्य समीक्षा के उनके अन्य ग्रंथ इसी दिशा में कवि के चिन्तन के परिणाम हैं।

सत्यं शिवं सुन्दरम् समीक्षात्मक चिन्तन की दिशा में कवि का पहला चरण है। राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत उनका यह ग्रंथ साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी विचार सूत्रों का संकलन है।

मूलतः सत्यं शिवं सुन्दरम् साहित्य का सांस्कृतिक विवेचन है। सत्यं शिवं सुन्दरम् जीवन के सांस्कृतिक मूल्य हैं। सत्य ज्ञान का विषय है शिव जीवन का तत्व है और सौंदर्य कला का रूप है। काव्य के सन्दर्भ में इन मूल्यों का विवेचन सत्यं शिवं सुन्दरम् का उद्देश्य है। कवि ने इस ग्रंथ में सत्य, श्रेय सौंदर्य, कला, काव्य, संस्कृति आदि के मौलिक स्वरूपों का गम्भीर अनुसंधान किया है। इन मूल्यों के समन्वय से घटित काव्य के स्वरूप का निर्धारण भी सत्यं शिवं सुन्दरम् का मन्तव्य है, इन मूल्यों के साथ-साथ कला, काव्य और संस्कृति के सम्बन्ध में कवि की कुछ मौलिक धारणायें विचारणीय हैं।

सत्यं शिवं सुन्दरम् की रचना से आरम्भ होने वाली भारतीनन्दन की विचार सारणी में समात्वभाव का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सत्यं शिवं सुन्दरम् में इस मौलिक सिद्धान्त की आवृत्ति विचारक की मान्यता को प्रखर रूप में रेखांकित करती है। समातमभाव का सिद्धान्त आध्यात्मिक अद्वैतवाद का कला और संस्कृति के संदर्भ में संघटित एक सविकल्प रूप है। दार्शनिक अद्वैतवाद एक निर्विकल्प अध्यात्मवाद है। वह निर्विकल्प और स्वतन्त्र ब्रह्म को परम सत्य मानता है जो विश्व में व्याप्त है तथा गीता के अनुसार सबके हृदय में निवास करता है, फिर भी जीवन के सन्दर्भों में उसकी प्रतिष्ठा वेदान्त दर्शन की परम्परा में इतने स्पष्ट रूप से नहीं की गई है। समातमभाव के सिद्धान्त में आत्मिक अद्वैतवाद को जीवन के सन्दर्भों और सम्बन्धों में अन्वित किया गया है। मूलतः समात्मभाव भी आत्मिक अद्वैतवाद है। किन्तु इस अद्वैतभाव को जीवन के सन्दर्भों के विकल्पों में व्याप्त रूप में रेखांकित किया गया है। समात्मभाव व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में अन्वित और सम्पन्न होने वाला आत्मिक अद्वैतभाव है। इसे जीवन्त अद्वैतवाद कहना उचित होगा। जीवन के सन्दर्भों में अन्वित होकर यह सविकल्प समात्मभाव मनुष्य समाज के संगठन और सांस्कृतिक विकास का सूत्र बनता है।

भारतीनन्दन के मत में समातमभाव ही मनुष्य जीवन का आधार है तथा वही समस्त सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल स्रोत है। उन्होंने कला और काव्य के सन्दर्भ में समातमभाव को चित्रित किया है। भारतीनन्दन के मत में समात्मभाव ही कला और काव्य का मूलभूत स्रोत है। मूलतः कला और काव्य

समात्मभाव से ही प्रेरित होते हैं। कला और काव्य में व्यक्ति दूसरों के साथ अपना आत्मिक तादात्म स्थापित करके अपने अस्तित्व को विस्तृत करता है। यह आत्मिक विस्तार ही भाव का अतिशय है। 'भाव' अस्तित्व और आत्मिक अनुभव दोनों का सूचक है। आत्मिक अनुभव ही अस्तित्व का सार है। उसकी समृद्धि अस्तित्व की सम्पन्नता है। व्यक्तित्व और स्वार्थ के संकोचन में आत्मिक अनुभव के अर्थ में भी भाव का संकोच होता है। उसकी तुलना में ही समात्मभाव का अतिशय कह सकते हैं। जीवन और व्यवहार में यह समात्मभाव व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध और अनुभव में साकार होता है। इस दृष्टि से ही यह निर्विकल्प अद्वैत से भिन्न है।

भाव का अतिशय कला और काव्य का आन्तरिक तत्व है। किन्तु कला में अभिव्यक्ति के रूप की प्रधानता होती है। रूप ही कला का सौंदर्य है। इसीलिये 'रूप' शब्द सौंदर्य का पर्याय बना। कला केवल अनुभूत नहीं है, इसीलिए क्रोचे ने कलात्मक अनुभूति को अभिव्यक्ति के साथ एकाकार माना है। केवल अनुभूति अध्यात्म का तत्व हो सकती है। व्यावहारिक जीवन में भी भाव का अतिशय तत्व रूप में प्रधान हो सकता है, किन्तु कला और काव्य में रूप के अतिशय के द्वारा ही भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है। अभिधा की तुलना में यह रूप अतिशय से युक्त होता है। काव्यशास्त्र की भाषा में इसे लक्षणा, व्यंजना, वक्रोक्ति आदि के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। अभिव्यक्ति के रूप के अतिशय के साथ समन्वित होकर ही भाव का अतिशय कला एवं काव्य को आकार देता है। शिव और शक्ति के समान भाव का तत्व और रूप का सौन्दर्य कला एवं काव्य में अभिन्न रूप से एकाकार हो जाता है। भारतीनन्दन के मत में "शब्दार्थौ सहितौ' अथवा 'वागार्थाविव सम्पृक्तौ' के काव्यसूत्रों का रहस्य भावतत्व और रूप के इस अपृथक भाव के द्वारा ही समझा जा सकता है।

सत्यं शिवं सुन्दरम् में इसी समात्मभाव के सूत्र से कला और काव्य के स्रोत एवं स्वरूप का अनुसंधान किया गया है। सत्य और श्रेय कला के तत्व को सम्पन्न बनाते हैं। सौन्दर्य कला का रूप है, जो अभिव्यक्ति के अतिशय में साकार होता है। सत्यं शिवं सुन्दरम् जीवन के सांस्कृतिक मूल्य हैं। इनकी साधना से ही संस्कृति सम्पन्न होती है। सत्य मनुष्य की जिज्ञासा का विषय है। श्रेय जीवन का भावात्मक तत्व है, सौन्दर्य अभिव्यक्ति का रूप है। सत्य का विशेष सम्बन्ध ज्ञान से है, श्रेय का कर्म से तथा सौन्दर्य का अनुभूति और भावना से इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भावना की प्रमुख वृत्तियां इन तीनों मूल्यों की साधना में सफल होती हैं। इन तीनों मूल्यों को आधार मानकर जीवन और संस्कृति की व्याख्या तथा कला एवं काव्य का निरूपण सत्यं शिवं सुन्दरम् नामक ग्रंथ में किया गया है।

सत्य को व्यापक रूप में ग्रहण कर, उसके विभिन्न रूपों का जीवन, संस्कृति, कला एवं काव्य में अन्वय किया गया है। सत्य के भौतिक, प्राकृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि अनेक रूपों का विवरण कर कला और काव्य के साथ उनकी संगति का निदर्शन किया गया है। कला और काव्य के प्रसंग में सत्य और कल्पना, यथार्थ और आदर्श का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार शिव के भी अनेक रूप हैं। कला और काव्य के प्रसंग में शिव की स्थिति के सम्बन्ध में मतभेद रहे हैं। कुछ लोग श्रेय और नैतिकता को कला और काव्य का लक्ष्य मानते हैं। अन्य लोग इन्हें कला से बहिर्गत मानते हैं। उनके मत में कला केवल सौन्दर्य की रूपात्मक साधना है। कला कला के लिए है, श्रेय सम्पादन के लिए नहीं। श्रेय धर्म और दर्शन का विषय है। सौन्दर्य तो कला का स्वरूप ही है। उसकी अनेक प्रकार से परिभाषायें की

गई हैं। मनोवैज्ञानिकों ने कला को मनोविकार की अभिव्यक्ति माना है। कुछ विचारक भावना को सौन्दर्य का अंग मानते हैं और सुख में उसका अन्वय करते हैं। क्रोचे ने कला को अनुभूति माना है, जो आन्तरिक अभिव्यक्ति में साकार होती है। कौलिंगवुड ने कला को कल्पना का पर्याय माना है। कल्पना से उनका अभिप्राय किसी भाव के सत्य और असत्य की धारणा से ऊपर उठने से है। ये सब विचार हीगल की उस परिभाषा के प्रस्तार में हैं, जिसके अनुसार कला मानसिक प्रत्यय को ऐन्द्रिक रूप में साकार बनाती है। किन्तु क्रोचे ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति को कला का आवश्यक अंग नहीं मानते। वे कलाओं के भेद को भी नहीं मानते। कलाओं के भेद ऐन्द्रिक माध्यम पर निर्भर करते हैं। क्रोचे की कलात्मक अभिव्यक्ति ऐन्द्रिक नहीं, आन्तरिक है। उसका एक ही रूप है।

सत्यं शिवं सुन्दरम् में सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की धारणाओं का निरूपण एवं विवेचन किया गया है तथा कला और काव्य के स्वरूप को इनके आलोक में निर्दशित करने का प्रयत्न किया गया है। सत्य अवगति का लक्ष्य है, वह ज्ञानात्मक होता है। अपने आप में वह उदासीन है। श्रेय और सौन्दर्य में उसका अन्वय किया जा सकता है। कला और काव्य केवल कल्पना नहीं हैं, वे सत्य के आधार पर आदर्श की रचना हैं। सत्य के अनुसंधान में भी समात्मभाव का आधार रहता है। श्रेय में वह अधिक उज्ज्वल हो जाता है। आत्मदान शिवं का मूल स्वरूप है। सत्य ग्रहणात्मक है, श्रेय रचनात्मक है। सामाजिक दृष्टि से परिवार और समाज का सृजन शिव का सजीव रूप है। स्रष्टाओं का सृजन शिवं का सर्वोत्तम रूप है। पार्वती महाकाव्य में इसी रूप में शिवं का समाहार किया गया है तथा सत्यं शिवं सुन्दरम् में इसकी सैद्धान्तिक स्थापना की गई है। सत्य रचनात्मक नहीं ग्रहणात्मक है, वह अवगति का विषय है। शिवं रचनात्मक है, वह आन्तरिक और सामाजिक तत्व की रचना है। कला और सौन्दर्य में रूप की रचना होती है। काव्य सार्थक शब्द की कला है। शब्द उसका रूप है। अर्थ उसका तत्व है। तत्व और रूप का समन्वय उत्तम काव्य की रचना करता है।

आत्मदान में चरितार्थ होने के कारण शिवं तो स्वरूप से ही आत्मिक है। इसलिए शिव आत्मा के पर्याय माने गए हैं। किन्तु सौन्दर्य का आधार भी समात्मभाव है। प्राकृतिक सौन्दर्य का आस्वादन भी अकेले नहीं होता। हम दूसरों के सहयोग से उसकी सराहना करते हैं। कलाकार और कवि के अन्तर में भी समात्मभाव का सूत्र रहता है। समाज के साथ समात्मभाव का सूत्र भी उसके मन में रहता है। सौन्दर्य सहयोग और साझेदारी का आमन्त्रण है। सौन्दर्य के सन्दर्भ में हम दूसरों को अपने अनुभव में भाग लेने के लिए आमंत्रित करते हैं। जब हम दूसरे के अनुभव में भाग लेते हैं, तो शिवं का स्फुरण होता है। श्रेय में समाहित होकर सत्य मंगलमय बन जाता है। सुन्दरम् में समाहित होकर सत्य और शिवं एक पूर्णतर सत्य की रचना करते हैं, जो संस्कृति में साकार होता है। संस्कृति सत्यं शिवं सुन्दरम् की त्रिवेणी है। सामाजिक समात्मभाव की भूमिका में भाव का अतिशय सौन्दर्य के साथ समन्वित होकर संस्कृति को जन्म देता है। भाव की विपुलता संस्कृति का लक्षण है। सौन्दर्य की परिभाषा रूप के अतिशय के द्वारा की जा सकती है। काव्य तथा अन्य कलाओं में भी रूप के अतिशय के साथ भाव का समन्वय होता है। किन्तु संस्कृति भाव प्रधान है, कला रूप प्रधान है। दोनों ही रचनात्मक हैं।

सौन्दर्य कला और काव्य का रूप है। रस काव्य का तत्व है। रसमीमांसा नामक ग्रन्थ में काव्य के इसी तत्व का विवेचन किया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस को काव्य की आत्मा माना गया है

तथा उसका बहुत विवेचन किया गया है। भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक रस सिद्धान्त के विकास का एक लम्बा इतिहास है। आधुनिक युग में परम्परावादी आलोचकों ने रस वाद का समर्थन किया है। आधुनिक आलोचक नई कविता के मूल्यांकन के लिए रस सिद्धान्त को उपयुक्त नहीं मानते। भारती-नन्दन ने **'अभिनव रस मीमांसा'** में रस का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जो प्राचीन रस सिद्धान्त से बहुत कुछ भिन्न है तथा नई कविता के मूल्यांकन में भी अधिक उपयुक्त हो सकता है। रस का यह नया दृष्टिकोण प्राचीन रस-सिद्धान्त से मूलतः और सर्वथा भिन्न है।

भारतीनन्दन ने इस नये रस सिद्धान्त में सांस्कृतिक रस की धारणा प्रस्तुत की है। उन्होंने यह निर्देश किया है कि काव्यशास्त्र का रस-सिद्धान्त उपनिषदों के आध्यात्मिक रस तथा जीवन के लौकिक रस का ऐसा संकर होता है, जिसमें न तो इन दोनों का समुचित समन्वय हो सका और न काव्य के विशेष रस का निरूपण हो सका। उपनिषदों का आध्यात्मिक रस आत्मा का निर्विकल्प रस है जो लौकिक निमित्तों और विषयों से परे है। यह आत्मा के स्वरूप का रस है। जीवन के लौकिक सम्बन्धों और निमित्तों में इस रस का अन्वय सम्भव है, किन्तु इस दिशा में आध्यात्मिक चिन्तन का विकास नहीं हुआ। कृष्णोपासना में ही इस विकास के कुछ संकेत मिलते हैं। उसकी दिशा भी ऊर्ध्वमुखी है। लौकिक निमित्तों और सम्बन्धों को आध्यात्मिक रस का माध्यम बनाया गया है, लौकिक रूपों में आध्यात्मिक रस का अन्वय नहीं किया गया है।

किन्तु काव्यशास्त्र की रसमीमांसा में कृष्णोपासना का कोई प्रभाव नहीं है। रस सिद्धान्त का आध्यात्मिक स्रोत उपनिषदों के 'रसो वै सः' के आध्यात्मिक सूत्र से ही बंधा रहा। दूसरी ओर भरत के आदि रससूत्र का मनोवैज्ञानिक आधार उसकी भूमिका बना रहा। उपनिषदों का रससूत्र निर्विकल्प रूप में आध्यात्मिक है तथा भरत का रससूत्र प्रत्यक्षतः लौकिक एवं मनोवैज्ञानिक है। रससिद्धान्त इन दो सूत्रों के आकाश और धरती के बीच एक अनिश्चित अन्तरिक्ष में घूमता रहा। एक ओर वह लौकिक भावों की धरती से बंधा रहा, किन्तु दूसरी ओर वह आध्यात्मिक रस के आकाश को छूने के प्रयत्न करता रहा। उसका यह प्रयत्न कृष्णोपासना से भी अधिक ऊर्ध्वमुखी रहा। रस सिद्धान्त के आचार्य अद्वैत वेदान्त से प्रभावित रहे। अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद और साधारणीकरण में इस रस सिद्धान्त की परिणति हुई। विद्वानों ने इस परिणति को आध्यात्मिक और लौकिक रस का संगत समन्वय माना, यद्यपि वह वस्तुतः इतना संगत नहीं है। रस-सिद्धान्त में काव्य की रसानुभूति को लौकिक निमित्तों से ऊपर उठाकर निर्विकल्प रूप तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। साधारणीकरण को इस उन्नयन का सूत्र बनाया गया। आधुनिक आचार्य भी साधारणीकरण को रस-सिद्धान्त की चिन्तामणि मानते हैं। साधारणीकरण एक प्रकार से अनुभूति का सामान्यीकरण है, किन्तु यह काव्य के रस की ऐसी संगत व्याख्या नहीं करता, जैसा कि समझा जाता है। साधारणीकरण के बारे में यह विवाद चलता रहा है कि वह आश्रय, आलम्बन, स्थायीभाव आदि में किसका होता है? यह समस्या जीवन के रस के आश्रय और आलम्बन से सम्बद्ध रहने के कारण उत्पन्न होती है। साधारणीकरण इनको विशेष से सामान्य बनाता है तथा काव्य में घटित जीवन के रस को सर्वग्राह्य बनाता है। किन्तु साधारणीकृत रस के निमित्त और स्थायीभाव लौकिक ही बने रहते हैं, केवल वे विशेष के स्थान पर सामान्य हो जाते हैं। इस सामान्यीकरण में लौकिक रस की आध्यात्मिक रस के साथ संगति किस प्रकार होती है, इसकी स्पष्ट व्याख्या साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं करता।

किन्तु दूसरी ओर रस सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक स्थायी भावों का अनुरोध बना रहा। इन स्थायी भावों के साधारणीकृत रूप को ही रस माना गया। अतः रस सिद्धान्त के प्राकृतिक आधार और उसकी आध्यात्मिक आकांक्षा में विषमता बनी रही। साधारणीकरण इनकी संगत का सूत्र न बन सका, वरन् उसने प्राकृतिक स्थायी भावों का साधारणीकरण करके अगम्यागमन जैसे नैतिक दोषों की आशंका उत्पन्न कर दी।

भारतीनन्दन ने अपनी अभिनवरस मीमांसा में प्राचीन रस सिद्धान्त की मूल मान्यताओं को अस्वीकृत करके सांस्कृतिक रस के रूप में काव्य के रस की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने भरत के रससूत्र के स्थायी भावों और नवरसों की धारणा को ही मूलतः खण्डित किया है। रस का मूल मर्म यह है कि व्यक्ति रसानुभूत का आश्रय प्रतीत होता है। किन्तु यह प्राकृतिक रस के सम्बन्ध में ही संगत है। रस के स्थायीभाव व्यक्तिगत मनोभाव हैं। व्यक्ति ही उनका अधिष्ठान है। व्यक्तिनिष्ठ प्राकृतिक रसों का साधारणीकरण कदाचित् सम्भव है, क्योंकि अन्ततः व्यक्ति ही उनका अधिष्ठान बना रहता है। काव्यों में भी स्थायीभाव ग्रहण किये गये हैं और उनके आधार पर ही साधारणीकरण की व्याख्या करने के प्रयत्न किये गये हैं। वस्तुतः शास्त्र और काव्य दोनों में स्थायीभावों की सीमा में रस प्राकृतिक और व्यक्तिगत ही बना रहता है। प्राकृतिक रस की सीमा में रस का यह दृष्टिकोण बहुत कुछ समीचीन है, किन्तु इस सीमा में आध्यात्मिक रस के साथ उसकी संगति नहीं हो सकती।

अधिक गहराई में जाने पर आध्यात्मिक रस ही सभी रसों का आधार है। प्राकृतिक रस में यह आधार प्रत्यक्ष नहीं रहता। प्रत्यक्ष में प्राकृतिक रस व्यक्तिगत हैं। वे व्यक्तियों के ऐसे पारस्परिक विस्तार में सम्भव होते हैं, जिसमें व्यक्तियों के अहंकार विगलित होकर उदार आत्मीयभाव से एक दूसरे का आलिंगन करते हैं। अहंकारों के इसी विगलन और आत्मीय आलिंगन को भारतीनन्दन ने समात्मभाव की संज्ञा दी है। वे इसी समात्मभाव को मानवीय जीवन, संस्कृति, कला, काव्य आदि का आधार मानते हैं।

उनके अनुसार समात्मभाव ही काव्यगत रस का आधार है। काव्यशास्त्र में जीवन और काव्य के रसों की स्थिति भिन्न दिखाई देती है। जिन स्थायीभावों को रस का आधार माना गया है, वे प्राकृतिक और व्यक्तिगत मनोभाव हैं। काव्यों में भी प्रायः इसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है। इसलिए काव्यशास्त्र में दूसरों के द्वारा रसास्वादन की समस्या उत्पन्न हुई। आश्रय के रस का आस्वादन दर्शक या पाठक कैसे करता है? अनेक प्रकार से इसकी व्याख्या की गई। साधारणीकरण के द्वारा उसे सामान्य बनाया गया, फिर भी 'रसो वै सः' के साथ उसकी समुचित संगति न हो सकी।

भारतीनन्दन ने समात्मभाव के आधार पर रस की एक मूलतः भिन्न धारणा प्रस्तुत की है। उन्होंने भरत के रससूत्र का खण्डन किया। स्थायी भावों और नौ रस की धारणा को अस्वीकृत किया है। रस की समस्या को उन्होंने तीन प्रकार के रसों की कल्पना करके सुलझाया है। प्राकृतिक मनोभावों के आधार में सम्पन्न होने वाले रस प्राकृतिक और व्यक्तिगत हैं। श्रृंगार, वीर, करुण, भयानक, वीभत्स आदि रसों का ऐसा ही रूप है। वीभत्स, भयानक आदि के स्थायीभाव सुखमय नहीं हैं। वे कैसे रस के आधार बनते हैं, यह समझना कठिन है। काव्यों में वे इतने कम क्यों मिलते हैं। यह प्राकृतिक रस विषयाधीन हैं। इसके विपरीत आध्यात्मिक रस शुद्ध निर्विषय रस है, उसे निर्वैयक्तिक भी कहा जा सकता है। साधारणी-

करण में निर्वैयक्तिक बनाकर ही प्राकृतिक स्थायी भावों की आध्यात्मिक रस से संगति की गई है।

भारतीनन्दन ने सांस्कृतिक रस की कल्पना करके जीवन और काव्य के रस की समानता स्थापित की है। सांस्कृतिक रस प्राकृतिक रस की भांति व्यक्तिगत और स्वार्थमय नहीं है दूसरी ओर वह आध्यात्मिक रस की भांति विषयातीत और निर्वैयक्तिक भी नहीं है। वह दो या अधिक व्यक्तियों का पारस्परिक रसानुभव है जो विषयों के निमित्तों से ही पारस्परिक सम्भावन की स्थिति में सम्पन्न होता है। जीवन और काव्य दोनों में इसकी समान स्थिति रहती है। जीवन में यह तत्वपूर्ण अधिक होता है। काव्य में यह रूपात्मक व्यंजना के अतिशय से अलंकृत हो जाता है। वैसे जीवन में भी समात्मभाव का रस कुछ रूप का अतिशय उत्पन्न कर देता है। सांस्कृतिक रस के आधार वे ही स्थायी भाव हो सकते हैं, जो समात्मभाव से पूर्ण हों। प्रेम, करुण और वात्सल्य इसके उदाहरण हैं। सामान्यतः भय आदि इसके आधार नहीं हो सकते जैसा श्रृंगार और वीर काव्यों में प्रायः मिलता है, वह भी सांस्कृतिक रस नहीं है। श्रृंगार तो बहुत प्राकृतिक है। सांस्कृतिक श्रृंगार दुर्लभ है। इसीलिए रामचरितमानस में वह बहुत कम है।

भारतीनन्दन के मत में आश्रय और पाठक दोनों के उदार समात्मभाव के अनुकूल भाव ही रस बन सकता है। सांस्कृतिक श्रृंगार पवित्र और मर्यादित होगा, वह बहुत दुर्लभ है। वह स्वार्थमय होगा। उसमें अगम्यागमन की आशंका उत्पन्न न होगी। श्रृंगार की अपेक्षा उसमें प्रेम अधिक होगा। करुण रस में समात्मभाव का बीज स्वाभाविक रूप से रहता है। समात्मभाव से युक्त वीर रस भी महाप्राण व्यंजनों की परुषध्वनि तथा शस्त्रों की झंकार की अपेक्षा परार्थ ओज से अधिक परिपूर्ण होगा। सांस्कृतिक हास्य रस भी उपहासपूर्ण न होगा, वरन् पारस्परिक विनोद के रूप में होगा। भयानक, वीभत्स आदि आश्रय में रस उत्पन्न नहीं कर सकते। वीर पुरुष अथवा कवि परार्थ समात्मभाव के द्वारा उन्हें रस का निमित्त बना सकता है। शान्त और भक्ति रस आध्यात्मिक रस के अधिक निकट होंगे।

इस प्रकार स्थायीभाव की स्थिति, स्थायी भावों की संख्या, रसों के स्वरूप, रसों के नाम आदि सभी के सन्दर्भ में भारतीनन्दन की रस विषयक धारणा काव्यशास्त्र के सिद्धान्त से पूर्णतः भिन्न है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में भी उनका मत विपरीत है। सामान्यतया बुद्धि का लक्षण है, वह रस के अनुकूल नहीं है। आत्मा भी अद्वितीय है। अतः वह बौद्धिक सामान्य से भिन्न है। अद्वितीयता के कारण वह विशेष के अधिक निकट है, यह विशेषता अनुभव की अद्वितीयता है, सत्ता की व्यक्तिमत्ता नहीं। सांस्कृतिक रस समात्मभाव के कारण अद्वितीय और विशेष होता है। किन्तु वह व्यक्तिनिष्ठ और स्वार्थमय नहीं होता। अहंकारों के विगलन की उदार आर्द्रता में वह एकाधिक व्यक्तियों के अन्तःकरण में तरंगित होता है। प्राकृतिक रस भी विशेष होता है, क्योंकि वह व्यक्तिनिष्ठ होता है। किन्तु उसमें समानता सम्भव होने के कारण साधारणीकरण हो सकता है, यद्यपि उस साधारणीकरण के द्वारा भी वह व्यक्ति का ही अनुभव बनेगा। सांस्कृतिक रस व्यक्तिगत न होकर पारस्परिक होता है। व्यक्तिनिष्ठता के अर्थ में नहीं, किन्तु अद्वितीयता के अर्थ में वह विशेष होता है। समात्मभाव के विस्तार के रूप में उसका साधारणीकरण भी सम्भव है। किन्तु वह मूल आश्रय का साधारणीकरण नहीं और न प्राकृतिक स्थायीभाव का साधारणीकरण है, वह मौलिक समात्मभाव का विस्तार है; जो आश्रय के साथ तादात्म्य के द्वारा नहीं, वरन् उसके प्रति सम्भावना के द्वारा सम्भव होता है।

भारतीनन्दन की इस रस धारणा में समात्मभाव से युक्त करुणा, प्रेम, वात्सल्य, ओज, शान्ति और

भक्ति के भाव ही रस के आश्रय बन सकेंगे । सम्भावन से युक्त इनका रूप ही सांस्कृतिक रस की संज्ञा का अधिकारी होगा । रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि समात्मभाव के द्वारा रस के आधार बन सकते हैं । उनके मत में सांस्कृतिक श्रृंगार का वर्णन कठिन है, जीवन श्रृंगार श्रेष्ठ सांस्कृतिक रस हो सकता है, किन्तु वह काव्य में दुर्लभ होगा, क्योंकि उसके प्राकृतिक आधार की व्यक्तिमत्ता काव्य के सामाजिक समात्मभाव के अनुकूल नहीं हैं । अन्य सभी भाव जीवन और काव्य दोनों में समान रूप से सांस्कृतिक रस के आधार बन सकते हैं । रस का यह नवीन सिद्धान्त आलोचना के नवीन दृष्टिकोण का आधार बन सकता है ।

'काव्य का स्वरूप' नामक ग्रन्थ में काव्य के अन्तरंग आधारों एवं स्वरूपगत लक्षणों का विवेचन करने वाले कुछ निबन्धों का संग्रह है । सबसे पहले निबन्ध 'कवि और प्रजापति' में वृहदारण्यक उपनिषद के प्रजापति उपाख्यान का अवलम्ब लेकर काव्य की प्रेरणा के मूल आधार के रूप में समात्मभाव की प्रतिष्ठा की गई है । सत्यं शिवं सुन्दरम् से लेकर आगे के अनेक ग्रन्थों में समात्मभाव की स्थापना का अनुरोध रहा है । भारतीनन्दन के मत में समात्मभाव मनुष्य जीवन, संस्कृति, कला और काव्य सभी का मूल आधार है। समात्मभाव मनुष्यों के बीच आत्मिक साम्य का भाव है, जिसे अद्वैत भी कहा जा सकता है । वेदान्त दर्शन का तात्विक अद्वैत एक निर्पेक्ष सत्य के रूप में ब्रह्मा का प्रतिपादन करता है । सगुण और वैष्णव वेदान्त ब्रह्मा को सृष्टि सापेक्ष मानकर भक्ति और उपासना का आश्रय बनाते हैं । अध्यात्म के इन दोनों रूपों में ही मनुष्य जीवन के साथ संगति का स्पष्ट अनुरोध नहीं है । इस दृष्टि से ये दोनों ही जीवन के प्रति निर्पेक्ष कहे जा सकते हैं । इनकी तुलना में समात्मभाव का सिद्धान्त स्पष्ट रूप में जीवन सापेक्ष है । इसे व्यावहारिक वेदान्त अथवा मानवीय अध्यात्मवाद कहा जा सकता है । आध्यात्मिक अद्वैत इसका भी आधार है। किन्तु यह अद्वैत ब्रह्मा की निर्पेक्ष और तात्विक सत्ता में ही सीमित नहीं रहता । सगुण परमेश्वर की भक्ति और उपासना भी इसकी अन्तिम मर्यादा नहीं है । समात्मभाव अद्वैत के आत्मिक सत्य को मनुष्य जीवन में अन्वित करता है । वह जीवन और संस्कृति में अद्वैत के आधार और उसकी अभिव्यक्ति के सूत्र खोजता है । जीवन के निमित्तों और जगत के विषयों में आत्मिक अद्वैत को अन्वित कर वह एक ओर अध्यात्म को मूर्त्त बनाता है तथा दूसरी ओर जीवन के लौकिक निमित्तों को अध्यातम की विभूति से अलंकृत करता है ।

समात्मभाव जहां एक ओर निर्पेक्ष अद्वैत से भिन्न है, वहां दूसरी ओर वह कलात्मक कृतित्व के एकान्तवाद के विपरीत है । एक ब्रह्म और अकेले कलाकार के बीच यह मानवीय अद्वैत का प्रतिपादक है, जो मनुष्यों के पारस्परिक आत्मिकभाव में व्यक्त होता है तथा जीवन के लौकिक निमित्तों में साकार होता है । प्रजापति का उपाख्यान उपनिषदों में इस समात्मभाव का सूत्र है । कथानक इस प्रकार है कि सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति अकेले थे । अकेले में उन्हें आनन्द नहीं आया, तो उन्होंने इच्छा की कि मैं अनेक रूप हो जाऊं । इच्छा के द्वारा सृष्टि करके उन्होंने सृष्टि में प्रवेश किया और उसकी अनेकरूपता में रमण किया । प्रजापति के इस उपाख्यान को आधार बनाकर भारतीनन्दन ने समात्मभाव के सत्य की स्थापना की है तथा संस्कृति, कला और काव्य के सन्दर्भ में उसकी व्यापकता का अनुसंधान किया है ।

सामान्यत: कवि और कलाकारों को अपने व्यक्तिगत रूप में ही स्रष्टा माना गया है । कला और काव्य की कृतियां व्यक्तिगत कलाकारों की रचनायें मानी जाती हैं । औपचारिक रूप से यह सत्य है, किन्तु व्यक्तिमत्ता कलात्मक कृतित्व की वास्तविकता नहीं है । व्यक्तिमत्ता एक प्राकृतिक तथ्य है, जो अनेक रूप भौतिक सत्ता का आधार कहा जा सकता है । वह कला और काव्य की सांस्कृतिक रचनाओं का

औपचारिक अधिष्ठान भी कहा जा सकता है। किन्तु वह इनका वास्तविक आधार नहीं है। कला और काव्य की रचना व्यक्तित्व की सीमा से ऊपर उठकर आत्मिक अद्वैत के अन्तरिक्ष में होती है। व्यक्तित्व के एकान्त में केवल स्वार्थ का प्राकृतिक जीवन ही सम्भव होता है। संस्कृति का क्षेत्र इसके ऊपर है। जब मनुष्य व्यक्तिगत सीमा के स्वार्थ से ऊपर उठकर आत्मिक अद्वैत के पारस्परिक भाव से आन्दोलित होते हैं, तभी संस्कृति, कला और काव्य के अंकुर उदित होते हैं। सांस्कृतिक रचनायें आनन्द देती हैं। किन्तु वह आनन्द व्यक्तिगत और प्राकृतिक स्वार्थ नहीं है, वरन वह पारस्परिक आत्मिक उल्लास होता है। जीवन के प्रयोजन की दृष्टि से सांस्कृतिक रचनाओं के रूप उपयोगी नहीं होते, इस दृष्टि से संस्कृति, कला और काव्य को निरुपयोगी कहा जा सकता है। प्राकृतिक स्वार्थ की दृष्टि से निरुपयोगी रूपों की रचना का सौन्दर्य और आनन्द ही संस्कृति, कला और काव्य की यथार्थता है।

'काव्य के स्वरूप' में भी अन्य साहित्यिक ग्रंथों की भांति कला और काव्य के आधार के रूप में समात्मभाव की प्रतिष्ठा की गई है। समात्मभाव की मूल प्रेरणा से ही कला और काव्य की रचना होती है। अपने विभिन्न माध्यमों में इनके रूप साकार होते हैं। रूप की रचना ही कला है। रूप सौन्दर्य का पर्याय है। रूप के अतिशय में सौन्दर्य निखरता है। शुद्ध रूप की कला भी हो सकती है। वाद्य संगीत इसका उदाहरण है। नृत्य में भी इसके उदाहरण मिल सकते हैं। शब्द और गति के माध्यम रूप की दृष्टि से सूक्ष्म हैं। स्थूल तत्व के बिना भी उसमें सौन्दर्य का रूप साकार होता है। किन्तु सामान्यतः कलाओं में रूप और तत्व दोनों का समवाय होता है। चित्रकला, मूर्तिकला आदि में तत्व का स्पष्ट ग्रहण होता है। संगीत में भाषा के सार्थक शब्द तत्व के प्रतिनिधि होते हैं। फिर भी संगीत और नृत्य में रूप की ही प्रधानता रहती है। एक काव्य ऐसी कला है, जिसमें अर्थतत्व का अनुरोध अधिक स्पष्ट रहता है। काव्य सार्थक शब्द की कला है। भाषा के शब्दों के रूप में अर्थकाव्य का तात्विक आधार बनता है। भाषा के शब्दों में अर्थ ही प्रधान होता है। वे अर्थ के वाहक होते हैं। अर्थ शब्द का तत्व है। काव्य में व्यंजन के द्वारा तत्व प्रधान शब्दों में रूप के अतिशय की रचना होती है। रूप के अतिशय में ही काव्य का सौन्दर्य खिलता है।

सार्थक शब्द की कला होने के कारण काव्य में रूप और तत्व दोनों का समन्वय होता है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' की प्राचीन परिभाषा इसी समन्वय की द्योतक है। सहित भाव को ही साहित्य कहते हैं। शब्द और अर्थ का सहित भाव ही काव्य है। किन्तु यह सहित भाव केवल संयोग नहीं, समवाय है। यह शब्द और अर्थ का अभिन्न भाव है। काव्य में शब्द और अर्थ का ऐसा समवाय होता है कि वे एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। अलग करने पर काव्य का स्वरूप नष्ट हो जाता है, जैसा कि व्याख्याओं और आलोचनाओं में होता है। कालिदास ने शब्द और अर्थ के साहित्य को सम्पृक्ति की संज्ञा दी है और शिव-पार्वती के अभिन्नभाव को शब्दार्थ की सम्पृक्ति का उपमान माना है। शैवतन्त्र के अनुसार सम्भावन के द्वारा समात्मभाव और सहितभाव का मर्म समझा जा सकता है। जहां शब्द और अर्थ आत्मिक अद्वैतभाव से एक दूसरे का सम्भावन करते हैं, वहां काव्य का सौन्दर्य श्रेष्ठ रूप में निखरता है।

'साहित्य कला' नामक ग्रंथ में कला के रूप में साहित्य और काव्य का विशद् निरूपण किया गया है। कला के सामान्य स्वरूप को साथ जोड़कर काव्य का निरूपण काव्यशास्त्र में नहीं किया गया है। केवल काव्य को लेकर ही उसकी परिभाषा, उसके प्रयोजन और उसके अंगों का विवेचन किया गया है। किन्तु अनेक कलाओं में काव्य भी एक कला है। अतः कला के सामान्य स्वरूप की भूमिका में काव्य का विवेचन

आवश्यक है। वास्तव में कला स्वयं संस्कृति का एक अंग है। मनुष्य की सभी रचनायें संस्कृति की व्यापक परिधि में आती हैं। कला और काव्य भी इनके अन्तर्गत हैं। अतः संस्कृति और कला व्यापक भूमिका में काव्य के स्वरूप का निरूपण होनी चाहिए।

'साहित्य कला' नामक ग्रंथ में इसी व्यापक भूमिका में साहित्य एवं कला का निरूपण किया गया है। संस्कृति की एक सामान्य परिभाषा के अनुसार कला और काव्य दोनों को संस्कृति के अन्तर्गत समाहित किया गया है। कला की एक सामान्य परिभाषा करके उसके अनुसार काव्य की एक कला के रूप में स्थापना की गई है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र में काव्य के जो लक्षण दिये गये हैं, उनमें भी कला की परिभाषा को घटित करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार संस्कृति से लेकर कला, काव्य और काव्यशास्त्र तक परिभाषाओं के सूत्रों को एक क्रम में अनुबद्ध करने का उपक्रम किया गया है। इस दृष्टि से साहित्य कला साहित्यिक विवेचन की एक मौलिक और महत्वपूर्ण कृति है। आरम्भ के अध्यायों में संस्कृति की परिभाषा करके कला की संस्कृति के एक अंग के रूप में व्याख्या की गई है। कला की एक सामान्य परिभाषा करके उसके अनुसार अन्य कलाओं के साथ साहित्य एवं काव्य की व्याख्या की गई है। काव्यशास्त्र में दिए गये काव्य के विविध लक्षणों को कला एवं काव्य की परिभाषा में अन्वित किया गया है। काव्य और काव्यशास्त्र का यह ऐसा विलक्षण विवेचन है, जैसा कि इसके पूर्व हिन्दी आलोचना में कदाचित् ही किया गया हो।

सत्यं शिवं सुन्दरम् से लेकर साहित्य कला तक भारतीनन्दन ने अनेक स्थलों पर संस्कृति के रचनात्मक रूप का निदर्शन किया है। उनके अनुसार संस्कृति मनुष्य की रचना है। अपनी रचनात्मक शक्ति से मनुष्य जो कुछ भी निर्माण करता है, वह सब मनुष्य की 'कृति' है। इस 'कृति' में जो साम्यपूर्ण होती है, उसे संस्कृति कहना उचित है, जो वैषम्यपूर्ण होती है, उसे विकृति कहना होगा। संस्कृति की रचनात्मकता 'कृति' शब्द से ही विदित होती है। इसके विपरीत मनुष्य को जो निसर्ग से प्राप्त होता है, वह प्रकृति है। प्रकृति मनुष्य को प्राप्त होती है। मनुष्य उसकी रचना नहीं करता, वह मनुष्य के जन्म से पहले ही विद्यमान और वर्तमान रहती है। प्रकृति मनुष्य की रचना का आधार है। वह मनुष्य को रचना के लिये प्रेरणा और उपादान प्रदान करती है। इन उपादानों को रचना का 'तत्व' कह सकते हैं। मनुष्य तत्व की रचना कम करता है। तत्व ईश्वरीय कृतित्व का प्रमाण है। मनुष्य में ईश्वरीय शक्ति नहीं है। अतः वह प्रकृति से प्राप्त तत्वों के आधार पर रूपों की रचना करता है। मकान, मन्दिर, मूर्ति, चित्र, वस्त्र पात्र आदि मनुष्य की ऐसी ही रचनाएं हैं। इन रचनाओं में मनुष्य प्रकृति से प्राप्त उपादानों में रूप का अनुष्ठान करता है। मनुष्य की बहुत कुछ रचनायें ऐसी ही रूपात्मक रचनायें हैं। रूपों की रचनाओं में ही मनुष्य का कृतित्व चरितार्थ होता है। यह रचनायें ही संस्कृति की निधि हैं।

मनुष्य की कुछ रचनायें ऐसी भी होती हैं जिनमें मनुष्य एक अर्थ में तत्व की भी रचना करता है। यों कह सकते हैं कि इन रचनाओं में रूप में तत्व समवेत रहता है तथा समवेत तत्व में ही रूप का अनुष्ठान होता है। संगीत, नृत्य, काव्य आदि ऐसी ही रचनायें हैं। इनमें रूप के साथ-साथ मनुष्य तत्व की भी रचना करता है। स्वर संगीत का तत्व है, गति नृत्य का तत्व है और अर्थ काव्य तत्व है। किन्तु यह तत्व कलात्मक रूप से समवेत रहता है। रूप की रचना के साथ ही मनुष्य इन तत्वों की रचना भी करता है। समन्वित होने के कारण ये रचनायें श्रेष्ठ भी हैं।

संस्कृति और कला दोनों ही मनुष्य की रचनायें हैं संस्कृति सामाजिक रचना है । कला व्यक्तिगत रचना प्रतीत होती है । कला में समाज का संदर्भ रहता है, किन्तु संस्कृति में समाज की साक्षात् भूमिका रहती है । सामाजिक भूमिका में ही संस्कृति रचित और फलित होती है । संस्कृति के रूपों में प्राकृतिक तत्वों के निमित्त समवेत रहते हैं । इन निमित्तों में ही संस्कृति की रचना होती है । यह रचना इन निमित्तों में भाव और रूप के अनुष्ठान के द्वारा होती है । भाव आनन्द का स्रोत है, रूप सौंदर्य का आकार है । भाव, रूप और तत्व की त्रिवेणी ही संस्कृति बन जाती है।

रूप की रचना कला है । रचनात्मक शक्ति का नाम ही कला है । रूप की रचना ही मनुष्य का मुख्य कर्तृत्व है । संस्कृति की रचना में भी रूप का संगम होता है, किन्तु रूप के साथ-साथ भाव भी संस्कृति का महत्वपूर्ण तत्व है । सामाजिक समात्मभाव में जो आत्मिक आनन्द उदित होता है, वही संस्कृति का भाव है । उदार आत्मिक संकल्प इस भाव को घटित करता है । इस दृष्टि से यह भाव मनुष्य की सर्वोत्तम तात्विक रचना है । संस्कृति के भौतिक निमित्त अल्प होते हैं । अल्प रूपों में घटित होने के कारण संस्कृति लोक-समाज की सम्पत्ति बनती है । इन अल्प निमित्तों में अल्प रूप और अधिक भाव का समन्वय संस्कृति को जन्म देता है । संस्कृति में भाव की ही प्रधानता होती है । यद्यपि रूप भी उसका अनिवार्य अंग है ।

इसके विपरीत कला में रूप की प्रधानता होती है । रूप की रचना ही कला है । शुद्ध कला तो पूर्णतः रूपात्मक होती है । वाद्य संगीत इसका उदाहरण है । किन्तु अधिकांश कलाओं के व्यावहारिक रूप तत्व से समन्वित होते हैं । इनमें अनेक कलाओं के तत्व प्रकृति से प्राप्त होते हैं । मनुष्य इन तत्वों की रचना नहीं करता, वह केवल इनमें रूप का अनुष्ठान करता है । कला में रूप की रचना ही प्रधान होती है । कृतित्व की दृष्टि से कला भी संस्कृति का एक अंग है । किन्तु रूपात्मकता की दृष्टि से संस्कृति भी कलात्मक है । नृत्य, संगीत और काव्य की कलाओं में मनुष्य रूप के साथ तत्व की भी रचना करता है । राग संगीत का रूप है, स्वर उसका तत्व है । राग के साथ मनुष्य स्वर की भी सृष्टि करता है । इसी प्रकार शब्द काव्य का रूप है, अर्थ उसका तत्व है । शब्द और अर्थ दोनों की रचना मनुष्य ने की है । शब्दों को अर्थ भी मनुष्य ने ही प्रदान किये हैं । प्रचलित शब्दों को अभिव्यक्ति का नया रूप देकर कवि काव्य की रचना करता है। रूप की रचना की दृष्टि से काव्य भी एक कला है । व्यापक अर्थ में रचनात्मक होने के कारण काव्य भी कला की भांति संस्कृति का अंग है ।

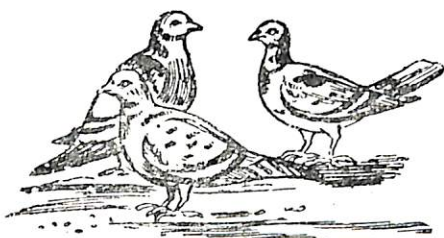
काव्य सार्थक शब्द की कला है । अर्थहीन शब्द से काव्य नहीं बनता । जिस प्रकार संस्कृति भाव प्रधान है और कला रूप प्रधान है, उसी प्रकार काव्य अर्थ प्रधान है । 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' की प्रथम परिभाषा काव्य की अन्तिम परिभाषा भी है । अर्थ भाषा का तत्व है । अर्थ की अधिक प्रधानता तो विज्ञान और दर्शन में होती है । इनमें रूप का महत्व नहीं होता । किन्तु काव्य में शब्द, रूप और अर्थ तत्व दोनों का समान महत्व होता है । समानता के साथ-साथ काव्य में शब्द और अर्थ का सहित भाव भी अभीष्ट होता है । इसीलिये परम्परा में काव्य और साहित्य एक दूसरे के पर्याय बन गये । यह सहित भाव एक दूसरे के सम्भावन से सिद्ध होता है । परस्पर सम्भावन से काव्य का अर्थ तत्व और शब्द रूप दोनों श्रेष्ठता की ओर बढ़ते हैं । इस सम्भावन के शिखर पर उत्तम काव्य की परिणति होती है ।

काव्यशास्त्रों में काव्य की अनेक परिभाषायें अनेक प्रकार से की गई हैं । विभिन्न परिभाषाओं में

काव्य के किसी पक्ष को रेखांकित किया गया है। यह सभी पक्ष रचनात्मक रूप की परिधि में आते हैं और काव्य को कलात्मक बनाते हैं। रूप ही काव्य का सौन्दर्य है। रूप के अतिशय में सौन्दर्य निखरता है। साहित्य कला में काव्य की रचना के विभिन्न कलात्मक पक्षों को 'रूप के अतिशय' की एक व्यापक धारणा में समाहित करके काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का समन्वय 'साहित्य कला' में प्रस्तुत किया गया है। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, और ध्वनि की व्याख्या रूप के अतिशय के अनुसार की गई है। रस की भी रूप से संगत खोजने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार 'साहित्य कला' एक ओर संस्कृति, कला, साहित्य और काव्य के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करती है तथा दूसरी ओर वह काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों के समन्वय का प्रतिपादन करती है।

अलंकार शब्द और अर्थ दोनों रूपों में 'रूप का अतिशय' ही प्रमाणित होता है। इस अतिशय के कारण ही अलंकार काव्य में सौन्दर्य के विधायक होते हैं। रीति भी 'रूप का अतिशय' है। वक्रोक्ति की वचन भंगिमा में तो 'रूप का अतिशय' स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। ध्वनि की व्यंजना भी 'रूप का अतिशय' है। अभिधा अभिव्यक्ति का न्यूनतम रूप है। लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि में 'रूप का अतिशय' उदित होता है। उपयोगिता में रूप की समृद्धि का कोई महत्व नहीं है। 'रूप का अतिशय' निरुपयोगी बनकर सौन्दर्य की समृद्धि करता है। औचित्य रूप की संगति का सूत्र है। रस काव्य का तत्व है। किन्तु रस अनिहित नहीं होता, वरन् ध्वनित होता है। 'ध्वनि 'रूप का अतिशय' है, इस प्रकार रस की भी 'रूप के अतिशय' के साथ संगति हो जाती है। रस भाव का अतिशय है, उसकी 'रूप के अतिशय' के द्वारा ही अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के सभी सिद्धान्तों की व्याख्या 'रूप के अतिशय' के अनुसार 'साहित्य कला' में की गई है। यह काव्यशास्त्र की व्याख्या का एक नया रूप है। काव्य के कई अंग और पक्ष होते हैं। भारतीनन्दन इन अंगों के समन्वय को श्रेष्ठ काव्य का विधायक मानते हैं। अलंकार, उपमा, शब्द, माधुर्य आदि किसी भी एक अंग की प्रमुखता काव्य के समग्र सौन्दर्य को खण्डित करती है। किसी अंग को महत्व देना काव्य के मूल्यांकन का एकांगी दृष्टिकोण है। किसी अंग की प्रमुखता में नहीं, वरन् अंगों के पारस्परिक सम्भावन में काव्य के सौन्दर्य का उत्कर्ष होता है। 'साहित्य कला' के अनुसार काव्य के अंगों का समन्वयपूर्ण पारस्परिक सम्भावन ही सौन्दर्य का सौन्दर्य है।



जीवन दर्शन के कवि : आचार्य भारतीनन्दन

—चित्रेश गोस्वामी

ऋचाओं ने कहा —"कविर्मनीषी ···।" एक ही साथ, ब्रह्मा को कवि और मनीषी कहा। बहुत ठीक कहा। एक स्तर पर पहुंचकर कवि और मनीषी, चिन्तक और स्वप्नदृष्टा एक हो जाते हैं। अन्ततः व्यक्ति के स्वप्न, उसकी कल्पना और अन्तः प्रेरणा ही तो चिन्तन का अग्निस्नान करके उसका 'सत्य' बनते हैं। तभी तो, नीति के परमाचार्य, वैज्ञानिकों और अनुसन्धित्सुओं के आदि पुरुष शुक्राचार्य का एक व्यक्तिवाचक नाम 'कवि' है, और वे ही ज्योतिष के क्षेत्र में सम्पूर्ण कलाओं के अधिष्ठाता हो जाते हैं। इस अद्भुत संयोग का प्रात्यक्ष्य आचार्य रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन में हुआ है। मैंने उन्हें सबसे पहले कवि के रूप में जाना। उनका 'पार्वती' महाकाव्य पढ़कर ऐसा लगा कि भारतीनन्दन ने शायद कालिदास को अपयश से उबारने के लिए "अभिनव कुमारसम्भवम्" का सृजन किया है। साथ ही, उसी में ऐसा भी लगा कि आचार्य तिवारी, भारतीनन्दन का चिन्तक और दार्शनिक आचार्य रूप, उनके कवि रूप पर बार-बार छा जाता है। कालक्रम से, जब उनकी दार्शनिक रचनाओं का परिचय प्राप्त हुआ तो लगा कि "कविर्मनीषी ·· ···" की ऋचा का दर्शन करने वाले ऋषि ने अपनी क्रान्त दृष्टि में कहीं भारतीनन्दन को भी देखा होगा।

भारतीनन्दन मूलतः कवि हैं। सबसे पहले १९३७ में उन्होंने 'परिणय' नामक काव्य का ही प्रकाशन किया किन्तु शीघ्र ही उनका दार्शनिक रूप भी सामने आया, जब १९४९ में शंकराचार्य पर लिखित उनके शोध प्रबन्ध का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ। उसके बाद १९५३ में 'भारतीय दर्शन का परिचय' और १९५८ में 'भारतीय दर्शन की भूमिका' प्रकाशित हुई। 'पार्वती' महाकाव्य इन दोनों के बीच, १९५५ में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार उनकी चेतना काव्य और दर्शन की समानान्तर रचना में उद्भासित होती रही। उपनिषदों पर उनका एक ग्रन्थ, अंग्रेजी में १९७८ में प्रकाशित हुआ है। गीता पर एक अन्य ग्रन्थ १९८१ तक प्रकाशित होने की सम्भावना है। उनके आरम्भिक दार्शनिक ग्रन्थ तो भारतीय दर्शन की व्याख्याओं के रूप में हैं, पर उपनिषद और गीता पर लिखे ग्रन्थों में कुछ मौलिक धारणाओं का समावेश है। यहां उनकी दर्शन-परक रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न कर रहा हूं।

'भारतीय दर्शन का परिचय' भारत की दर्शन-धारा का एक सामान्य परिचय देता है। विभिन्न भारतीय दर्शनों का संक्षिप्त परिचय देने वाले इस ग्रन्थ की एक बात उल्लेखनीय है कि इसमें विभिन्न दर्शनों के विकास का क्रम दिखाया गया है और भारतीय दर्शन के विभिन्न दृष्टिकोणों का संश्लिष्ट परिचय दिया गया है। एक अध्याय में भारतीय दर्शनों के विकास का विवरण है तो दूसरे अध्याय में भारतीय दर्शन की विशेषतायें बताई गई हैं। तीसरा अध्याय भारतीय दर्शन के सामान्य सिद्धान्त तत्वों का संश्लिष्ट निरूपण करता है। चौथे अध्याय में भारतीय और पश्चिमी दर्शन की तुलना की गई है।

पांचवें अध्याय में भारतीय दर्शन पर किए गए आक्षेपों का उत्तर है। छठा अध्याय भारतीय दर्शन के सन्देश की उद्घोषणा करता है और मुख्य रूप से उसकी आध्यात्मिकता और उसकी व्यावहारिक साधना को रेखांकित करता है। सातवें अध्याय में भारतीय दर्शन के भविष्य का निदर्शन है। इस प्रकार, इस ग्रन्थ की योजना भारतीय दर्शन के प्रचलित ग्रन्थों से भिन्न और नवीनता और मौलिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इस परिचय-लेख के शीर्षक में मैंने आचार्य रामानन्द तिवारी को जीवन-दर्शन का कवि कहा है। जनसामान्य की धारणा है कि दार्शनिक जीवन और संसार से हटकर, अज्ञान के चिन्तन में ही लीन रहते हैं, और वह इतनी बद्धमूल है कि संसार भर में दार्शनिकों का अटपटापन, जीवन की वास्तविकताओं से हटी उनकी चिन्तनदृष्टि मज़ाक और चुटकुलों का विषय बन गई है। भारतीनन्दन के मौलिक चिन्तन की विशेषता यही है कि उन्होंने भारतीय चिन्तन की व्यावहारिक और इहलोक से जुड़ी दृष्टि को उजागर किया है। अद्वैत के उद्घोषक आचार्य शंकर का दर्शन, उनकी दृष्टि में शुष्क तर्क विनोद नहीं है, बल्कि जगत को केवल माया और इसीलिए मिथ्या, न मानकर, परम सत्य ब्रह्म का ही स्वरूप, और इसीलिए सत्य मानने की चिन्तन-धारा का प्रतिपादन है।

'शंकराचार्य का आचार दर्शन' प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० की उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध है। मूलतः यह अंग्रेजी में लिखा गया था और अभी तक अप्रकाशित है, किन्तु इसका हिन्दी अनुवाद १६४६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। इस शोध-प्रबन्ध में वेदान्त का अध्ययन आचार की दृष्टि से किया गया है। मुख्य मन्तव्य यह है कि जगत को मिथ्या मानने की वेदान्तिक धारणा के सम्बन्ध में जन सामान्य में और विद्वानों में भी बड़ा भ्रम रहा हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जगत मिथ्या नहीं है। मोक्ष पर्यन्त उसका अस्तित्व रहता है। मोक्ष में भी जगत का अस्तित्व विलीन नहीं हो जाता, वरन जगत के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। जगत यद्यपि अपने आप में सत्य नहीं है, किन्तु उसका सत्य और मूल्य ब्रह्म पर आश्रित है। ब्रह्म से पृथक देखने पर वह असत्य हो जाता है। उसका अस्तित्व तब भी नहीं मिट जाता, परन्तु उसका स्वतंत्र अस्तित्व अपने आप में अर्थहीन है, ब्रह्म में अन्वित होकर ही वह अर्थवान बनता है। ब्रह्म ही परमार्थ है। इसी से ब्रह्म से अपृथक जगत सत्य और मूल्यवान है।

शंकराचार्य ने अपने भाष्य में 'अपृथक' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है। ब्रह्म से पृथक मानने पर जगत असत्य है किन्तु ब्रह्म से अपृथक मानने पर वह सत्य है। जगत के अस्तित्व और सत्य की इस धारणा का समर्थन, माया और सृष्टि के सम्बन्ध में प्रचलित मत से भिन्न मत की स्थापना करके किया गया है। वेदान्त को मायावाद से लांछित किया जाता है और कहा जाता है कि शंकराचार्य ने वेदान्त में मायावाद को आरूढ़ किया। उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग अत्यन्त विरल है, जहां है वहां भी जगत के मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं है। उदाहरणतः प्रश्न उपनिषद में माया का अर्थ व्यवहार की कुटिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद में माया परमेश्वर की शक्ति है। दोनों में ही मिथ्यात्व का आभास नहीं है। भारतीनन्दन ने संकेत किया है कि स्वयं शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में 'माया' शब्द का प्रयोग बहुत कम किया है। परमेश्वर की शक्ति के रूप में माया मिथ्या का पर्याय नहीं। वह परमेश्वर की रचना शक्ति है।

किन्तु, सृष्टि के सम्बन्ध में शंकराचार्य के भाष्यों में कुछ ऐसे वचन मिलते हैं, जो सृष्टिवाद के

महत्व को कम करते हैं। एक स्थान पर, शंकराचार्य ने सृष्टि को अर्थवाद कहा है। पर, अर्थवाद प्रमुख सिद्धान्त नहीं होता। कुछ स्थानों पर, उन्होंने आत्मा की एकता निर्दिशित करने के लिए ही ब्रह्मा को जगत का कारण कहा है। सृष्टि को अर्थवाद मानने पर, जगत के उत्पत्ति के प्रश्न को उतना महत्व देना उचित न होगा, जितना उत्तर वेदान्त में दिया गया है। ब्रह्मा सूत्र के आरम्भ में ही सृष्टिवाद की स्थापना से, वेदान्त की दिशा सृष्टिवाद की ओर हो गई है। उपनिषदों में ब्रह्मा के स्वरूप और उसकी साधना का महत्व अधिक है। यही वेदान्त का महत्वपूर्ण तत्व भी है। भारतीनन्दन ने इन्हीं तत्वों को रेखांकित करने का प्रयत्न किया है और वेदान्त के व्यवहार पक्ष का वर्णन किया है। उन्होंने ब्रह्मा-साधना के लिए आचार को महत्वपूर्ण बताया है। इसी दृष्टि से उन्होंने कर्म और भौतिक गुणों की उपयोगिता भी दिखाई है। सैद्धान्तिक कठिनाइयों के कारण, कर्म और आचार को ब्रह्मानुभव का साक्षात कारण तो नहीं माना जा सकता, किन्तु यह उसमें उपकारक अवश्य हैं। भारतीनन्दन की दृष्टि में, 'शंकराचार्य के आचार दर्शन' का यही निष्कर्ष है।

आचार्य तिवारी की यही जीवन-दृष्टि उनके सम्पूर्ण चिन्तन में व्याप्त है। "शंकराचार्य का आचार दर्शन" में भी यही दृष्टि है। किन्तु उन्हें लगा होगा कि बात अभी बनी नहीं। चिन्तन चलता रहा और वेदान्त व्यावहारिक एवं जीवन-परक बनता गया इस चिन्तन का परिणाम है, उनका अंग्रेजी ग्रंथ **"इंडियन फिलासफी आफ लाइफ"** यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं है, जीवन और संस्कृति की परम्पराओं में अभिप्रेत आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवरण है। एक प्रकार से, यह शंकराचार्य के आचार दर्शन के व्यावहारिक वेदान्त का ही विस्तार है। इसमें अध्यात्म के उस रूप का चित्रण किया गया है, जो जीवन और संस्कृति की परम्परा के विभिन्न रूपों में व्याप्त है। इसे व्यावहारिक अथवा जीवन वेदान्त कहा जा सकता है। वैदिक आनन्दवाद और उपनिषदों के अध्यात्मवाद का भारतीय संस्कृति पर इतना प्रभाव है कि वह अध्यात्म के सूत्र में पिरोई हुई पुष्पमाला बन गई है। इस अध्यात्म सूत्र के विच्छिन्न होते ही, भारतीय संस्कृति ही बिखर जायेगी, यह प्रखर सत्य है।

"इंडियन फिलासफी आफ लाइफ" डी० लिट की उपधि के लिए लिखा गया था, किन्तु इसकी रचना की प्रक्रिया में भारतीनन्दन की जीवन-परक दृष्टि और भी गहन हो गई, जिसका दर्शन "सत्यं शिवं सुन्दरम्" और **"हमारी जीवन्त संस्कृति"** जैसी बाद की प्रौढ़ रचनाओं में होता है। उनकी ये सभी रचनाएं किसी एक आधार ग्रन्थ की समीक्षा या व्याख्या नहीं हैं, उनके स्वतंत्र चिन्तन का परिणाम हैं। इसी से इनमें पाद-टिप्पणियां भी नहीं हैं। "इंडियन फिलासफी आफ लाइफ" हमारे सांस्कृतिक जीवन और सभ्यता, हमारी जीवन पद्धति के विभिन्न पहलुओं की दार्शनिक व्याख्या है। प्रतीक, पर्व, संस्कार, व्रत, तीर्थयात्रा, मेले, चार पुरुषार्थ, चार आश्रम, चार वर्ण तथा अन्य रीति रिवाज, संस्कृति के इन सभी रूपों में अन्तर्निहित सामान्य और विशेष सिद्धातों का निदर्शन इस ग्रन्थ में किया गया है।

"प्रतीक" संस्कृति का एक मुख्य अंग होता है। भारतीय संस्कृति में तो यह बहुत व्यापक और महत्वपूर्ण बन गया है। प्रकृति के उपकरण, व्यवहार की वस्तुएं, शिष्टाचार की क्रियायें, सभी तो प्रतीक बन सकते हैं। भारतीय संस्कृति में इनकी इतनी विपुलता है कि हमारा सारा जीवन ही प्रतीकमय बन गया है। कुछ प्रतीक काल्पनिक होते हैं। इनका रूप यथार्थ से ग्रहण नहीं किया जाता, वरन कल्पना से रचा जाता है। ऐसे प्रतीकों में भाव की कल्पना करके, फिर उसे रूप दिया जाता है। स्वस्तिक, श्रीयन्त्र

आदि ऐसे ही काल्पनिक प्रतीकों के उदाहरण हैं। देवताओं के रूप भी ऐसे ही काल्पनिक प्रतीक हैं, जहां भाव के अनुसार देवताओं के रूप की कल्पना की गई है।

यथार्थ या काल्पनिक, सभी प्रतीक अर्थ से युक्त होते हैं। यह अर्थ सामाजिक और सांस्कृतिक होता है। दर्शन की भाषा में इसे मूल्यात्मक अर्थ कह सकते हैं। सांस्कृतिक परिवेष में, यह अर्थ भी अतिशय बन जाता है। अर्थ के इस अतिशय से, यथार्थ प्रतीकों का यथार्थ रूप भी अतिशयपूर्ण हो जाता है। रोली, चावल, चन्दन, कलाव आदि के द्वारा अलंकरण से, इनके यथार्थ रूप में कुछ अतिशयता आ जाती है। भारतीय परम्परा में प्रतीकों का वर्णन ही एक विशाल ग्रन्थ में हो सकता है।

रेखीय प्रतीकों में मुख्य रूप से यंत्र और मंडल आते हैं। इनकी विविध शास्त्रीय व्याख्याओं का मात्र परिचय देने के लिए विशाल ग्रन्थों की रचना करनी पड़ेगी, वस्तुत: की भी गई है। किन्तु संकेत के लिए श्रीयंत्र और स्वस्तिक की चर्चा की जा सकती है। स्वस्तिक मंगल का प्रतीक है। "स्वस्ति" का अर्थ ही मंगल है। श्रीयन्त्र शिव और शक्ति के साम्य का सूचक है। ऊपर शीर्ष वाले त्रिकोण शिव के तथा नीचे शीर्ष वाले त्रिकोण शक्ति के द्योतक हैं। सामान्य लोग इनका तान्त्रिक अर्थ नहीं जानते, फिर भी लोक में इनका विपुल उपयोग होता है। स्वस्तिक की ऋजु की रेखायें सरलता की सूचक हैं। सरलता आत्मा का भाव है। वही मंगल का मन्त्र है। चारों दिशाओं में जाने वाली स्वस्तिक की रेखायें चतुर्दिक मंगल का संकेत करती हैं। रेखाओं की समानता साम्य को अंकित करती हैं, जो मंगल का व्यावहारिक सिद्धान्त है। श्रीयन्त्र के त्रिकोण शिव और शक्ति के सूचक हैं। त्रिकोण का संयोग शिव और शक्ति के साम्य का संकेत करता है, जो शैवतन्त्र के अनुसार सत्य और श्रेय का सिद्धान्त है। शिव अन्तर्मुखी और आनन्दमयी शक्ति है। शक्ति उस आनन्द की अभिव्यक्ति है। दोनों का साम्य सत्य का पूर्ण रूप है और श्रेय का सिद्ध मन्त्र है। तिलक और बिन्दी भी मूलत: शैव परम्परा से अनुगत हैं। ऊर्ध्व तिलक को "श्री" भी कहते हैं, वह शक्ति का वाचक है। उधर, बिन्दी, जो श्रीयंत्र केन्द्र में बीज रूप में, बिन्दु बन कर स्थित है, वह भी शिव का ही पर्याय है।

भारतीय परम्परा में रंग भी सांस्कृतिक रूपों के सूचक हैं। लाल रंग शक्ति परम्परा में अधिक मान्य है। सूर्य और अग्नि का तेज लाल होता है। रक्त ही तो जीवन की शक्ति है। उधर, हरा रंग प्रकृति में व्याप्त सृजनात्मक शक्ति का सूचक है। लोक परम्परा में हरे और लाल रंग बहुत मान्य हैं। लाल के साथ कलावा, लूगड़ा आदि में पीले रंग का प्रयोग होता है। लाल शक्ति का पीला शिव का रंग है। दोनों का संयोग उनके साम्य का सूचक है। सफेद रंग भी शिव का वाचक है, क्योंकि वे श्वेत वर्ण हैं। पीले या नारंगी रंग में शिव, शक्ति के कुछ अधिक निकट आ जाते हैं। इसी से गेरुआ रंग वैराग्य का वाचक है। ऋषि-मुनि और साधु महात्माओं के द्वारा उसका उपयोग होता है। नीले और काले रंग भारतीय संस्कृति में अशुभ माने गए हैं। मांगलिक प्रसंगों में इनका उपयोग वर्जित है।

वस्तुओं के प्रतीक बहुत हैं। सूर्य, चन्द्र, घट, पुष्प, जल अग्नि आदि व्यवहार की सभी यथार्थ वस्तुयें हमारी संस्कृति में प्रतीक हैं। करबद्ध प्रणाम, चरण-वन्दना, परिक्रमा आदि क्रियात्मक प्रतीक हैं। शिव, विष्णु, गणेश आदि देवताओं के अद्भुत रूप भी गम्भीर अर्थों के द्योतक हैं। देवताओं के अंग, वस्त्र, अस्त्र, उपकरण, वाहन आदि भी, अपने विशेष अर्थों से देव प्रतीकों को सम्पन्न बनाते हैं। भारतीय उपासना इन प्रतीकों के माध्यम से ही आध्यात्मिक भावों की ही आराधना है।

पर्व भारतीय संस्कृति के प्राण हैं, जिनमें आत्मा का उल्लास आनन्द में आन्दोलित होता है। भारतीय संस्कृति में पर्वों की एक दीर्घ परम्परा है। यों तो, प्रतिदिन ही कोई पर्व होता है। किंतु, कुछ पर्वों में आनन्द अधिक उत्कर्ष और विस्तार पाता है। वे सम्पूर्ण समाज को आनन्द से विभोर कर देते हैं और जीवन को नई शक्ति देते हैं। यह पर्व अनेक प्रकार के हैं और अपनी विविधता में सुन्दर हैं। कुछ पर्व रक्षाबंधन की भांति भावमय हैं, कुछ दीपावली की भांति शान्तिमय हैं और कुछ होली की भांति उल्लासमय हैं।

पर्व का अर्थ विशेष काल है। काल एक प्रवाह है। वह जीवन की गति भी है और अन्त भी। पर्वों के भाव उल्लास में काल की गति मन्द हो जाती है तथा आत्मिक भाव से उर्ध्वमुखी हो जाती है। पर्व संस्कृति की कालजयी योजना है, जीवन के अमृत उत्सव हैं। विपुल पर्वों से सम्पन्न भारतीय संस्कृति जीवन में अमरत्व की ही साधना है। सौन्दर्य और आनन्द ही तो अमृत हैं। आत्मिक होने के कारण ही वे मधुर और मृत्युंजय हैं।

संस्कार तो शब्दार्थ में ही संस्कृति के वाचक हैं। इनका प्रयोजन मनुष्य के प्राकृतिक पशुत्व में मानवता और आध्यात्मिकता का समन्वय करना है। हमारे संस्कार गर्भकाल से ही आरम्भ हो जाते हैं। जन्म से जीवन का प्रत्यक्ष आरम्भ होता है, अतः जातकर्म जन्म के सम्मान का प्रत्यक्ष उत्सव उपनयन से बालक के जीवन में विद्या का अनुष्ठान होता है। भारतीय विवाह अत्यन्त जटिल और सम्पन्न रूप नर-नारी के प्राकृतिक सम्बन्ध को संस्कृति और आध्यात्म के उच्च शिखर तक पहुंचाता है। अन्त्येष्टि का संस्कार मरण की भीषणता को सह्य बनाता है, विधि और उपचारों के द्वारा मृत्यु के शोक को हल्का करता चलता है। अन्त्येष्टि संस्कार एक ओर उसके उत्तरजीवी आत्मीयों के जीवन रस का रक्षण भी है।

जहां प्रतीक, पर्व और संस्कार जीवन के भोग को सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावों से परिष्कृत करते हैं, वहां व्रत इस परिष्कार में त्याग का अनुयोग करते है। व्रतों में, भारतीय संस्कृति ईशावास्य उपनिषद् के 'तेन त्येक्तेन मुंजीथाः' को चरितार्थ करती है। व्रत विभिन्न प्रकार होते हैं और उनमें विभिन्न प्रकार का त्याग वांछित होता है। भोजन मनुष्य के भोगों में मुख्य हैं। इसलिए भोजन का त्याग व्रत का मुख्य रूप बन गया है। यों, उपवास का वास्तविक अर्थ दिव्य भाव की आराधना है, किन्तु व्यवहार में उसका अर्थ भोजन का त्याग बन गया है। पर्वों की भांति व्रत भी वर्ष में अनेक होते हैं। व्रत और उपवास पर्वों से भी जुड़े हैं और संस्कारों से भी। सावित्रीव्रत, नवरात्र, शिवरात्रि, जन्माष्टमी, करवाचौथ आदि के पार्विक वर्ष में एक बार होते हैं। प्रदोष, एकादशी, पूर्णमासी, सोमवार, शुक्रवार, बृहस्पतिवार, मंगलवार आदि के व्रत वर्ष में अनेक बार होते हैं। व्रतों की यह विपुलता भारतीय जीवन में त्याग के महत्व को रेखांकित करती है तथा पर्वों और संस्कारों के आनन्द-उल्लास को परिष्कृत एवं मर्यादित बनाती है।

भारतीय संस्कृति ने घर और बाहर का सामंजस्य रखा है। जहां पर्व और संस्कार मूलतः घर और परिवार से जुड़े हैं। वहां मेले और तीर्थ यात्राएं व्यक्ति को धर्म से ही नहीं, प्रकृति से भी जोड़ते हैं। या, यों कहें कि जहां पर्व-संस्कार हमारे सांस्कृतिक जीवन का व्यक्तिगत और स्थावर रूप हैं, वहां मेले और तीर्थ उसके सामूहिक और गतिशील अंग हैं। साथ ही, ये दोनों सांस्कृतिक जीवन का आर्थिक पक्ष भी उजागर करते हैं, क्योंकि व्यवसाय इनके साथ सहज ही जुड़ जाता है। परन्तु यहां अर्थ भी धर्म से समन्वित और मर्यादित होकर, गरिमामय हो जाता है।

"इंडियन फिलासफी आफ लाइफ" में भारतीय संस्कृति के अनूठे स्वरूप, वर्ण और आश्रम व्यवस्था का भी नए ढंग से निदर्शन किया गया है। आश्रम-व्यवस्था में जीवन का विभाजन प्रयोजन की दृष्टि से किया गया है। ब्रह्मचर्य को तप-साधना और विद्योपार्जन का समय माना है। गृहस्थ-आश्रम भोग और लौकिक-निर्वाह का समय है। वानप्रस्थ और संन्यास में त्याग के द्वारा जीवन की परिणति को रेखांकित किया गया है। भोग का अनुराग तो स्वाभाविक है। किन्तु भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास की स्थापना द्वारा त्याग से मर्यादित गृहस्थ जीवन को नई प्रतिष्ठा दी गई है।

आश्रम के ही अनुरूप, चार वर्णों की भी व्यवस्था है। आश्रम आयु का विभाजन है तो वर्ण समाज का विभाजन है। वर्णों में, ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता तप, त्याग, विद्या, संस्कृति और अध्यात्म की श्रेष्ठता की द्योतक है। गुरु और पुरोहित के रूप में इनको समाज में बनाये रखना, ब्राह्मण का ही उत्तरदायित्व था। क्षत्रिण वर्ण में त्याग और भोग का सामंजस्य अभीष्ट था। प्रजा की रक्षा और मूल्यों की रक्षा में प्राणों की बाजी लगाना, उनके त्याग का प्रमाण था। राज्य, शासन और ऐश्वर्य भोग के सूचक थे। वैश्य वर्ण की व्यवस्था में अर्थ और भोग प्रधान हो गया। शूद्र श्रम के साधक थे। किन्तु, बाद में स्वभाव के प्रभाव से अर्थ और ऐश्वर्य का अधिक महत्व हो गया। उद्योगों के विकास के साथ अर्थ ही शक्ति और ऐश्वर्य का साधन बन गया और धर्म, ज्ञान तथा श्रम अर्थ के दास बन गये। अतः वर्ण-व्यवस्था की अभीष्ट सांस्कृतिक योजना असफल हो गई। यदि वर्ण व्यवस्था में आश्रम व्यवस्था के अनुरूप त्याग और श्रम को अर्थ एवं ऐश्वर्य के साथ सन्तुलित रूप में समन्वित किया गया होता तो सांस्कृतिक उद्देश्य अक्षुण्ण रहता तथा यह योजना भारत के लिए मंगलकारी बनकर विश्व जीवन का दीपक बन जाती।

भारतीनन्दन क्योंकि मूलतः दार्शनिक हैं और शंकर के अद्वैत के साधक हैं, इसलिए उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी अद्वैत की ही साधना से अनुप्राणित रहा है। उनका एक और ग्रन्थ, **"स्पिरिचुअल फाउंडेशन आफ लाइफ,"** इसी पक्ष को नए स्वरूप में उजागर करता है। इसमें जीवन के सभी मुख्य पक्षों के आध्यात्मिक आधारों का व्यवस्थित विवरण दिया गया है। आरम्भ में आत्मा के स्वरूप का निरूपण करके, फिर जन्म, संवेदना, स्वास्थ्य, आयु, काम, मातृत्व, व्यक्तित्व, सभ्यता, राजनीति, राष्ट्रीयता, शिक्षा, आचार, सौन्दर्य, कला, धर्म, संस्कृति, अश्रु, हास आदि जीवन के सभी मुख्य पक्षों के आध्यात्मिक आचार का निदर्शन किया गया है। उपनिषदों में वेदान्त में अध्यात्म का जीवन से कुछ सम्बन्ध सूत्र मिलता है, किन्तु आगे चलकर वेदान्त की परम्परा में यह सम्बन्ध-सूत्र विच्छिन्न हो गया और वेदान्त मुख्य रूप से लोकातीत ब्रह्म का प्रतिपादन बन गया। स्वतन्त्र रूप से जीवन के आध्यात्मिक आधारों का उन्मीलन इस ग्रन्थ में किया है।

आत्मा जीवन का अनिर्वचनीय आधार है। उसका वर्णन और विवेचन नहीं हो सकता, क्योंकि सारे वर्णन और विवेचन बौद्धिक और लौकिक प्रयत्नों के द्वारा ही हो सकते हैं। यह प्रयत्न अनेक और भेद-मूलक हैं। बुद्धि और भाषा के व्यक्त रूप भी भेदमूलक होते हैं। यह भिन्नता ही जगत का रूप है। भौतिक जगत की जड़ इकाइयां अपने में सीमित रहती हैं। एक इकाई का अन्य इकाइयों के साथ सम्बन्ध सचेतन अथवा इच्छापूर्वक नहीं होता, वरन् नियति के अनिवार्य नियमों के अनुसार होता है। वृक्ष, पशु आदि जीव भी शरीर से अपनी इकाई और अपने स्वार्थ में लीन रहते हैं। पशु-पक्षियों में भी कुछ पारस्परिक भाव अंकुरित होता है, किन्तु मनुष्यों में कुछ और अधिक विकसित होता है। पारस्परिक भाव में स्वार्थ की

सीमाएं टूट जाती हैं और एक व्यक्ति दूसरे के प्रति रुचि प्रकट करता है तथा उस रुचि में आनन्द का अनुभव करता है, दूसरे के साथ तादात्म्य मानकर उसे आनन्द देता है। तादात्म्य का यह आनन्द भेद-मूलक भौतिक सत्ता से भिन्न है। आनन्द के इसी पारस्परिक और यथार्थ रूप में आत्मा का अस्तित्व खोजा जा सकता है। प्राकृतिक इकाइयां अपने कठोर स्वार्थ में सीमित रहती हैं। शरीर के बन्धन के कारण ही, प्राकृतिक स्वार्थ का अनुरोध रहता है। यह जीवन में अलगाव का कारण है। वेदान्त में इसी को माया कहा गया है। किन्तु मनुष्य जीवन के जो उत्तम मूल्य हैं, वे इस अलगाव में सम्पादित नहीं हो सकते, वरन् वे इस अलगाव से छिन्न हो जाते हैं। जीवन में जो कुछ सुन्दर और मंगलमय है, उसका आधार आत्मिक अपनाव में है, जिसे तादात्म्य कह सकते हैं। वह तो भेदमूलक प्रकृति का लक्षण नहीं है, अतः इसका स्रोत प्रकृति से भिन्न किसी अलौकिक तत्व में खोजना होगा। तत्व आत्मा है। वर्धमान होने के कारण, इसे ही ब्रह्म कहते हैं। स्वरूप से यह आनन्दमय है। प्रकृति में सचेत आनन्द नहीं है। जीवन में भी प्रकृति का भेदमूलक प्रभाव आनन्द को खण्डित करता है। जो कुछ आनन्द सम्भव होता है, वह आत्मिक तादात्म्य के द्वारा ही सम्भव होता है। वेदान्त दर्शन में इसी तादात्म्य को अद्वैत का नाम दिया है।

इस प्रकार जीवन के आत्मिक आधार का प्रतिपादन इस ग्रन्थ का विषय है। जन्म से आरम्भ कर जीवन के श्रेष्ठ और विकसित रूपों का आत्मिक आधार इस ग्रन्थ में खोजा गया है। लेखक के मत में, आत्मिक अद्वैत का बीज जन्म में ही निहित हैं। गर्भ के पालन में प्रकृति की भूमि में आत्मिक अद्वैत का बीज अंकुरित होता है। माता अपने जीवन के रस से गर्भ का पोषण करती है, यह अद्वैत का निसर्ग और अचेतन रूप है, जो पशुओं में भी मिलता है। जन्म के वाद भी पशु-पक्षियों और मनुष्यों की मातायें समान रूप से शावकों एवं शिशुओं का पालन करती हैं, किन्तु शिशु-पालन में आत्मिक अद्वैत का व्यवहार सहज होते हुए भी, कुछ सचेतन हो जाता है।

मनुष्य जीवन और सभ्यता का विकास संवेदना, बुद्धि और भाव के विकास के द्वारा हुआ है। भाषा और शिक्षा इस विकास के विशेष मानवीय सूत्र हैं। पशुओं में बुद्धि भाषा और शिक्षा का इतना विकास नहीं हुआ है, जितना मनुष्यों में हुआ है। भाषा मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का सूत्र है। मनुष्य जीवन में उसका निरन्तर विकास होता रहा है। पशुओं के जीवन में कोई ऐसा विकास नहीं होता। बुद्धि, भाषा, ज्ञान आदि के इस विकास का प्राकृतिक आधार संवेदनाओं में है। अध्यात्मवाद के अनुसार, ऐन्द्रिक संवेद-नाओं की कुशलता भी आत्मिक अद्वैत से प्रेरित होती है। संवेदनाओं का आत्मिक आधार केन उपनिषद में प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि मनोविज्ञान संवेदनाओं को प्राकृतिक मानता है और वे इन्द्रियों के द्वारा व्यक्त होती हैं, किन्तु उनका निगूढ़ आधार आत्मिक ही है।

संवेदनाओं के अतिरिक्त, स्वास्थ्य, यौवन और आयुष्य भी आत्मिक अद्वैत पर ही निर्भर हैं। आत्मिक अद्वैत स्वास्थ्य के साथ-साथ शक्ति, स्फूर्ति और प्रसन्नता को बढ़ाता है, वही यौवन की रक्षा करता है। आत्मिक अद्वैत के अभाव में ये सब क्षीण हो जाते हैं। भेड़ियों के द्वारा पाले हुए बालकों के उदाहरण इसी सत्य को प्रमाणित करते हैं। इन बालकों में संवेदनाओं, बुद्धि, भाषा आदि का विकास नहीं हो सका तथा वे अल्पायु में ही मर गये। आत्मिक अद्वैत से वंचित रहने के ही कारण, कुछ बालक मन्दबुद्धि रह जाते हैं, उनका समुचित विकास नहीं हो पाता। स्वास्थ्य और मानसिक संतुलन दोनों का ही आधार

आत्मिक अद्वैत है !

परिवार इन सब विकासों का मूल है। मातृत्व परिवार का आधार है। मातृत्व, दाम्पत्य और परिवार का आधार जिस काम में है, वह प्रकृति में आत्मिक अद्वैत का सन्धि बिन्दु है। काम दम्पत्ति के पारस्परिक अद्वैत का आधार है। काम स्वरूप से ही एक पारस्परिक धर्म है, किन्तु काम के पारस्परिक सुख में आत्मा का ही आनन्द स्फुरित होता है। इसीलिए, भारतीय दर्शनों में काम को केवल प्राकृतिक धर्म न मानकर, परमात्मा की दिव्य विभूति माना है। धर्म से अविरुद्ध काम ही भगवान की विभूति है। धर्म भी मूलतः अविरोध और अद्वैत का भाव है। अतः आत्मिक अद्वैत की भूमिका में ही काम की आध्यात्मिकता भी प्रकट होती है।

समाज और सभ्यता में भी, यही अद्वैत सूक्ष्म रूप में व्याप्त रहता है। समाज में जो कुछ सामंजस्य है, वह इसी के कारण है और जो कुछ विषमताएं हैं, वे इसके अभाव के कारण होती हैं। सभ्यता बाह्य वातावरण का निर्माण है। सार्वजनिक होने के कारण, वह पूर्णतः स्वार्थमय नहीं है। उसका उपयोग व्यक्ति के लिए सुविधाजनक हो सकता है, किन्तु उसका विकास परार्थ एवं पारस्परिक अद्वैत के बिना नहीं हो सकता। राजनीति कुछ स्वार्थमय प्रतीत होती है, किन्तु उसकी भी मूलशक्ति आध्यात्मिक ही है। किसी भी समाज के लिए मंगलकारी राजनीति स्वार्थ से ऊपर उठकर आध्यात्मिक अद्वैत की भूमि पर ही सम्भव होती है। राजनीति जितनी आध्यात्मिक होती है, उतनी वह सफल और कल्याणकर होती है। पश्चिमी देश इसका उदाहरण हैं। राजनीति जितनी स्वार्थमय और अनात्मिक होती है, उतनी ही असफल होती है। आज का भारत इसका उदाहरण है। राष्ट्रीयता राजनीति की परिणति है। व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर किसी समाज में जो राजनैतिक एकता का भाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम राष्ट्रीयता है। इसी प्रकार, शिक्षा, आचार, संस्कृति और धर्म का स्रोत भी आत्मिक अद्वैत में है। शिक्षा ज्ञान का प्रदान है, किन्तु आत्मिक अद्वैत के बिना, यह भी श्रेष्ठ रूप में सम्पन्न नहीं हो सकता। भारत की आधुनिक शिक्षा और वर्तमान ज्ञान की हीनता का कारण आत्मिक अद्वैत का अभाव ही है। नैतिक आचार का आधार भी अद्वैत है। नैतिक मूल्य स्वार्थ से ऊपर होने के कारण आत्मिक अद्वैत का अभाव है।

ग्रन्थ के अन्त में, अश्रु और हास की भी आत्मिकता का निदर्शन किया गया है। अश्रुओं का स्रोत करुणा में है, जो आत्मिक वेदना से द्रवित होती है। आत्मिक होने के कारण, अणु मूलतः आनन्दमय हैं। हास अद्वैत के भावात्मक आनन्द का उल्लास है। आत्मिक होने के नाते अश्रु और हास जीवन, सभ्यता और संस्कृति के मानदण्ड हैं।

अस्तित्ववाद या एक्जिस्टैंशियलिज्म पाश्चात्य दर्शन की प्रमुख देन माना जाता है। यह अस्तित्ववाद भारतीय दर्शनों में व्याप्त है, किन्तु धारणा पाश्चात्य अस्तित्ववाद से भिन्न है। भारतीनन्दन ने मनुष्य के अस्तित्व की व्याख्या करने वाले अपने **"एक्जिस्टैंस आफ मैन"** ग्रन्थ में इसी भारतीय अस्तित्व-वाद की स्थापना और विवेचन किया है। भारतीनन्दन द्वारा प्रतिपादित अस्तित्ववाद आध्यात्मिक है और उपनिषदों के आत्मवाद में उसके बीज हैं। उपनिषदों के, 'अहं ब्रह्मास्मि' के अनुसार ब्रह्म ही अस्तित्व का परम रूप है। इसी आध्यात्मिक अस्तित्व का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है। भूमिका के रूप में अस्तित्व की अन्य धारणाओं का उल्लेख और खण्डन किया गया है। पश्चिमी अस्तित्ववाद लौकिक, संवेदनात्मक और व्यक्तिगत है, जो लौकिक रूपों और संवेदनाओं में व्यक्ति के अस्तित्व

की खोज करता है। लौकिक अस्तित्व की व्यक्तिगत धारणाऐं खण्डित होती जाती हैं, इस निषेधात्मक प्रक्रिया से मनुष्य का अस्तित्व शून्य बनता जाता है। या, यों कह सकते हैं कि मनुष्य अस्तित्वहीन बनता जाता है। इस प्रकार, आधुनिक अस्तित्ववाद अनस्तित्ववाद ही सिद्ध होता है किन्तु लेखक द्वारा प्रतिपादित अस्तित्ववाद आत्मिक अद्वैत पर आश्रित है। वह लौकिक और व्यक्तिवादी नहीं है, यद्यपि वह लोक और व्यक्ति का तिरस्कार नहीं करता। उसके अनुसार लोक और व्यक्ति दोनों का अस्तित्व आत्मिक अद्वैत पर निर्भर है। वेदान्त में ब्रह्म को जगत का आधार माना गया है, यह तात्विक वेदान्त का दृष्किोण है। किन्तु मूल्यात्मक दृष्टिकोण से भी आत्मिक अद्वैत के बिना जगत का अस्तित्व निरर्थक है। उपनिषदों में इस मूल्यात्मक अस्तित्ववाद के संकेत मिलते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व भी कोई कठोर इकाई नहीं है, वह आत्मिक अद्वैत के द्वारा ही सम्पन्न होता है। व्यवहारिक दृष्टि से इसे पारस्परिक अद्वैत कह सकते हैं। समात्मभाव इसका आन्तरिक सूत्र है, यह अस्तित्ववाद एक वचन में 'अपने लिए' नहीं वरन् द्विवचन अथवा बहुबचन में 'अपने लिए' है। इसका मेरे लिए नहीं वरन् प्रत्यक्ष अनुभव में "हमारे लिए" होगा।

सिद्धान्त की दृष्टि से, यह अस्तित्ववाद मूल्यात्मक है। मूल्य तात्विक भी हो सकते हैं, किन्तु वे जीवन और चेतना से निरपेक्ष नहीं हैं। चेतना की अपेक्षा, उन्हें अतिचेतन कहना अधिक उचित होगा। बौद्धिक और विषयगत चेतना भेदमूलक और ज्ञानात्मक है। अतिचेतन अखण्ड और आनन्दमय है। यही सच्चिदानन्द है। मूल्यात्मक दृष्टिकोण से सत्यं शिवं सुन्दरम् के सांस्कृतिक मूल्य इस अस्तित्व के घटक हैं। सत्य ज्ञानात्मक है, श्रेय क्रियात्मक है और सौन्दर्य भावात्मक है।

राज्यसेवा से अवकाश ग्रहण करने के बाद, भारतीनन्दन ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अन्तर्गत उपनिषदों का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह भी जीवन से समन्वित वेदान्त का ही प्रतिपादन है। उसमें भी लोक का अध्यात्म से सामंजस्य किया गया है। **"सैक्युलर, सोशल एण्ड एथिकल वैल्यूज इन दि उपनिषदस"** नाम का यह ग्रन्थ उपनिषदों का मूल्यात्मक अध्ययन है। लगभग आधे ग्रन्थ में लौकिक मूल्यों का विवरण है। इससे विदित होता है कि उपनिषदों में लौकिक मूल्यों की वैसी अवहेलना नहीं की गई है, जैसा कि प्राय: समझा जाता है। सामान्य धारणा यही है कि उपनिषद अलौकिक अध्यात्म के ग्रन्थ हैं, वे जगत को माया और मिथ्या मानते हैं। शंकराचार्य के मायावाद ने वेदान्त और उपनिषदों के सम्बन्ध में इस धारणा को और भी दृढ़ बनाया। वस्तुत: वेदान्त के सम्बन्ध में यह धारणा बहुत भ्रान्तपूर्ण है। उपनिषदों के इस अध्ययन में उपनिषदों के आधार पर ही लौकिक मूल्यों का विस्तृत विवरण किया गया है। लौकिक मूल्यों के अन्तर्गत शारीरिक मूल्य, प्राण, अन्न, धन, काम, कर्म, बुद्धि, निद्रा आदि का वर्णन किया गया है। उपनिषदों के प्रमाण देकर इन सब मूल्यों का महत्व सिद्ध किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद के ऋषि उषस्ति चाक्रायण ने यह घोषित किया है कि अन्न ही ब्रह्म है। तैत्तरीय उपनिषद में अन्न को ब्रह्म कहा गया है और एक पूरा अध्याय ही, अन्न से सम्बन्ध रखता है। बृहदारण्यक उपनिषद में भी, महर्षि याज्ञवल्क्य धन के ही लिए राजा जनक के पास जाते हैं। अपने शिष्यों को दक्षिणा की गायें हांक कर ले जाने के लिए कहते हैं। काम को उपनिषदों में आनन्द का आश्रय कहा है। अधिकांश ऋषि विवाहित थे और सपरिवार आश्रम में रहते थे। ऐतरेय उपनिषद में गर्भवती स्त्री को बड़ा सम्मान दिया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद के अन्तिम अध्याय में पुरुष मन्त्र का वर्णन है। प्रेमियों के आलिंगन की तन्म-

यता को आध्यात्मिक आनन्द की उपमा दी गई है। इस प्रकार अनेक स्थलों पर उपनिषदों में अन्न-धन और काम के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। इनमें कहीं भी इनके मिथ्यात्व का आभास नहीं है। उपनिषदों के ऋषि सरलता और सच्चाई के साथ इनका महत्व मानते हैं।

कर्म, बुद्धि और निद्रा के लौकिक मूल्यों को भी उपनिषदों में आदर दिया गया है। कर्म से अध्यात्म का कुछ विरोध लग सकता है, क्योंकि कर्म का फल नश्वर होता है और आत्मा का आनन्द स्थायी है। वह कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः कर्म उसका साधन नहीं हो सकता। फिर भी ईश उपनिषद में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की प्रेरणा दी गई है। गीता में भी कर्म का आदेश दिया गया है। कर्म ही जीवन है। किन्तु उपनिषद और गीता में जिस कर्म का आदेश दिया गया है, वह साधारण कर्म नहीं है, निष्काम कर्म है। गीता में इसे कर्मयोग कहा गया है। साधारण कर्म स्वार्थ और कामना से प्रेरित होता है। निष्काम कर्म स्वार्थ से प्रेरित नहीं होता, वह आत्मा के अद्वैत भाव से प्रेरित होता है। आत्मिक होने के कारण वही कर्म ही योग बन जाता है। आत्मा उस कर्म से लिप्त नहीं होता, जैसा कि ईश उपनिषद में कहा गया है। उपनिषदों के इस अध्ययन में आत्मा की सक्रियता को प्रमाणित कर अध्यात्म में कर्म की संगति की गई है।

कर्म के समान ही, बुद्धि को भी आत्मानुभव में अनुपयोगी बताया गया है। आत्मा अद्वैत है, बुद्धि द्वैतमय है। अतः वह आत्मा के अनुभव में सहायक नहीं हो सकती। इसीलिए कठ उपनिषद में कहा गया है कि शास्त्र के अध्ययन से तथा बुद्धि से आत्मा प्राप्त नहीं हो सकती, वह तर्क से भी प्राप्त नहीं हो सकती अनुभव से ही प्राप्त होती है। यह अनुभव ब्रह्म या आत्मा का अनुग्रह ही है। आत्मा जिसका वरण करती है, उसको अपना स्वरूप प्रकाशित करती है, ऐसा कठ-उपनिषद का कथन है।

निद्रा का उपनिषदों में बड़ा मार्मिक वर्णन है। स्वप्नरहित निद्रा को सुषुप्ति कहा है। माण्डूक्य उपनिषद में सुषुप्ति को आत्मा का तीसरा चरण बताया है। छान्दोग्य-उपनिषद के अनुसार, सुषुप्ति में मनुष्य ब्रह्म लोक तक पहुंच जाता है, फिर वहां से लौट आता है। सुषुप्ति और मुक्ति में यही अन्तर है कि मुक्ति में लौटना नहीं होता। सुषुप्ति का इतना गहन और सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र मिलना कठिन है। लौकिक मूल्यों में सुषुप्ति का निदर्शन उपनिषदों की एक मूल्यवान देन है। इनके अतिरिक्त उपनिषदों में कुछ ऐसे लौकिक मूल्यों का भी वर्णन है जो सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। मुख की कांति, प्रसन्नता, मुस्कान और मधुर वाणी, इनमें उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक मूल्यों का उपनिषदों में इतना महत्व नहीं है। उपनिषद् एकान्तवासी ऋषियों की रचना हैं। सामाजिक जीवन का विकास बन में सम्भव नहीं था। किन्तु, नैतिक मूल्यों का उपनिषदों में महत्वपूर्ण स्थान है। नैतिकता, आत्मज्ञान का साधन है। उससे अन्तःकरण का संस्कार होता है और मनुष्य मोक्ष के योग्य बनता है। उपनिषदों में अनेक नैतिक गुणों का उल्लेख मिलता है। सत्य, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और तप उनमें मुख्य हैं। यह ब्रह्मज्ञान का पथ आलोकित करते हैं। लेखक ने परार्थ के द्वारा नैतिक गुणों की आध्यात्मिकता को प्रमाणित किया है। स्वार्थ द्वैत है, परार्थ अद्वैत है। परार्थ के अद्वैत के द्वारा ही आत्मानुभव की ओर प्रगति होती है।

उपनिषदों के इस मूल्यात्मक अध्ययन में, भारतीनन्दन ने कुछ अपने विचार और सिद्धान्त भी प्रकट किये हैं। बुद्धि को आत्मानुभव में अनुपयोगी बताया है। लेखक के अनुसार उसका कारण यही है कि बुद्धि

सचेतन है तथा द्वैतमूलक है, जब कि आत्मा अद्वैत और अखण्ड है। वह आनन्दमय भी है। अतः बुद्धि से आत्मा की संगति नहीं है। इसी प्रसंग में लेखक ने एक अद्भुत मत प्रतिपादित किया है कि बौद्धिक चेतना निरन्तर नहीं है (पृष्ठ २५७)। वह एक अखण्ड प्रवाह नहीं है, वरन् खण्डित क्षणों की माला है, जो आनन्दमय आत्मा के सूत्र में पिरोई जाती है। आनन्द अति चेतन है और वह अखण्ड और निरंतर है। वही सचेतन ज्ञान को निरन्तरता का रूप देता है। वही स्मृति का आधार भी है। लेखक के अनुसार स्मृति सचेतन निरन्तरता भी नहीं है वरन् निरन्तरता की चेतना, आधारभूत आनन्दमय आत्मा की स्फूर्ति से सम्भव होती है (पृष्ठ २७५)।

इसी प्रकार नैतिकता के सम्बन्ध में भी लेखक ने एक मौलिक मत प्रतिपादित किया है, जिसके अनुसार नैतिक स्वतन्त्रता का सम्बन्ध पाप की अपेक्षा पुण्य से अधिक है। सत शब्द को शुभ के अर्थ में ग्रहण कर लेखक ने यह अभिमत प्रकट किया है कि शुभ आत्मिक है और आत्मा स्वतन्त्र है। शुभ संकल्प ही स्वतन्त्र संकल्प होते हैं। पाप के प्रसंग में मनुष्य पराधीन और विवश है। (पृष्ठ ५३३-५३६)। इसके अतिरिक्त नैतिक कर्म के कर्त्ता, नैतिक स्वतन्त्रता, नैतिकता की आध्यात्म के साथ तात्विक संगति आदि के सम्बन्ध में भी कुछ मौलिक विचार लेखक ने व्यक्त किये हैं। लेकिन सामाजिक और नैतिक मूल्यों की यथार्थता को उपनिषदों के द्वारा प्रमाणित कर उनके आध्यात्मिक रूपान्तर का विशद निदर्शन इस ग्रन्थ के अन्त में किया गया है। जीवन के साथ आध्यात्म की संगति के गंभीर विवेचन की दृष्टि का यह अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के ही तत्वावधान में द्वितीय नियुक्ति के अन्तर्गत भारतीनन्दन ने गीता का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह उपनिषदों के अध्ययन के समानान्तर और उसका पूरक है। उपनिषदों के अध्ययन के समान यह भी गीता का मूल्यात्मक अध्ययन है। इसका शीर्षक "**सैक्युलर सोशल एंड एथिरल वैल्यूज इन दि गीता**" है। इसमें भी उपनिषदों के समान गीता के सन्दर्भ में लौकिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों का विवेचन किया गया है। उपनिषदों की भांति ही, गीता में भी सामाजिक मूल्यों का स्थान बहुत कम है। किन्तु लौकिक एवं नैतिक मूल्यों का विपुल वर्णन है। मूल्यों के सम्बन्ध में, उपनिषद् और गीता दोनों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है, फिर भी दोनों की मूल्य मीमांसा में अन्तर है। उपनिषदों में भोजन, धन, आदि लौकिक मूल्यों की आवश्यकता को महत्व दिया गया है। गीता में ऐसा नहीं है। गीता में आवश्यकता के स्थान पर, इनकी मौलिक आध्यात्मिकता को रेखांकित किया गया है। गीता के अनुसार, अन्न और वनस्पतियों का पोषण रामेश्वर की दिव्य शक्ति करती है धन, बल, काम आदि लौकिक मूल्य भी भगवान की ही विभूतियां हैं। धन के स्वामी कुबेर की गणना तो विभूतियों में है ही, बल और काम भी भगवान की विभूति हैं यद्यपि इनके साथ कुछ विशेषण, कुछ शर्तें भी हैं। सभी बल और काम दिव्य नहीं हैं। कामना और राग से रहित बल ही दिव्य है और धर्म से अवरुद्ध काम ही भगवान की शक्ति है। इसी से काम की सृजनात्मक शक्ति भी दिव्य शक्ति का रूप है।

गीता में विशेष रूप से भौतिक सत्ता और लौकिक मूल्यों को अलग-अलग गिनाया गया है तथा उनको भगवान की शक्ति बताया गया है। भौतिक जगत पांच तत्वों से बना है। इन तत्वों के गुण ही इनका मूल स्वरूप और इनकी शक्ति हैं। गीता में पंचभूतों के गुणों को भगवान का स्वरूप बताया गया है। विभूतियों की गणना के प्रसंग में, भगवान ने कहा है कि पृथ्वी में गन्ध, जल में रस और आकाश में

शब्द, मैं ही हूं। नदी, सागर, पर्वत आदि की गणना भी भगवान ने अपनी विभूतियों में की है। काल भी भगवान के स्वरूप हैं। सूर्य और चन्द्रमा भी भगवान के स्वरूप हैं। भगवान ही अपनी मायाशक्ति से जगत की रचना करते हैं। रचनात्मक रूप में यह शक्ति प्रकृति कहलाती है। पंचभूत, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ रूपों में प्रकृति विभाजित होती है। भगवान की अध्यक्षता में, प्रकृति चराचर भूतों की रचना करती है। यह प्रकृति दो प्रकार की होती है, परा और अपरा। अपरा प्रकृति भौतिक जगत की सृष्टि करती है और परा प्रकृति जीवों की रचना करती है। मनुष्यों में चेतना भगवान का ही स्वरूप है। बुद्धि भी भगवान का ही रूप है। जगत के सभी लौकिक रूप भगवान की शक्ति से प्रेरित हैं।

गीता ने मन और इन्द्रियों को साधना में बाधक बताया है। बल और काम भी दिव्य होते हुए भी विकृत हो सकते हैं। मन चंचल है, उसका निग्रह कठिन है। इन्द्रियां उसको सहज ही विषयों की ओर ले जाती हैं। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही उसका निग्रह सम्भव है। बुद्धि को गीता में, उपनिषदों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। उपनिषदों ने बुद्धि को आत्मज्ञान में अनुपयोगी माना है, क्योंकि आत्मा तर्क और बुद्धि से प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु, गीता में बुद्धि को आत्मज्ञान में उपयोगी माना गया है, क्योंकि शुद्ध बुद्धि के द्वारा आत्मा का ज्ञान हो सकता है। तर्कबुद्धि तो साधना में बाधक है, किन्तु श्रद्धामयी आत्मबुद्धि उसमें सहायक ही होती है। तर्कबुद्धि के समान ही, अहंकार भी बाधक है। कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि सभी में अहंकार का त्याग करने पर ही आत्मा की प्राप्ति हो सकती है। कर्म के अहं-कार का त्याग बहुत कठिन है, अतः गीता में समर्पण के द्वारा उसके अतिक्रमण का मार्ग बताया गया है। कर्त्तापन का अहंकार त्यागने से कर्म योग बन जाता है। यही कर्मयोग, गीता के अनुसार, ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन है।

लौकिक मूल्यों में काम, बल, युद्ध और कर्म के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उपनिषदों में काम के प्रसंग तो बहुत हैं, किन्तु केवल एक ही उपमा में कामालिंगन के आनन्द को ब्रह्मानन्द के समान बताया गया है। इसको छोड़, काम की दिव्यता अथवा आध्यात्मिकता का कोई स्पष्ट संकेत उपनिषदों में नहीं है। किन्तु गीता में काम की दिव्यता का स्पष्ट समर्थन मिलता है। दो स्थानों पर तो, स्वयं भगवान ने काम को अपनी विभूति ही बताया है। एक स्थान पर, काम की सृजनात्मकता को भगवान का स्वरूप बताया गया है और दूसरे स्थान पर, धर्म से अविरुद्ध काम की विभूतियों में गणना की गई है। काम का यह उन्नयन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आगे चलकर, शैव और वैष्णव दर्शनों में साम्य एवं दाम्पत्य को जो दिव्यता मिली, उसके सूत्र गीता में काम को मिली इस स्वीकृति में ही निहित हैं।

अहिंसावादी दर्शनों में बल का प्रयोग वर्जित है। यहां अहिंसा ही परम सत्य है। अहिंसा में, बल के द्वारा अत्याचारी का प्रतिरोध उचित नहीं है, बल्कि बलिदान के द्वारा अत्याचारी का हृदय-परिवर्तन ही अभीष्ट है। बुद्ध और गांधी ने भारत को इसी अहिंसा का सन्देश दिया। किन्तु, वैदिक, वैष्णव और शैव-दर्शन की परम्परा इसके विपरीत है। उसमें बल के द्वारा अत्याचार का प्रतिरोध उचित माना गया है। स्वयं वेद का उद्घोष है, "मन्यु रसि, मन्यु में देहि।" विष्णु के अवतारों का तो उद्देश्य ही बल के द्वारा अनीति का उन्मूलन है। नृसिंह, परशुराम, राम और कृष्ण के अवतार इसके साक्षात प्रमाण हैं। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि मैं युग-युग में धर्म की स्थापना और दुष्टों के विनाश के लिए जन्म लेता हूं। गीता का तो जन्म ही युद्ध से उदासीन अर्जुन को धर्मयुद्ध के लिए प्रेरित करने के लिए हुआ था। युद्ध अपने

आप में एक भीषण कर्म है, किन्तु कर्म अनेक प्रकार के हो सकते हैं। गीता में कर्म को कर्मयोग कहा है। गीता का युद्ध-दर्शन भी इसी कर्म-योग का अंग है। योग आत्मिक स्थिति है, समत्व उसका लक्षण है। आत्मिक स्थिति और समत्व को सुरक्षित रखकर करने से कर्म, कर्मयोग बन जाता है। परार्थ भी क्योंकि आत्मभाव का लक्षण है, अतः परार्थ कर्म, कर्मयोग के अनुकूल है। स्वार्थ और कामना के रहते कर्मयोग सम्भव नहीं है। कर्त्तापन के अहंकार तथा फल के स्वार्थ को त्यागने पर ही कर्मयोग सम्भव है। कर्म और उसका फल, दोनों ही, भगवान को समर्पण करने से, यह सहज हो जाता है।

गीता की दृष्टि में, कर्मयोग और भक्तियोग के प्रसंग में नैतिक मूल्यों का महत्व है। नैतिक गुण सात्विक गुण हैं, वे सतोगुण से प्रेरित होते हैं। गीता ने उनको दैवी सम्पदा कहा है और मोक्ष का साधन बताया है। अभय, अशुद्धता, दान, संयम, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दया, अलोभ, मृदुता, क्षमा, नम्रता आदि की गणना दैवी सम्पद् में की है। ज्ञान और भक्ति के प्रसंग में, श्रद्धा भी बहुत महत्वपूर्ण है और विनय, श्रद्धा का आवश्यक अंग है। श्रद्धा का अर्थ धार्मिक आग्रह नहीं है, वरन् किसी उच्च सत्य के प्रति समर्पण है। यह समर्पण व्यक्ति की विभूति है। श्रद्धा को व्यक्तिगत निष्ठा मानने के कारण ही, हिन्दू-धर्म में प्रसार का आग्रह नहीं रहा।

मैंने लेख के शीर्षक में डाक्टर रामानन्द तिवारी को "आचार्य" उपाधि से स्मरण किया है। यह मात्र श्रद्धा का अतिरेक नहीं है, इसे शास्त्रों की स्वीकृति प्राप्त है। उपनिषद, श्रीमद्भागवद् गीता और ब्रह्मसूत्र, इन तीनों के समुच्चय को 'प्रस्थानत्रयी' कहा गया है। आस्तिक दर्शनों के क्षेत्र में, किसी भी दार्शनिक के लिए आवश्यक था कि वह अपने मत को प्रस्थानत्रयी में स्वीकृत सिद्ध करें। तभी उसे आचार्य की पदवी मिलती थी। स्वयं आचार्य शंकर इसके प्रमाण हैं। आचार्य भारतीनन्दन ने इस शास्त्र सम्मत आचार्य-परम्परा का निर्वाह ही नहीं किया है, उपनिषदों, गीता तथा ब्रह्मसूत्र की आध्यात्मिक परम्परा लोक जीवन से जोड़कर वे और भी श्लाघ्य हो गए हैं।



शिक्षा और जीवन का आध्यात्मिक आधार

—अर्चना दिव्यशीला

मेरे पिता डॉ० रामानन्द तिवारी बचपन के संस्कारों से कवि, शिक्षा से दार्शनिक और व्यवसाय से दर्शन के व्याख्याता रहे हैं। कवि और दार्शनिक के मणिकांचन संयोग से वे चिन्तक और विचारक बन गये। भारतीय समाज, संस्कृति और दर्शन में उनकी विशेष रुचि रही है तथा वे इनके विषय में गंभीर चिन्तन भी करते रहे हैं। भारतीय दर्शनों में वेदान्त-दर्शन उनका विशेष-प्रिय-दर्शन रहा है। वेदान्त-दर्शन का अध्यात्म उनके समाज, संस्कृति और जीवन सम्बन्धी चिन्तन का आधार रहा है। वेदान्त के अध्यात्म में ही वे जीवन का मर्म देखते रहे हैं और उसी के अनुसार जीवन के सभी सन्दर्भों की व्याख्या करते रहे हैं। उनके इस चिन्तन की अद्वितीय विशेषता यही रही है कि उन्होंने उपनिषद् और गीता के वेदान्त को जीवन से जोड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने उपनिषदों के सम्बन्ध में एक विशाल ग्रन्थ की रचना भी की है तथा गीता पर वे एक विशाल ग्रन्थ की रचना में संलग्न हैं, जो शीघ्र ही पूर्ण होने वाला है। इन दोनों विशाल ग्रन्थों में उन्होंने अध्यात्म और लौकिक मूल्यों के परस्पर अविरोध की स्थापना की है और अद्वैत की विस्तृत व्याख्या की है।

भारतीय समाज और इतिहास की विडम्बनाओं से वे बहुत व्यथित रहे हैं तथा इनके कारणों का सूक्ष्म विश्लेषण करते रहे हैं। अध्यापन और हम बहिन-भाइयों की शिक्षा के प्रसंग में वे वर्तमान शिक्षा के गिरते हुये स्तर पर भी विचार करते रहे हैं। उनके इस विश्लेषण और विचार का आधार भी अध्यात्म ही रहा है। उनके विचार में यदि अध्यात्म को जीवन से परे न मानकर उसे जीवन में ही व्याप्त करने का प्रयत्न किया जाता, तो भारतीय समाज और इतिहास, जीवन और शिक्षा का स्वरूप एक आदर्श बन सकता था। यद्यपि भारतीय सांस्कृतिक परम्परायें अध्यात्म और जीवन के अद्वैत का अनुपम उदाहरण हैं, किन्तु भारतीयों ने इस तथ्य को जानने का प्रयत्न नहीं किया। परम्पराओं में निहित जीवन के रहस्यों से अनभिज्ञ रहने के कारण भारतीय समाज में उनका सही रूप और महत्व समाप्त होता गया। पिताजी ने भारतीय संस्कृति की परम्पराओं की विशेषताओं की व्याख्या भी की है। समाज और संस्कृति तथा शिक्षा का विवेचन उनके काव्यों तथा साहित्यिक ग्रन्थों में मुखरित हुआ है।

उनके दार्शनिक विचारों का विकास तो मुख्यतः उनके आन्तरिक चिन्तन और मनन में ही हुआ होगा, किन्तु अपने विचारों और सिद्धान्तों के विकास में वे अपने परिवारीजनों से एक ऐसे रूप में सहयोग लेते रहे हैं, जिसका उदाहरण कदाचित् ही अन्यत्र मिल सके। विगत वर्षों में वे अपने विचारों को घर के सदस्यों के सामने व्यक्त करते रहे हैं, उनका विवेचन और व्याख्यान करते रहे हैं। इस प्रकार घर के सभी लोग उनके विचार की प्रक्रिया और उनके सिद्धान्तों से परिचित हो गये हैं। इसके कुछ कारण भी रहे हैं। प्रमुख कारण तो यह रहा है कि वर्तमान युग में शिक्षित लोगों में भी विचार की रुचि अधिक नहीं

है और पिताजी अनिच्छित लोगों पर अपने विचार थोपना नहीं चाहते। इसके अतिरिक्त वे अपने विचारों को जीवन के लिये उपयोगी मानने के कारण हमें अपने विचारों का लाभ देते रहे हैं। उनके विचार चाहे कितने ही विचित्र और अद्भुत हों, किन्तु जीवन के साथ उनका साक्षात् सम्बन्ध है। आध्यात्मिक होने के कारण वे सूक्ष्म अवश्य हैं, किन्तु जीवन को श्रेष्ठ बनाने में उपयोगी हो सकते हैं।

अध्यात्म यद्यपि अग्राह्य और अनिर्वचनीय आत्मा का सिद्धान्त होने के कारण बहुत दुरूह है, किन्तु उन्होंने अध्यात्म की व्याख्या बहुत सरल रूप में की है। आत्मा जीवन का वह व्यापक और सूक्ष्म तत्व है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने सीमित अस्तित्व का अतिक्रमण करता हुआ दूसरों के प्रति अद्वैत का भाव धारण करता है। स्वार्थ और अहंकार के संकुचित भावों से ऊपर उठकर दूसरों की ओर ध्यान देता है, दूसरों के प्रति सद्भाव विकसित करता है, दूसरों की सराहना करता है, दूसरों की उन्नति और सफलता से प्रसन्न होता है, दूसरों को प्रेम और आदर देता है, दूसरों के प्रति श्रद्धा और सेवा का भाव जाग्रत करता है, दूसरों के लिए सहयोग और त्याग करने को उत्सुक रहता है। ये सभी परार्थ-भाव अद्वैत पर आधारित हैं और विनय भाव से समन्वित हैं। दूसरे के साथ अद्वैत भाव का अनुभव करने पर ही हम परार्थ कार्य कर सकते हैं, जिसका आधार विनम्रता है। अहंकार अद्वैत में बाधक ही नहीं है, अपितु द्वैत का जन्मदाता भी है। अहंकार हमें दूसरे से अलग करता है, इसके विपरीत विनम्रता हमें दूसरे के निकट पहुंचाती है। विनय ही अद्वैत का सूत्र है।

इस प्रकार अद्वैत से उत्पन्न होने वाले और विनय से परिपूर्ण ये परार्थ भाव अध्यात्म के प्रकट रूप हैं। परार्थ के रूप में ही अध्यात्म को जीवन में व्यवहारित किया जा सकता है। ये ही व्यक्तित्व को श्रेष्ठ बनाते हैं। इन्हें जीवन में व्याप्त करके मनुष्य परमात्मा के निकट अर्थात् शान्ति और आनन्द के परमात्मभावों का अनुभव कर सकता है।

शिक्षा ज्ञान का उपार्जन है और चरित्र एवं व्यक्तित्व के विकास के लिये भी आवश्यक है। शिक्षा को पिताजी ने परार्थ मूलक और आध्यात्मिक माना है। शिक्षा के नाम से हम जिन विषयों का अध्ययन करते हैं और ज्ञानार्जन करते हैं उन सब में हम दूसरों के बारे में ही पढ़ते हैं। विज्ञानों में प्राकृतिक वस्तुओं, भूगोल में विभिन्न क्षेत्रों, इतिहास में विभिन्न घटनाओं और शासकों, साहित्य में कवियों और साहित्यकारों, दर्शन में विचारकों और उनके सिद्धान्तों के बारे में पढ़ते हैं। ये सब हमारे ज्ञान के विषय होते हैं और हम इनका ज्ञान प्राप्त करने वाले ज्ञाता बनते हैं, किन्तु इस समस्त ज्ञान में हमारा अपना कोई स्थान नहीं होता। हम इन विद्याओं के विद्यार्थी होते हैं और इस प्रकार समस्त विद्या और शिक्षा हमारे अतिरिक्त दूसरे विषयों और व्यक्तियों से सम्बन्ध रखती है।

अतः जीवन के व्यवहार में 'पर' के प्रति हमारा दृष्टिकोण जितना उदार, अहंकार रहित अर्थात् विनयपूर्ण होगा, हमें शिक्षा अथवा ज्ञान प्राप्ति करने में उतनी ही सरलता होगी और ज्ञान भी उतना ही उत्तम होगा। शिक्षा प्राप्ति के लिये आवश्यक उदारता और विनय में गुरू के प्रति आदर भी सम्मिलित है, जिसे आज के विद्यार्थी शिक्षा के लिये आवश्यक नहीं मानते हैं। विद्या विनय देती है— ऐसा नीतिकारों का मत है, किंतु सत्य यह है कि विनय के बिना विद्या अर्जित नहीं की जा सकती। भारतीय परम्परा में गुरू की महिमा का यही रहस्य है। शिष्य, गुरू के प्रति आदर और श्रद्धा रखने से विनम्रता धारण करने में समर्थ हो सकता है, जो शिक्षा प्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त गुरू के प्रति श्रद्धा

विनम्रता और आदर का दूसरा पक्ष यह भी है कि गुरू शिष्य को विद्यादान क्यों करेगा ? शिष्य अहंकार धारण करके गुरू का अनादर करे और गुरू उसे फिर भी उत्तम ज्ञान, उत्तम शिक्षा दे यह असम्भव ही है।

वर्तमान शिक्षा की अवनति का मुख्य कारण भी यही है कि आज के विद्यार्थी में 'पर' के प्रति आदर और विनम्रता का भाव तीव्रगति से समाप्त होता जा रहा है और उसके अहंकार में वृद्धि होती जा रही है। माता, पिता, गुरू आदि अपने से बड़ों का सम्मान करना आज के विद्यार्थी की दृष्टि में व्यर्थ होता जा रहा है और वे उनका अनादर करना अनुचित नहीं समझते हैं। यही नहीं आज के विद्यार्थी की विषय के प्रति भी श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि नहीं रही है। वह विषय के अध्ययन में रुचि नहीं रखता और बिना विषय का अध्ययन किये नकल आदि साधनों से परीक्षा उत्तीर्ण करना चाहता है, इसके मूल में विषय के प्रति अश्रद्धा और अनादर का भाव ही है। अतः उत्तम शिक्षा के लिए विद्या के सम्पूर्ण विषय के प्रति आदर भाव अपेक्षित हैं। विषय के प्रति आदर से तात्पर्य है, विषय को महत्व देना, अपने सुख और अहं को त्यागकर जैसे भी संभव हो विषय के अच्छी तरह से अध्ययन और ज्ञान के लिए प्रयत्न करना।

दर्शन की भाषा में हम कह सकते हैं कि शिक्षा का धरातल अहंकार से ऊपर है। सांख्य आदि दर्शनों में बुद्धि की स्थिति अहंकार से ऊपर बताई गई है। बुद्धि ही ज्ञान की साधक है। बुद्धि हम के द्वारा ही हम ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतः अहंकार से ऊपर उठकर अर्थात अहंकार का त्याग करके ही हम बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु एक ओर बुद्धि जहां अहंकार से ऊपर है, वहीं वह आत्मा के निकट भी है। वह अहंकार और आत्मा के बीच में स्थित है। आत्मा के निकट होने के कारण बुद्धि आत्मिक भी है। आत्मा का स्वरूप दर्शनों में अद्वैतमय बताया गया है। अद्वैत का अर्थ है द्वैत का अतिक्रमण। द्वैत अलगाव है। मानव जब अपने अहंकार में रूढ़ हो जाता है, तो दूसरों के प्रति अभिमुख नहीं रहता। इसके विपरीत आत्मिकता अपनाव है, जिसमें हम दूसरों की ओर अभिमुख होकर उनके साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। अतः ज्ञान अथवा शिक्षा के लिए एक ओर अहंकार का अतिक्रमण आवश्यक है, तो दूसरी ओर द्वैत अथवा अनात्मिकता का अतिक्रमण भी आवश्यक है। हमारी बुद्धि में जितना आत्मिकता होगी, उतनी ही वह श्रेष्ठ होगी अर्थात हमारी प्रवृत्ति जितनी द्वैत रहित होगी, जितनी दूसरों के साथ हम तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होंगे, हमारी बुद्धि उसी अनुपात में श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर होती जायेगी, हमारी शिक्षा और हमारे ज्ञान का स्तर उतना ही ऊंचा उठता जायेगा।

इसी आत्मिक बुद्धि और उत्तम ज्ञान के द्वारा हम अपने व्यक्तित्व और चरित्र को भी श्रेष्ठता प्रदान कर सकते हैं। शिक्षा व्यक्तित्व और चरित्र को उन्नत बनाने का साधन है। शिक्षा से ही मनुष्य सही अर्थों में मनुष्य कहलाने योग्य बनता है। 'विद्या विहीन : पशु' यह नीतिवचन इसी तथ्य का उद्घाटन करता है। अतः ज्ञानार्जन के अर्थ में शिक्षा का आधार परार्थमूलक और आध्यात्मिक तो है ही, चरित्र और व्यक्तित्व में भी परार्थ और आत्मिक भावों का समावेश शिक्षा के द्वारा स्वतः ही हो जाता है। शिक्षा अर्थात ज्ञान प्राप्ति का आधार परार्थ और आत्मिकता है तथा इनसे ही व्यक्तित्व उन्नत होता है। इसे हम महापुरुषों के जीवन में व्याप्त निस्वार्थता और परार्थभावों तथा आत्मिकता के उदाहरणों से भी समझ सकते हैं। परार्थ और आत्मिकभाव के रूप में ही शिक्षा का आधार आध्यात्मिक है।

मानव जीवन का आधार भी अध्यात्म ही है। अध्यात्म के बिना मानव जीवन पत्थर, पेड़, पशु,

पक्षी आदि के समान ही रहता है। अध्यातम ही मानव को इनसे पृथक और इनसे श्रेष्ठ बनाता है। संसार काल का प्रवाह है। जड़-चेतन सभी काल के प्रवाह में निरन्तर बहते जाते हैं। जड़ काल के वश में रहता है और प्रवाह में बहना उसकी विवशता है। वह इस प्रवाह में पूरी तरह डूबा रहता है। उसे इस प्रवाह के अतिरिक्त कुछ ज्ञान नहीं रहता, यथा पशु-पक्षी आजीवन अपनी नियमित और निश्चित दिनचर्या में व्यस्त रहते हैं, उसमें उन्हें स्वतन्त्रता नहीं रहती। यह काल के प्रवाह में डूबी हुई विवश स्थिति है।

मनुष्य एक सचेतन जीव है। उसे पशु-पक्षियों के समान विवश रूप में काल के प्रवाह में नहीं बहना चाहिए। मनुष्य जीवन में भी काल का प्रवाह कर्म के रूप में रहता है, विषय, स्वार्थ, अहंकार, मोह, लिप्सा आदि इसके निमित्त बनते हैं। जब तक मानव कर्म के बन्धन में रहता है, वह पशु, पेड़ आदि के समान काल-गति में विवश रूप में बहता जाता है। कर्म के बन्धन से तात्पर्य यह है कि स्वार्थ, अहंकार, भोजन वस्त्र-धन आदि ही जीवन में साध्य रहें। किन्तु मानव जीवन का वास्तविक स्वरूप यह नहीं है। मानव जीवन मूल्यों की साधना है। मानव जीवन का लक्ष्य कर्म को साध्य बनाकर बहते जाना नहीं है वरन् उस प्रवाह का अतिक्रमण करके शान्ति, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् और आनन्द मूल्यों को साध्य बनाना है। यद्यपि मूल्यों की साधना में कर्म भी साधन रूप में मूल्यों के साध्य को प्राप्त करने में सहायक रहता है, पर उस कर्म में आसक्ति नहीं रहती और कर्म प्रधान नहीं रहता, मूल्य प्रधान रहते हैं। मूल्य ही मानव जीवन की वास्तविक सम्पत्ति है, मूल्यों से ही मानव जीवन उन्नत और सम्पन्न बनता है।

अतः मानव जीवन का साध्य मूल्य हैं, कर्म नहीं हैं। ये सभी मूल्य आध्यात्मिक हैं। जीवन की पूर्णता इन सभी मूल्यों को प्राप्त करने में ही है। इन मूल्यों में सर्व प्रथम 'शान्ति' को प्राप्त करना आवश्यक है। 'शान्ति' प्राप्त करके ही अन्य मूल्यों को प्राप्त किया जा सकता है। जीवन एक प्रवाह है। 'शान्ति' काल के प्रवाह के अतिक्रमण की स्थिति है। 'शान्ति' प्रवाह के विपरीत एक ठहराव है, स्थिरता है। जीवन में जब तक ठहराव नहीं होगा, काल-गति का अतिक्रमण नहीं होगा, तब तक मनुष्य काल-गति के प्रवाह में बहते जाने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पा सकता।

किन्तु समस्या यह है कि जीवन में काल-गति का अतिक्रमण कैसे सम्भव हो। इसका समाधान पिता जी ने इस प्रकार किया है कि अद्वैत द्वारा केवल काल-गति का अतिक्रमण हो सकता है। अद्वैत से तात्पर्य है—द्वैत का अतिक्रमण और परस्पर एकता का अनुभव करना। संसार द्वैत के कारण ही काल-गति के वश में रहता है। यदि मानव परस्पर एक दूसरे को महत्व दें, आदर दें तो वे द्वैत का अतिक्रमण कर अद्वैत का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। अद्वैत से ही काल-गति के प्रवाह में ठहराव अर्थात 'शान्ति' प्राप्त हो सकती है। आत्मीयों के साथ अद्वैत के द्वारा हम इस सत्य का साक्षात अनुभव कर सकते हैं। अद्वैत अनुभव करने पर मनुष्य काल-गति अर्थात स्वार्थ, अहंकार, राग, द्वेष, आदि से ऊपर उठ जाता है और उसकी आत्मा दूसरों के प्रति आत्मिकता अनुभव करती है, वह भेद-भाव से ऊपर उठकर समभाव अनुभव करता है और इसके परिणाम-स्वरूप उसे 'शान्ति' अनुभव होती है।

'सत्य' बौद्धिक मूल्य है, ज्ञान की साधना है। विविध प्रकार का ज्ञान सत्य कहलाता है। ज्ञान सत्य की ही खोज है। मानव किसी भी क्षेत्र में सत्य का ज्ञान तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह काल के प्रवाह में ठहर कर अर्थात् कर्म एवं गति के बन्धनों से ऊपर उठकर उस क्षेत्र अथवा वस्तु का निरीक्षण करे। जैसे कोई वैज्ञानिक प्रयोगशाला में किसी प्रयोग में संलग्न होता है तो उसके लिये सारे मोह-बन्धन व्यर्थ हो

जाते हैं, उसे न भोजन के स्वाद का महत्व रहता है, न कीमती वस्त्रों का आकर्षण। उसके मन में न किसी के प्रति ईर्ष्या रहती है, न स्पर्धा रहती है। इन सभी मोह-बन्धनों अर्थात् काल-गति के प्रवाह का अतिक्रमण करके ही सत्य का ज्ञान प्राप्त करना संभव है। संसार की स्वाभाविक गति का अतिक्रमण करके अर्थात् काल के प्रवाह में ठहर कर 'शान्ति' की स्थिति में ही मनुष्य सत्य का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

कर्म के प्रवाह के अतिक्रमण अथवा मोह-बन्धनों में आसक्ति के त्याग का अर्थ यह भी है कि हम उन्हें महत्व न देकर 'पर' को महत्व दें। ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञान का विषय ही 'पर' होता है। ज्ञान का साधक 'विषय' को इतना महत्व देता है कि अपनी सभी भौतिक इच्छाओं और आवश्यकताओं को छोड़कर सारा जीवन उस साधना में लगा देता है। उसके लिये 'विषय' ही सब कुछ होता है अपने स्वार्थ और अहंकार आदि उस 'विषय' के सामने तुच्छ हो जाते हैं। यह 'विषय' को महत्व देना, 'विषय' के प्रति अद्वैत-भाव स्थापित करना है। 'पर' को महत्व देना ही अद्वैत है। 'सत्य' अर्थात्-ज्ञान की साधना में 'विषय' ही 'पर' होता है।

अतः 'विषय' के प्रति अद्वैत स्थापित करके ही ज्ञान प्राप्त करना संभव है। यही 'सत्य' का आध्यात्मिक आधार अथवा अध्यात्म है। जो वैज्ञानिक, विचारक, विद्वान् अपनी ज्ञान साधना में काल-गति से जितना ऊपर उठ पाते हैं अर्थात 'विषय' को जितना महत्व दे पाते हैं, 'विषय' के प्रति जितना अद्वैत-स्थापित कर पाते हैं, उन्हें अपनी साधना में उतनी ही सफलता मिलती है, वे उतने ही उच्च कोटि के वैज्ञानिक और विचारक बन पाते हैं।

'शिवम्' नैतिक मूल्य है। चरित्र में नैतिक गुणों का विकास 'शिवम्' कहलाता है। सेवा, दया, प्रेम आदि नैतिक गुणों के रूप में 'शिवम्' चरितार्थ होता है। किन्तु 'शिवम्' में चरितार्थ होने वाले नैतिक भाव दूसरों के प्रति आदरभाव और दूसरों को महत्व देने पर ही आधारित हैं। हम किसी की सेवा करते हैं, किसी से प्रेम करते हैं, किसी की सराहना करते हैं, किसी के प्रति श्रद्धा रखते हैं, किसी के लिये अपना कुछ त्याग करते हैं—'शिवम्' के इन सभी रूपों में उन दूसरों के प्रति आदर का भाव ही निहित रहता है। बिना आदर भाव के किसी के लिये कुछ भी करना संभव नहीं है। दूसरों के प्रति किसी भी रूप में सम्बन्ध और सद्‌भाव बिना परार्थ भाव के विकसित नहीं हो सकते। स्वार्थ और अहंकार आदि दूसरों के प्रति अनादर और उपेक्षा के भावजागृत करते हैं। इसके अतिरिक्ति स्वार्थ और अहंकार के वशीभूत हो कोई किसी के लिये कुछ करेगा भी तो वह 'शिवम्' नहीं कहा जा सकता। 'शिवम्' वही है जो दूसरे के हित की दृष्टि से अथवा दूसरे की प्रसन्नता को ध्यान में रखकर निःस्वार्थ और विनम्रतापूर्वक किया जाये।

'शिवम्' में 'सत्य' से अधिक अद्वैत होता है। 'शिवम्' दूसरों के हित का सम्पादन है। वह दूसरों के साथ तादात्म्य के द्वारा ही सम्भव होता है। यह तादात्म्य ही अद्वैत है। इस मानवीय अद्वैत में काल गति का अतिक्रमण सत्य की अपेक्षा अधिक होता है। जिस प्रकार गंगा-यमुना के संगम में प्रवाह मन्द हो जाता है, उसी प्रकार 'शिवम्' के परार्थ भावों में काल-गति के प्रवाह का अतिक्रमण हो जाता है अर्थात् मनुष्य स्वार्थ और अहंकार, लोभ और मोह के संकुचित भावों से ऊपर उठ जाता है। यह ऊपर उठना ही अतिक्रमण है। काल-गति का अतिक्रमण तथा दूसरों से अद्वैत ही 'शिवम्' का आध्यात्मिक आधार है।

'सुन्दरम्' कलात्मक मूल्य है, सौन्दर्य की साधना है, किसी सौन्दर्य अथवा कला की साधना 'सुन्दरम्'

है। किन्तु मूल रूप में यह भी परार्थमूलक है। कला में अंकित सौन्दर्य अपने से बाहर होता है। अतः सौन्दर्य के सजीव अंकन के लिये उस सौन्दर्य के प्रति आदर और महत्व दोनों आवश्यक होते हैं तथा कलाकार के लिये अपना महत्व नहीं रह पाता। कवि किसी गीत की अथवा काव्य की रचना करता है, चित्रकार चित्रांकन करता है, तो उसे अपनी सुधबुध नहीं रहती, जो कुछ वर्णित या चित्रित करना होता है, वही महत्वपूर्ण रहता है। वैष्णव धर्म भी इसी के अन्तर्गत आता है। भक्त भगवान की रूप माधुरी में तन्मय हो सब कुछ भूल जाता है। भगवान के सभी रूप अति-सुन्दर माने गये हैं। भक्त के लिये भगवान का रूप-सौन्दर्य भी उतना ही आराध्य होता है, जितने उनके अलौकिक गुण। इस दृष्टि से वैष्णव धर्म अनुपम है, उसमें कला अथवा सौन्दर्य का समन्वय सहज ही हो जाता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य की आराधना में हम दूसरे में तन्मय हो जाते हैं, चाहे वह दूसरा प्रकृति का सौन्दर्य हो अथवा कोई अन्य प्राणी हो, अथवा भगवान हों। सौन्दर्य में विभोर होकर हम अपने को भूल जाते हैं। यही अहंकार के अतिक्रमण और आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश का प्रमाण है।

लोक संस्कृति के पर्व उत्सव, लोकनृत्य आदि भी कला और सौन्दर्य के जीवन्त उदाहरण हैं। लोक संस्कृति के पर्व, उत्सव आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा मिलजुल कर मनाए जाते हैं। संस्कृति के समारोहों में अहंकारों का विलय हो जाता है और अद्वैत उदित होता है। सौन्दर्य विभोर हो सुधबुध भूलने अथवा अहंकारों के विलय में उदित 'सुन्दरम्' का यह अद्वैत 'सत्यं और शिवम्' दोनों से अधिक होता है। अद्वैत के अधिक उत्कर्ष के कारण 'सत्यं शिवं सुन्दरम् में 'सुन्दरम्' सर्वाधिक आध्यात्मिक बन जाता है।

आनन्द जीवन का चरम-मूल्य है। जीवन का परम उद्देश्य आनन्द प्राप्त करना है। यह आन्तरिक मूल्य है और आत्मा में अनुभव किया जा सकता है। यह 'स्व' और 'पर' दोनों से परे है, परमात्मा का लक्षण है। भगवान आनन्दघन हैं। दर्शनों में आनन्द प्राप्ति के लिये संसार का त्याग आवश्यक माना गया, है, किन्तु संसार में रहकर काल-गति का अतिक्रमण करके इस परमात्म-भाव का अनुभव किया जा सकता है। योग-दर्शन द्वारा निर्दिष्ट चित्त-वृत्ति-निरोध और समाधि संसार त्याग जन-साधारण के लिये असंभव ही है। संसार में रहकर ही इन्हें संभव बनाया जा सकता है।

जीवन में राग-द्वेष, स्वार्थ अहंकार आदि विकार आनन्द को खण्डित करते रहते हैं। यदि पारस्परिक व्यवहार में मनुष्य इन विकारों के निम्न धरातल से ऊपर उठ जाये, तो आनन्द खण्डित नहीं होगा वरन् वह उस अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ होगा, जो समाधि से अभिन्न है। यदि हम किसी से ईर्ष्या नहीं करें वरन् उसके साथ सहयोग और सद्भाव का व्यवहार करें, तो हमें और उसे दोनों को ही आनन्द मिलेगा।

किन्तु यह आनन्द एक मनुष्य अकेला नहीं प्राप्त कर सकता। इसके लिये यह आवश्यक है कि दूसरे मनुष्यों का भी वही दृष्टिकोण, वैसा ही व्यवहार हो। एक मनुष्य किसी के प्रति सद्भाव रखे, सहयोग करे, सेवा करे और दूसरे विपरीत व्यवहार करें, तो वह आनन्द खण्डित हो जायेगा, क्योंकि मनुष्य कोई भगवान तो है नहीं, उसकी भी सीमायें हैं। यदि अन्य मनुष्य भी अनुकूल आचरण करें, तो वह उदात्त व्यवहार पारस्परिक हो जायेगा और आनन्द खण्डित नहीं होगा, जीवन में आनन्द का सागर लहरायेगा। आज हम किसी के प्रति उसकी प्रसन्नता और आवश्यकता को ध्यान में रखकर कोई उदात्त आचरण करें, कल दूसरा हमारे साथ करे, यही पारस्परिकता है, इसी सद्भाव और सहयोग में ही आनन्द प्रस्फुरित और विकसित एवं विस्तारित होता है।

'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्' मूल्यों की चरम उपलब्धि 'आनन्द' प्राप्त करने में ही है, तथा इनकी चरम परिणति आनन्दमय ही होती है। ज्ञान का साधक जब सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, शिवं का संपादन कर्ता जब लक्षित-पात्र के साथ तादात्म्य अनुभव करता है और सौन्दर्य का उपासक जब अपनी उपासना में सब कुछ भूल जाता है तब इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा में अनिर्वचनीय उल्लास स्फुरित होता है, यही 'आनन्द' है। इस समय मनुष्य 'स्व' और 'पर' के अनुभव से ऊपर उठ जाता है । उसकी आत्मा में न स्वयं का ध्यान रहता है, न पर का। वह एक प्रकार से परमात्मा में लीन हो जाता है, परमात्म भाव को प्राप्त कर लेता है।

किन्तु यह आनन्द गतिशून्य अवस्था नहीं है। इसमें 'शान्ति' के ठहराव और स्थिरता के साथ-साथ गति का समन्वय भी रहता है। यद्यपि यह गति काल की गति से पूर्णतः भिन्न होती है। उसमें कालगति की विवशता नहीं होती, वह स्वतन्त्र संकल्प से प्रेरित गति होती है। यह आनन्द, जो संसार से पलायन करके नहीं, संसार में सक्रिय रहकर प्राप्त किया जाता है, मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूति तक ही सीमित नहीं है। आनन्दमग्न मनुष्य के सम्पर्क में आने वाले अन्य मनुष्य भी आनन्दित होते हैं। आनन्द प्राप्त करने वाला मनुष्य दूसरों को भी आनन्दित करने वाले कार्य, व्यवहार करता है।

इस प्रकार 'शान्ति, ज्ञान, श्रेय, सौन्दर्य और आनन्द' में उत्तरोत्तर जीवन के अध्यात्म का उत्कर्ष होता है। मनुष्य का व्यक्तित्व अधिकाधिक उदात्त और ऐश्वर्यशाली बनता है। अध्यात्म ही जीवन का आधार, विकास का सूत्र है, जिसमें गति और स्थिरता, ज्ञान और परोपकार, द्वैत और अद्वैत का समन्वय है। शिक्षा, सभ्यता और जीवन में अध्यात्म ही मनुष्य का प्रकाश-स्तम्भ बन सकता है। आज विज्ञान ने जिस सभ्यता को जन्म दिया है, वह विषयों की सुख-सुविधाओं से मनुष्य को भ्रमित कर रही है। द्वैत की वृद्धि के कारण मनुष्य को आत्मिक शान्ति नहीं मिल रही है और आनन्द तिरोहित हो रहा है अर्थात सर्वत्र आध्यात्मिकता के विपरीत स्थिति है और इसका एक मात्र उपचार अध्यात्म ही है। अध्यात्म से ही विषयों के व्यामोह, बौद्धिक ज्ञान की एकांगिता और अहंकारों के विरोध, व्यक्तिगत स्वार्थों की संकुचित भावनाओं का संकरण संभव है तथा विनय, आदर, श्रद्धा, सदाचार, परोपकार, सेवा, दया आदि के मार्ग को अपनाकर ही अध्यात्म के शिखर पर पहुंचा जा सकता है। ये सभी परार्थ भाव मूल रूप में सहयोग और सद्भाव पर आधारित हैं। हम जीवन में दूसरों के साथ सहयोग और सद्भाव का दृष्टिकोण रखें तो हमें 'शान्ति' प्राप्त हो सकेगी। तभी हमारी 'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्' की साधना सफल होगी और हमारा जीवन आनन्द आदि परमात्म भावों को साकार कर दिव्य बन सकेगा।

अतः अध्यात्म ही शिक्षा और जीवन का आधार है। सभी जीवन मूल्य अद्वैत पर आधारित होने के कारण आध्यात्मिक हैं और इन मूल्यों पर आधारित होने के कारण जीवन का आधार अद्वैत है, अध्यात्म है। अध्यात्म से ही शिक्षा उत्कृष्ट हो सकती है तथा जीवन सार्थक हो सकता है।

संक्षेप में यही पिताजी के जीवन के चिन्तन और लेखन का निष्कर्ष है, जो व्यवहार में लाए जाने पर इस भौतिकवादी, एकांगी अशान्त और आनन्द रहित मानव समाज के लिये अत्यधिक उपयोगी और कल्याणकारी बन सकता है।

भारतीनन्दन की संस्कृति और सौन्दर्य सम्बन्धी रचनाओं का परिचय

—अरुणा पाठक

भारतीनन्दन की रचनाओं में संस्कृति और सौन्दर्य सम्बन्धी धारणायें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से ही मिलती हैं। सत्यं, शिवं और सुन्दरम् सांस्कृतिक मूल्य माने जाते हैं। मानवीय संस्कृति मूलतः इन्हीं मूल्यों की साधना है। सुन्दरम् तो स्पष्ट रूप से कला से सम्बन्ध रखता है। कला सौन्दर्य की रचना है। कला का स्वरूप समझने के लिए सौन्दर्य की व्याख्या आवश्यक है। कला संस्कृति का भी अंग है। संस्कृति में भी सौन्दर्य का सन्निधान होता है। इसके अतिरिक्त सत्य और श्रेय की साधना भी संस्कृति का लक्ष्य है। संस्कृति केवल सुन्दरम् की उपासना मात्र नहीं है, वह शिवं की साधना भी है। सत्य भी संस्कृति का आधार बनता है। सत्य की खोज ज्ञान का विषय है। ज्ञान मनुष्य की बौद्धिक सम्पत्ति है। वह सभ्यता और संस्कृति के विकास को प्रेरित करता है। इस प्रकार सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के मूल्य मानवीय संस्कृति के त्रिरत्न बनते हैं।

व्यापक अर्थ में संस्कृति मनुष्य की उपलब्धियों और उसकी रचनाओं का संचित फल है। 'कृति' से ही संस्कृति की रचनात्मकता प्रकट होती है। संस्कृति मनुष्य की रचना है। मनुष्य ने अपनी सूझ और अपने प्रयत्न से जो कुछ निर्माण किया है, वह सब संस्कृति के अन्तर्गत है। रचना की दृष्टि से संस्कृति को प्रकृति से भेदभाव करके समझा जाता है। प्रकृति मनुष्य की रचना नहीं है, वह ईश्वर की रचना हो सकती है अथवा वह एक स्वतन्त्र व्यवस्था है, जिसके नियमों में मनुष्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। प्राकृतिक व्यवस्था में मनुष्य कोई मौलिक परिवर्तन नहीं कर सकता। प्रकृति से प्राप्त उपादानों से मनुष्य जो रचनायें करता है, उन्हें संस्कृति कहा जाता है। यह रचनायें संस्कृति की सम्पत्ति हैं। इन रचनाओं में मनुष्य सौन्दर्य का सन्निधान करता है। सौन्दर्य की रचना कला कहलाती है। इसलिए संस्कृति बहुत कुछ कलात्मक होती है, यद्यपि सत्य और श्रेय भी उसमें उचित स्थान पाते हैं।

भारतीनन्दन की रचनाओं में **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** उनकी सांस्कृतिक और सौन्दर्य सम्बन्धी रचनाओं का पहला ग्रन्थ है। उसके बाद डी० लिट० के लिये प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में भारतीय संस्कृति के जीवन्त रूपों का दार्शनिक मूल्यांकन किया गया है। इसी का एक संक्षेप हिन्दी में **'जीवन्त संस्कृति'** के नाम से प्रकाशित हुआ है। १९६२ में लिखित **'Concept of Culture'** नामक ग्रन्थ में संस्कृति के तत्वों और सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। **'Idea of Beauty'** नामक ग्रन्थ में सौन्दर्य की परिभाषा, सौन्दर्य के स्वरूप और उसके क्षेत्रों का विशद विवेचन मिलता है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से भी पहले **पार्वती**

महाकाव्य में अनेक स्थानों पर संस्कृति का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः 'पार्वती' एक सांस्कृतिक महाकाव्य है। प्रकृति को परिष्कृत करके उसके आधार पर जीवन के सुन्दर और कल्याणमय रूपों की प्रतिष्ठा करना 'पार्वती' का सन्देश है। मातृ शक्ति के रूप में 'पार्वती' इस रचना की प्रेरणा है। शिव उस रचना के लक्ष्य और सहयोगी हैं। दानव विकृत के प्रतीक हैं। विकृत ही उनकी अनीतियों का कारण है। तारक और त्रिपुर उनके प्रतिनिधि हैं। संस्कृति रचनात्मक है। वीर और चरित्रवान सन्तान की परम्परा रचकर दानवी अनीति का उन्मूलन किया जा सकता है तथा एक सुन्दर और मंगलमयी संस्कृति की स्थापना की जा सकती है। यही पार्वती का सन्देश है। कुमार कार्तिकेय मनुष्य समाज की इस रचनात्मक परम्परा के प्रतिनिधि हैं। शिव-पार्वती की तपस्या कार्तिकेय के समान आदर्श और वीर कुमारों के जन्म की भूमिका है। परशुराम के समान त्यागी और तेजस्वी गुरुओं का सहयोग भी अपेक्षित है। दानवी अनीति संस्कृति के विकास में बाधक है। वह श्रेय और सौन्दर्य का हनन करती है। स्वर्ग सौन्दर्य का ही लोक है। दानवों के द्वारा स्वर्ग की विजय इस बात की सूचक है कि प्रबल होकर दानवी अनीति सौन्दर्य का हनन करती है। शिव के पुत्र कार्तिकेय ने सेनानी बनकर स्वर्ग का उद्धार किया। इसका संकेत यही है कि मानवीय कल्याण (शिव) का सृजनात्मक लक्ष्य (कार्तिकेय) ही दानवी अनीति से जीवन के सौन्दर्य की रक्षा कर सकता है। तारक-पुत्र त्रिपुरों के विनाश के क्रान्तिसूत्र का निर्देश भी शिव ने ही किया। यह सूत्र ज्ञान शक्ति और प्रेम के समन्वय से सामाजिक क्रान्ति का सन्देश है, जिसके द्वारा दानवी अनीति नष्ट हो सकती है तथा एक सुन्दर और मंगलमय समाज की रचना हो सकती है। पार्वती इसी क्रान्ति का काव्य है।

शिव-पार्वती के समान नर-नारी की त्यागमयी तपस्या ही संस्कृति की रक्षक सन्तान की परम्परा को जन्म दे सकती है। परशुराम के समान ज्ञानी और तेजस्वी गुरुओं का सहयोग भी इसमें आवश्यक है। कार्तिकेय और जयन्त का सख्य इस बात का सूचक है कि युवकों के संगठन से ही दानवी शक्ति का प्रतिरोध किया जा सकता है। जयन्त इन्द्र के पुत्र हैं। इन्द्र विलास और सौन्दर्य के स्वर्ग के अधिपति हैं। उनके उत्तराधिकारी का विकृत होना स्वाभाविक है। शिव-पार्वती के पुत्र कार्तिकेय की मैत्री से जयन्त का जीवन आदर्शोन्मुख बनता है। जयन्त का उद्धार स्वर्ग के उद्धार की भूमिका है। आधुनिक युवकों के सन्दर्भ में पार्वती प्रेरणा की एक महत्वपूर्ण दिशा है। आदर्शोन्मुख युवकों की क्रान्ति से ही तारक और त्रिपुरों का विनाश हुआ तथा विश्व में एक निर्भय, स्वतंत्र, सुन्दर और मंगलमयी संस्कृति का नव निर्माण हुआ।

'पार्वती' महाकाव्य इसी सांस्कृतिक नवनिर्माण का काव्य है। शिव कथा की सनातन और पौराणिक भूमिका में इसी निर्माण के सन्देश को प्रस्तुत करना महाकाव्य का उद्देश्य है। महाकाव्य के अन्तिम तीन सर्गों में सांस्कृतिक समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। धर्म और शिक्षा इस निर्माण के आधार हैं। आध्यात्मिकता इस निर्माण का सूत्र और सिद्धान्त है। अध्यात्म प्रकृति को संयमित और परिष्कृत बनाने का साधन है। शिव आत्मा के प्रतीक हैं। शिव को परमात्मा माना जाता है। पार्वती उनकी शक्ति आत्मा की अभिव्यक्ति का ही नाम है। शिव का अर्थ कल्याण है। कल्याण की भावना ही आध्यात्मिक आचार की प्रेरणा बन सकती है। संस्कृति में आत्मिक तत्व लौकिक निमित्तों में अन्वित होता है। आत्मा में अन्वित होकर ये निमित्त पवित्र, सुन्दर और **मंगलमय** बन जाते हैं। इसी संस्कृति की साधना में मानव जीवन कृतार्थ होता है। 'पार्वती' महाकाव्य की सांस्कृतिक प्रेरणा और उसके आध्यात्मिक अनु-

रोध का एक प्रमाण यह है कि उसमें आत्मा और संस्कृति शब्द का प्रयोग विषय के सहज प्रवाह में सौ से भी अधिक बार हुआ है। वैसे सम्पूर्ण महाकाव्य की दिशा जीवन के आध्यात्मिक संस्कार और सांस्कृतिक परिष्कार की ओर है। शिव-पार्वती की तपस्या, तारक-वध और त्रिपुर-विजय की क्रान्ति समाज के सांस्कृतिक विकास के क्रमिक चरण हैं। अन्त के तीन सर्गों में इस समाज की कुछ संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। अन्तिम सत्ताईसवें सर्ग में भारतीय वर्ष-संस्कृति का सुन्दर और क्रमिक वर्णन है। संवत्सर की शक्ति पूजा से आरम्भ होकर वर सावित्री, रक्षाबन्धन, दीपावली, शिवरात्रि आदि पर्वों के क्रम से वर्ष की सांस्कृतिक परम्परा की परिणति होली के मधुर और आनन्दमय उत्सव में होती है।

इस प्रकार भारतीनन्दन ने पार्वती महाकाव्य में शिव कथा के आधार पर समाज के सांस्कृतिक आधार का एक रूपक प्रस्तुत किया है। भारतीय पर्व परम्परा को उन्होंने सांस्कृतिक समाज के आदर्श आचार के रूप में अंकित किया है। एक ओर यह भारत की सांस्कृतिक परम्परा के गौरव का प्रतिपादन है तथा दूसरी ओर यह इस परम्परा के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का सूचक भी है। संस्कृति का विवेचन करने वाले अन्य ग्रन्थों में भारतीनन्दन ने भारतीय संस्कृति के इन सिद्धान्त सूत्रों का अधिक विशद विवरण किया है।

इन ग्रन्थों में **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** प्रथम है। इसमें सांस्कृतिक दृष्टिकोण से काव्य का विवेचन है। सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर संस्कृति एवं साहित्य का निरूपण किया गया है। संस्कृति और सौन्दर्य की परिभाषायें भारतीनन्दन की रचनाओं में सत्यं शिवं सुन्दरम् नामक ग्रन्थ में ही प्रथम बार मिलती हैं। वैसे यही ग्रन्थ उनकी संस्कृति सम्बन्धी प्रथम रचना भी है। इसमें समात्मभाव के रूप में संस्कृति की भूमिका तथा कलाओं का विवेचन है। समात्मभाव के सिद्धान्त की स्थापना भी इसी ग्रन्थ में प्रथम बार की गई है। व्यंजना के द्वारा समात्मभाव की अभिव्यक्ति पार्वती महाकाव्य में भी विपुलता से मिलती है। सत्यं शिवं सुन्दरम् में उसका विस्तृत विवरण और विवेचन है। शिव आत्मा के प्रतीक हैं। इस नाते पार्वती में भी समात्मभाव का आत्मिक साम्य समाहित है। समात्मभाव आत्मा का साम्यपूर्ण भाव है। विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध में अन्य निमित्तों की विभिन्नता के बीच आत्मिक समानता का जो भाव उदित होता है, उसे समात्मभाव कहते हैं। भारतीनन्दन के अनुसार यही समात्मभाव संस्कृति का आधार है। यही कला और काव्य का स्रोत है। उनका मत है कि कला और काव्य की रचना व्यक्ति अपनी एकान्त व्यक्तिमत्ता में नहीं करता, वरन् समात्मभाव की प्रेरणा से करता है। संस्कृति की रचना में यही समात्वभाव फलित होता है। संस्कृति स्वरूप से ही सामाजिक है, वह व्यक्तिगत रचना नहीं है। सांस्कृतिक पर्व एवं उत्सव समाज में ही सम्पन्न होते हैं।

समात्मभाव भाव का अतिशय है। वस्तुतः आत्मा अतिशयपूर्ण ही है। समात्मभाव में आत्मिक भाव का अतिशय आनन्द के रूप में प्रकट होता है। यह सांस्कृतिक उत्सवों में उल्लास के रूप में व्यक्त होता है। यह संस्कृति का तत्व है। यह अतिशय सहज ही रूप के अतिशय के द्वारा व्यक्त होता है। रूप कला का सौन्दर्य है। यही कला के साथ संस्कृति के आन्तरिक सम्बन्ध का सूत्र है। कला में भी भाव का अतिशय होता है किन्तु कला में रूप की प्रधानता होती है। संस्कृति में भाव प्रधान होता है। संस्कृति अल्प रूप में अधिक भाव का अनुष्ठान है। संस्कृति के लौकिक निमित्त भी अल्प होते हैं। अल्प रूप और अल्प निमित्तों में ही संस्कृति विपुल भाव को सम्पन्न करती है। कला मुख्यतः रूप की रचना है। रूप ही सौन्दर्य है, सौन्दर्य रूप

का अतिशय है, यही भारतीनन्दन की सौन्दर्य की परिभाषा है।

संस्कृति और सौन्दर्य की उक्त परिभाषायें देकर सत्यं शिवं सुन्दरम् में कलाओं के विभिन्न भेदों का विवरण किया गया है। इन्हीं के अन्तर्गत काव्य का भी विवेचन है। शिवं के खण्ड के अन्तर्गत आत्मदान के रूप में शिव की परिभाषा की गई है। आत्मदान की सृजनात्मक परम्परा को शिवं का सर्वोत्तम रूप बताया गया है। सृष्टाओं का सृजन ही परम श्रेय है। 'पार्वती' में कथा और काव्य के रूप में इस सृजनात्मक परम्परा की प्रतिष्ठा की गई है। सत्यं शिवं सुन्दरम् में उसका सैद्धान्तिक प्रतिपादन किया गया है। सौन्दर्य भी सृजनात्मक है। सृजन ही सौन्दर्य है। इस प्रकार सौन्दर्य की शिवं के साथ संगति की गई है।

भारतीय जीवन्त संस्कृति और पर्व परम्परा को संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा का एक उत्तम रूप माना गया है। पार्वती में भी इसका संक्षिप्त संकेत है। **'Indian Philosophy of Life'** तथा **'हमारी जीवन्त संस्कृति'** नामक दो ग्रन्थों में इसका विशद् विवरण किया गया है। 'Indian Philosophy of life' भी सत्यं शिवं सुन्दरम् की भांति एक विशाल ग्रन्थ है। दोनों ही ग्रन्थ संस्कृति और कला के सम्बन्ध में भारतीनन्दन के स्वतन्त्र विचारों एवं सिद्धान्तों के भण्डार हैं।

Indian Philosophy of life के अन्तर्गत भारतीय जीवन परम्परा के विभिन्न स्वरूपों का विवरण तथा उनमें अन्तर्निहित सिद्धान्तों का निरूपण है। प्रतीक, पर्व, संस्कार, व्रत, तीर्थयात्रा, मेले आदि इनमें मुख्य हैं। Indian Philosophy of life में एक-एक अध्याय में इनका संक्षिप्त विवरण है तथा इनके सिद्धान्तों का निरूपण भी है। इसके अतिरिक्त चार पुरुषार्थों, चार आश्रमों और चार वर्णों का भी एक-एक अध्याय में वर्णन है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के इन रूपों के विवरण के साथ-साथ जीवन के मूल्यों के सन्दर्भ में इनका गम्भीर मूल्यांकन भी किया गया है। भारतीनन्दन का यह प्रतिपाद्य रहा है कि यह सांस्कृतिक परम्परा जीवन की एक उत्कृष्ट धारणा प्रस्तुत करती है। जीवन के मूल्यात्मक दृष्टिकोण से यह अत्यन्त श्रष्ठ और सराहनीय है। यह परम्परा भारत की अमूल्य निधि है। जीवन की सार्थकता और समृद्धि की दृष्टि से यह रक्षणोय है। प्रगति और आधुनिकता के नाम पर इसकी उपेक्षा एक घातक प्रमाद है।

'जीवन्त संस्कृति' नामक ग्रन्थ की भूमिका में ऐतिहासिक संस्कृति से भेद करके जीवन्त संस्कृति का लक्षण और विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में प्रतीक, पर्व संस्कार, व्रत आदि जीवन्त संस्कृति के लोकप्रिय और सुन्दर रूपों का एक-एक अध्याय में विवरण दिया गया है। Indian Philosophy of life में जीवन्त संस्कृति के इन रूपों का दार्शनिक विवेचन अधिक है। जीवन्त संस्कृति नामक ग्रन्थ में इनका अधिक सरल विवरण दिया गया है। इस ग्रन्थ की भूमिका में जीवन्त संस्कृति के स्वरूप और महत्व का निरूपण अत्यन्त सरल और स्पष्ट ढंग से किया गया है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के मूल्य और महत्व को समझने के लिये जीवन्त संस्कृति और ऐतिहासिक संस्कृति के भेद को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

सामान्य रूप से संस्कृति मनुष्य की रचना है। उसमें भाव और रूप के अतिशय का समन्वय होता है। रूप का अतिशय ही कला का सौन्दर्य है। अतः संस्कृति में कला का समन्वय रहता है। कला संस्कृति का अंग भी है और उसका स्वरूप भी। साहित्य, काव्य, नाटक आदि कला के रूप हैं, जो संस्कृति

के अंग भी माने जाते हैं। भारतीय संस्कृति की परम्परा के महत्व को उजागर करने के लिये भारतीनन्दन ने जीवन्त संस्कृति और ऐतिहासिक संस्कृति के भेद को रेखांकित किया है। संस्कृति एक सामाजिक रचना है। मनुष्य समाज के जीवन से उसका सम्बन्ध होता है। किन्तु जीवन्त संस्कृति और ऐतिहासिक संस्कृति में जीवन के इस सम्बन्ध की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। सांस्कृतिक रचनाओं में जीवन के तत्व रचना के निमित्त बनते हैं। जीवन्त संस्कृति में जीवन के यह निमित्त सजीव और साक्षात रूप में ग्रहण किये जाते हैं। यह जीवन्त निमित्त ही रचना के केन्द्र होते हैं। इन निमित्तों के साक्षात् और सजीव रूपों में कलात्मक रूप के अतिशय का समन्वय किया जाता है। विवाह, पुत्र-उत्सव, रक्षाबन्धन आदि इसके उदाहरण हैं। ये कलात्मक माध्यम के द्वारा जीवन के तत्वों के विवरण नहीं, जैसे कि काव्य, नाटक, चित्रों आदि में किये जाते हैं, वरन् इनमें जीवन के साक्षात् निमित्तों में कलात्मक रूप के अतिशय का अन्वय किया जाता है। जीवन के साक्षात् निमित्त ही रूप के अतिशय से युक्त होकर अधिक सुन्दर हो जाते हैं। जीवन्त संस्कृति साक्षात् जीवन को सुन्दर बनाती है।

इसके विपरीत ऐतिहासिक संस्कृति साक्षात् जीवन को नहीं वरन् उसके विवरण अथवा उसके चित्रण को अपना आधार बनाती है। मौलिक जीवन नहीं, वरन् कवि के द्वारा जीवन की धारणा इसका आधार होती है। जीवन के इस विवरण को कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह विवरण कलात्मक होता है। कलात्मक विवरण ही ऐतिहासिक संस्कृति का लक्ष्य है। वही मुख्य है। यह कह सकते हैं कि ऐतिहासिक संस्कृति में कलात्मक माध्यम में जीवन का समाहार किया जाता है अथवा रूप के अतिशय में जीवन के निमित्तों का अन्वय किया जाता है। यह स्पष्ट है कि जीवन तथा रूप के अतिशय की स्थिति संस्कृति के इन दो रूपों में एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। एक में जीवन प्रथम और मुख्य है तथा दूसरे में रूप का अतिशय प्रथम और मुख्य है। एक में जीवन के निमित्तों का साक्षात् और सजीव रूप में ग्रहण होता है तथा दूसरे में जीवन का कलात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाता है। विवरण जीवन का चित्रण है, स्वयं जीवन नहीं। काव्यों में विवाह के वर्णन, वर्णन हैं साक्षात् विवाह के उत्सव नहीं।

यही जीवन्त संस्कृति और ऐतिहासिक संस्कृति का मुख्य अन्तर है। इन दोनों में अन्य जिन बातों में अन्तर हैं, वे इस मुख्य अन्तर से ही अनुगत होते हैं। एक निश्चित काल, देश और व्यक्तियों के सन्दर्भ इतिहास के मुख्य तत्व हैं। इन्हीं के प्रसंग में इतिहास लिखा जाता है। इतिहास की घटनायें वास्तविक जीवन के तथ्य होती हैं। किन्तु इतिहास उनका लेखा एवं विवरण है। जीवन्त संस्कृति के अतिरिक्त संस्कृति के जिस दूसरे रूप को ऐतिहासिक संस्कृति कहा जा सकता है, उसमें इतिहास के उक्त संदर्भ सूत्र वर्तमान रहते हैं। किसी विशेष काल और स्थान से उनका सम्बन्ध रहता है। प्रायः कोई विशेष व्यक्ति उसकी रचना करता है, जिसका नाम उस रचना के साथ जुड़ा रहता है। इन ऐतिहासिक सन्दर्भों के कारण ऐतिहासिक संस्कृति के रूप इतिहास के एक बिन्दु से बंध जाते हैं। कहते हैं कि इतिहास की आवृत्ति होती है, किन्तु सत्य यह है कि नहीं होती। ऐतिहासिक संस्कृति के प्रसंग में तो यह बिल्कुल सत्य है। उसकी रचना एक बार ही होती है, एक समय और व्यक्ति के द्वारा होती है। वह कालबद्ध, देशबद्ध और व्यक्तिबद्ध रचना होती है। दूसरे व्यक्ति उसका आस्वादन कर सकते हैं, किन्तु यह आस्वादन रचना नहीं है। यदि आस्वादन में रचना का आभास देखें तो भी यह मौलिक रचना नहीं है, वरन् द्वितीय कोटि की रचना है। उदाहरण के लिए हम किसी भी काव्य कृति को ले सकते हैं। रघुवंश, मेघदूत, रामचरितमानस,

आदि जीवन के वर्णन हैं, साक्षात् जीवन नहीं। ये सब किसी व्यक्ति के द्वारा किसी विशेष काल में रचे गये। देश का सन्दर्भ भी इनमें समाहित है। ये सब भारत के कवि थे, किसी विशेष समय में हुये थे, चाहे भारत की ऐतिहासिक उपेक्षा के कारण इनका समय निश्चित न हो सके। तुलसीदास का जन्मस्थान अनिश्चित हो, किन्तु रामचरितमानस को रचना, उन्होंने अयोध्या में की तथा एक विशेष वर्ष में 'नवमी भौमवार मधुभासा' में रामचरितमानस सम्पूर्ण हुआ। प्रसाद जी काशी में रहते थे और किसी विशेष वर्ष में उनकी प्रत्येक रचना सम्पन्न हुई।

इस प्रकार ऐतिहासिक संस्कृति की रचनाओं में व्यक्ति, काल और देश के अनिवार्य सन्दर्भ बने रहते हैं। इनका मूल कारण यह है कि ऐतिहासिक संस्कृति व्यक्ति की रचना होती है। व्यक्ति के साथ ही काल और देश के सन्दर्भ जुड़े रहते हैं। रचनाकार के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति रचना के प्रसंग में पाठक, श्रोता और दर्शक की श्रेणी में होते हैं। वे रचना के भागीदार नहीं बन सकते। वे केवल आस्वादन के अधिकारी होते हैं। ऐतिहासिक संस्कृति की रचनायें समाज को दो भागों में बांट देती हैं। यह कोई दोष नहीं, वरन ऐतिहासिक संस्कृति की रचनाओं के स्वरूप और उनकी स्थिति का स्वाभाविक परिणाम है। समाज के साथ-साथ वे काल का भी विभाजन कर देती हैं। यह विभाजन रचनाकार के जन्म, रचनाकाल आदि के काल बिन्दुओं पर होता है। जिस प्रकार रचनाकार के व्यक्तित्व से समाज रचनाकार और सामाजिकों के दो भागों में बंट जाता है, उसी प्रकार इस काल बिन्दु के सन्दर्भ से काल का प्रवाह भी दो भागों में बंट जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में काल विभाजन एक काल बिन्दु के सन्दर्भ से ही होता है। काल के इस विभाजन के द्वारा ऐतिहासिक संस्कृति की रचनायें अतीत की धरोहर बन जाती हैं। यह उनकी अनिवार्य नियति है। इन रचनाओं के प्रणेता व्यक्ति ऐतिहासिक पुरुष बन जाते हैं। अतीत से बंध जाने के कारण ही यह रचनायें भावी काल में वर्तमान नहीं बन सकतीं। कुछ रचनाओं के समान जो दूसरी रचनायें होती हैं, वे भिन्न व्यक्तियों के द्वारा विशेष काल में रचे जाने के कारण स्वतन्त्र रचनायें होंगी, वे पूर्व रचना की आवृत्ति नहीं कही जा सकतीं। वाल्मीकि रामायण, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, राधेश्याम रामायण आदि के उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो सकता है।

इसके विपरीत जीवन्त संस्कृति की रचनायें सामाजिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से अनादि और अकाल होती हैं। वे किसी व्यक्ति के द्वारा नहीं रची जातीं, और न किसी कालबिन्दु को इनके आरम्भ बिन्दु के रूप में खोजा जा सकता है। ये आदि और अकाल रचनायें हैं। किसी अनादि काल में सामाजिक संकल्प के द्वारा इनकी रचना हुई होगी। किन्तु अतीत का यह सन्दर्भ जीवन्त संस्कृति की रचनाओं के प्रसंग में ऐसा महत्वपूर्ण नहीं है, जैसा ऐतिहासिक संस्कृति के प्रसंग में होता है। एक अनादि और अनिश्चित अतीत की भूमिका इनमें प्रेरणा के रूप में रहती है। किन्तु अतीत की अपेक्षा वर्तमान में इनकी आवृत्ति अधिक महत्वपूर्ण होती है। यही आवृत्ति इनका मुख्य स्वरूप भी है। वस्तुतः यह आवृत्ति नहीं, वरन् मूल रचना ही होती है। यह कह सकते हैं कि जीवन्त संस्कृति के रूपों की लगभग एक ही रूप में अनेक व्यक्तियों और समहों के द्वारा निरन्तर रचना होती रहती है। ऐतिहासिक संस्कृति की रचना एक विशेष घटना के रूप में होती है। जीवन्त संस्कृति ऐसी विशेष घटना नहीं वरन्, रचना की एक निरन्तर परम्परा है। परम्परा ही इसका स्वरूप है। यह परम्परा व्यक्तिगत नहीं सामाजिक होती है। सामाजिक संकल्प से उसकी रचना होती है। परम्परा का पूर्वागत क्रम उसकी प्रेरणा बन जाता है। सामाजिक रचना होने के कारण जीवन्त

संस्कृति के रूपों में रूप का अतिशय इतना अधिक नहीं होता कि सामान्य समाज उसका निर्वाह न कर सके। रूप का अतिशय अल्प होने के कारण सामान्य समाज इनका सरलता से निर्वाह करता रहता है। सम्बन्धित व्यक्तियों और परिवारों का स्वल्प संकल्प ही इसके लिये पर्याप्त होता है। पूर्व परम्परा का सामाजिक संकल्प उसे बल देता है। इसके निमित्त भी अल्प होते हैं, इस कारण भी सभी के लिये इसका निर्वाह सुगम होता है। रक्षा बन्धन, दीपावली और होली का पर्व इनके उदाहरण हैं। जीवन्त संस्कृति के जिन रूपों में रूप का जटिल अतिशय समाहित होता है, उनका निर्वाह साधारण जनों के लिये कठिन हो जाता है। वैदिक यज्ञ इनके उदाहरण है। किन्तु यह एक व्यावहारिक बात हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से निमित्तों की अधिकता और रूप के अतिशय की जटिलता जीवन्त संस्कृति के स्वरूप को समृद्ध बनाती है तथा उसके आनन्द को बढ़ाती है। विवाह का संस्कार इसका उदाहरण है। भारतीय विवाह में समाहित रूप का अतिशय अत्यन्त विपुल और जटिल है। फिर भी भारतीय समाज आनन्द से उसका निर्वाह करता रहा है और उसमें विपुल आनन्द का लाभ करता रहा है।

जीवन्त संस्कृति एक सामाजिक रचना है, कोई व्यक्ति उसकी रचना नहीं करता। अतः वह ऐतिहासिक संस्कृति की भांति समाज का विभाजन नहीं करती। इसके सन्दर्भ में रचनाकार अलग और पाठक, दर्शक आदि अलग नहीं होते। सभी उपस्थित समाज सम्मिलित रूप से उसकी रचना करता है। सभी रचना के भागीदार होते हैं। यों कह सकते हैं कि अपनी-अपनी स्थिति में सभी रचनाकार होते हैं। सभी की रचनात्मकता से रचना का समग्र रूप निर्मित होता है। यदि कहीं पुरोहित आदि की आवश्यकता होती है, तो वह भी रचना के सम्पूर्ण रूप का प्रणेता नहीं होता वरन् एक रूप की रचना के द्वारा रचना के सम्पूर्ण रूप के निर्माण में अन्य रचनाकारों की भांति अपना योग देता है। वैसे जीवन्त संस्कृति की सर्वोत्तम रचनायें वे ही कहीं जायेंगी, जिनमें सभी सामाजिक जन समान रूप से भाग लेते हैं और सभी समान रूप से रचनाकार होते हैं। दीपावली, होली के पर्व इसके उदाहरण हैं। लोक संगीत और लोक-नृत्य भी इसके उत्तम उदाहरण हैं। होली के उत्सव में तो इनका महत्वपूर्ण स्थान होता है। व्यक्ति काल और स्थान का किंचित भी सन्दर्भ संस्कृति के जिन रूपों में नहीं होता, जीवन्त संस्कृति के वे रूप ही सर्वोत्तम कहे जायेंगे। दीपावली और होली के पर्व इसके उत्तम उदाहरण हैं। जिन रूपों में रामनवमी, जन्माष्टमी, आदि की भांति विशेष काल, और व्यक्ति का सन्दर्भ रहता है, वे श्रेष्ठता की कोटि में अवसर ही माने जायेंगे। व्यक्ति और काल के अनुरोध के प्रभाव का अतिक्रमण इन पर्वों में राम और कृष्ण के भगवान के रूप में प्रतिष्ठित होने से हुआ है। मानवीय व्यक्तित्व की विशेषता से जीवन्त संस्कृति की एकात्मता खण्डित होती है। भगवान सबके आराध्य बन जाते हैं। अवतार की तिथि के सन्दर्भ में भी वे अनादि रहते हैं। अत: राम और कृष्ण के व्यक्तित्वों के सन्दर्भ से इस उत्सवों की एकात्मता खण्डित नहीं होती, फिर भी यह अखण्डता होली और दीपावली के समान नहीं हैं। यह पर्व अनादि हैं, इनमें राम की लंका विजय, प्रह्लाद आदि के सन्दर्भ जोड़ना भ्रमपूर्ण एवं अनुचित है।

अस्तु जीवन्त संस्कृति व्यक्ति और काल के सन्दर्भों से जितने अधिक पूर्ण रूप में मुक्त रहती है, उतनी ही वह अधिक जीवन्त रहती है तथा ऐतिहासिकता के तत्व का उसमें उतना ही कम संकट होता है। रूप का अतिशय जटिल होने से उसका निर्वाह कठिन अवश्य हो जाता है। किन्तु वह जितना अधिक होता है, उतना ही वह संस्कृति को समृद्ध बनाता है और उसे सुन्दर एवं आनन्दप्रद बनाता है। रूपों की विवि-

धता और जटिलता संस्कृति की समृद्धि और श्रेष्ठता का कारण है। यद्यपि इससे उसका निर्वाह अवश्य कठिन होता है। सामान्य जनों की दृष्टि से जीवन्त संस्कृति में रूप के अल्प अतिशय और जीवन के अल्प निमित्त ही समाहित होते हैं। अल्प निमित्त और अल्प रूप में अधिक आनन्द की सृष्टि करना जीवन्त संस्कृति की विशेषता है। इस दृष्टि से भारतीय जीवन्त संस्कृति विश्व में अतुलनीय है। वह विविधा से अत्यन्त समृद्ध है। उसमें जटिलता का भी तारतम्य है। इतनी समृद्ध संस्कृति का उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है। 'हमारी जीवन्त संस्कृति' नामक ग्रंथ में भारत की जीवन्त संस्कृति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

Concept of culture नामक ग्रन्थ में संस्कृति के स्वरूप की विशद् व्याख्या की गई है। व्याख्या की भूमिका के रूप में पहले संस्कृति और culture शब्दों की व्युत्पत्ति का विवरण दिया गया है। तथा दोनों के मौलिक अन्तर का निदर्शन किया गया है। अंगरेजी के Culture का मूल खेत जोतने में है, इसीलिए खेती Agriculture कहलाई। पश्चिमी धारणा में संस्कृति का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है। मनुष्य की सभी कृतियां संस्कृति कहलाती हैं। किन्तु भारतीय 'संस्कृति' पद के 'सम' प्रत्यय के कारण साम्य के भाव से युक्त कृतियां ही संस्कृति की सीमा में आती हैं। वैषम्य से युक्त कृतियां संस्कृति की संज्ञा की अधिकारिणी नहीं हैं।

शब्दों की इस व्युत्पत्ति के बाद ग्रन्थ में संस्कृति के लक्षणों का विवेचन किया गया है। एक अध्याय में संस्कृति की चार विधाओं का विवरण है, जो भौतिक जगत की चार विधाओं के अनुरूप हैं। उसके बाद संस्कृति की विशेषताओं का वर्णन है। पिछले अध्यायों में सभ्यता, कला, धर्म और दर्शन के सन्दर्भ में संस्कृति का तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

संस्कृति की विधाओं के अन्तर्गत सबसे पहले रचनात्मक संकल्प का विवरण किया गया है। रचनात्मक संकल्प संस्कृति की पहली विधा है। संस्कृति मूलतः रचनात्मक है। 'कृति' से रचना का ही बोध होता है। संस्कृति मनुष्य की साम्यपूर्ण रचना है। प्रकृति के उपादानों से मनुष्य अपने संकलन के द्वारा जो कुछ रचता है, वह संस्कृति है। इन रचनाओं में साम्य की विशेषता संकल्प की स्वतंत्रता के अनुपात में आती है, जिसे विकृति कह सकते हैं। उसमें मनुष्य का संकल्पजन्य कृतित्व कम और वासनाजन्य विवशता अधिक होती है। स्वतन्त्रता संकल्प की विशेषता है। स्वतन्त्रता आत्मा का लक्षण है। संकल्प आत्मिक होता है। इसीलिए तन्त्रों में उसे शिव रूप आत्मा की इच्छाशक्ति माना गया है। आत्मा समतापूर्ण है। अतः आत्मा के संकल्प में विषमता नहीं हो सकती। आत्मिक संकल्प ही सृजनात्मक होता है। वैषम्य से युक्त संकल्प ध्वंसात्मक होते हैं। उनमें प्राकृतिक विरोध और विषमता का अनुरोध अधिक होता है। संस्कृति आत्मा के साम्यपूर्ण और रचनात्मक संकल्प का फल है। यह रचनात्मक संकल्प संस्कृति की पहली विधा है।

संस्कृति की दूसरी विधा अतिशय है। वस्तुतः यह अतिशय भी आत्मा का ही लक्षण है। प्रकृति में अतिशय नहीं होता। प्रकृति के सब विधान उपयोगितापूर्ण होते हैं। जो उपयोगिता के अतिरिक्त होता है, उसे अतिशय कह सकते हैं। अतिशय एक प्रकार से निष्प्रयोजन तत्व है। प्राकृतिक उपयोग की दृष्टि से वह निष्प्रयोजन होता है। आत्मिक दृष्टि से वह आनन्दपूर्ण होता है। इस अर्थ में उसे सप्रयोजन कह सकते हैं। किन्तु यह प्रयोजन प्राकृतिक उपयोगिता से भिन्न है। प्राकृतिक उपयोगिता भौतिक, ऐन्द्रिक और शारीरिक होती है। इन्हीं कारणों से वह व्यक्तिगत होती है। किन्तु सांस्कृतिक रचनाओं का प्रयोजन

व्यक्तिगत नहीं होता। उनका प्रयोजन सामाजिक होता है। संस्कृति की रचना की प्रेरणा और प्रयोजन दोनों ही सामाजिक होते हैं। आत्मिक भाव की प्रेरणा से यह प्रयोजन सम्पन्न होता है। इसी कारण संस्कृति की रचनायें व्यक्तिगत प्राकृतिक उपयोगिता की दृष्टि से अतिशयपूर्ण होती हैं।

यह अतिशय दो प्रकार का होता है। एक भाव का अतिशय और दूसरा रूप का अतिशय। भाव का अतिशय आनन्द की सृष्टि करता है और रूप का अतिशय सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। संस्कृति तथा अधिकांश कलाओं में दोनों प्रकार के अतिशय का संगम होता है। वाद्य संगीत के समान कुछ ही कलायें शुद्ध रूप से रूपात्मक होती हैं। अधिकांश कलाओं में रूप का अतिशय अधिक होता है। किन्तु भाव का अतिशय भी पर्याप्त होता है। काव्य में दोनों की समानता अभीष्ट है। संस्कृति में भाव का अतिशय अधिक होता है। लोक संस्कृति की परम्परा अल्प रूप में अमित भाव का अनुष्ठान करती है। कलाओं में सौन्दर्य अधिक होता है। संस्कृति आनन्दप्रद अधिक होती है।

संस्कृति की तीसरी विधा समात्मभाव है। समात्मभाव आत्मा का साम्यपूर्ण भाव है। आत्मा व्यक्तिगत नहीं है। प्रकृति व्यक्तिगत होती है। व्यक्तिगत न होने के कारण आत्मा का भाव सामाजिक और परस्पर है। पारस्परिक साम्य का भाव ही समात्मभाव है। समात्मभाव की भूमिका ही संस्कृति की रचना होती है। संस्कृति व्यक्ति की रचना नहीं है। कला की रचना भी व्यक्ति समात्मभाव की भूमिका में करता है। संस्कृति का प्रयोजन भी सामाजिक होता है। सामाजिक समात्मभाव में ही उसका आनन्द सम्पन्न होता है।

संस्कृति की चौथी विधा परम्परा है। सामाजिक होने के कारण संस्कृति परम्परा बन जाती है। परम्परा के रूप में ही संस्कृति की धारा प्रवाहमान होती है। परम्परा एक ओर समाजिक प्रथा है और दूसरी ओर रचनात्मक प्रेरणा भी। परम्परा की सामाजिक शक्ति ही संस्कृति की रचनाओं का क्रम बनाये रखती है और उनके लिए समात्मभाव की भूमिका सुरक्षित रखती है।

संस्कृति की इन विधाओं के अनुरूप ही संस्कृति के लक्षणों का निरूपण पुस्तक के एक अध्याय में किया गया है। स्वतंत्रता संस्कृति का प्रमुख लक्षण है। स्वतंत्रता आत्मिक है। प्रकृति में स्वतंत्रता नहीं है। प्रकृति नियति है। स्वतंत्रता आत्मिक है। इस नाते संस्कृति भी आध्यात्मिक है। आत्मा अतिशयपूर्ण है। रूप और भाव के अतिशय आत्मिक ही हैं। आत्मिक होने के कारण ही संस्कृति सामाजिक है। प्रकृति व्यक्तिगत है। संस्कृति के सामाजिक भाव में आत्मा प्रकट होती है। संस्कृति के रूप और भाव सामाजिक होते हैं। अतः संस्कृति सामाजिक आनन्द का स्रोत है। आत्मिक होने के कारण ही संस्कृति अनुपम विशेषताओं से युक्त होती है। प्रकृति सामान्य है। सभी देशों और राजाओं में उसका एक ही रूप मिलता है। किन्तु संस्कृति के रूप सर्वत्र भिन्न होते हैं। उनकी अपनी विशेषतायें हैं। आत्मा भी अनुपम है और अद्वितीय है। अनुपम विशेषताओं में ही संस्कृति का सौन्दर्य और भाव सम्पन्न होता है। आत्मिक होने के कारण संस्कृति निरुपयोगी है। वह भाव और रूप के अतिशयों की रचना है, जो व्यक्तिगत और प्राकृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं होते। किन्तु जो सामाजिक दृष्टि से जीवन के सौन्दर्य और आनन्द को बढ़ाते हैं। भाव और रूप के अतिशय के द्वारा जीवन के सौन्दर्य और आनन्द की समृद्धि ही संस्कृति है।

संस्कृति मनुष्य की रचना है। रचना के क्षेत्र अनेक हैं। सभ्यता, कला, धर्म, दर्शन आदि भी मनुष्य की रचना है। प्रायः इन्हें संस्कृति के अन्तर्गत गिना जाता है। किन्तु संस्कृति से इनका भेद भी

किया जा सकता है। पुस्तक के पिछले अध्यायों में संस्कृति के साथ इनकी तुलना की गई है और दोनों के भेद का निर्देशन किया गया है। **'Idea of beauty'** सौन्दर्य दर्शन का सैद्धान्तिक ग्रन्थ है, जिसमें सिद्धान्तों के साथ-साथ सौन्दर्य के विविध रूपों का भी वर्णन है। इसमें सौन्दर्य की एक परिभाषा का विशद् विवेचन है, जिसका सूत्रपात 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में किया गया था। इस परिभाषा के अनुसार सौन्दर्य 'रूप का अतिशय' है। Idea of beauty में 'रूप के इस अतिशय का विस्तृत विवरण दिया गया है और सौन्दर्य के विविध रूपों की व्याख्या में इसको घटित किया गया है। सौन्दर्य एक ओर मनुष्य की सहज वृत्ति है। बालकों को भी कुछ सौन्दर्य बोध होता है, किन्तु दूसरी ओर सौन्दर्य जीवन का अत्यन्त रहस्यमय रूप है। सौन्दर्य का आस्वादन सरल है, किन्तु उसकी व्याख्या कठिन है। सौन्दर्य-दर्शन के इतिहास में अनेक प्रकार से सौन्दर्य की परिभाषा की गई है। किसी भी परिभाषा का पूर्णतः सन्तोषजनक होना कठिन है। सौन्दर्य की सभी परिभाषायें उसके किसी पक्ष को प्रकाशित करती हैं। 'रूप के अतिशय' के रूप में सौन्दर्य की परिभाषा कदाचित् अन्य परिभाषाओं से अधिक सन्तोषजनक होगी। कदाचित् वह सौन्दर्य के विविध रूपों की अधिक संगत व्याख्या कर सकेगी। सौन्दर्य अनेक प्रकार का होता है। उसके दो रूप अधिक स्पष्ट हैं। एक प्राकृतिक सौन्दर्य, जिसकी मनुष्य रचना नहीं करता, वरन् जिसका वह आस्वादन करता है। दूसरा कलात्मक सौन्दर्य जिसकी मनुष्य रचना करता है। सौन्दर्य की यह परिभाषा कदाचित् एक ही लक्ष्य से सौन्दर्य के इन दोनों रूपों की अधिक मान्य व्याख्या प्रस्तुत कर सकती है। यही व्याख्या इस ग्रन्थ का विषय है।

सौन्दर्य जीवन का सांस्कृतिक मूल्य है। सत्यं शिवं सुन्दरम् की त्रिवेणी में सौन्दर्य का स्थान कदाचित् यमुना के समान है, जो शिव की गंगा में समाहित होकर संस्कृति का निर्माण करता है। गम्भीर अर्थों में सत्य निगूढ़ सरस्वती के समान है। यह तीनों ही मूल्य जीवन में महत्वपूर्ण हैं। किन्तु इनमें सौन्दर्य एक दृष्टि से अधिक व्यापक है कि बालकों को भी इसका आभास होता है। अशिक्षित व्यक्ति जिनको सत्य और श्रेय का अधिक ज्ञान नहीं होता, वे भी सौन्दर्य की सराहना करते हैं। आदिम मनुष्य, जिसे सत्य और श्रेय का बहुत कम ज्ञान था वह भी कला कृतियों का निर्माण करता था। उसकी आदिम गुफाओं में प्राचीन चित्र मिलते हैं। सौन्दर्य की सरलता और आदिमता उसे और रहस्यमय बना देती है। सरल और आदिम होने के साथ-साथ सौन्दर्य जीवन का एक व्यापक मूल्य है। आदिम काल से ही जीवन के विभिन्न रूपों में मनुष्य सौन्दर्य का समन्वय करता रहा है। वह अपने हथियारों, निवासों, वस्त्रों तथा वस्तुओं को सुन्दर बनाता रहा है, यद्यपि सुन्दरता से इनकी उपयोगिता नहीं बढ़ती। इसके अतिरिक्त वह नृत्य, संगीत आदि के रूप में सौन्दर्य की रचना भी करता रहा है। सौन्दर्य की सराहना एवं रचना दोनों ही मनुष्य की मौलिक वृत्तियां हैं। सौन्दर्य से मिलकर मनुष्य की संस्कृति और उसका जीवन दोनों ही सुन्दर बने हैं। सौन्दर्य आनन्ददायक भी है, इसने जीवन को आनन्दमय भी बनाया है।

मनुष्य के स्वभाव की तीन वृत्तियों में सौन्दर्य का सम्बन्ध भावना से अधिक है। सत्य ज्ञान का विषय है। श्रेय संकल्प की साधना है। सौन्दर्य भावना का अनुरंजन करता है। कलात्मक सौन्दर्य रचनात्मक है। सौन्दर्य रूप की रचना है। श्रेयतत्व की रचना है। किन्तु सभी सौन्दर्य रचनात्मक नहीं होते। प्राकृतिक सौन्दर्य ज्ञानात्मक अधिक होता है। यद्यपि गम्भीर रूप में सौन्दर्य एक आन्तरिक भाव है। किन्तु प्रत्यक्ष रूप में वह संवेदना का विषय प्रतीत होता है। संवेदना से सौन्दर्य का सहज सम्बन्ध है। कलाओं

के माध्यम भी संवेदनात्मक होते हैं। किन्तु सौन्दर्य का मूल मर्म आन्तरिक भाव है। सौन्दर्य के कुछ बाहरी निमित्त होते हैं। किन्तु आन्तरिक भाव और दृष्टि न होने पर उन्हीं निमित्तों में सौन्दर्य नहीं दिखाई देता। रंग और रूप सौन्दर्य के बाहरी निमित्त हैं। किन्तु रंग ही सौन्दर्य नहीं है। उपयोग या विनाश करने वाले को भी रंग दिखाई देता है, किन्तु सौन्दर्य दिखाई नहीं देता। किसी सुन्दरी के हत्यारे को भी उसका वही रूप दिखाई देता है, जो उसके पति या प्रेमी को दिखाई देता है। किन्तु हत्यारे को उसके रूप में सौन्दर्य नहीं दिखाई देता। इसका कारण अनुकूल आन्तरिक भाव और दृष्टि का अभाव है। यह भाव और दृष्टि ही सौन्दर्य का मूल मर्म है।

जिस अतिशय के द्वारा सौन्दर्य की परिभाषा की गई है, वह बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार का होता है। बाह्य अतिशय रूप का अतिशय है और आन्तरिक अतिशय भाव का अतिशय है। दोनों ही प्रकार का अतिशय मिलकर सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। दोनों ही प्रकार का अतिशय उपयोगिता से भिन्न है। उपयोगिता की तुलना से ही हम अतिशय को समझ सकते हैं। उपयोगिता प्रमाण और प्रयोजन की उपयुक्तता है। उपयुक्तता अतिशय का अभाव है। उसमें आवश्यक और उपयोगी से अधिक कुछ नहीं होता। रूप और भाव जब उपयोगिता का अतिक्रमण करते हैं, तो वह अतिशय से युक्त हो जाते हैं। अतिशय रूपगत और भावगत दोनों प्रकार का होता है। रूपगत अतिशय आकार की समृद्धि है। **भावगत** अतिशय उपयोगिता के दृष्टिकोण से अधिक होता है। मूलरूप में निरुपयोगी दृष्टिकोण ही सौन्दर्य का प्रकाशक है। निरुपयोगी दृष्टिकोण से देखने पर कोई भी वस्तु सुन्दर लगती है। निरुपयोगिता से वही रूप अतिशयपूर्ण बन जाता है। उपयोगिता एक तात्विक दृष्टिकोण है। प्रायः तत्व का ही उपयोग होता है। अतः उपयोगिता रूप और सौन्दर्य की हानि करती है। प्रकृति का सौन्दर्य रचनात्मक नहीं होता। किन्तु निरुपयोगी दृष्टिकोण से प्रकृति सुन्दर दिखाई देती है। गांव का दीन हीन जीवन भी सुन्दर प्रतीत होता है। दीन-दुखी ग्रामवासियों को उसमें कोई सुन्दरता नहीं लगती। नवीनता और समात्मभाव भी सौन्दर्य के सूत्र हैं। नवीनता से ही रूप में एक अतिशय उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये फैशन के सौन्दर्य में नवीनता का व्यसन बढ़ गया है। समात्मभाव सभी मूल्यों का आधार है। सौन्दर्य भी समात्मभाव की स्थिति में ही प्रकाशित होता है। अकेले के लिये सौन्दर्य की सराहना सम्भव नहीं है। मन के अकेले होने पर मनुष्य नीरस हो जाता है। सौन्दर्य एक ऐसा मूल्य है, जिसकी सराहना में भाग लेने के लिये हम दूसरों को आमंत्रित करते हैं। सौन्दर्य हमें आकर्षित करता है और हम दूसरों को आस्वादन करने के लिये आमन्त्रित करते हैं। इस आमंत्रण में ही समात्मभाव उदित होता है। निष्प्रयोजन होने के कारण सौन्दर्य का यह आमंत्रण आत्मिक है। इस दृष्टि से सौन्दर्य अन्य मूल्यों की अपेक्षा अधिक आत्मिक है। सत्य हमारी जिज्ञासा को प्रेरित करता है। किन्तु वह ज्ञानात्मक होने के कारण उदासीन है। श्रेय संकल्पात्मक होने के कारण अधिक रचनात्मक है। श्रेय के सम्पादन में हम दूसरों के जीवन में भाग लेते हैं। किन्तु सौन्दर्य की सराहना में हम समान रूप से साझीदार बनते हैं। यह समानता ही सौन्दर्य को अधिक आत्मिक बनाती है। श्रेय तात्विक है और सौन्दर्य रूपात्मक है। दोनों मिलकर आत्मा की आकांक्षा को पूर्ण बनाते हैं। एक दृष्टि से श्रेय और सौन्दर्य ही परम तत्व हैं। इसीलिये ईश्वर अवतार और देवता श्रेय और सौन्दर्य के प्रतीक माने गये हैं।

भारतीनन्दन की रचनाओं में भारत महिमा

—मेजर शशि प्रकाश पाराशर

भारत की महिमा के गायक,
सुकवि 'भारतीनन्दन'
धन्य धन्य हो गई 'भारती'
पाकर तुम सा 'नन्दन'

भारत के सपूत 'भारतीनन्दन' की समस्त रचनाओं में भारत की महिमा का प्रतिपादन मिलता है। उन्होंने भारत के गौरव को रेखांकित करने वाले अनेक पक्षों का दिग्दर्शन किया है। यह भारत की कीर्ति का भावुकतामय गान नहीं वरन् उसकी महिमा का विचार संगत प्रतिपादन है। यह समर्थन पौराणिक इतिहास तथा जीवन के मूल्यों के आधार पर किया गया है।

सर्वप्रथम १९४९ में प्रकाशित "शंकराचार्य के आचार दर्शन" की भूमिका में धर्म प्रचार के संदर्भ में भारत के उच्च आदर्श का संकेत किया गया है। धर्म प्रचार का सूत्रपात बुद्ध ने किया। बुद्ध के बाद अन्य भारतीय धर्मों में प्रचार की परम्परा चलती रही है। इस प्रचार में छल बल का प्रयोग होता रहा। तलवार के द्वारा धर्म प्रचार को भी गौरव की बात समझा गया। साधारण जनों के अज्ञान का लाभ उठाकर उनमें धर्म प्रसार को तो पूर्णतः निर्दोष समझा गया किन्तु वैदिक धर्म परम्परा में धर्म प्रसार की प्रवृति न रही और न इसमें छल बल का प्रयोग किया गया। वैदिक परम्परा में एक ऐसी अभिजात प्रथा रही जिसका अन्यत्र उदाहरण मिलना कठिन है। यह प्रथा अज्ञानियों को प्रभावित करने के स्थान पर ज्ञानियों को प्रभावित करने की परम्परा है। विद्वानों के समाज में इसे "शास्त्रार्थ" का नाम दिया जाता है। 'शास्त्रार्थ' श्रेष्ठ विद्वानों की पांडित्यपूर्ण बौद्धिक प्रतियोगिता है, जिसमें तर्क और प्रमाण के द्वारा अपने मत का समर्थन और दूसरे के मत का खण्डन किया जाता है। वैसे तो दर्शन आदि शास्त्रों के ग्रंथ भी इसी शैली में लिखे गए हैं किन्तु विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों का साक्षात शास्त्रार्थ भी होता था। आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द तथा अन्य आर्यसमाजी विद्वानों के शास्त्रार्थ प्रसिद्ध रहे हैं। इतिहास में शंकराचार्य के शास्त्रार्थ प्रसिद्ध हैं।

यह शास्त्रार्थ की परम्परा बलपूर्वक धर्म परिवर्तन अथवा अज्ञानियों को प्रभावित करने की नीति के पूर्णतः विपरीत है। छल बल की नीति जितनी अन्यायपूर्ण है उतनी ही यह न्यायपूर्ण है। इसमें संगठित शक्ति के साथ असहाय अथवा अज्ञानी का सामना नहीं होता वरन् एक श्रेष्ठ ज्ञानी के साथ दूसरे पक्ष के श्रेष्ठ ज्ञानी का सामना होता है, जिसमें दोनों पक्ष के सत्य के सामने आने की सर्वाधिक सम्भावना रहती है। गान्धी जी ने एक बार किसी पादरी को यह चुनौती दे दी थी कि वह तर्क द्वारा ईसाई धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित कर दें तो वे ईसाई हो जायेंगे। जब औरंगजेब ने सिक्खों को धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया

तो गुरू तेग बहादुर ने सिक्खों को सुझाव दिया कि यदि औरंगजेब गुरू तेगबहादुर को मुसलमान बना ले, तो सभी सिक्ख मुसलमान हो जायेंगे। गुरू तेगबहादुर के बलिदान ने एक ओर बलात् धर्म परिवर्तन की प्रणाली के असत्य और अत्याचार को अनावृत किया तथा दूसरी ओर सिक्ख धर्म को अमरता का वरदान दिया।

वैसे तो ज्ञान और धर्म के क्षेत्र में किसी भी प्रकार का अतिचार अनुचित है। भिन्न विचार रखने वाले व्यक्तियों को ग्रंथों में अपना मत प्रकट करने की स्वतंत्रता है, किन्तु दूसरों की स्वतंत्रता पर आघात करना अनुचित है। अज्ञानियों को प्रभावित करना तो एक प्रकार की प्रवंचना है। इस संदर्भ में सर्वोत्तम प्रणाली यही हो सकती है कि अधिकारी विद्वान शास्त्रार्थ द्वारा अपने विरोधों का समाधान करे। धर्म और ज्ञान के क्षेत्र में भारत में प्रचलित शास्त्रार्थ की परम्परा सांस्कृतिक शालीनता का एक इतना ऊंचा मानदण्ड है कि इसका अन्यत्र उदाहरण मिलना कठिन है। लेखक ने अपने शंकराचार्य सम्बन्धी ग्रंथ में भारत की इस गौरवपूर्ण परम्परा का गर्व के साथ उल्लेख किया है तथा छल बल से धर्म परिवर्तन की अन्यायपूर्ण प्रथा की तुलना में इसकी उत्कृष्टता को उजागर किया है।

'शंकराचार्य के आचार दर्शन' के बाद अपने 'पार्वती' महाकाव्य तथा अन्य काव्यों में कवि ने भारत की भौगोलिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक महिमा का वर्णन किया है। पार्वती महाकाव्य के प्रथम सर्ग के १०८ छन्दों में हिमालय का विशद् वर्णन हुआ है। हिमालय के प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त उन्होंने उसके ऐतिहासिक गौरव का भी संकेत दिया है। कवि ने इस मत की स्थापना की है कि सृष्टि का आरम्भ हिमालय से ही हुआ। जलवायु की उत्तमता को देखकर कवि की यह कल्पना असंगत नहीं जान पड़ती। तापमान, ऋतुक्रम प्राकृतिक विभूति वर्षा कृषि की सम्भावना आदि अनेक दृष्टियों से हिमालय की घाटियां सृष्टि और सभ्यता के आरम्भ के लिए विश्व में सर्वोत्तम हैं। अन्य पर्वत श्रेणियां अधिक शीतल हैं। हिमालय से सृष्टि के आरम्भ का व्यंजनापूर्ण वर्णन निम्न छन्दों में मिलता है—

"आदि सृष्टि क्षण में अनन्त ने सरस हृदय का रस उद्रेक,
दीप्त दृगों में भर मेघों के, किया प्रथम जिसका अभिषेक;
प्रथम उषा ने ज्योति करों में लेकर नभ का नीलम थाल,
की उज्ज्वल आलोक आरती, स्खलित दिगंचल मृदुल सम्हाल।

रूप राशि से सृजन-कोष की, विधि ने कर सुन्दर आरम्भ,
छोड़ दिया संकोच-सहित निज रम्य सृष्टि रचना का दम्भ;
मर्यादा बन स्वर्ग-सृष्टि की सुषमा का असीम आगार,
चरम कल्पनाएं कवियों की करता सदा सहज साकार।"

हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य और उसके सांस्कृतिक वैभव के वर्णन से यह पूरा सर्ग ही परिपूर्ण है। सर्ग के अन्त में हिमालय की संस्कृति को विश्व का ज्योतिर्दीप तथा पथ प्रकाशक बताया गया है—

"धाता की मानस रचना का अवनी पर अंकित आकार,
अमित कल्पना की सुषमा का धरणी तल पर मुक्त प्रसार;

संसृति का यह सार-देश औ संस्कृति का यह पीठ महान,
जग का ज्योतिर्दीप करेगा युग युग तक आलोक प्रदान।
उज्ज्वल तेज, कान्ति, महिमा से यह जीवन का ज्योतिर्दीप,
कर देगा चिर प्राप्ति सिद्धि से जीवन के सब इष्ट समीप;
उमा और शंकर के तप का योग-पूत यह पीठ महान,
तपोभूमि कर पद पद जग का, होगा संस्कृति का वरदान।"

पार्वती के अन्तिम सर्ग में शिव संस्कृति की भूमिका भी भारत के भिन्न-भिन्न भागों के लोगों की ग्रीष्म कालीन भारत यात्रा से आरम्भ की गई है—

"खुल गया हिमालय जीवन के कुड्मल-सा,
चल पड़ा चतुर्दिक गुंजित मधुकर-दल-सा;
हो चला द्रवित मानस किस करुणा क्रम से,
जग पड़ा सहज कैलास योग के श्रम से।"

त्रिपुर विनाश के बाद नई सृष्टि का मंगलाचरण भी कैलाश पर रचित हुआ है। कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

"उदय हुआ कैलास कूट पर नए सर्ग का रवि था,
नए विश्व का गीत रच रहा मानव का ध्रुव कवि था;
विश्व भारती के मंगल-सा शिव का डमरू बोला,
शिव ने आज नवीन सर्ग का सूत्र मर्ममय खोला।"

कवि की कल्पना के अनुसार नवीन मंगलमयी संस्कृति का प्रसार हिमालय से हुआ—

"सुन्दर स्वस्थ प्रसन्न शिवमयी जीवन शैली,
अखिल विश्व में सौरभ-सी हिम गिरि से फैली;
धाराओं से धरणी ने जीवन रस पाया,
सफल हुआ रसदान प्राप्त कर सुन्दर काया।"

हिमालय की शिव संस्कृति विश्व का आदर्श बनी। शिव पुरुषों के आदर्श बने। इस जीवन रूप का प्रतिपादन कवि ने निम्न पंक्तियों में किया है—

"शंकर के अवतार सदृश्य नर जीवन योगी,
तपः शक्ति से बने त्रिपुर जय के उद्योगी;
विश्व प्रकृति के त्रिपुरों को नित खण्डित करते,
आत्मा की छवि से जीवन को मण्डित करते।"

पार्वती स्त्रियों का आदर्श बनीं। आदर्श नारियों का मंगलमय रूप कवि ने हृदयग्राही रूप में व्यक्त किया है—

"तप: ज्योति से पूत उमा-सी उज्ज्वल नारी,
स्नेह शक्ति से बना सहज नर को त्रिपुरारी;
गृह गृह में शिव वास दिव्य कैलास बनाती,
भू में कृति स्मिति-दृष्टि कृपा से स्वर्ग खिलाती।"

कैलाश विश्व की दीप शिखा बना। इसका गौरवमय वर्णन कवि ने निम्न पंक्तियों में किया है—

"दीप शिखा कैलास बना था उज्ज्वल जग की,
हरता अन्ध अनीति अखिल जीवन के मग की;
ज्योतिर्धारा तुल्य स्वच्छ सरितायें बहतीं,
जीवन की आलोकमयी गीतायें कहतीं।"

उत्तर दिशा में हिमालय विश्व का ध्रुवतारा बना—

"ध्रुव सी निश्चल ज्योति शिखा योगी के मन सी,
आत्मा के निर्मल प्रकाश का शुचि दर्पण सी;
ध्रुव-इंगित से दिखा लोक की उत्तर आशा,
रचती जीवन के स्वरूप की शिव परिभाषा।"

कवि ने मान सरोवर, मेघ, पर्वत की वायु, पर्वत के जल, वनस्पतियों आदि का व्यंजनापूर्ण वर्णन करके कैलाश को विश्व में संस्कृति का सौरभ फैलाने वाले विश्व-कमल का रूप दिया है—

"मानस में ज्यों अमल स्नेह रस बढ़ता जाता,
अमृत शिखा में नई ज्योति औ प्रभा जगाता,
धूम तुल्य घिरते कजरारे मेघ गगन में,
बनते अंजन दिव्य लोक के सजल नयन में।"

पर्वत की वायु वर्णन का सुन्दर रूप निम्न पंक्तियों में वर्णित है—

"वह पर्वत की वायु श्वास बन नव जीवन की,
बनती नूतन स्फूर्ति जागरित तन की, मन की;
प्राणों में संचार नए प्राणों का करती,
स्वस्थ रक्त से जीवन में नव आत्मा भरती।"

पर्वत का जल अमृत के समान संजीवन है—

"वह पर्वत का स्वच्छ नीर निर्मल जीवन-सा,
प्राणों के हित अमृत-तुल्य शुचि संजीवन-सा;
सर में दर्पण, सरिता में बन जीवन धारा,
सुमनों में भरता पराग आत्मा का सारा।"

पर्वतीय भूमि दिव्य लोक के समान है—

"वह पर्वत की भूमि कठिन भी वसुन्धरा-सी,
सुमनों से रस राग मयी थी गन्ध-परा-सी;
रत्न और औषधियों की आभा में जगती,
दिव्य लोक-सी उदय हुई अवनी पर लगती।"

कैलाश का विश्व कमल रूप—

"तेज पुंज सा था स्वरूप गुरु गरिमा शाली,
जीवन में साकार हुई रसमयी प्रणाली;
विश्व कमल कैलास स्वर्ण छवि से था खिलता,
छवि-पराग में गंध-स्वर्ण का अन्वय मिलता।"

प्राकृतिक वैभव ऐतिहासिक प्राचीनता और सभ्यता के आरम्भ के अतिरिक्त आध्यात्मिकता और सांस्कृतिक श्रेष्ठता भारत के गौरव के दो मुख्य आधार हैं। शास्त्रार्थ की प्रथा भी —सांस्कृतिक श्रेष्ठता का ही प्रमाण है। भारतीय धर्म और दर्शनों में आध्यात्मिकता का उत्कर्ष मिलता है। भारतीय जीवन और परम्परा में संस्कृति का वैभव साकार हुआ है। १९५८ में प्रकाशित **'भारतीय दर्शन की भूमिका'** में भारतीय दर्शन के आध्यात्मिक गौरव को रेखांकित किया गया है। **'भारतीय संस्कृति के प्रतीक' 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' 'Indian Philosophy of Life' 'Concept of Culture' 'Unique India' 'Message of India'** तथा 'हमारी जीवन्त संस्कृति' में भारतीय संस्कृति की महिमा का विशद् वर्णन है। 'भारतीय संस्कृति के प्रतीक' में प्रतीकों की दृष्टि से भारतीय संस्कृति की सम्पन्नता और श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है। इसमें संकेत किया गया है कि प्रतीकों की विविधता, विपुलता और व्यापकता के द्वारा भारतीय परम्परा में सम्पूर्ण जीवन के सांस्कृतिक रूपान्तर का जैसा प्रयास किया गया है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा। अन्य ग्रंथों में पर्व संस्कार, व्रत आदि के रूप में प्रचलित भारतीय संस्कृति की परम्परा का वर्णन है। इनमें जीवन के सांस्कृतिक रूपान्तर का साक्षात् वर्णन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि अनेक रूपों और सन्दर्भों में घटित जीवन का सांस्कृतिक रूपान्तर भारतीय परम्परा में कितने समृद्ध रूप में सम्पन्न हुआ है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में जीवन के इस रूपान्तर का मूल्यात्मक विवेचन है। 'Concept of Culture' में यह विवेचन संस्कृति की परिभाषा की भूमिका में किया गया है। 'हमारी जीवन्त संस्कृति' में ऐतिहासिक और जीवन्त संस्कृति का भेद स्थापित करके भारतीय जीवन्त संस्कृति की सम्पन्नता का परिचय दिया गया है। 'Unique India' में भारतीय जीवन दर्शन, दर्शन, भाषा और व्याकरण की अनुपम श्रेष्ठता का दिग्दर्शन किया गया है। 'Message of India' में भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को एक संदेश के रूप में प्रस्तुत किया है जिसके द्वारा भौतिकता में भटकते हुये विश्व का कल्याण हो सकता है। 'Spiritual Foundation of Life' 'Existence of Man' तथा 'Secular Social & Ethical Values in the Upanishads' तथा Secular, Social & Ethical Values in the Gita' में आध्यात्मिकता के महत्व का प्रतिपादन किया गया है तथा उपनिषद् और गीता में निर्देशित जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण की जीवन्तता, परिपूर्णता और उसकी महिमा का दिग्दर्शन किया गया है।

भारतीनन्दन के मन्तव्यानुसार आध्यात्मिकता ही जीवन का आधार है। भारतीय दर्शन में उसका गहन अवगाहन किया गया है। संस्कृति जीवन का आध्यात्मिक और कलात्मक रूपान्तर है। अध्यात्म और संस्कृति के द्वारा जीवन सम्पन्न पूर्ण एवं कृतार्थ होता है। भारतीय चिन्तन में जीवन के आध्यात्मिक तत्व का जो अनुसन्धान किया गया है, वह सत्य के सबसे अधिक निकट है। भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा में जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों तथा सांस्कृतिक सौन्दर्य एवं आनन्द का सबसे अधिक सन्निधान किया गया है। इस दृष्टि से भारतीय अध्यात्म दर्शन मानवीय चिन्तन का सर्वश्रेष्ठ रूप है तथा भारतीय जीवन्त संस्कृति मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है।

दार्शनिक और सांस्कृतिक ग्रन्थों में भारत की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता का तर्क संगत विवेचन किया गया है। भाषा विज्ञान सम्बन्धी ग्रंथों में भाषा और वर्ण विवेक की दृष्टि से उसका अनुशीलन किया गया है। इस अनुशीलन का निष्कर्ष यह है कि वर्ण विवेक और शब्द-संस्कृति की दृष्टि से संस्कृत भाषा अनुपम है। समृद्ध संस्कृति और सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न भाषा का आयात अथवा संचरण नहीं हो सकता। अतः वैदिक संस्कृति और वैदिक भाषा पश्चिमोत्तर भारत के मूल निवासी आर्यों की निजी सम्पत्ति है, जिसका उपार्जन उन्होंने इसी देश में किया।

'पार्वती' प्रकाशन के पश्चात् लिखित खण्डकाव्यों में भारत की महिमा का मण्डन बड़े सशक्त रूप में किया गया है। खण्डकाव्य 'ब्रह्मर्षि' में सभ्यता के प्रारम्भिक केन्द्र के रूप में भारत का चित्रण—

"अखिल विश्व में अद्भुत है भारत की धरती,
प्रकृति ब्रह्म की महिमा इसमें वैभव भरती,
सृष्टि काव्य का यह सुन्दर मंगलाचरण है
श्रुतियों में गुंजित इसका विश्रुत गायन है।"

भारत के प्राकृतिक रूप का व्यंजनापूर्ण वर्णन—

"फैला अपनी देह पूर्व उत्तर पश्चिम में,
तेज सत्व का दीपित करता उज्ज्वल हिम में,
बना रहा दुर्लंघ्य हिमालय इसका प्रहरी
सागर रचता परिखायें विस्तृत औ गहरी।

हुआ शील से नम्र विंध्य उन्नत अभिमानी,
है सदैव कटिबद्ध युद्ध के हित सेनानी।
वन उपवन पट वीरोचित रंगीन बनाते,
पानी चढ़े कृपाण नदी निर्झर लहराते,

प्रकृति कला के वैभव से रमणीय सजीले,
इसी स्वर्ग के गन्धर्वों के प्रान्त रंगीले,
तप तीर्थ कितने मुनियों ने सिद्ध बनाए,
मुक्ति फलों के कल्प वृक्ष अक्षय्य लगाये।"

इस खण्डकाव्य में भारत के प्राकृतिक वैभव के साथ-साथ उसके आश्रम जीवन की महिमा का भी वर्णन है—

संसृति में अनुपम भारत का यह अद्भुत भूलोक,
विश्व काव्य के प्रथित सर्ग का प्रचुर भावमय श्लोक,
इसके पद-पद वर्ण-वर्ण में ध्वनित रहस्य अनन्त,
ध्वनि से गुंजित, छवि से रंजित होते सतत दिगन्त।

इसकी मृण्मय वसुन्धरा में रवि के तेजोद्रेक,
रचते किस रहस्य मय विधि से रत्न पदार्थ अनेक
रविकर से अर्जित सागर से उठ उदार पर्जन्य,
विपुल वनस्पतियों से करते वसुन्धरा को धन्य।

"वन मालाओं के अंचल से तप, संस्कृति और ज्ञान,
स्वस्थ सबल शिशुओं से पल कर वय से बने महान्
होम धूम की शिखा, यज्ञ के साम गान के छन्द,
रचते स्वर लिपि में जीवन का ज्योतिर्मय आनन्द।"

भारत की सरितायें धर्म और संस्कृति की प्रतीक हैं—

पर्वत शिखरों से सरितायें करुणा मयी उदार,
हो अवतरित भूमि पर करतीं जीवन का विस्तार,
संस्थापित उनके तीरों के तीर्थ अनेक समीप,
धर्म और संस्कृति के बनते पावन ज्योतिर्दीप।"

कवि द्वारा वर्णित पर्वत शिखर तपोनिष्ठ योगी के समान हैं—

वसुन्धरा के गौरव से उठ पर्वत शिखर अनेक,
करते जीवन की गतिविधि का सहज प्रशस्त विवेक,
तपोनिष्ठ योगी से निश्चल चिर समाधि में लीन,
सहज काल जय करके, रखते प्रकृति सदैव नवीन।

सरिताओं व निर्झरों का रसमय वर्णन—

"निभृत गह्वरों के अन्तर से सत्व प्रवाह समान,
बहती जीवन की सरितायें पुण्यवती अम्लान;
सुदृढ़ पृथुल पार्श्वों से बहते निर्मल निर्झर स्रोत,
जीवन की गति में करते वे रसस्वर ओत-प्रोत।"

खण्डकाव्य 'सत्यकाम' में भी सभ्यता के आदि स्रोत के रूप में भारत का चित्रण किया गया है—

"जब धरती पर शून्य भाव सर्वत्र घिरा,
जीवन था निर्जीव भाव से रहित निरा;

धरती पर था छाया कठिन पटल हिम का,
नाद न होता कहीं नदी के डिंडिम का।"

भारत के भू-मध्य भाग की वसुन्धरा,
सूर्य स्पर्श से प्रथम हुई थी प्राण परा;
कठिन पटल हिम का था तप से तनिक गला,
हृदय धरा का करुणा से मानो पिघला।

तपश्तेज मय सूर्य ब्रह्म साकार बना,
भरा दृगों में भारत के भाव का सपना;
जिसमें ब्रह्म भाव जीवन का इष्ट रहे,
स्रोत ब्रह्म का सदा अखंड प्रवाह बहे।"

प्राकृतिक रूप में भारत की महिमा का वर्णन—

योगी के ब्रह्माण्ड तुल्य उत्तुंग महा,
शुभ्र ज्योति से दीप्त दिव्य कैलास रहा;
किन्तु द्रवित हो हृदय मानसर साम चला,
गंगा यमुना, सिन्धु आदि में द्रुत पहला।

स्रोत बह चला जगती के नव जीवन का,
रचता नूतन मार्ग सर्ग के साधन का;
सजग हुआ जीवन सरिताओं की गति में,
अमृत बना यह परम्परा की सन्तति में।

उच्च हिमालय पर विनम्र होकर बरसे,
कठिन भूमि के भाग्य अंकुरों में सरसे;
वृक्ष लताओं से पर्वत का प्रान्त भरा,
फल फूलों से हुई सार्थ यह वसुन्धरा।

सरिताओं पर अगणित औषधि प्रस्थ बसे,
फल फूलों के साथ मनुष्य नवीन हंसे;
फलाहार से संस्कृति का आरम्भ हुआ,
प्रकट मनुज की मानवता का दम्भ हुआ।

खण्डकाव्य 'तुलाधार' में शिव को आदि सभ्यता का प्रवर्तक मानकर हिमालय के आश्रम जीवन को सभ्यता का आरम्भ बताया गया है—

अर्क कर्क का भारत और हिमालय का,
बन ज्योतिर्मय केतु प्रकृत प्रेषित जय का;

निर्मल नभ में रहा वर्ष भर फहराता,
विषम हिमालय सम ऋतु की महिमा पाता।

कन्दमूल फल के बन सात्विक आहारी,
बने आदि आदर्श मनुज के त्रिपुरारी;
जब पृथ्वी पर मृगया ही आहार रही,
फलाहार से हिमगिरि की थी धन्य मही।

पृथ्वी पर अन्यत्र वधिक से मानव थे,
ये ही कथा पुराणों के वे दानव थे;
जिनके कृत्य कठोर क्रूर औ बर्बर थे,
नर आहारी जो विख्यात निशाचर थे।

तब कैलाश कूट पर शिव साधन करते,
योग-कला का दिव्य प्रेरणा से भरते;
आदि मानवों को हिमगिरि के अधिकारी,
मानव ऋषि मुनि बने योग के अभ्यासी।

योगी भी शिव मानव के आदर्श बने,
रचे उन्होंने संस्कृति के पहले सपने;
कला, शास्त्र विद्यायें बन जो सत्य हुए,
परम्परा में अमृत भूत के तथ्य हुये।

शिव के अनुरूप साधनामय योगी,
ऋषिमुनि विद्या शास्त्रों के थे उद्योगी;
विद्याओं से लोकों का उपकार हुआ
शास्त्रों के सूत्रों का भी विस्तार हुआ।

योग और साधन जीवन के धर्म बने,
उनके अनुभव ही जीवन के मर्म बने;
साधन योग शास्त्र विद्या के स्रोतों-से,
ऋषि मुनि बनते भवसागर के पोतों से।

खण्डकाव्य 'चन्द्रगुप्त' में भारत की सांस्कृतिक और राजनैतिक श्रेष्ठता का संकेत किया गया है—

यही हिमालय स्वर्ग मनोहर मानव मन का,
यही वास गन्धर्व अप्सरा किन्नर गण का;
यही सुमेरु, कुबेर यक्ष की अद्भुत अलका,
यही सत्य बन स्वप्न मनुज के कवि का झलका।

यज्ञ शिखा की प्रभा रही आलोक जगाती,
यज्ञ धूम की गन्ध प्रफुल्लित चित्त बनाती;
यज्ञ मंत्र की ध्वनि जगती की बनी प्रभाती,
आत्मा का रस बना मनुज संस्कृति की थाती।

सप्त सिन्धु बन अवध मगध को सरस बनाती,
फल गोधन औ अन्न विपुल दिनरात लुटाती;
लक्ष्मी का भण्डार बना भारत इनसे ही,
प्रकृति भूति से धन्य हुए इसमें नर देही।

इसी प्रकृति के वैभव से ही भारतवासी,
बने विपुल संस्कृति से सृष्टा औ अभ्यासी;
इसी प्रकृति के वैभव में अध्यात्म जगाया,
इन दोनों में पूर्ण मनुज ने जीवन पाया।

दोनों ही बन गये मनुजता की मर्यादा,
इन्हें न हमने कभी किसी पर बल से लादा;
मुक्ति मंत्र ये बने नीति के बन्धन भारी,
बने विदेशों के हित हम न आक्रमणकारी।

खण्डकाव्य 'मेनका' में भारत के अध्यात्म और उसके आश्रम जीवन की महिमा का निर्देश मिलता है—

"पुण्य भूमि इस भारत की जग में जय हो,
इसकी पावन कीर्ति विश्व में अक्षय हो;
इसका तप औ योग पन्थ हो जीवन का,
आत्मा में हो सफल साध्य तन का, मन का।

यह ऋषियों की भूमि रही जिसमें फैली,
वन्य आश्रमों की पावन जीवन शैली,
पुण्य आश्रमों में जीवन साधक रहते,
शान्ति और रस के निर्झर निर्मल बहते।

आश्रम के इन ऋषियों की ही कल्याणी,
स्वर-निर्झर मधुमन्द वेद की शुचि वाणी,
गूंजी मानव संस्कृति के सूर्योदय में,
भर जीवन का राग साधना की लय में।

तप-तेज मुनियों का जग का सूर्य रहा,
वेद पाठ उनका जागृति का तूर्य रहा,

तेजस्वी ऋषि मुनिवर पूज्य ऊर्ध्व रेता,
रहे धर्म संस्कृति के उपकारी नेता ।"

खण्डकाव्य 'अहल्या' में भारत की महिमा का दिग्दर्शन अध्यात्म, योग और आश्रम की भूमिका में किया गया है—

धन्य भारतवर्ष की पावन धरा है,
विश्व में सबसे अधिक यह उर्वरा है,
प्रकृति औ संस्कृति यहां दोनों फली हैं
वे अनन्य समृद्ध रूपों में ढली हैं ।

सिन्धु गंगा आदि ने बन कर विधाता,
हुआ उर्वर क्षेत्र, आदिम अन्नदाता,
प्रकृति का जिसमें प्रभात हुआ सुनहला,
खुला संस्कृति का तथा अध्याय पहला ।

सृष्टि के प्राचीन उस आदिम समय में,
सभ्यता के सूर्य के नव अभ्युदय में,
धर्म संस्कृति कला का आलोक छाया,
सौम्य भारतवर्ष में बन मधुर माया ।

द्रव्य से ऋषि लोक जन सब यज्ञ करते,
गन्ध के आमोद से थे शून्य भरते;
साम स्वर से वेद के मधुर छन्द गाते,
साम्य में स्वर भाव के आनन्द पाते ।

बनाकर आश्रम कुटज एकान्त वन में
लीन जीवन साधना के हो गहन में;
यज्ञ तप व्रत योग में जीवन बिताते,
दिव्य कृति से सरणि संस्कृति की बनाते ।

योग तप अध्यात्म की संस्कृति निराली,
साधना की कठिन अन्तर्मुख प्रणाली;
रची ऋषियों ने प्रकृति के वैभवों में,
हुए प्रगणित लोक में वे पुंगवों में ।

खण्डकाव्य 'शकुन्तला' ने भारत की महिमा का संकेत तपोमय आश्रम-जीवन के द्वारा किया गया है —

"तपो भूमि भारत की जगती में जय हो,
तपोयोग का शील शान्ति का आश्रय हो;

आत्मा की अनुभूति ज्ञान का मर्म बने,
उसकी प्रकट भूति मनुज का धर्म बने।

मुनि चरणों से पूत धन्य इसकी धरती,
सिर पर रज धर कवि-प्रतिभा वन्दन करती;
वसुन्धरा में जीवन के बहु रत्न पले
वन-आश्रम में साधन के बहु यत्न फले।

यज्ञ कर्म में रत मुनियों की आयु रही,
होम गन्ध से पावन इसकी वायु रही;
उसी वायु से सुरभित मानव हृदय हुये,
उसी वायु में संस्कृति के स्वर उदय हुये।

खण्डकाव्य 'उमा' में हिमालय को सभ्यता के आदि स्रोत के रूप में चित्रित किया गया है—

भारत की उत्तर दिक उत्तम सौभाग्यमयी,
धरती के सब भागों से बढ़कर है विजयी;
उन्नत विशाल हिमगिरि के अयुत शिखर फैले,
जो उज्ज्वल करते हिम-सत से रजतम मैले।

गुणमयी प्रकृति से स्वर्ग हुआ आरम्भ नया,
नभ में हिमरेखा खिली द्वितीय सी उदया;
निश्चे यामा ने शिला भूमि द्रुम जलतम से,
अनुराग लोक के खिले उषा के आगम से।

खण्डकाव्य 'सावित्री' में नारी के आदर्श की दृष्टि से भारत की महिमा का वर्णन है। इसमें शिव और पार्वती को आदि पुरुष बताया गया है तथा पार्वती और सावित्री के उदाहरणों से भारतीय नारी के पातिव्रत की महिमा का वर्णन किया गया है—

"जिस महिमा से भारत भू का मुकुट बना,
हुआ सत्य बन स्वर्ग भोर का सा सपना;
वह महिमा सर्वत्र यहां रज में फैली,
बनी साधना से सात्विक जीवन-शैली।"

उस महिमा का सूर्य हिमाचल पर निकला,
हुआ सभ्यता का प्रभात जिस पर उजला;
शुभ्र सत्व का तीर्थ हिमाचल स्वर्ग बना,
तपः सूर्य को समुचित ही पारस कहना।
उस पारस की मूर्ति रूप-आत्माधारी,
शिव शंकर हैं विदित विश्व के त्रिपुरारी;

त्रिगुण त्रिपुर का भेद भंग कर अन्वय से,
सूत्रधार संस्कृति के पहले परिणय से।
जो बन कर पूजित भारत के घर-घर में,
स्थापित अर्चित जन-जन के अन्तर में,
सती पार्वती पतिव्रता पहली नारी;
महादेव के वामांचल की अधिकारी।

पार्वती का पातिव्रत भारतीय संस्कृति का गौरवमय रूप है—

वह भारत की नारी का आदर्श बनी,
पातिव्रत से उसके पूत हुई धरणी;
सती पार्वती का पवित्र आदर्श सदा,
हरता मानव जीवन की सारी विपदा।
लक्ष्मी बनकर खिलीं नारियां शीलवती,
आत्मा की अपार वैभव निधि से महती;
अप्सरियों के से उनके सुन्दर तन में,
जगा उमा का शील तपोमय यौवन में।

'सावित्री' खण्डकाव्य के मंगलाचरण में सावित्री के रूप में भारतीय पावन नारी की कवि ने वन्दना की है—

"सावित्री-सी पतिव्रता पावन नारी की जय हो,
उसकी मृत्युंजय महिमा से मानव पूर्ण अभय हो;
सत्यवान की रोग ताप युग मृत्यु उसी से हारी,
संजीवनी लोक जीवन की शक्तिमती हो नारी।"

कवि की कामना है—

"सावित्री की कीर्ति विश्व में अमर रहे,
पतिव्रता की आत्म शक्ति का मंत्र कहे;
आत्मशक्ति से पतिव्रता पावन नारी,
आयु-भूति अल्पायु नरों को, दे सारी।"

इस प्रकार कवि के प्रत्येक ग्रन्थ में भारत महिमा का गान है, भारत के सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक दोनों रूपों की वन्दना है, भारतीय आदर्श की सशक्त व्यंजना है। निश्चय ही मां भारती के सच्चे सपूत भारतीनन्दन द्वारा भारत वन्दना एक अभिनन्दनीय तथ्य है। तदर्थ उनका भी हार्दिक अभिनन्दन, सादर अभिवादन।

डॉ० रामानन्द तिवारी के भाषा सम्बन्धी विचार

—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

कुछ विचार, मान्यताएं और सिद्धान्त इतने रूढ़ हो जाते हैं कि उनके विषय में नई दृष्टि को स्वीकार करना सम्भव ही नहीं जान पड़ता। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि ज्ञान के लगभग सभी क्षेत्रों में अधिकांश मान्यताएं विदेशियों अथवा उनके प्रियजनों द्वारा थोपी गई हैं। लम्बे अर्से तक पराधीन रहने और अपनी संस्कृति से अनभिज्ञ होने के कारण हम एक योजना बद्ध रूप से भटकाए गए लोगों की तरह अपनी किसी भी बात को सच मानने का साहस नहीं जुटा पाते हैं। यह तर्क मात्र भाषा विज्ञान पर ही नहीं इतिहास, भूगोल और अन्य विषयों पर भी समान रूप से लागू होता है।

डॉ० रामानन्द तिवारी बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। वे भारतीय संस्कृति के विशिष्ट व्याख्याकार हैं। संस्कृति की उल्लेखनीय विशेषताओं का गम्भीर अध्ययन और राष्ट्र कल्याण की भावना से उनका निदर्शन उनका अभीष्ट रहा है। डॉ० तिवारी के हर रूप में संस्कृति का अनूठापन उजागर हुआ है। चाहे वह दार्शनिक, कवि, शिक्षक, विचारक या समाजसेवी का रूप क्यों न हो। इस दृष्टिकोण से उनकी अधिकांश मान्यताएं या तो नितान्त नई हैं या संस्कृति के प्रस्तार का नया प्रयत्न हैं। संस्कृति के परिपेक्ष्य में भाषा विज्ञान का उनका विवेचन प्रचलित सिद्धान्तों से भले ही भिन्न हो किन्तु वह सार्थक सांस्कृतिक दृष्टि से अद्वितीय और गृहणीय है।

डॉ० रामानन्द तिवारी ने भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में दो, ग्रन्थ लिखे हैं—**१-सांस्कृतिक भाषाविज्ञान २—भाषा विज्ञान का वर्णमाला मूलक सिद्धान्त।** इन दोनों ग्रन्थों में डॉ० तिवारी ने भाषा-विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसे 'सांस्कृतिक सिद्धान्त' कहना उचित होगा। यह सिद्धान्त उनके संस्कृति सम्बन्धी सिद्धान्तों पर आश्रित है तथा भाषा विज्ञान के क्षेत्र में उनका प्रस्तार है।

संस्कृति को डॉ० तिवारी मनुष्य का कृतित्व मानते हैं। कृतित्व का भाव संस्कृति शब्द में ही निहित है। कृतित्व का मूल मनुष्य की विकसित बुद्धि और उसके संकल्प में होता है। कृतित्व के द्वारा ही मनुष्य ने सभ्यता का विस्तार किया है। भाषा मनुष्य की सबसे प्राचीन और सबसे महत्वपूर्ण कृति है। संकल्प की स्वतन्त्रता के कारण मनुष्य के कृतित्व के रूप अनेक होते हैं। सभ्यता और भाषाओं की भिन्नता में इस अनेकरूपता के उदाहरण मिलते हैं। प्रकृति में अनेकरूपता रहती है। मनुष्य का स्वभाव सर्वत्र एक है। भौगोलिक प्रकृति में जहां भिन्नता दिखाई देती है, वहां भी उसका सिद्धान्त एक, और समान है। एकरूपता प्रकृति का स्वरूप और सिद्धान्त है। संस्कृति के कृतित्व में अनेकरूपता फलित होती है।

कृतित्व के नाते भाषा को सामान्य रूप से सांस्कृतिक कहना अनुचित न होगा। सामान्यतः सभी भाषाएं सांस्कृतिक हैं, क्योंकि वे मनुष्य की कृति हैं। किन्तु सभी भाषायें समान परिणाम में सांस्कृतिक नहीं हैं। कृतित्व की अधिकता के कारण संस्कृत भाषा कदाचित सबसे अधिक सांस्कृतिक है। इस दृष्टि से

उसका 'संस्कृत' नाम अत्यन्त सार्थक है। संस्कृत भाषा की समृद्ध सांस्कृतिकता का मूल और प्रमाण उस समृद्धि कृतित्व में है, जो उसकी वर्णमाला, उसके उच्चारण, उसके शब्द निर्माण आदि में प्रकट हुआ है।

भाषाओं का विकास मनुष्य की मुखर ध्वनियों के उच्चारण की सामर्थ्य के आधार पर हुआ है। यह सामर्थ्य सभी जीवों में होती है, किन्तु मनुष्य में यह सामर्थ्य अधिक विकसित है। इसीलिए वह अन्य जीवों की तुलना में अधिक बहुरूप अलग-अलग विविध ध्वनियों का सम्पादन कर सका है। लगभग सभी मनुष्य समाजों ने वर्णमाला और शब्द निर्माण के रूप में अपनी भाषा सम्पत्ति का विकास किया है। वर्णमाला मुख से उत्पाद्य ध्वनियों का विश्लेषण और विभाजन है। वर्णमाला के चमत्कार से ही वर्णों के विभिन्न संयोगों के द्वारा अनन्त शब्दराशि का विस्तार भाषाओं में हुआ है।

वर्णमाला में वर्ण ध्वनियों के विभाजन, उनके क्रम और उच्चारण में मनुष्य का संकल्प सफल हुआ है। संस्कृत की वर्णमाला का क्रम एक ओर वैज्ञानिक है तथा दूसरी ओर वर्णों के क्रम और उनके वर्णानुरूप उच्चारण में अधिक संकल्प अपेक्षित होने के कारण अधिक सांस्कृतिक है। वैदिक में विलम्बित गति और वर्ण ध्वनियों के विविक्त उच्चारण में यह सांस्कृतिकता अधिक स्पष्ट है। इस प्रकार डॉ० तिवारी वर्णमाला के मूल संदर्भ में ही संस्कृत भाषा को अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक सांस्कृतिक मानते हैं। अन्य भाषाओं की वर्णमाला में वर्णों का क्रम उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से अधिक प्राकृतिक है। शब्दों में भी वर्ण ध्वनियां उतनी विविक्त नहीं हैं, बरन् वे एक दूसरे में मिल जाती हैं, जो ध्वनि प्रवाह की प्राकृतिक गति के अनुरूप हैं।

वर्णमाला के इसी सिद्धान्त के आधार पर डॉ० तिवारी संस्कृत भाषा को योरोपीय भाषा परिवार से भिन्न मानते हैं। उनके मतानुसार वैदिक संस्कृत पश्चिमोत्तर भारत की मौलिक भाषा है। इसी आधार पर वे वैदिक आर्यों को भारत का मूल निवासी मानते हैं।

इसके अतिरिक्त संस्कृति और भाषा विज्ञान के सम्बन्ध में डॉ० तिवारी के अन्य अनेक अभिमत हैं, जो उनके उक्त मत का पोषण करते हैं। इन सभी अभिमतों का आधार संस्कृति के सम्बन्ध में उनके विशेष विचार हैं। कृतित्व की अधिकता भाषा और सभ्यता को अधिक सांस्कृतिक बनाती है। इस अधिकता से दोनों का रूप समृद्ध और जटिल होता है और दुष्कर कृतित्व की अपेक्षा करता है। कृतित्व के अतिरिक्त संस्कृति का संरक्षण भी कठिन है। किन्तु संस्कृति का संवर्धन सबसे कठिन है। संस्कृति के समृद्ध कृतित्व और संवर्धन के लिये सामाजिक संकल्प अतिरिक्त शान्ति, स्थिरता आदि भी अपेक्षित हैं। इसीलिए आव्रजन और युद्ध के साथ इनकी संगति नहीं हो सकती। इसी सिद्धान्त के आधार पर डॉ० तिवारी आर्यों के भारत आगमन के सिद्धान्त को निर्मूल मानते हैं। यूरोप और एशिया के अन्य भागों में आर्यों का आव्रजन होता रहा होगा, किन्तु वैदिक संस्कृत और वैदिक संस्कृति के निर्माता आर्य मूलतः भारत के ही निवासी थे। एक आव्रजक और आक्रमणकारी जाति ऐसी सांस्कृतिक भाषा और समृद्ध संस्कृति का विकास नहीं कर सकती।

संस्कृति मनुष्य की रचना है। तत्व की अपेक्षा रूप की रचना में मनुष्य के कृतित्व का अधिक अधिकार होता है। संस्कृत भाषा और वैदिक संस्कृति दोनों ही रूप सम्पत्ति की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और अनुपम हैं। संस्कृत भाषा की रूप समृद्धि उसके व्याकरण, कोष, तन्त्र आदि में प्रकट होती है। संस्कृत व्याकरण भी संस्कृत भाषा की भांति अनुपम है। नियम भाषा के रूप सम्बन्धी विधान हैं। व्याकरण

के ऐसे नियम और नियमों के अनुसार शब्द रूपों के निर्माण का ऐसा तन्त्र किसी भी भाषा की परम्परा में नहीं है। पाणिनि व्याकरण तथा अन्य संस्कृत व्याकरणों के समान व्याकरण किसी भाषा में नहीं हैं। इन व्याकरणों के नियम जटिल और विपुल हैं। इनकी विपुलता और जटिलता भाषा की सांस्कृतिक समृद्धि की सूचक हैं।

संस्कृति के शब्दों में पर्यायवाची विकल्पों की विपुलता तथा अनेक शब्दों की वर्णात्मक व्युत्पत्ति भी भाषा की सांस्कृतिक समृद्ध का प्रमाण है। अनेक शब्दों के अनेक पर्याय हैं। इनमें अधिकांश शब्दों का विन्यास उनके विधायक अंगों के अर्थ पर निर्भर है। भानु, सूर्य, सविता, अंशुमान आदि सूर्य के पर्याय हैं, किन्तु पदों को विधायक अंगों के अनुसार उनमें भिन्न भावों के संकेत निहित हैं। अनेक शब्दों के निर्माण में शुद्ध वर्णों की सार्थक इकाइयां समाहित हैं, जैसा कि कदाचित् अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। अज, जल, जलद, जनक, पालक, भूप, नृप आदि अनेक शब्दों में ज, ल, क, प आदि शुद्ध वर्ण ध्वनियों का योग सार्थक रूप में हुआ है। शुद्ध वर्ण ध्वनियों का ऐसा सार्थक प्रयोग कदाचित् अन्य किसी भाषा में नहीं मिलेगा।

कुछ वर्ण ध्वनियों की सार्थकता तो कोष और व्यवहार में प्रमाणित है। किन्तु तन्त्रशास्त्रों में वर्ण माला के सभी वर्णों को सार्थक माना जाता है। सभी वर्ण कुछ तान्त्रिक अर्थों के वाचक हैं। मातृकातन्त्र आदि ग्रंथों में इन अर्थों का विवरण मिलता है।

शब्दों रूपों की सांस्कृतिक समृद्धि पर्याय प्रणाली के विपरीत एक ही पद की अनेक अर्थों की अनुषंग से होने वाली रूप और अर्थ की समृद्धि है। भू, पद आदि शब्द इसके उत्तम उदाहरण हैं। इन पदों से बने हुए रूप अन्य यूरोपीय भाषाओं में भी मिलते है अतः इन पदों की सांस्कृतिकता का निरूपण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संस्कृति के अनुभव, वैभव, भाव, प्रभाव आदि अनेक शब्द भू, पद की समृद्धि के द्योतक हैं। पद का शब्द प्रयोग चरण, छन्द, प्रतिष्ठापद आदि अर्थों में होता है। इसके विपरीत अंग्रेजी में पद शब्द चरण के मूल अर्थ से आगे नहीं बढ़ सका। अर्थ का यह सांस्कृतिक ह्रास अथवा अविकाश अनुकरण और आदान का द्योतक है। संस्कृति में ऐसे समान शब्दों की अर्थ सम्पन्नता उनकी सांस्कृतिकता और मौलिकता का प्रमाण है।

व्युत्पत्ति और अर्थ के अतिरिक्त शब्दों के सांस्कृतिक अनुषंग की समृद्धि भी डॉ० तिवारी के मत में शब्दों और भाषा की मौलिकता का संकेत करती है। भाव, विभूति, पद्य आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। मातृ, पितृ, भ्रात आदि जिन शब्दों की समानता के आधार पर भारत यूरोपीय परिवार की कल्पना की गई है, उन शब्दों के सांस्कृतिक अनुषंग भी भारतीय परम्परा में जितने समृद्ध हैं, उतने अन्य किसी समाज की परम्परा में नहीं हैं। माता की जितनी महिमा भारतीय धर्म संस्कृति और आचार में है तथा बहन का जैसा सुन्दर सन्दर्भ भारतीय रीति-रिवाजों में है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। ऐसे ही अन्य अनेक प्रमाणों से डॉ० तिवारी ने संस्कृति भाषा की सांस्कृतिक सम्पन्नता तथा उसकी मौलिक भारतीयता को प्रमाणित करने का एक क्रान्तिकारी प्रयास किया है।

शिक्षा शास्त्री डॉ० रामानन्द तिवारी

—मोहनलाल मधुकर

महाकवि डॉ० रामानन्द तिवारी साहित्यकार के रूप में जितने विख्यात हैं उतनी ही उनकी ख्याति एक प्रबुद्ध अध्यापक और शिक्षा के क्षेत्र में एक मनीषी चिंतक के रूप में भी है। डॉ० तिवारी के विषय में सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य ये हैं कि वो अपने आप में दुनियादारी से जितने उदासीन और निर्लिप्त हैं उनके विचार उतने ही व्यावहारिक और प्रत्येक क्षेत्र में सामंजस्यकारी हैं ! बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० तिवारी काव्य के क्षेत्र में तो अपनी लेखनी से चमत्कार लाए ही हैं, वे दर्शन जैसे शुष्क और गूढ़ विषय को भी व्यावहारिक प्रतिस्थापनाओं के माध्यम से अत्यधिक सरल और सरस रूप में पढ़ाते रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में उनकी मान्यताएं और धारणाऐं अत्यंत क्रान्तिकारी, व्यावहारिक और उपयोगी हैं।

शिक्षा को सामान्य रूप से ज्ञान अथवा विद्या का विकास समझा जाता है। आरम्भ से लेकर उच्च कक्षाओं तक प्रायः इसी रूप में शिक्षा दी जाती है। अक्षर ज्ञान के बाद पुस्तकों और विषयों की पढ़ाई आरम्भ हो जाती है और अन्त तक इसी रूप में शिक्षा चलती रहती है। यह सब ज्ञान की परिधि के अंतर्गत आता है, यद्यपि जिस प्रकार से हमारी शिक्षा प्रणाली चल रही है उसमें ज्ञान का विकास भी अच्छी तरह से नहीं होता है। डॉ० तिवारी का मत है कि शिक्षा केवल ज्ञान का विकास नहीं है। ज्ञान जीवन का केवल एक अंग है। जीवन के अन्य अंगों—चरित्र, कला, संस्कृति आदि का विकास भी शिक्षा के ही अन्तर्गत है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में इन सबका उचित स्थान है। वैसे भी यहां प्रत्येक अंग पर कुछ भार अधिक ही है। स्मृति की प्राकृतिक धारणा की सहज शक्ति भी ज्ञान की सम्पन्नता में सफल होने के स्थान पर पाठ्य के भार से आक्रान्त और अभिभूत हो रही है। हमारी शिक्षा प्रणाली में स्मृति के सदुपयोग के स्थान पर उसे मन्द और निष्फल बनाया जा रहा है ! इस संदर्भ में डॉ० तिवारी का मत है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की तरह हम शिक्षा के क्षेत्र में भी परिसीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। ज्ञान जीवन की उत्तम विभूति है, किन्तु थोड़े समय में थोड़ा ही ज्ञान स्मृति के संस्कारों में दृढ़ किया जा सकता है।

शिक्षा बालक के व्यक्तित्व का निर्माण और विकास है किन्तु विद्यालयों में विद्यार्थी कच्ची मिट्टी की भांति निष्चेष्ट बैठता है और अध्यापक अपने अधिकार से उसका पुतला बनाते हैं। इसे एक निर्जीव ग्रहीत ग्राहक मानकर अध्यापक ज्ञान का भंडार उंड़ेलता है, जिसे वह दान की भांति ग्रहण करता है। किन्तु डॉ० तिवारी की आस्था है कि बालक को बीज की भांति मानकर उसे पनपने, फलने-फूलने के लिये उचित वातावरण देना चाहिये किन्तु हमारे शिक्षा संस्थानों में उसे वातावरण न देकर सूखी भूमि में बीज दबाकर, ऊपर से नकली टहनियां और फूल-फल आरोपित कर दिये जाते हैं, किन्तु ये आरोपण निष्प्राण और निर्जीव हैं अत: इनका मनुष्य की चेतना की आन्तरिक शक्ति से लेषमात्र भी संबन्ध नहीं है। अतः डॉ० तिवारी ने बाल शिक्षा के लिये कई नवीन प्रणालियों का आविष्कार किया है। इन प्रणालियों का

प्रयोग वे एक बाल-विद्यालय में कर रहे हैं, जो उन्होंने अपने घर के निकट रघुनाथजी के मन्दिर में खोला है। इस बाल-विद्यालय में उनके सिद्धान्तों और उनकी प्रणालियों के अच्छे फल प्रकट हो रहे हैं। इस विद्यालय में बच्चे स्नेह और स्वतन्त्रतापूर्वक शिक्षा एवं विकास का सुन्दर अवसर पाते हैं। नई प्रणालियों के अनुसार उनकी शिक्षा की मजबूत नींव बनती है।

डॉ० तिवारी भाषा को शिक्षा का आधार मानते हैं। भाषा की शिक्षा से ही शिक्षा का आरम्भ होता है। भारतीय परम्परा में विद्यारम्भ को 'अक्षरारम्भ' कहते हैं। आरम्भ में प्रत्येक बालक को वर्ण-माला ही सीखनी होती है। इसके लिए डॉ० तिवारी ने एक सरल प्रणाली का आविष्कार किया है, जिसे 'शिलालेख प्रणाली' का नाम दिया जा सकता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत पत्थर, सीमेंट, लकड़ी आदि की बनी पट्टिकाओं पर भाषा के अक्षर खुदे रहते हैं। बच्चे इन अंकित चिन्हों के ऊपर अक्षरों का विन्यास खड़िया से बनाते हैं। बार-बार धोते और लिखते हैं। इस प्रकार मनोरंजन-पूर्वक वे शीघ्र और सरलता से वर्णमाला सीख जाते हैं। अध्यापक को इसमें बहुत कम श्रम करना पड़ता है। थोड़ी सी प्रेरणा और देखभाल से एक अध्यापक बहुत से बच्चों को सिखा सकता है। वर्णमाला सिखाने की यह प्रणाली बहुत सरल और सस्ती है। लेखन-पट्टिकाओं को विद्यालय में ही रखा जाता है और ये पीढ़ियों के काम आ सकती हैं। इस प्रणाली का व्यापक उपयोग करने से राष्ट्र की आरम्भिक शिक्षा में बहुत सुधार हो सकता है।

शिलालेख प्रणाली के अतिरिक्त बाल-शिक्षा के संदर्भ में डॉ० तिवारी के और भी सुझाव भारतीय समाज को हैं। सबसे पहले तो उनका इंगित माता-पिता की ओर है जो कि केवल बालक को जन्म देकर, बड़ा होने पर उसे स्कूल-कालेज भेजकर ही अपने कर्तव्य की इति मानकर संतुष्ट हो जाते हैं और बालक की शिक्षा में न तो स्वयं तनिक भी ध्यान देते हैं और उसे न ही कोई प्रोत्साहन देते हैं। डॉ० तिवारी इसको गलत मानकर ही माता-पिता से बालक को प्रेरणा देने के लिये कहते हैं। वे केवल उपदेशक ही नहीं हैं अपितु उनकी पत्नी और उन्होंने स्वयं इस बात को कि बालकों के भाग्य का निर्माण उन्हें स्वयं करना होगा, इसको अपने जीवन में बड़ी गहराई तक उतारा और पालन किया है। उनके इस अभिमत या आस्था का परिणाम उनके तीनों बच्चे हमारे सामने हैं, जिन्होंने कि शिक्षा के क्षेत्र में नये आयाम स्थापित किये हैं।

डॉ० तिवारी ने अपनी पुस्तक "आपका बालक होनहार है" में बालकों की स्वाभाविक प्रतिभा की ओर संकेत किया है। जिसका विकास माता-पिता के थोड़े से प्रयत्नों से हो सकता है। माता-पिता ही बालक के पहले गुरु हैं। वे ही समाज में उसे एक भावी सुसंस्कृत नागरिक का स्थान दिलाने में सहायक हो सकते हैं। वे यदि स्वयं विद्यार्थी के उत्साह को बढ़ाएं तो ये केवल बालक के श्रेष्ठ विकास का मार्ग ही नहीं है अपितु भविष्य में बड़ों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की सफलता भी इसमें समन्वित है। यह समाज की एक ऐसी कल्पना है, जिसमें बच्चों का विकास और बड़ों के जीवन की सफलता तथा उसका आनन्द सब एक ही सूत्र में गुम्फित है।

इसके अतिरिक्त डॉ० तिवारी की पुस्तक "छात्रो उठो, जागो" में छात्रों को जागरण का सन्देश दिया है। बालक की शिक्षा का दायित्व उसके अबोध होने के कारण गुरू और माता-पिता पर अधिक है किन्तु बड़े होने पर वह परिवेश से भी कुछ सीखता है और इस कारण उसकी गुरू और माता-पिता पर

निर्भरता कम हो जाती है। इस अवस्था में छात्र को स्वयं अपने भविष्य का निर्माण करने के लिये कुछ प्रयत्न करने पड़ते हैं। आधुनिक शिक्षा प्रणाली के दोषों के रहते हुए भी छात्र उससे कुछ सीख सकते हैं। आज सब ओर शिक्षा के गिरते हुए स्तर की बात चल रही है। शिक्षा अनुसंधानार्थियों, नेताओं अध्यापकों, माता-पिता को जहां इस स्थिति से घुटन हो रही है और वे उसके लिये कुछ प्रयत्न कर रहे हैं वहीं छात्र-वर्ग इस ओर से उसी प्रकार उदासीन है जैसे कि "चुस्त गवाह-सुस्त मुद्दई"। उसे स्वयं ही इस बारे में कुछ प्रयत्न करने होंगे। डॉ० तिवारी ने शिक्षा में रुचि में रखने के कारण अपने अनमोल सुझावों से छात्रों को लाभान्वित किया है, जिसको अपना कर छात्र अपनी पढ़ाई के स्तर को निश्चय ही ऊंचा उठा सकते हैं।

बाल-शिक्षा के अतिरिक्त उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में डॉ० तिवारी के कुछ मौलिक अभिमत और सुझाव हैं। डॉ० तिवारी का कहना है कि मनुष्य के जीवन और समाज में सभ्यता और संस्कृति की जो सम्भावनायें विकसित हुई हैं, उनके पीछे शिक्षा की प्रेरणा रही है। शिक्षा के सूत्र ही सभ्यता और संस्कृति के रंगीन वस्त्र बुनते रहे हैं, जिन्होंने पशु अथवा दानव के तुल्य मानव को ईश्वर की दिव्यता एवं कला का उत्तराधिकारी बनाया है। ये शिक्षा ही है जो जीवन के विकास, उसकी सफलता और सार्थकता को परिपूर्ण बनाती है। शारीरिक और भौतिक धरातलों से लेकर क्रीड़ा, कला, साहित्य, विज्ञान, संस्कृति, धर्म, अध्यात्म आदि के ऊर्ध्व लोकों तक जीवन का अनन्त विश्व फैला दिखाई देता है। इन सब लोकों की विजय के लिए चन्द्र यानों का निर्माण और चन्द्रयात्रियों का प्रशिक्षण ही शिक्षा का दायित्व है, डा० तिवारी ऐसा मानते हैं।

बौद्धिकता और विषयनिष्ठा की प्रधानता के कारण हमारी शिक्षा एकांगी और नीरस बन गई है, तिवारी जी का मत है कि शिक्षा को अधिक संतुलित और सफल बनाने के लिए शिक्षा की व्यवस्था में जीवन के अन्य पक्षों को भी स्थान देना आवश्यक है। जीवन के जिन विभिन्न पक्षों के साथ शिक्षा का समन्वय अपेक्षित है, उनमें जीविका, क्रीड़ा, कला, संस्कृति, परिवार दाम्पत्य, समाज, राजनीति, व्यवसाय, प्रशासन आदि को मुख्य माना जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन मौलिक अभिमतों के आधार पर हमें देश की अनेक समस्याओं को जो शिक्षा के क्षेत्र में विकराल दानव की तरह मुंह बाए हमारे सामने खड़ी है, निर्मूल करने में सहायता मिल सकती है। यदि आज की युवा अध्ययनार्थी पीढ़ी डॉ० तिवारी के इन क्रान्तिकारी विचारों का तनिक भी सहारा लें तो भारतीय समाज के बौद्धिक वैचारिक और साहित्यिक स्तर को ऊंचा उठाया जा सकता है, तथा भारतीय चिन्तन को विश्व चिन्तन के समकक्ष लाया जा सकता है।



डॉ० रामानन्द तिवारी का प्रकाशित साहित्य

पुस्तक का नाम	प्रकाशन वर्ष
१. परिणय (काव्य)	१९३७
२. A Brief Outline of Indian Philosophy	1949
३. शंकराचार्य का आचार-दर्शन	१९५०
४. भारतीय दर्शन का परिचय	१९५३
५. पार्वती (महाकाव्य)	१९५५
६. भारतीय दर्शन की भूमिका	१९५८
७. पांच देव रक्षा करें	१९५९
८. छात्रो, उठो जागो	१९६०
९. Defence, Development and Education	1962
१०. स्वतन्त्रता का अर्थ	१९६३
११. आपका बालक होनहार है	१९६३
१२. सत्यं शिवं सुन्दरम्	१९६३
१३. DISC Plan	1967
१४. काव्य का स्वरूप	१९६८
१५. साहित्य कला	१९७०
१६. शिक्षा और संस्कृति	१९७०
१७. हमारी जीवन्त संस्कृति	१९७२
१८. सावित्री (खण्डकाव्य)	१९७६
१९. Secular, Social and Ethical Values in the Upanishads	1978
२०. अजेय सेनानी चन्द्रगुप्त (खण्डकाव्य)	१९७९
२१. Unique India	1980
२२. Spiritualistic Philosophy of Knowledge, Action and Faith	1981
२३. Secular, Social and Ethical Values in the Bhagwadgita	1981

डॉ० रामानन्द तिवारी का अप्रकाशित साहित्य

पुस्तक का नाम	लेखन काल
१. कल्पना (काव्य)	१९३८
२. साधना (काव्य)	१९४०
३. Ethics of Vedanta (A Vindication of the Vedanta)	1946
४. अपरिचिता (एक लम्बी कविता)	१९५४
५. Indian Philosophy of life (Value of Indian View of life)	58-60
६. भारतीय संस्कृति के प्रतीक	१९६०
७. अभिनव रस मीमांसा	१९६२
८. Concept of Culture (Dimensions of culture)	1962
९. Idea of Beauty (Definition of Beauty)	1964
१०. अहल्या (खण्डकाव्य)	१९६६
११. Message of India (The Mirecle of the Message)	1967
१२. उर्वशी (खण्ड काव्य)	१९६७
१३. मेनका ,,	१९६७
१४. शकुन्तला ,,	१९६७
१५. तिलोत्तमा ,,	१९६७
१६. ब्रह्मर्षि ,,	१९६७
१७. उमा ,,	१९६८
१८. सत्यकाम ,,	१९६८
१९. तुलाधार ,,	१९६८
२०. Spiritual Foundations of Life	1970
२१. Existence of Man (Existence and Values)	1974
२२. सांस्कृतिक भाषा विज्ञान	१९७४
२३. भाषा विज्ञान का वर्णमाला मूलक सिद्धान्त	१९७८
२४. हमारी शिक्षा के उपेक्षित अंग	१९७८

ENGLISH WORKS OF RAMANAND TIWARI

—-Ram Krishna Sharma

Milton speaks a great truth when he says that great book is the precious life blood of a master spirit embalmed and treasured for life beyond life. Great persons with myriad minded genious and rare creative talent survive through ages in the form of classics which they create, sometimes out of divine inspiration and sometimes out of profound meditation and perspiration, uncommon and matchless in both ways, Dr. Ramanand Tiwari "Bhartinandan" a versatile scholar and writer of several rare works of philosophy, spiritualism, Aesthetics, literature and culture, is among such great creators, who leave their foot prints on the sands of life to show right path to humanity, through ages to come.

Dr. Tiwari has already written more than fifty books in Hindi and English both and has been honoured with several outstanding degrees, prizes and rare distinctions. It is very difficult to decide about him whether he is greater as a poet, as an original thinker or as a profound philosopher. He has depth, height and profundity in what ever he is. His writing is marked with rare qualities of state liness sublimity and grandeur the qualities which are universally ascribed to the style of the greatest English poet Milton. Dr. Tiwari too, has established a standard of writing and he never comes downwards from that mark. Rather he rises higher and higher with originality of thinking, dignified style, deep sense of artistic delicacy and notes of suggestiveness to the existing and ensuing generations.

Dr. Tiwari's contribution through English is equally outstanding, rare and remarkable. So far, he has written the following books in English:—

S. No.	Name of the book	year of writing	Published or unpublished
1.	Ethics of Vedanta	1946	Un-published
2.	Indian Philosophy	1958–60	–do–
3.	Concept of culture	1962	–do–
4.	Idea of Beauty	1964	–do–
5.	Unique India	1966	Published
6.	Message of India	1967	Un-published
7.	Spiritual foundations of life	1970	–do–
8.	Existence of Man	1974	–do–
9.	Secular, Social & Ethical Values in the Upanishads	1978	Published
10.	Secular, Social & Ethical Values in the Gita	1980	Published

In fact every book is so rich in content and excellent in style that one complete and big volume is required to make an exhaustive critical study of it. But here, owing to certain limitations, only a glimps of every work and a few critical comments here and there in regard to the rich contents and expresion have been furnished.

1. ETHICS OF VEDNATA

It is the thesis for D–Phil. from the University of Allahabad. The work was accomplished under the guidance of Prof. R. D. Ranade, the renowned saintly teacher of philosophy in the university of Allahabad. The author has gratefully confessed that Prof. Ranade infused him with spiritual inspiration and philosophical interest which have sustained his inner existence eversince to the present day.

The work covers 321 foolscap pages, which if published in book form will cover about 500 pages or more. The contents are as following:—

1. Introduction. 2. Statement of Criticism and the need of its examination. 3. The concept of the Advaita. 4. The Ethics of Shankaracharya. 5. The End and the means. 6. The practical ethics of the Vedanta, and the means of attainment. 7. The Vedanta and the values of life. 8. Conclusion.

REMAKABLE POINTS

The common view about the Vedanta is that the world is

unreal and therefore all activities of life are unreal. Good and evil are equally unreal. Reality is beyond good and evil. That reality is Brahman. The individual is identical of Brahman. Liberation is realization of this identity.

Reality in eternal. World and life are temporal. Therefore, they are unreal.

WESTERN VIEW

The western view is determined by Christian Theism which is based on the idea of personal God and His relations with man. The identity of the individual is important. If it is dissolved, all meaning of human existence is lost. They criticise Vedanta from the point of view of value of individualism, personal good and value of goodness.

The thesis deals with the value of moral stand point. Action for realization is recognised by Shankaracharya and that is emphasised in the thesis. Moral means are dealt in details.

A noticeably significant point dealt with in the thesis is that the cosmological approach is not so cardinal to the Vedant. Shankaracharya himself has suggested that it is rather secondary. The Primary doctrine of Vedant would be the spiritualism of life. The Upanishads say that spirit sustains all life. Spirit is non-dualistic. That is non-individualistic, It transcendents duality. We can say that in human life it expressess itself in the form of concern and feeling for others. Love affection and other cardinal emotions are its modes. Maternal love is the root of love. Mother is the first. God on earth. All human values are sustained by spirit.

2. INDIAN PHILOSOPHY

It is a rare classic of its own kind, consisting of 777 foolscap pages in typed form, amounting to 1300 or more pages if published in book form. It is a remarkable research work for D. Litt. There is an application of the spiritual theory to cultural life. The theory has been applied to important cultural modes of Indian life. These cultural modes are expressed in the form of symbols festivals sacraments, fasts, pilgrimages, fairs, Ashrams, Varnas, and mythological as well as religious undertakings. This monumental classic deals with values of life, stages of life, orders of society myths of the universe and the idea of God. Sufficient light has

been thrown on the Oasises of delight which spring up in the sandy deserts of life.

The Vedic culture is remarkably an abode of bliss owning to the particular approach in grained with rapture. The western culture derives pleasures out of abundance of physical means. But the Vedic culture derives superior delight with limited and fewer physical and worldly means.

Through all pages of this monumental work of rare capability of philosophical contemplation, the author is always conscious of paramount superiority indian way of life, thought and approach to divinity. The author reveals his firm faith and unbreakable conviction in regard to the flawless accomplishment of life through Vedic culture. It leads to the supreme destination which is celestial rapture. The Indian way of life is undoubtedly the best to achieve that highest goal.

3. CONCEPT OF CULTURE

In view of the deplorable confusion and regrettable consequences of the collective and his torical concepts of culture the author has tried to analyse the concept of culture in this small book containing 210 foolscap pages. He has also attempted to distinguish culture from civilization, art, philosophy and religion etc. He has also endeavoured to distinguish between the historical and living culture and also to give a glimpse of the rich tradition of culture which originated and developed in India and which is living vigorously to the present day. The author has very successfully ventured to visualize the prospects of culture in general and of Indian culture in particular, in view of threatening developments of Industrial civilization.

The chapters of the book are as following:—

1. Two poles of culture. 2. Meaning of culture. 3. Dimensions of culture. 4. Characteristics of culture. 5. Conditions of culture. 6. Realms of culture. 7. Culture and people. 8. Civilization and culture. 9. Art and culture. 10. Religion and culture. 11. Philosophy and culture. 12. Prospects of culture.

The author has brought about a void contrast between two poles of culture, the Western and the Indian. The Western culture thrives at the abundance of mundane pleasures where as Indian culture aims at supreme fulfilment of spiritual life. One pole of

culture is utmost physical enjoyment. The other one is delight of the inner self. The main factors of Indian culture are the creative will, excess of form, compathy and rich traditions. Compathy is the core of this culture. It is excess of spirit embracing all living beings as the parts and parcels of the Brahman.

The author deals with various dimensions, characteristics, conditions reals and prospects of culture in general and of Indian culture in particular.

4. IDEA OF BEAUTY

This book is an out-come of aesthetic contemplation of the author for decades togethers. It is an exposition of theory of beauty in about 245 foolscap pages, not yet published. The contents of the book are as the following:—

1. Beauty and other values. 2. The sense of beauty. 3. Modes of beauty. 4. Idea of beauty. 5. Definition of beauty. 6. Subjective conditions of beauty. 7. Objective conditions of beauty. 8. Beauty of Nature. 9. Beauty of the body. 10. Beauty of Woman. 11. Creative Beauty of Art. 12. Divine Beauty. 13. Degrees of Beauty.

The exposition of a new theory about beauty is completely original and is not based on any aesthetic theory propounded by any other aesthetician of any country so far. The definition of beauty given by the author as "Excess of Form" is completely his own and has not ever been given or cited by any other thinker of aesthetic so far.

The author has stated that the idea of beauty expounded in this book occured to him almost as a revelation at the confluence of his cultural and philosophical contemplations. After exhaustive investigations in the field of aesthetic studies the authors faith about his originally seems reasonable and quite believable.

The author has emphasised again and again that beauty belongs to the form and not to the matter or the bodies. Form is the outer appearance of objects and bodies Matter is the substance of which they are composed. The inside of the body is not accessible to vision. The outer form acts as a veil. This veil is the veil of beauty. It veils ugliness and reveals beauty or things.

This work when comes into the hands of aesthetic thinkers in the form of a book will certainly force then to one more examine the established and prevalent theories about beauty.

5. UNIQUE INDIA

This unique book about unique India, written in 1966, but published now in 1980 contains 12 chapters and 352 pages and deals with the uniqueness of all important aspects of the country. In fact, it is a unique work about a unique country. It is the first attempt to give a comprehensive and systematic description of the unique peculiarities of India's land and culture in a single volume.

The chapters of the book are as the following:—

1. Introduction. 2. Unique Geography of India. 3. Unique History of India. 4. Unique view of life of India. 5. Unique Culture of India. 6. Unique Language of India 7. Unique Grammar of India. 8. Unique Scriptures of India. 9. Unique Religion of India. 10. Unique Philosophy of India. 11. Unique Literature of India. 12. Challenges and prospects.

The unique characteristics of India, which are described in the book, are mainly cultural as they represent the attainments of Indians by spiritual will In the sphere of language, Grammar, religion, philosophy etc. The natural Uniqueness of the geographical features of India has been treated only in one chapter in the beginning to afford a background for proper understanding of its cultural peculiarities.

The author has proved that the cultural attainments of India are unique to the extent of being outstanding and remarkable. Nothing like it has been attained by any other country in the world. From the natural point of view also, no country in the world possesses those peculiarities which our country possesses.

6. MESSAGE OF INDIA

Message of India is a novel book about Indian thought and culture. It endeavours to present in a popular and readable style the cardinal principles of Indian thought and culture, Which can be considered as the specific contribution of India to the common life of mankind. These principles point out to a way of life, which was visualised by Indian seers long long ago and which embodies a style and discipline of human life that can lead to utmost satisfaction in and to highest fulfilment of life.

The titles of the chapters of the book are as the following:—

1. Cultural Message. 2. Religious Message. 3. Ethical Message. 4. Axiological Message. 5. Social Message. 6. Domestic Message.

7. Personal Message. 8. Political Message. 9. Immortal Message of India. 10. Conclusion.

The message of India for the salvation and fulfilment of human life is highly complete though for this very reason it is highly complex.

India has to its credit a very rich living culture. The author has put forth his firm faith in the fact that the fuller significance of India's message to the world was never clearly and deeply understood by Indians themselves. Hence, the author has tried his best to propagate to other people this unique message of India.

In the first chapter the author has given the substance of the message. He has dealt with the miracle of the message in his own way and in his own style which is very vivid, lucid and extra-ordinarily lively. The firm conviction of the author can be seen in the following lives from the I chapter of the book:—

"India had and still has a message for the world and for herself also. It is message which could indicate to mankind the way of salvation of life and of enduring happiness in it. This message was contempleted by the seers of India in the earliest stages of civilization. The vision of life, which is continued in this message is a mirscle of insight into the secrets of life."

7. SPIRITUAL FOUNDATIONS OF LIFE

This book is an attempt to discover the spiritual foundations of important aspects of life in about 500 foolscap pages, not yet published. It is based on the belief that the deepest foundations of life are spiritual in character. Foundations of life appear to be physical material, biological etc. But beneath these the spiritual core can be discovered. It is the spiritual core of life which has been the main concern of the author in this book. He has very successfully dealt with in detail the inner spiritual core in all important spheres of life as is evident from the following titles or the chapters:—

1. Meaning of spirit. 2. Spirit in Philosophical Tradition. 3. Spirit in life. 4. Evidence of spirit. 5. Glimpses of spirit. 6. Fundamentals of life. 7. Spiritual foundations of birth and body. 8. Spiritual Foundations of sensations and other psychological phenomena. 9. Spiritual foundations of Health and happiness. 10. Spiritual foundations youth and longevity. 11. Spiritual foundations of six and marriage. 12. Spiritual foundations of Maternity and childhood.

13. Spiritual foundations of Personality and sanity. 14. Spiritual foundations of family and Society. 15. Spiritual foundations of Economics and civilization. 16. Conclusion.

The significance of the work is much enhanced in regard to the scientific approach of the modern man to existence and reality. The super natural and the spiritual has disappeared like a dream from human mind. Soul spirit god etc. have become terms without meaning and without signifying any thing real, corresponding to them. The author is conscious that the natural and the physical world of observable reality is the whole and the only world for modern man. But nothing super natural spiritual or transcendental can be accepted on the grounds of observation and reason. The sphere of faith has been reduced by demolition of Heaven and Hell.

On the other hand, ancient India devoted seriously to the cult of spirits and also to the yogic discipline. The soul in the body of man is said to be something super natural and imperishable. It does not die with the body but survives it.

The author has thrown sufficient light to dispel several illusions of the kind.

8. SECULAR SOCIAL AND ETHICAL VALUES IN THE UPANISHADS

It is a positivistic study of the Upanishads accomplished during 1975-78 under the assignment of the University Grants Commission, under the scheme for utilization of services of outstanding retired teachers. The book was published in 1978. It contains 549 pages. The list of the chapters is as following:—

1. Introduction. 2. Axiology of the Upanishads. 3. Axiological survey of Upanishads. 4. Secular values in the Upanishads. 5. Bodily values in the Upanishads. 6. Value of vital being in the Upanishads. 7. Value of food in Upanishads. 8. Economic value in the Upanishads. 9. Place of sex in the Upanishads. 10. Place of Action in the Upanishads. 11. Value of Intellect in the Upanishad. 12. Significance of sleep in the Upanishads. 13, Bio-Aesthetic values in the Upanishads. 14. Negative values in the Upanishads. 15. Transvaluations of secular values. 16. Social values in the Upanishads. 17. General Human Relationship. 18. Patriarchal Relations in the Upanishads. 19. Parental Relations in the Upanishads. 20. Domestic Relations in the Upanishads. 21. Fraternal Relations in the Upanishads. 22. Communal Relations in the Upanishads.

23. Royal Relations in the Upanishads. 24. Lacuna in the Social Values in Upanishads. 25. Transvaluation of Social Values. 26. Ethical values in the Upanishads. 27. Ethical values and spiritual Metaphysics. 28. Cardinal virtues in the Upanishads. 29. Ascetic virtues in the Upanishads. 30. Pacific virtues in the Upanishads. 31. Dynamic virtues in the Upanishads. 32. Ritual virtues in the Upanishad. 33. Religious virtues in the Upanishads. 34. Social virtues in the Upanishads. 35. Lacuna in Ethical values in the Upanishads. 36. Transvaluation of Ethical values.

The Upanishads are the earliest philosophical works of India. They are the concluding portions of the Vedas. The book in question embodies a detailed study of the Upanishads. It seeks to discover secular, social and ethical values in the upanishads which are generally believed to have no significant place in the vedanta of Upanishads. The Upanishadic view of life is understood to be ascetic and monistic. The secular and social values have no importance in such a view. But the author here makes rather unconventional study of the upanishads and presents a different view of the upanishads. He maintains that the world is not unreal or illusory according to the upanishads and the scular social and ethical values have due importance in them. The Upanishads very well share in the nature of reality and are sustained by it.

The spiritual reality called Brahman is the main theme of the Upanishads yet the axiological intention of the Upanishads is not obscured by the ontoligical bias. This truth of vedic religion has completely been ignored by all other scholars so far. It is only first time that the author of this book has gone to that extent to prove that even the Upanishads attach due importance to mundance values. Although spirit is the supreme reality and all values derive their axiological status from it, yet secular social and ethical values too, are significant in human life. No body can ignore them with our making life meaningless and futile.

The author has every where produced evidence from the texts of the Upanishads to support his view that the Upanishads ascribe due importance to secular values of food, sex and health etc. He proved by the texual evidences that the Upanishad also attach due social relationship alongwith ethical values like love, kindness, reverence, celebacy etc. The author has made it also very clear that the Upanishads do not regard these values provisional or illu-

sory. They tare than as real and parts and parcels of real life.

9. SECULAR, SOCIAL AND ETHICAL VALUES IN THE GITA

This work has also been accomplished by the author under the second assignment by the university Grants Commission within the scheme for utilization of services of outstanding teachers. The book has been written in two parts. So far only the first part has been published in book form. It consists of 200 pages. The second part in still unpublished.

The contents of the I part are as the following:—

I Chapter:—1. Unique work. 2. A Gospel of life. 3. Divinity of the Gita. 4. The Greatness of the Gita. 5. Place of Gita in the Vedantic Tradition. 6. The Vedanta and the Gita. 7. Values in the Gita. **II Chapter**:—1. Idea of value. 2. Values and their Transformation. 3. Secular values in the Gita. 4. Social Values in the Gita. 5. Ethical value in the Gita. 6. Transvaluation of values in Gita. **III Chapter**:—Physical and Material values in the Gita. **IV Chapter**:—Victory and Fame. **V Chapter**:—War, Violence and other evils. **VI Chapter**:—Sex, its morality and spirituality. **VII Chapter**:—Action in the Gita.

The author in this I Volume has described the diversity of the Gita by charcterizing it as a fine work of literature. He has proved it a piece of excellent poetry and a treatise of the highest spiritual philosophy. According to the author it is a supreme scripture of relation and a divine revelation of the deepest secrets of life, all in one. All these characteristics of the Gita are integrated in it in such a spontaneous manner and with such aesthetic excellence that no other classic in the world in any language can reach that height and grandeur.

The author has dealt with all the remarkable aspects of the Gita in such an enlightening, easy, lucid and interesting manner that the reader feels sublimated and transported in higher regions of ideals combined with action, without being an escapist as it generally happens in works of poetic bliss. The Gita, as understood and analysed by the author, is a great creation for life and world. It conveys a message to the world for all ages and all humanity to live the most and serve the best.

10. HUMAN EXISTENCE AND VALUES

The book is about value which is essentially a human concept. Animals enjoy some organic values in their life, but they have no idea of them as values. They have no super organic values in life. It is in life of man that both organic and super organic values have developed both as ideas and aspirations. The author has maintained that values are the content of human existence. They afford a concrete sense of being to man.

The chapters of the book have the following titles:--

1. Introduction. 2. Method of treatment. 3. Philosophy of life. 4. Components of life. 5. Objective being of man. 6. Spiritual existence of man. 7. The conscious, sub-conscious and superconscious. 8. Individuality and freedom. 9. Primary and secondary being of man. 10. Sex and family. 11. Memory and time. 12. Old age and death. 13. Speech and thought. 14. Tears and smiles. 15. Civilization and cult. 16. Realization of existence. 17. Human existence and values. 18. I, We and Ours. 19. Nature of Human existence. 20. Growth of existence. 21. Types of Man.

The elaborate list of the chapters show that the author has considered all aspects of human existence and values. He has brought about the subtle distinctions between the animal and the man. In addition to it, he has also proved that man's life is wider than intellect. It consists of activity, thought, emotion and cultural as well as spiritual experiences.

In this way, these brief outlines about the works of Dr. Tiwari in English may give some idea about his precious contribution to art, literature, philosophy and other branches of knowledge. In fact, in order to do justice with these classics an equally extraordinary critical analysis of every book in detail is required quite separately which is beyound my capacity in this small article My aim, here is only to arouse some curiosity in the minds of the scholars to go through the books and evaluate them in a much better way. I am sure this will be a great service to humanity.

पार्वती महाकाव्य के प्रति

—पूरन निर्द्वन्द्व

इस महाकाव्य के छन्द छन्द में गौरव
शिव-संस्कृति का सन्देश दार्शनिक चिन्तन
झुक रहा जिसे पाने को क्षितिज समुत्सुक
वह कीर्ति पा चुके सुकवि भारतीनन्दन ।१।

शत शत श्रद्धा सुमनों से सुरभित शाश्वत
हीरक वर्णों से स्वर्ण वर्ण में अंकित
यह प्रतिफल है कवि की श्री शिव श्रद्धा का
पावन प्रयाग का कल्पवास रूपायित ।२।

यह आदिकाव्य हिन्दी में शिव-संस्कृति का
मानव-विवेक के विश्वकोश का वैभव
यह योग-क्षेम-तप की मर्यादा समुचित
यह धन्वन्तरि के अमृत कलश-सा अभिनव ।३।

शिव का समग्र तप रूप उमा का दृढ़-व्रत
अविरोध समात्मभाव का ग्रन्थ अनुपम
गंगा जल सा उज्ज्वल अथर्व सा पावन
पार्वतीकार का अविभाजित प्रतिभा श्रम ।४।

तारक के तामस का शिव-नय से विगलन
तम पर प्रकाश की विजय मान्यता शाश्वत
बन गया हेम मृग सा कवि मन आश्वासित
विश्वस्त कीर्ति का महाकाव्य युग प्रामृत ।५।

नक्षत्र राशि के आदर्शों से पूरित
इसमें सेनानी का व्यक्तित्व समाहित
इसके नरत्व से तारक से दानव का
हो गया तामसी तेज विलीन (पराजित) ।६।

यह तांत्रिक मंगलकाव्य मनीषी कवि का
लौकिक जग को आदर्श दिव्य मंगल पथ
यह शुद्ध प्रेम की शुभ भविष्यवाणी सा
है अमृत पुत्र। कवि की शाश्वत श्रद्धा श्लथ।७।

वेदान्त तत्व अन्वेषण का दर्शन फल
जन रत्नाकर को निज शशि कर से मन्थित
यह विमल भारती सरस्वती के सुत की
जीवन जय का सन्देश उदात्त अखंडित।८।

यह सत्यं शिवं सुन्दरम् की व्याख्या कृति
शिव कथा विश्व के विश्वासों का सम्बल
यह भागीरथी काव्य की भू पर उतरी
मानवता का कल्याण काव्य बन उज्ज्वल।९।

ऐसा मेरा विश्वास इसे लिखने में
कवि का मंगल उद्देश्य विश्व की उन्नति
कवि के असीम को बांध स्नेह सीमा में
बन गई स्वयं शिव सी विशिष्ट उनकी कृति।१०।



महाकाव्य पार्वती

—हरियश राय

डॉ० रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन' द्वारा लिखित पार्वती महाकाव्य भारतीय महाकाव्यों की परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ता है। हिन्दी साहित्य में शिव-पार्वती की कथा को आधार बनाकर भारतीनन्दन ने यह महाकाव्य पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। इतिहास कथा के माध्यम से कवि ने अपनी युगीन चेतना को व्यापक धरातल पर देखा-परखा है। महाकाव्य में वर्णित समस्त संदर्भों को कवि ने भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है और नवीन जीवन मूल्यों की महत्ता प्रतिपादित की है। आज के वैज्ञानिक युग की समस्याओं को कवि ने मानवतावादी दृष्टिकोण से हल करने का उपाय बताया है कि अपने धर्म, अपनी नीति और शिव के उपदेशों का पालन करके ही जीवन में आस्था उत्पन्न की जा सकती है। डॉ० विष्णु चन्द्र पाठक पार्वती महाकाव्य की विराटता के बारे में लिखते हैं कि "शिव-पार्वती की कथा को प्रथम बार हिन्दी रंगमंच पर प्रस्तुत करने का सौभाग्य भी महाकवि भारतीनन्दन को प्राप्त हुआ है। प्राचीन कथा के माध्यम से पार्वती में निश्चय ही कवि भारतीनन्दन ने सम्प्रति भारत के जनमानस के करणीय मानव मूल्यों को वाणी प्रदान की है। शिव-पार्वती का पुनीत दाम्पत्य प्रेम, परशुराम की शक्ति, सेनानी की साधना आदि इस काव्य के प्रमुख आकर्षण हैं जिनके माध्यम से कवि ने युगीन विचार व्यक्त किये हैं।"[1]

कहना न होगा कि आधुनिक युग के महाकाव्यों में पार्वती महाकाव्य का स्थान अन्यतम है। राम-कथा को आधार बनाकर हिन्दी में अनेक महाकाव्य लिखे गये परन्तु शिव-कथा को आधार बनाकर हिन्दी में एकमात्र महाकाव्य पार्वती ही लिखा गया है। यह महाकाव्य अपनी विराटता और विशालता के कारण भारतीय संस्कृति के अनेक आयामों को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। श्री कृष्ण वल्लभ शर्मा मानते हैं कि "पार्वती की एक बड़ी विशेषता है कि उसकी कथावस्तु की पृष्ठभूमि स्वर्ग होते हुए भी उसका जीवन-दर्शन और संस्कृति की धरती से निकट की समानता है।"[2] शिव कथा को कहने के लिए कवि ने २७ सर्गों का सहारा लिया है। "इन २७ सर्गों में कवि ने उमा-जन्म से लेकर त्रिपुर उद्‌बोधन तक की घटनाओं को प्रस्तुत किया है। डॉ० निजामुद्दीन के अनुसार २७ सर्गों में पार्वती जन्म, देवताओं का आकुल क्रन्दन, पार्वती की वर कामनाजन्य समाधि, शिव-पार्वती विवाह, कुमार जन्म, देवताओं के उद्‌बोधन पर कुमार द्वारा तारकवध, जयन्ताभिषेक, शोणितपुर का वर्णन राजत-आयास-कांचन त्रिपुरों का आविर्भाव व तिरो-भाव शिवत्व, नीति एवं संस्कृति की जीवनोपयोगी व्याख्या"[3] के प्रसंग इस महाकाव्य में संयोजित हैं। अन्त

---

[1]मधुमती—अक्तूबर, १९६८ पृ० ३३
[2]राष्ट्रभाषा—अप्रैल-१९५८, पृ० ३२
[3]मधुमती—अक्तूबर, १९७७ पृष्ठ ६२

में कवि ने त्रिपुर में धर्म-शक्ति माया को परस्पर संघर्षरत दिखाया है और तीनों पुरों के विध्वंस से मानवतावादी संस्कृति और शिवत्व बोध की स्थापना की है। ठीक इसी प्रकार आगे चलकर जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में इच्छा, ज्ञान, और कर्म की समरसता द्वारा आनन्द की सृष्टि की है।

'पार्वती' महाकाव्य पर यह आरोप लगाया गया है कि महाकाव्य के प्रथम दस सर्ग कालिदास के कुमार सम्भव का अनुकरण हैं। यह आरोप सर्वथा निराधार है। इस संदर्भ में एक बात ध्यान रखनी चाहिए और वह यह कि जब कोई भी कवि इतिहास को आधार बनाकर काव्य की सृष्टि करता है तो उसके काव्य में वही प्रसंग और वही घटनाएं होती हैं जो अतीत में घट चुकी होती हैं। यदि एक ही इतिहास कथा, को अलग-अलग कवि अपने काव्य में स्थान देते हैं तो दोनों कवियों के काव्य में लगभग वही घटनाएं, वही संदर्भ होते हैं जो वास्तव में इतिहास में वर्णित होते हैं। कालिदास के कुमार-सम्भव और भारतीनन्दन के पार्वती महाकाव्य में यही तथ्य महत्वपूर्ण हैं दोनों कवियों ने शिव कथा को आधार बनाकर अपने काव्यों की रचना की है लेकिन दोनों महाकाव्यों में वर्णित जीवन मूल्य भिन्न-भिन्न हैं, संदर्भ भिन्न हैं, व संवेदनाएं भिन्न-भिन्न हैं। इसके साथ-साथ कोई भी कृति परम्परा से अलग रहकर महान नहीं बन सकती, महानता के लिए अपनी परम्परा से जुड़ना ऐतिहासिक अनिवार्यता बन जाती है। 'पार्वती' महाकाव्य कुमार-सम्भव की परम्परा का काव्य है और इसी परम्परा के विकास में सहयोग देता है। यदि उसमें कहीं कुमार-सम्भव की प्रतिच्छाया दिखाई भी पड़ती है तो उसमें कोई अनौचित्य नहीं है। श्री रामरजपाल द्विवेदी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "यह बात माननीय है कि इसका अंकुर उन्हें (डॉ रामानन्द तिवारी) कुमार सम्भव से मिला हो किन्तु उसका प्रभाव उनके महाकवि पर किंचित भी नहीं पड़ा।" अपने मत के समर्थन में वे तर्क देते हैं कि "शेक्सपीयर को तो हम विश्व कवि और नाटक सम्राट कहते हैं किन्तु उनके नाटकों का स्रोत भी अन्य स्थल पर ही है। दो तीन नाटकों को छोड़कर उसके दर्जनों नाटकों में कोई भी तो ऐसा नहीं है जिसकी उपज उनका निजी मस्तिष्क हो।"[1]

वस्तुतः प्रत्येक महाकवि अपनी धार्मिक, पौराणिक ऐतिहासिक कथाओं को अपने युगीन संदर्भों में प्रस्तुत करता है। कालिदास ने भी कुमार सम्भव की कथा को अपने युगीन संदर्भ में प्रस्तुत किया है और इस कथा के सूत्र उन्होंने विभिन्न पुराणों से लिए हैं लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि कुमार सम्भव में पुराणों का अनुकरण किया गया है। अनुकरण करना अलग बात है और किसी कृति का किसी कृति से प्रभावित होना बिल्कुल अलग बात है। राम कथा को अनेक कवियों ने अपने-अपने युगीन संदर्भों में अभि-व्यक्त किया है। सर्वप्रथम महाकवि वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना की। मध्य काल में रामकथा को आधार बनाकर गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' लिखा और आधुनिक काल में मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' की रचना की लेकिन प्रत्येक काव्य अपने आप में मौलिक है। शिव कथा पर आधारित भारतीनन्दन कृत 'पार्वती' महाकाव्य भी नितान्त मौलिक है। कहीं-कहीं उसमें कुमार सम्भव की प्रति-च्छाया हो सकती है और ऐसा होना समय की अनिवार्यता बन जाती है क्योंकि अपने युग की प्रत्येक महान रचना आने वाले युग की कृतियों को अवश्य प्रभावित करती है। कहना न होगा कि कुमार-सम्भव अपने युग की महान रचना है।

जब कोई भी कवि अपने युग के श्रेष्ठ काव्य की रचना करना चाहता है तो अपने काव्य के स्रोत

---

[1]साहित्य—संदेश—भाग—१८ अंक ५ पृष्ठ २०१

अतीत की घटनाओं से ग्रहण करता है। श्री रामरजपाल द्विवेदी ने इस संदर्भ में लिखा है कि "कामायनी के आमुख में प्रसाद जी ने स्पष्ट कर दिया कि कामायनी के स्रोत पुराणों से लिए गए हैं और उन सबके आधार पर कामायनी की कथा सृष्टि हुई (आमुख पृ०५) महाकवि तुलसी ने रामचरित मानस की प्रेरणा नाना पुराण निगमागम से ही ली है।" आगे चलकर सुमित्रानन्दन पंत ने भी स्पष्ट कर दिया है कि "मैं पल्लवकाल में उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों मुख्यतः—शैली, वर्डसवर्थ, कीट्स, और टेनिसन से विशेष प्रभावित रहा।"[1]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक महान रचना अपने आने वाले युग की कृतियों को प्रभावित करती है। पार्वती महाकाव्य से भी अनेक कवियों ने प्रेरणा लेकर अपने काव्य की सर्जना की जिसमें रामधारी सिंह दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' प्रमुख है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' चीनी आक्रमण के समय राष्ट्रीय चेतना के उद्बोधन के लिए लिखी गई है। इससे ८ वर्ष पहले डॉ० रामानन्द तिवारी पार्वती महाकाव्य में राष्ट्र की चेतना को जागृत करने का आह्वान कर चुके थे। कहा जा सकता है कि पार्वती महाकाव्य और परशुराम की प्रतीक्षा की संवेदनाएं लगभग समान हैं जबकि पार्वती महाकाव्य चीन के आक्रमण के समय नहीं रचा गया था। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में दिनकर देशवासियों को जागरण का संदेश देते हुए कहते हैं:—

ओ बदनसीब अन्धो, कमजोर अभागो,
अब भी तो खोलो नयन नींद से जागो।

परशुराम का अभिनन्दन इस प्रकार किया गया है:—

है एक हाथ में परशु, एक में कुश है
आ रहा नए भारत का, भाग्य पुरुष है।

इसी के समानान्तर डॉ० रामानन्द तिवारी पार्वती महाकाव्य में परशुराम का निम्न प्रकार से चित्रण करते हैं:—

'हृदय में वेद कर में परशु भीषण धर रहा हूं,
युगों से विश्व में यह घोषणा मैं कर रहा हूं।
अरे! ओ! ज्ञान के साधक दलित विप्रो अभागो,
अरे। तुम शक्ति की भी साधना के अर्थ जागो।

इसी प्रकार आगे चलकर दिनकर द्वारा धर्म के छल और जीवन के मर्म का संकेत 'परशुराम की प्रतीक्षा' में इस प्रकार किया गया है:—

वास्तविक मर्म जीवन का जान गए हैं,
हम भली भांति अध को पहचान गए हैं।
हम समझ गए हैं खूब धर्म के छल को,
बम की महिमा को और विनय के बल को।

पार्वती महाकाव्य में धर्म और जीवन के मर्म का संकेत निम्न प्रकार से मिलता है:—

---

[1]साहित्य सन्देश-भाग १८ अंक ५ पृष्ठ २०९

'धरा में धर्म' नभ में शांति के पूजित पुजारी,
बनाते मानवों को ही रहे नित धर्मचारी।
सुनाते शांति का उपदेश केवल सज्जनों को,
बनाते और भी दुर्बल मृदुल उनके मनों को।

परशुराम की प्रतीक्षा में तप और शक्ति के समन्वय का संदेश दिया गया है:—

केवल कृपाण को नहीं त्याग तप को भी,
टेरो टेरो साधना यज्ञ जप को भी।

भारतीनन्दन ने भी अपने पार्वती महाकाव्य में यही संदेश प्रसारित किया है:—

जाना सबने धर्म आज नूतन जीवन का,
जाना सब ने मर्म आज रति औ नर्तन का।
जाना बल का मूल, शक्ति का साधन जाना,
आज विजय का सिद्ध मार्ग सबने पहिचाना।

मदन भस्म के मर्म आज थे सम्मुख जागे,
शंकर का आदेश मूर्त दर्पण सा आगे।
था कुमार अभिरूप वीर्य बल विक्रमशाली,
जीवन की नय हुई सुरों को विदित निराली।

तप को जीवन का सर्वस्व मानने वालों पर दिनकर ने व्यंग्य करते हुए कहा था—

यह नहीं शान्ति की गुफा, युद्ध है, रण है,
तप नहीं, आज केवल तलवार शरण है।

डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन ने यही बात यों लिखी थी—

न होता विश्व का निर्णय विपिन या कन्दरा में,
सदा जीवन बिगड़ता और बनता रणधरा में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने समय की महान रचना पार्वती ने अपने बाद की कृतियों को किस सीमा तक प्रभावित किया। भारतीनन्दन ने इस संदर्भ में लिखा है कि "परशुराम की प्रतीक्षा में देशवासियों के लिए एक जागरण का संदेश है तथा संगठन और बलिदान की प्रेरणा है ... ...सामयिक आक्रोश (१९६२) में रचित होने के कारण परशुराम की प्रतीक्षा में देश के शक्तिशाली संगठन की कोई योजना नहीं दी जा सकी। लगभग दस वर्ष पूर्व (१९५३ में) भारत के पतन और उत्थान के स्थायी प्रश्न के आधार पर रचित होने के कारण पार्वती महाकाव्य में स्वर्ग के कल्पान्तर के निमित्त से देश के कल्पान्तर की भी एक व्यावहारिक योजना प्रस्तुत की गई है। परशुराम का आदर्श ही सुरक्षा और अभय का शाश्वत मार्ग है। यही आदर्श भारत के लिए अनुकरणीय है किन्तु वृद्ध परशुराम की अपेक्षा तरुण सैनानी का आदर्श

अधिक प्रेरणाप्रद हो सकता है। युद्ध और संकट काल में युवकों का उत्साह ही देश का रक्षक है। शान्ति काल में वही उत्साह निर्माण और अभय का सम्बल बनता है।"[1]

अतः पार्वती महाकाव्य शिव कथा पर आधारित हिन्दी का एकमात्र महाकाव्य है। इस काव्य के प्रारम्भिक सर्गों में कहीं-कहीं कुमार सम्भव की छाया अवश्य है परन्तु अपनी संवेदना में यह काव्य नितान्त मौलिक है। स्वयं लेखक ने इस काव्य की मौलिकता के बारे में लिखा है "आरम्भिक सर्गों में 'अर्चना' और 'हिमालय वर्णन' अत्यन्त मौलिक हैं। इन दो सर्गों के अतिरिक्त पार्वती महाकाव्य के सर्ग १२ से लेकर २७ तक १६ सर्गों की कथा और उनका विषय पूर्णतः कवि कल्पना से प्रसूत होने के कारण अत्यन्त मौलिक है।"[2] डॉ निज़ामुद्दीन पार्वती काव्य की मौलिकता के बारे में लिखते हैं कि "पार्वती का यह उत्तरांश काव्य सौष्ठव, मानवतावादी जीवन मूल्यों और शिव संस्कृति संदेश की सुरम्य वाटिका है। पार्वती में कुमार सम्भव की प्रतिच्छाया होते हुए भी मौलिक उद्भावनाओं की संरचना भी विद्यमान है।"[3] इसी मौलिकता के कारण पार्वती हिन्दी काव्य की अक्षय निधि बन सकी है। प्रो० देवीप्रसाद काव्य की मौलिकता को प्रमाणित करते हुए कहते हैं कि "उत्तरार्द्ध खण्ड में प्रौढ़ कवि कल्पना-विलक्षण काव्य प्रतिभा, भाव सौन्दर्य, रस परिपाक, कलात्मक कौशल और प्रबन्धत्व प्रवाह आदि दृष्टव्य हैं किन्तु मौलिक सृजन प्रतिभा, कलात्मक औदात्य, वैचारिक निधि और भाव गाम्भीर्य की दृष्टि से काव्य का उत्तरार्द्ध महत्वपूर्ण है।... इन सर्गों में कवि के अध्ययन मनन और चिन्तन ने जीवन दर्शन के रूप में ढलकर बलवती प्रेरणा का रूप ग्रहण कर लिया है। शैवागमों के निगूढ़ अध्ययन और तत्व दर्शन चिन्तन ने शिव संस्कृति के रूप में एक महान उपलब्धि कराई है। पार्वती-कार की शिव विषयक परिकल्पना नितान्त मौलिक उपादेय एवं युगानुरूप है।[4]

स्पष्ट ही महाकाव्य पार्वती एक महान और अभिनन्दनीय कृति है तथा उसके रचयिता भारतीनन्दन एक वंदनीय और उल्लेखनीय महाकवि हैं।



---

[1]सैनानी (काव्य) भूमिका-डा० रामानन्द तिवारी पृ-५४

[2]उपरोक्त-पृ ३६

[3]मधुमती-अक्तूबर १९७७ पृ-६१

[4]समिति वाणी-१९६३-पृ-५४

पार्वती महाकाव्य : एक दृष्टि में

—राम प्रताप मिश्र

महाकवि कालीदास ने "जगतः पितरौ बन्दे" कहकर पार्वती परमेश्वर की बन्दना की है तो गोस्वामी तुलसीदास ने 'श्रद्धा विश्वास रूपिणौ' कह कर भवानी शंकर की अभ्यर्थना की है। कहने को यह भी कह सकते हैं कि इसमें कुछ भी अद्‌भुत नहीं है, क्योंकि भगवान शंकर सभी विद्याओं, कलाओं और शास्त्रों के आदि प्रवक्ता हैं तो पार्वती सब तन्त्रों और महा विद्याओं की आदि आचार्या हैं। प्रायः इन सभी गुह्य विद्याओं का प्राणि मात्र के लाभ के लिये प्रकाश शंकर पार्वती के संवाद के रूप में ही हुआ है। इस दृष्टि से यदि महाकवियों ने मंगलाचरण के रूप में उनकी बन्दना की है तो किमाश्चर्यम् । किन्तु बात इतनी सी ही तो नहीं है। वेदों, उपनिषदों, पुराणों, महाकाव्यों, किंच वाङमय की प्रत्येक विद्या में इसी प्रेमी युगल की अमर प्रेम गाथा का गान किया गया है। जब किसी भी रससिक्त हृदय में शंकर-पार्वती या शंकर पार्वती का ध्यान भी आता है तो वह यथा सामर्थ्य उसका गान करने को आतुर हो उठता है। अन्यथा, राम के गायक "तुलसी" को शकर-पार्वती के परिणय-चरित्र के गान की क्या आवश्यता थी ? फिर बात सामर्थ्य की भी है; भावुक भी हो और गायक भी; साथ ही समर्थ भी हो तभी तो उसका गान काव्य की गरिमा तक पहुंचेगा। हमारे युग का एक ऐसा ही समर्थ महाकवि है। भारतीनन्दन ⋯ आचार्य रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन, और उसकी रससिक्त समर्थ वाणी का उद्‌गार है महाकाव्य पार्वती।

युग-जीवन की स्फूर्ति की व्यंजना अथवा अभिव्यक्ति साहित्य के अनेक रूपों में होती रही है। किन्तु जीवन-मूल्यों के व्यापक विकास का चित्रांकन करने की सबसे अधिक क्षमता महाकाव्य नामक काव्य रूप में होती है। महाकाव्य सच्चे अर्थों में जातीय-जीवन और सामाजिक चेतना के आकलन का सांस्कृतिक प्रयास है। पारंपरिक महाकाव्य के सृजन के प्रधान उपकरण हैं जीवन्त कथानक, महान नायक और उसका महान उद्देश्य, गरिमामयी उदात्त शैली में युग-जीवन का व्यापक चित्रण, सपाट बयानी के बजाय गंभीर अभिव्यंजना शक्ति और उससे होने वाला रस परिपाक, एवं जीवन-दर्शन की शक्तिशाली प्रेरणा। इन्हीं के कारण महाकाव्य निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट काव्य रूप है और इसीलिए उपयुक्त कसौटियों पर खरे उतरे रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल वध, रामचरित मानस, कृष्णायन, साकेत, कामायनी जैसे महाकाव्य भारतीय वाङमय की अनन्यतम धरोहर बन गए हैं। निश्चितरूप से 'पार्वती' की गणना भी भारती की मुक्तामाला के इन देदीप्यमान मौक्तिकों में होगी।

वैसे आज गद्य का युग है और गद्य युग का महाकाव्य उपन्यास माना जाता है। विदेशी विद्वान प्रो० टिलीयार्ड ने एक जगह कहा है कि अठारहवीं शताब्दी से महाकाव्य लेखन की परम्परा समाप्त हो गई है। मनुष्य के ज्ञान की चेतना शक्ति का इतना अधिक प्रसार हुआ है कि होमर और दांते जैसे महाकाव्यकारों की भांति समस्त समाज का चित्रण सुतरां दुःसाध्य हो गया। साहित्य के व्यापक से व्यापक रूप में भी

जीवन के पक्ष विशेष का ही चित्रण सम्भव हो सका। किन्तु मध्ययुगीन समाज का चित्रण उपन्यासों में अवश्य सफलता पूर्वक हुआ है। फिर भी महाकाव्य लेखन की परम्परा निःशेष नहीं हुई है और महाकाव्यों का सृजन-प्रणयन बराबर हो ही रहा है। तो भी सच यह है कि इनमें से अधिकांश केवल नाम के ही महाकाव्य हैं ; **भले ही इन काव्यों के रचयिताओं और समीक्षकों ने महाकवि की उपाधि के कुछ रूप, शास्त्रीय लक्षणों के सफल निर्वाह के कारण इन रचनाओं को महाकाव्य मान लिया हो।** हां, कुछ कृतियां इस युग में भी ऐसी रची गई है, जिन्हें निर्विवाद रूप से महाकाव्य माना जा सकता है। कविवर जयशंकर प्रसाद की "कामायनी" इस युग की एक सुन्दर कृति कही जा सकती है, जिसमें मानवता के जनक मनु के पौराणिक इतिवृत्त को लेकर विराट कल्पना और काव्य प्रतिभा के प्रश्रय से मानवोत्पत्ति एवं विकास का अद्भुत चित्रांकन हुआ है। डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन कृत महाकाव्य 'पार्वती' को भी इसी श्रेणी की श्रेष्ठ रचनाओं में रखा जा सकता है।

"पार्वती" में भारतीय संस्कृति, परम्परा और समाज तथा उसके आदर्शों का व्यापक रूप से चित्रण हुआ है। इतना ही नहीं, यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि "पार्वती" के रचयिता "भारतीनन्दन" ने आज के स्थूल विज्ञान की अधपकी, अधकचरी संकल्पनाओं से दिग्भ्रान्त मानव जाति के नाम शिव संस्कृति का संदेश प्रसारित कर, स्वस्थ मानवतावादी जीवन मूल्यों की स्थापना का सफल प्रयास किया है। उसमें विभिन्न प्रकार की पौराणिक घटनाओं का अनुपम एवं अनोखा संकलन है। जीवन के अनेक रूपों दृष्टिकोणों के आकलन में विशदता है, गति है और देशकाल का चित्रांकन कथा-वस्तु के विस्तृत कैनवस पर सम्यक रूप से किया गया है। इसमें भी उमा-जन्म से लेकर त्रिपुर उद्बोधन तक की समस्त घटनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। "पार्वती" के कथानक में महाकाव्योचित सभी गुण विद्यमान हैं, और पूर्वापर सम्बन्ध-निर्वाह करने वाली प्रबंध-पटुता श्लाघ्य है। पार्वती का जन्म, देवताओं का आकुल क्रंदन, पार्वती की शंकर को पाने की कामना में तपस्या, शिव-पार्वती विवाह, कुमार जन्म, देवताओं के उद्बोधन पर कुमार द्वारा तारक का वध जयन्ताभिषेक, शोणितपुर का वर्णन, लोहे, चांदी और कांचन निर्मित त्रिपुरों का आविर्भाव तथा तिरोभाव, वर्णन की दृष्टि से अद्भुत है। शिवत्व, नीति एवं संस्कृति की जीवनोपयोगी व्याख्याएं इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं; क्योंकि वे कथा काव्य को दर्शन की मनोभूमि तक उठा देती हैं। इस दृष्टि से 'पार्वती' की तुलना सुमित्रानन्दन पंत के महाकाव्य, मेरी दृष्टि में उनकी सर्वश्रेठ कृति, 'सत्यकाम' से ही हो सकती है।

'पार्वती' के पात्रों में चारित्रिक वैभव वैविध्य, प्रभविष्णुता लिए हुए है। काव्य की नायिका पार्वती का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उभर कर सामने आया है, उसके लावण्य, पातिव्रत्य और तपोनिष्ठा पर कवि की विशेष दृष्टि गई है। हां, रूप वर्णन में परम्परागत शैली का अनुसरण किया गया है, जिससे यह महाकाव्य भारतीय महाकाव्यों की शृंखला का अंग बन गया है। भगवती पार्वती, कवि की दृष्टि में, लोकोत्तर लावण्यवती हैं, त्रिलोक की पावनता उनमें समाहित है। वे शिवा शरीर की शुभ ज्योति हैं। वे तपोनिष्ठ पाण्डुरता से आपूर्ण राका की पलकों में बसे उषा-स्वप्न सदृश प्रतीत होती हैं। वे शांत वासुकि की सुफण पर अरुण सी कान्ति हैं। शिवाराधना उनका प्राणाधार है। योगी, यती, ऋषि, सभी तो उनके तप से प्रभावित हैं। शंकर की दृष्टि में तो वे त्रिभुवन की श्रेष्ठतम विभूति हैं ही, क्योंकि वे उनके योग की साकार सिद्धि, आत्मपूर्ति एवं तप का वरदान हैं। उधर, ममता के रूप से सेनानी की जननी हैं, जहां

उनका मातृत्व सौम्य-स्निग्ध चंद्रिका के समान है। स्नेहिल हृदय पार्वती कुमार को शिक्षार्थ भेजते समय उसके भाल पर अक्षत-रोली का शुभ तिलक लगा, छलछलाए नेत्रों से उपदेशगर्भित आशीर्वाद देती हैं :—

पुत्र जाओ कुशल से ले हृदय में विश्वास,
सफल हो आचार्य पद का सिद्धि अन्तेवास।
द्विगुणित दीपित तेज से देखूं पुनः वह भाल,
वीर सेनानी बनेगा लौट मेरा लाल ॥

कुमार दीक्षा सर्ग में ही, कवि ने परशुराम के माध्यम से शक्ति योग सिद्धान्त की उद्‌घोषणा की है। आज भारत के विकास के लिए शक्ति की आराधना की कितनी अधिक आवश्यकता है, यह चीन और पाकिस्तान से हुए युद्धों से हो सिद्ध हो जाता है।

कवि ने जहां माता का वात्सल्य प्रेम दिखाया है, वहीं पिता 'शिव' के मन की वेदना को भी बड़ी चतुराई से प्रकट किया है। इधर, स्कन्द शिक्षार्थ जाने को तैयार है :—

दूसरे ही दिन पिता का प्राप्त कर आदेश
और धारण आश्रमोचित कर बटुक का वेश
बांध कर कौपीन कटि में स्कन्ध पर तूणीर
हो गया उद्यत प्रयाण निमित्त निर्भय वीर॥

तब कवि ने पिता शिव के हृदय की वेदना को केवल एक पंक्ति में कह कर, अपनी उदात्त काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है :—

"हो उठे करुणार्द्र शिव भी सहज करुणाधाम"

कवि ने वियोग वात्सल्य की एक और कितनी सुन्दर मनमोहक आह्लादमयी झांकी इन शब्दों में व्यक्त की है :—

सिंह शावक सा विपिन में लय हुआ जब दूर
द्वार से लौटती उमा तब रोक करुणापूर
देखकर बैठी कुटी में मौन और उदास
करुण स्मिति के सहित शिव आए उमा के पास।

प्रकृति के रसोत्पत्ति के उपादान के रूप में उपयोग का कितना बढ़िया उदाहरण है यह उद्धरण!

कवि ने "कुमार दीक्षा" के आरम्भ में हिमालय पर स्थित परशुराम के महिमामय आश्रम का ही सर्वप्रथम वर्णन किया है। हिमालय के एकान्त में भागीरथी गंगा के पुनीत तट पर स्थित उस आश्रम की ओर किसी असुर में देखने तक की शक्ति नहीं, क्योंकि परशुराम के "परशु" के शक्तिशाली प्रहार के कारण बड़े बड़े दुष्टों तक के मनोबल खंडित, चूर-चूर हो चुके हैं। कवि ने ऐसे शक्तिशाली भृगुराज के आश्रम का वर्णन जिस ओजस्वी भाषा में किया है, उसमें परशुराम के ज्ञान और शक्ति समन्वित स्वरूप का अनायास आभास होने लगता है:—

"तपोवन था यही भृगुराज का विख्यात जग में
न जाता भूल कोई असुर जिसके मृत्यु मग में ।"

जहां पर एक साथः—

टंगे थे परसु और पालाश उसमें साथ दोनों,
हृदय से एक उनका ग्रहण करते हाथ दोनों,
हुआ था भूमि पर अवतरित अद्भुत वीर योगी
समुद्धृत सृष्टि जिसकी नीति से निर्भान्त होगी ।"

लेखक ने अनादि काल से चली आ रही भारत की एक भूल की ओर प्रत्येक भारतीय नागरिक, प्रत्येक वीर सिपाही का ध्यान आकर्षित किया है। सही है, भारत को ज्ञान व आध्यात्म के क्षेत्र में विश्व प्रांगण में अग्रणी होने का सौभाग्य प्राप्त है। निश्चित ही भारत की वैभवशालिनी आध्यात्मिक परम्परा के सामने विश्व के किसी भी देश की दार्शनिक परम्परा सानी नहीं रखती। हमारे ऋषियों मुनियों ने एकान्त चिन्तन से जो आध्यात्मिक सूत्र प्रतिपादित किए हैं, वे उनके स्वयं के व्यक्तिगत जीवन पर आधृत तथा अनुभव गम्य थे। परन्तु दर्शन के इन गूढ़ रहस्यों के साथ भारत का एक बड़ा दुर्भाग्य भी आ जुड़ा है। मात्र चिन्तन-प्रधान इस एकांगी दर्शन ने भारत को भौतिक दृष्टि से शक्ति हीन बना दिया। ऋषियों की साधनाओं में दुष्टों द्वारा सदा से व्यवधान डाले जाते रहे हैं। आध्यात्म के इन सूत्रों को दुष्ट राक्षसों के सम्मुख अनेकों बार झुकना पड़ा है। मध्यकालीन भारत में तो यह प्रवृत्ति राजनीति में भी घर कर गई जिसके कारण शक्तिमान होते हुए भी भारतीय वीर शक्तिहीन रहे। कवि की दृष्टि में यदि आध्यात्म के ज्ञान से ओत-प्रोत ये ऋषि-मुनि शक्ति की आराधना भी करते तो इन दुष्टों के दमन के लिए उनका पौरुष निस्तेज न होता। इसीलिए कवि, "भारतीनन्दन" ने परशुराम के माध्यम से "पार्वती" के कुमार दीक्षा सर्ग में प्रथम बार "शक्तियोग" सिद्धान्त को जीवन में चरितार्थ करने के के लिए गगन भेदी स्वर गुंजाया है। शक्ति और ज्ञान के मणि कांचन संयोग से ही जीवन के क्षितिज पर प्रगति एवं विकास के सप्तरंगी इन्द्रधनुष का आविर्भाव संभव है। स्वयं परशुराम ने इस बड़े सत्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है: —

हृदय में वेद, कर में परशु भीषण धर रहा हूं
युगों से विश्व में यह घोषणा मैं कर रहा हूं,
अरे ! ओ ! ! ज्ञान के साधक दलित विप्रो, अभागो,
अरे ! ! तुम शक्ति की भी साधना के अर्थ जागो।
न होगा विश्व का उद्धार केवल ज्ञान नय से
प्रतिष्ठित धर्म होगा भूमि पर केवल अभय से।"

क्योंकि ज्ञान रहित शक्ति आत्म-संहार का कारण बनती है और शक्ति रहित ज्ञान, एकांगी आध्यात्म को बार-बार क्रूरता के सामने नतमस्तक होना पड़ता है, वह शिवत्व खोकर "शव" हो जाता है, क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से, तंत्रों में 'शिव' शक्ति के बिना "शव" है और 'शक्ति' 'शिव' के अभाव में सर्व संहारक, आत्मघातिनी हो जाती है। भारत के मनीषी, ऋषि तो 'शिव' के उपासक रहे और

दुष्ट राक्षसी-शक्ति की आराधना-उपासना कर, बल पकड़ते रहे। कवि भारतीनन्दन के अनुसार दोनों ही गलत हैं, क्योंकि—

"अकेला बल यद्यपि बनता अनर्गल दर्प खल का
अकेला ज्ञान बनता दास दुर्बल दृप्त बल का।।"

आज, छात्र शक्ति और युवा शक्ति की बड़ी चर्चा है। छात्र शक्ति का महत्व नया ही अनुभव किया हो, ऐसी बात नहीं है। कवि द्वारा कुमार दीक्षा सर्ग में किया गया ब्रह्मचारियों की साधना का एक से एक ओजमय चित्रण प्राचीनों की इसी दृष्टि का संकेत है। आज देश के प्रत्येक युवक को, पार्वती के स्कंद की तरह, ज्ञान और शक्ति की साधना में अपने को समर्पित करना होगा। तभी देश-समाज और मानव जाति का कल्याण संभव है। गाधि पुत्र महात्मा भृगुराज के आश्रम में इन विद्यार्थियों को शस्त्र और शास्त्र'शिक्षा' का, कवि का सजीव चित्रण दृष्टव्य है:—

"गगन में वज्र से उज्ज्वल दुधारे थे चमकते,
प्रलय के सूर्य से खण्डित परशु के फल दमकते,
चमक चिनगारियां नक्षत्र दल सी लीन होतीं
निरन्तर स्फूर्ति वटुओं की प्रचण्ड नवीन होतीं
शिला पर वज्र सी भीषण गदा ओ शक्ति गिरती
चमकती धूम केतु समान नभ के बीच फिरती
भयंकर अस्त्र, भीषण शस्त्र थे निर्बन्ध चलते
कुशलता हस्तलाधव में समर के छन्द पलते।"

दूसरी ओर शक्ति की विकराल साधना में लीन रहने वाले यही, ब्रह्मचारी, उसी संग्राम स्थल में गंगा के पवित्र जल में स्नान करके, शास्त्रों के, ज्ञान की आराधना में भी उसी लाघव से रत हो जाते हैं:—

"सुपावन स्नान कर भागीरथी के स्वच्छ जल में,
कठिन शस्त्रास्त्र से सज्जित उसी संग्राम स्थल में।
समाहित चित्त होकर वीर सारे ब्रह्मचारी
लगन से शास्त्र का स्वाध्याय करते ज्ञानकारी।"

परशुराम ने अपने अन्तेवासी शिष्यों को शक्ति तथा ज्ञान में पारंगत होने के पश्चात, इसी शक्ति और ज्ञान के समन्वय के महामंत्र की पवित्र वाणी को प्रत्येक मानव के हृदय में जागृत करने के लिए, संसार की ओर प्रस्थान करने की आज्ञा प्रदान की है। इस दृष्टि से, कुमार दीक्षा सर्ग में कवि का क्रांतिकारी रूप स्पष्ट हुआ है। वह एकांगी अध्यातम और एकांगी शक्ति पर विश्वास नहीं करता और आज की सामाजिक स्थिति में यह उचित भी नहीं लगता।

पार्वती महाकाव्य के अन्तिम १० सर्ग निश्चय ही कवि की चरम साधना-तपस्या एवं विद्वत्ता के उज्ज्वल प्रतीक हैं। इन सर्गों में कवि के अध्ययन, मनन और चिन्तन ने जीवन-दर्शन के रूप में ढलकर बलवन्ता प्रेरणा का रूप ग्रहण कर लिया है। शैवागमों के निगूढ़ अध्ययन और तत्वदर्शन चिन्तन ने शिव

संस्कृति के रूप में एक महान उपलब्धि कराई है। पार्वतीकार की शिव संस्कृति विषयक परिकल्पना नितांत मौलिक, उपादेय तथा युगानुरूप है।

पार्वतीकार की जीवन दृष्टि नारी जागरण गांधीवाद, मानवतावाद से उत्प्रेरित है। नारी मुक्ति और उसकी समानता का प्रबल समर्थन कवि ने अपनी कृति में किया है। नारी के गुणों की उसकी आन्तरिक सीमा की भी स्तुति कवि ने की है। नारी जीवन को उन्होंने संस्कृति का मापक माना है।

नारी का नय और मान, माप संस्कृति का,
पथ उसका शुचि संस्कार, निसर्ग प्रकृति का ।

नारी ही विश्व प्रकृति की सुन्दर प्रतिमा है। सुसंस्कृत नारी मानव-संस्कृति की परम शक्ति है। त्याग स्नेह, सेवा और धृति की प्रतिकृति है। वह यहां तक मानते हैं कि नारी ही शिव को भी संस्कृत करने वाली है। वेद ने भी उसे सर्वश्रेष्ठ माना है—"मातृमान, पितृमान, आचार्यवान पुरुषो वेद। कवि कहता है।"

"नारी में साकार हुई थी वीणा-पाणी।
नारी में ही पूर्त हुई थी लक्ष्मी कल्याणी॥
हुई उमा की तपः शक्ति से जागृत नारी।
ज्ञान शक्ति, श्री नारी में अन्वित थी सारी॥

जैसा कि मैं पहले भी कह आया हूं, पार्वती में शिव संस्कृति की, शिवत्व बोध की मानवतावादी वैचारिक पृष्ठभूमि में अभिव्यंजना हुई है। महाकाव्य के अन्तिम तीन सर्गों में शिव-धर्म, शिव-नीति और शिव-संस्कृति का प्रतिपादन है। इस शिव धर्म की अभिव्यंजना ही मानवतावादी जीवन-दर्शन की पतिस्थापना करने के ध्येय से की गई है।

कवि ने श्रेष्ठ जीवनोद्धार के लिए धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा, शक्ति एवं ज्ञान का समन्वय किया है। बल और शक्ति में प्रेम तत्व की उपस्थिति को उन्होंने आवश्यक माना है। बिना प्रेम के ज्ञान-शक्ति-अर्थ अतिचार बन जाते हैं। प्रेम के ही अभाव में, राजतपुर में ज्ञान विमोह है एवं आयसपुर में बल विद्रोह है और स्वर्णपुर में वाम-व्यापार है। त्रिपुरदाह के लिए ज्ञान-शक्ति और प्रेम का सामंजस्य अनिवार्य है:—

ज्ञान-शक्ति संयोग विश्व का रक्षित करता पावन क्षेम।
त्रिपुर से उद्धार विश्व का कर सकता पर जाग्रत प्रेम॥

इन तीनों के समंजन का उपाय तीनों में समन्वय की स्थापना है। पार्वती महाकाव्य का त्रिपुर रूपक हमारे युग के संदर्भ में धर्म, शक्ति और धन की माया का संघर्ष है। पार्वतीकार ने इसी संदर्भ में शिव का महान सन्देश दिया है। इस संदेश के एक-एक शब्द में मानवता का ही स्वराघोष है, संजीवनी शक्ति और अमरत्व है। विस्तारभय से यहां कुछ ही पंक्तियां उद्धृत करना पर्याप्त होगा:—

जन जन के जाग्रत गौरव से कम्पित होगी अन्ध अनीति,
दम्भ, दर्प, अतिचार आदि की प्रलय बनेगी भीषण भीति,

धर्म धुरन्धर अन्ध-पुजारी मद विभोर शासक सामन्त,
धन-कुबेर, श्री मान, दानपति सबका क्रान्ति करेगी अन्त।

o o o

प्रति मानव के शीश और मुख होंगे जब द्विज वेद-प्रवीण,
प्रति मानव के बाहु बनेंगे क्षात्र शक्ति के रक्षा-लीन,
प्रति मानव की जंघाएं जब होंगी अर्थ-काम से पुष्ट,
सेवा-श्रम से प्रति मानव के पावन पद होंगे सन्तुष्ट।

o o o

तब मानव बन मन से और तन से बन देव समान,
होगा नये विश्व का स्रष्टा और पालक अनन्त भगवान।
ज्ञान-शक्ति-श्रम और स्नेह से कर सुन्दर का चिर निर्माण,
नव-जीवन के पल-पर्वों में नित्य करेगा हर्ष-विधान॥

o o o

इस नव्य मानवतावादी संस्कृति के निर्माण से युगों की संचित भ्रांति का विनाश और चेतना का विकास होगा।

तब नव चेतना से होगी भंग युगों की संचित भ्रांति,
नवयुग का निर्माण करेगी श्रेयमुखी जीवन की क्रान्ति।

त्रिपुर उद्धार नामक २४वें सर्ग में शिवत्व बोध और मय से अनय रूपी त्रिपुरों का उद्धार वर्णित है। यहीं मानवता को अपने बल वैभव की चेतना से जागृत भी किया गया है:—

मानव हो, अपने जीवन के गौरव को पहचानो।
नर हो, तुम अपने पौरुष के वैभव को पहचानो।

इस चेतना-आह्वान ने जन-जन के जीवन में जागरण की लहर पैदा कर दी :—

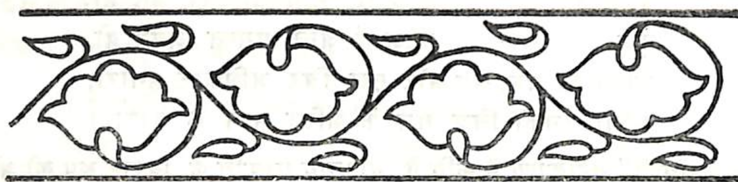
बोल उठे सब एक कण्ठ से मानवता की जय हो,
गूंज उठा स्वर अन्तरिक्ष में अन्त समस्त अनय हो,
जीवन का श्रम, श्रेय और सुख चिर अधिकार हमारा,
करना हमको सिद्ध संघ के शक्ति मन्त्र के द्वारा।

इस प्रकार "पार्वती" महाकाव्य में कवि ने भारतीय संस्कृति के विराट रूप को अंकित किया है। आज के विश्व के जीवन में मानव की संकटापन्न स्थिति, कुंठित आत्म-चेतना और भयावह वातावरण के मूल कारण मानवीय चिन्तन बोध के स्तरों में विश्रृंखलन और बौद्धिक अन्तर्विरोध है, इस परिस्थिति-द्वंद्व का विधायक मानव का अहंबोध है। इस अहंबोध को व्यावहारिक दृष्टि से विज्ञान के दुरूह आणविक अनुसंधानों का स्वच्छंद विकास, बौद्धिक अति या चेतना का व्यतिक्रम भी कहा जा सकता है। हमारे युग जीवन में भौतिकतावादी मूल्यों की अन्ध पराकाष्ठा ने मानव की आध्यात्मिक आस्थाओं को आवृत कर युग सत्य की स्वीकृति से भी पराङमुख कर दिया है। स्व और अहं की अर्थ साधना में लिप्त चेतना हतप्रभ

और विकृत होते-होते विघटनकारी तत्वों पर अवलम्बित रहने लगी है। परिणाम स्वरूप समग्र सामाजिक संगठन में विघटनकारी स्वार्थ साधक शक्तियां परम्पराओं से स्थापित मूल्यों के मूलोच्छेदन में अनवरत लगी हुई हैं। समाज के विघटनकारी तत्वों ने सांस्कृतिक जीवनादर्शों की अवहेलना भी आरम्भ कर दी है। यही कारण है कि हम सन्मार्ग के अनुसरण में असमर्थ होते जा रहे हैं।

ऐसी संकटापन्न स्थिति में विज्ञान के द्वन्द्वात्मक कलुषित वातावरण में दिग्भ्रान्त मानव को सांस्कृतिक राजमार्ग पर अग्रसर करना, उसके मार्ग को प्रशस्त करना, महाकवि रामानन्द तिवारी का यह प्रयास अत्यन्त श्लाघनीय है। उन्होंने चिरंतन संगठित तत्वों का युगानुरूप पुनर्मूल्यांकन किया है। सत्य तथा सामाजिक समसामयिक परिस्थितियों के अनुकूल ही चित्रित किया है। पार्वती महाकाव्य का शिव संस्कृति निरूपण उनकी चिंतन-शक्ति तथा प्रखर मेघाशक्ति का सबल प्रमाण है। भारतीय संस्कृति की प्रेम श्रेय ज्योति को प्रज्ज्वलित करने वाली यह एक पहली रचना है। इसके लिए उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाये थोड़ी होगी।

जैसा पहले भी कह चुका हूं पार्वती में काव्य और दर्शन का अद्भुत समन्वय है। यह तो कहना कठिन है कि डा० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन कवि हैं या चिन्तक? क्योंकि उनके दर्शन-शास्त्र के ग्रंथों में रस और कवित्व है और काव्य में, दर्शन एवं गम्भीर चिन्तन। वे आचार्य भी हैं और महाकवि भी। पर, सबसे ऊपर और सर्वत्र व्याप्त है उनकी मानव दृष्टि जो उनके दर्शन का आधार है और काव्य की मनोभूमि। वे वेदान्त के अधिकारी विद्वान हैं, परन्तु लगता है कि वेद व्यास से उन्होंने जो मंत्र लिया है, वह "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" नहीं है? वह है, "न हिमानुषात् परतरं हि किंचित्।"



पार्वती महाकाव्य में व्यंग्य-विनोद

— हीरालाल शर्मा

सागर से गम्भीर व्योम सम विस्तृत,
सादा जीवन शुभ उच्च विचारों के साकारी।
शान्त, सरल, सत, साधु तपस्वी वृत्ति,
हैं देवतुल्य श्री रामानन्द तिवारी ॥

महान सृजनकार, गम्भीर दार्शनिक एवं चिन्तक, सरल हृदय, सन्त स्वभावी डॉ० रामानन्द तिवारी अपने अन्तरतम में सागर तुल्य गाम्भीर्य संजोये हुये हैं। साधारण भारतीय वेश-भूषा में आवेष्ठित, मनीषी डॉ० तिवारी में भारतीय संस्कृति जीवन्त हो उठी है। अनुकरणीयता एवं स्पृहणीयता के मानदण्ड भारतीनन्दन ने कई स्वरूपों में स्थापित किये हैं—लेखक के रूप में, कवि के रूप में, व्यक्ति के रूप में, और आदर्श परिवार के रूप में। वस्तुतः तिवारी जी के पारसी व्यक्तित्व में लौह को सुवर्ण में परिवर्तित कर देने की अद्‌भुत क्षमता है। जब मैं डॉ० तिवारी के व्यंग्य विनोद की बात कहता हूं तो उन लोगों को जिनका तिवारी जी से दूर का परिचय है बड़ा असंगत और विचित्र सा प्रतीत होगा किन्तु वस्तुतः डॉ० तिवारी का व्यंग्य बड़ा चुटीला और विनोद बड़ा शिष्ट और गम्भीर है किन्तु वह साधारण व्यक्ति की पहुंच से परे की बात है। केवल उन व्यक्तियों को जिनका उनसे समीप का एवं आत्मीय परिचय है, उन्हें इनका रसास्वादन करने का सौभाग्य सुलभ होता रहता है। व्यंग्य-विनोद की झलक का श्री भारतीनन्दन द्वारा प्रणीत वाङ्मय, भाषणों एवं सम्भाषणों में भली-भांति विकीरण हुआ है।

पार्वती में व्यंग्य-विनोद

"भारतीनन्दन" द्वारा प्रणीत महाकाव्य "पार्वती" में शिष्ट एवं गम्भीर हास्य का बड़े ही प्रचुर मात्रा में अति लाघव के साथ निर्वाह किया गया है।

समवयस्क युवतियों द्वारा अपनी दुलहन सखी का श्रृंगार करती हुई उसके प्रति मीठी-मीठी चुटकियां-फब्तियां कसना एवं व्यंग्य-वाण छोड़ना स्वाभाविक होता है। उस समय दुलहिन बनी लज्जाशीला युवती की क्या स्थिति होती है और किस प्रकार वह अपनी सखियों के व्यंग्य वाणों से रक्षा कर पाती है, इसका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक व मनोहारी चित्र कवि ने पार्वती परिणय समारोह के अवसर पर पार्वती और उसकी सखियों के मध्य परस्पर रससिक्त एवं विनोदपूर्ण वार्तालाप के माध्यम से खींचा है—

थे किये जिन्होंने मान भंग नित स्मर के,
उत्पल-से युग चरणों को रंजित करके।

अरुणाभ अलक्तक से बोली सुकुमारी,
इन चरणों पर हों नित शंकर वलिहारी ।
बोली अपरा झुक एक सखी के ऊपर,
"हो धन्य शशिकला इन चरणों को छूकर ।"
आशीष ग्रहण कर लज्जित नम्र निराला,
निर्वचन उमा ने मारी सस्मित माला ।

इसी प्रकार पार्वती जन्म में राजा हिमाचल एवं रानी मैना का पार्वती जन्म के अवसर पर परम आह्लादपूर्ण वार्तालाप शिष्ट और गम्भीर विनोद का अनुपम उदाहरण है । जिसमें बालक के जन्म में माता-पिता के परस्पर उदात्त अनुदान की ओर भी संकेत है :—

मैना की आशा से अंचित नाम पुत्र का प्यारा,
धर मैनाक महीप मानते, उसे भुवन उजियारा ।
कहते भूपति "दिव्य शुक्ति से पाया अनुपम मोती",
"किन्तु स्वाति से" कह कर रानी सहसा लज्जित होती ।

राजा दक्ष के यज्ञ में जब शिव अपमान के प्रतिवाद स्वरूप सती ने आत्मदाह कर लिया तो उसके फलस्वरूप भगवान शिव वीतरागी हो गये और अन्त में दीर्घ समय के लिये समाधिस्थ हो गये । भगवान भूतभावन के पावन आंगन में उनके गण अब निशंक इधर-उधर बाल सुलभ चपलता पूर्ण क्रीड़ाओं में मग्न हो उठे । स्वाभाविक है, जब बालकों को यह ज्ञात हो जाये कि उनके संरक्षक उनसे दूर हैं अथवा अन्य महत्वपूर्ण कार्य में व्यस्त हैं तो उनका व्यवहार थोड़ा अमर्यादित हो ही जाता है । शिव के गणों की भी यही स्थिति है : —

एक कहता दूसरे से सुन न उसकी बात,
एक डरता दूसरे से कर स्वयं उत्पात ।
बन गया अवकाश शिव के गणों को आभास,
कर रहे थे वे क्रिया से काल का उपहास ।

जब ऋषिराज नारद ने पार्वती की हस्त रेखाओं का अध्ययन कर पर्वतराज और रानी मैना को यह आश्वस्त कर दिया कि पार्वती निश्चित रूप से शिव अर्धांगी होंगी तो पर्वतराज अपने समस्त अनुचरों सहित भगवान चन्द्रशेखर के दर्शनार्थ या यों कह दूं कि लड़का देखने कैलाश पर पहुंच गये । शिव उस समय समाधि लीन थे और उनके गण जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है दूर-दूर तक नाना प्रकार की कोलाहल पूर्ण क्रीड़ाओं में आत्म विस्मृत थे उन्हें तनिक भी ध्यान न था कि इससे शिव समाधि में बाधा उत्पन्न होगी । राजा और उनके सेवकों को देखकर सबके सब गण शान्त संयत मुद्रा में नृप को प्रणाम कर बोले —

सानुओं को घेर बैठे गणों ने उद्दाम,
शीघ्र हो संयत किया नृप को विनम्र प्रणाम ।

और बोले नाथ, शिव तो हैं समाधि-निलीन,
कर रहे हैं विघ्न वारण हम चतुर्दिक दीन।

राजा कब पीछे रहने वाले थे उन्होने भी अपना व्यंग बाण गणों की ओर छोड़ा —

भूप बोले, विघ्नहर शिव सदा बाधा-हीन,
विघ्न-वारण तुम करो बस विघ्न वारण लीन।
देव दर्शन का सभी को भक्ति से अधिकार,
दरस से होगा न तप में तनिक भंग-विकार।

भगवती उमा वस्त्राभूषणों से भली भांति अलंकृत, उन्हें (वस्त्रा भूषणों को) चकित नेत्रों से निहार रही हैं। उनके अन्तर में अपने पूर्व जन्म की कथायें और घटनायें उभर-उभर कर आ रही हैं। कहां योगीराज शिव और कहां वे अलंकरण। कितना विरोधाभास। इसी कारण उमा चकित थीं। पार्वती जी की सखी उनके आश्चर्य चकित होने का कारण भांप गईं और व्यंग्य कसते हुये तत्क्षण जो कहा उसका "परिणय समारोह" सर्ग में इस भांति चित्रण किया गया है : —

"लख चकित उमा को एक सखी यों बोली,
(स्मित ने विनोद में रस-विभूति सी-घोली)
"योगी, विरक्त, बनवासी तपस त्यागी,
इन आभरणों से होंगे अब बड़ भागी।

पार्वती का कोई सर्ग ऐसा नहीं जिसमें व्यग्य-विनोद को सरिता प्रवाहित न होती हो। "कैलाश प्रयाण" में भगवान शंकर उत्कृष्ट आभूषणों से मंडित भगवती उमा के दिव्य स्वरुप को निहार कर और उनके राजकुमारी जीवन में राज प्रासादों का सुख भोग तथा कैलाश के तपस्वी आश्रम की असुविधाओं का विचार कर संकोच में पड़ गये। समस्त आगन्तुको को विदा कर एकान्त में अपनी विनोद पूर्ण विवशता प्रदर्शित करते हुये भोले, उमा से बोले : —

बोले गिरिजा से शंकर पुलकित मन में,
पाया अपूर्व आनन्द आज जीवन में
साकार सिद्धि-सी आज योग की पाई,
त्रिभुवन-विभूति तन धर कुटीर में आई।
सत्कार करूं उसका किस निधि के द्वारा,
है विदित विश्व में वैभव-जात हमारा,
बृष, डमरू, कमण्डलु, शूल, अक्ष की माला,
है यही प्रिये ! ऐश्वर्य समस्त निराला।
तुम रत्न मण्डिता हो गिरिराज दुलारी,
हम भस्म-विभूषित योगी यती भिखारी।

० ० ०

पर अन्त हुआ सुख जो पितृ-गृह में भोगा,
बन वधू भिक्षु की अब प्रिय रहना होगा।

पार्वती के शब्दों में उसी विनोद पूर्ण स्वर में जो संयत और श्रेष्ठ प्रत्युत्तर भारतीनन्दन ने दिलवाया है, वह रसास्वादन करने योग्य है,

"सौभाग्य यही है" गिरिजा सस्मित बोली,
बोले "शिव नारी मन से कितनी भोली।"

भला कौन राजकुमारी ऐसी होगी जो कंगाल वर पाकर अपने को धन्य समझे किन्तु "सौभाग्य यही है" भाव व्यक्त कर उमा ने विनोद और पातिव्रत धर्म दोनों का सुन्दर निर्वाह किया है।

"दोहद विहार" में भगवान शंकर व पार्वती के विनोद का एक अन्य चित्र बड़ा ही हृदयहारी है। भगवान शिव समाधि से जैसे ही जागृत हुये तो सामने पाया पार्वती को। पार्वती गर्भवती हैं। शिव विनोद करते हुए बोले :—

"छोड़ दीर्घ निश्वास ईश ने लोचन खोले,
योग प्रसन्न वदन गिरिजा से सस्मित बोले,
आत्म लाभ हित पुरुष योग में रहता रत है,
विश्व क्षेम हित किन्तु प्रकृति सक्रिय अविरत है।"

जटाधारी, भस्म-विभूषित, मुण्डमाली शिव के व्यंग्य वचनों को सुनकर भगवती उमा ने भी सहज विनोद करते हुये व्यंग्य-वाण छोड़ा :—

"है स्वरूप ही भव्य पुरुष का" गिरिजा बोली,
व्यंग सत्य में सुधा रुचिर मधु, स्मिति ने घोली,
प्रकृति कर्म आधार विश्व की चिर संसृति का
किन्तु योग ही पीठ श्रेय की शाश्वत धृतिका।"

भगवान शिव गिरिजा को पत्नी के रूप में पुनः प्राप्त कर उर में परम पुलकायमान हैं और यह अपेक्षा करते हैं कि सुलक्षणा परम गुणशीला पार्वती के आगमन से समग्र गण संस्कृति का परिष्कार हो जाएगा। पार्वती शिव के इन वचनों को श्रवण कर अत्यन्त प्रफुल्लित हुईं और बड़ा ही विनोद पूर्ण उत्तर देते हुए बोलीं कि यदि स्वामी सुसंस्कृत हो जाएगा तो सेवक स्वतः ही सुसंस्कृत हो जायेंगे क्योंकि सेवक तो सदैव स्वामी का ही अनुसरण करते हैं। भारतीनन्दन ने इसे बड़ी चतुराई से चित्रित किया है। पार्वती द्वारा दिये गये उत्तर में हास्य एवं श्लेष का सुन्दर समन्वय है।

"निज जनपद की गण-संस्कृति के परिष्करण की,
सरल प्रशंसा सुनकर मुख से शिव के मन की
मन में हर्षित हुई उमा हो पुलकित तन में,
होती किसको प्रिय न प्रशंसा निज जीवन में।"

बोली पुलकित उमा मन्द स्मिति से शंकर से,
होती संस्कृति सिद्ध सदा गौरी के वर से,
स्वामी का अनुसरण सदा करते अनुचर हैं,
जन संस्कृति में गुंजित प्रिय प्रतिध्वनि के स्वर हैं।"

इस स्थल में "गौरी के वर" का प्रयोग विशेष अर्थ लिये हुये है। तथा "स्वामी का अनुसरण सदा करते अनुचर हैं" पंक्ति विनोद से ओत-प्रोत है।

ब्रह्मा और विष्णु भी पार्वती में विनोद से अछूते नहीं रहे हैं। ब्रह्मा सृजनकार तथा विष्णु सृष्टि के पालनहार कहे जाते हैं किन्तु "कुमार जन्म" सर्ग में कुमार जन्म के अवसर पर भगवान शिव के कक्ष में नाना प्रकार का आमोद-प्रमोद मनाया जा रहा है। शिव पार्वती पुत्र के लालन-पालन में रत हैं। सुरों के हृदय में अपूर्व उल्लास है क्योंकि कुमार तारकासुर का संहार कर उन्हें त्राण देगा इस सबको देखकर ब्रह्मा और विष्णु बड़ी ही राहत का अनुभव कर रहे हैं क्योंकि उन दोनों के कार्य भगवान शिव ने स्वयं-संभाल लिये हैं। ब्रह्मा और विष्णु का यह विनोद पूर्ण वार्तालाप उत्फुल्ल कर देने वाला है:—

"हो रहा शिव कक्ष में भी था मधुर संलाप,
हास से उठता कभी था व्योम-मण्डल कांप,
कहा हरि ने हो गया हल्का हमारा भार,
कर रहे शिव स्वयं पालित अब अखिल संसार।"

कहा विधि ने क्षीर निधि में शेष-शैय्या बीच,
शयन अब निश्चिन्त करिये आप दृग दल मींच,
नाभि-निःसत कमल पर तज सृजन का सब खेद,
पढ़ेंगे निश्चिन्त हम भी अब अहर्निश वेद।"

ऐसे मांगलिक अवसर पर जबकि स्वयं ब्रह्मा और विष्णु भी विनोद में मग्न हैं तो सरस्वती जी और लक्ष्मी जी क्यों पीछे रहने वाली थीं। भारती और श्री की शिव के प्रति बधाई स्वरूप व्यंग्य पूर्ण वचनावली कितनी अमृतोपम है:—

भारती ने कहे शिव से वचन मन में तोल,
"ब्रह्मचारी को मिला शिव रत्न प्रिय अनमोल"
कहा श्री ने सहज स्मृति से योग की अनुभूति,
विश्व के सूने हृदय की पूर्ण विभूति।

आगे तो "तारक वध" सर्ग में भी विनोद का सुरुचिपूर्ण निर्वाह हुआ है जिसमें भावों की सरलता व अभिव्यक्ति की उदारता है। देवता गण तारक से युद्ध करने के लिए कुमार को अपना सेनानी बना सेना लेकर प्रस्थान करते हैं। बालक कुमार सेनापति के रूप में सेना का नेतृत्व कर रहे हैं। जब तारकासुर ने देखा कि नन्हा बच्चा आगे कर ये कायर देवता गण मुझ पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं तो क्रोध के वशीभूत उसके मुख से जो शब्दावली निकली उसमें तीखे व्यंग्य का समावेश है। भारतीनन्दन के भावों में:—

पौरुष यह इन किंपुरुषों का अथवा अपना युद्ध प्रमाद,
आज बन रही प्रगति युद्ध की सब इतिहासों का अपवाद,
आज बालकों को कर आगे ये कायर किन्नर गन्धर्व,
दिखा रहे परिचित वीरों को नये शौर्य कौशल का गर्व ।

० ० ०

शिशुओं के बल पर आये क्या करने वीरों से संग्राम ।
इससे तो ललनाओं ही की सेना लज्जित कर अभिराम,
कर सकते थे हमें पराजित चला रूप यौवन के बाण,
किम्पुरुषों का कामिनियां ही करती रहीं सर्वदा त्राण ।

इस प्रकार समग्र पार्वती महाकाव्य व्यंग्य-विनोद से परिपूर्ण है। प्रत्येक सर्ग में इसकी झलक उसी प्रकार मिलती है जैसे मेघाच्छादित आसमान में दामिनी की । विलक्षणता यह है कि दर्शन की गहराइयों में विनोद सरलता पूर्वक गहराइयों और ऊंचाइयों को छूता चला गया है । कृत्रिमता का नाम नहीं है । स्वाभाविक गति के साथ प्रवाहित "पार्वती" की साहित्यिक सरिता के व्यंग्य विनोद के दुर्लभ पारिजात और उनका श्रेष्ठ सौरभ पाठक भ्रमर को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है ।



पार्वती : साहित्यकारों और पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि में

—इन्दुमती कौशिक

महाकाव्य पार्वती का प्रणयन कोटा (राजस्थान) में वासंतिक नवरात्र सं० २०१० से वासंतिक नवरात्र सं० २०१२ तक हुआ और १९५५ में इसका प्रकाशन भी वहीं से हुआ जहां इसके रचनाकार भारतीनन्दन राजकीय महाविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष थे।

डॉ० रामानन्द तिवारी मूलतः कवि हैं। अपने विद्यार्थी जीवन में उन्होंने ब्रज, खड़ी बोली, संस्कृत और अंग्रेजी में आरम्भिक रचनाएं कीं जिनमें उनका परिणय नामक लम्बा गीत उल्लेखनीय रहा। दर्शन के अध्यापक होने के बाद कविता लेखन प्रायः बन्द हो चुका था अतः जब पार्वती हिन्दी संसार में अवतरित हुई तो सहसा एक भूचाल सा आ गया। इसमें आश्चर्य, हर्ष और भय सभी का समावेश रहा।

पहली बार पार्वती महाकाव्य लेकर हिन्दी जगत में प्रवेश करने वाले महाकवि भारतीनन्दन के प्रति जिज्ञासा स्वाभाविक थी। अनेक लोगों के लिए यह कौतूहल का विषय भी बनी। कुछ लोग श्रद्धा से अभिभूत हुए तो कुछ लोग उस महान रचना के अवतरण से आश्चर्यचकित। पार्वती का प्रकाशन हिन्दी के नाम पर शोषण करने वाले प्रकाशकों और उनके पिट्ठू आलोचकों के लिए यह एक गहरा सदमा था क्योंकि पार्वती की प्रकाशिका कवि पत्नी थीं और कवि की हिन्दी के तथाकथित आलोचकों से दूर की भी जान पहचान नहीं थी।

शिव पार्वती की पुण्य कथा पर आधारित हिन्दी का यह प्रथम महाकाव्य परम्परागत भले ही हो लेकिन इसे पुरातन पंथी कहा जाना कहां तक उचित है इसका समाधान इसे पढ़कर ही किया जा सकता है। आधुनिक सामाजिक संदर्भ में अनीति की सनातन समस्या का समाधान पार्वती का मन्तव्य रहा है। यह भारतीय संस्कृति की भूमिका में रचित एक सामाजिक मंगल काव्य है।

आरम्भ के कुछ सर्गों में कुमार सम्भव की छाया पाकर कुछ अनुदार आलोचकों ने पार्वती की मौलिकता पर सन्देह की दृष्टि डाली लेकिन उन्होंने उसके अगले सर्गों तक पहुंच, उसकी मौलिक उद्भावनाओं को जानने का कष्ट नहीं किया। पार्वती का उत्तरार्द्ध काव्य सौष्ठव भाव सौन्दर्य और कलात्मक कौशल का संगम ही नहीं मानवतावादी जीवन मूल्यों, भारतीय संस्कृति के आदर्श स्वरूपों और शिव-संस्कृति संदेश की पावन त्रिवेणी भी है।

अर्थ और उद्देश्य से परिपूर्ण पार्वती में अपार काव्य सौन्दर्य समाहित है तथापि सौन्दर्य से अधिक श्रेय की साधना कवि का अभीष्ट रही है। पार्वती के पारायण और अनेक सुप्रसिद्ध और सिद्ध कवियों, साहित्यकारों द्वारा कहे शब्दों से ही यह तथ्य भलीभांति विदित हो सकता है कि क्या पार्वती हिन्दी के एक आधुनिक कवि आलोचक द्वारा दी गई विशाल गद्य की संज्ञा को निरर्थक सिद्ध नहीं करती।

अपनी अल्प सामर्थ्य से पार्वती की महानता तो क्या चित्रित करूं किन्तु हिन्दी के सुधी साहित्यकारों और प्रतिष्ठित पत्र पत्रिकाओं के निष्पक्ष समीक्षकों की कुछ सम्मतियां अवश्य ही इसे युगान्तरकारी महाकाव्य प्रकट करती हैं —

☐ हिन्दी के लिए यह कृति बहुत बड़ी देन है।

—महापंडित राहुल सांकृत्यायन

☐ आपने निरन्तर ऊंचे स्तर पर पुस्तक का प्रणयन किया है। प्रायः सारा काव्य उच्च-कोटि के चिन्तन और भावन का परिणाम है।

— श्री नन्द दुलारे वाजपेयी

☐ पार्वती से खड़ी बोली की शोभा ही नहीं बढ़ी, उसकी शक्ति भी बढ़ी है। आपका यह महाकाव्य एक रत्न है जिसके आप आकर हैं। आगे भी हम लोग आपसे पाने की आशा रखते हैं, आप दे सकते हैं कारण प्रभु ने आपको मुक्त हस्त होकर दिया है।

—राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त

☐ शिव पार्वती के चरित्र के पीछे एक महत्वपूर्ण सदेश है उसे आपने चित्रण में पर्याप्त रूप से स्पष्ट किया है। शिव धर्म और शिव नीति सम्बन्धी सर्ग भी विशेष महत्व रखते हैं।

—डा० धीरेन्द्र वर्मा

☐ आपकी सरस शैली से मैं प्रभावित हुआ। आपकी यह रचना स्वान्तः सुखाय साधना का फल है।

—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

☐ आपने उच्च श्रेणी का काव्य लिखा है। मेरा विश्वास है कि आपका यह काव्य हिन्दी साहित्यकों में आदर पाएगा। हार्दिक बधाई।

—राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन

☐ निस्सन्देह आपकी यह रचना हिन्दी में मूर्धन्य मानी जाएगी। रामायण, कृष्णायन की तरह पार्वती भी परिवारों में प्रतिदिन पारायण का विषय बन जाएगी।

—पं० सूर्य नारायण व्यास

☐ भारतीनन्दन तुम्हारी साधना स्वच्छन्द है। तुम नहीं इसमें तुम्हारे राम का आनन्द है।

—डॉ० सरनामसिंह शर्मा अरुण

☐ आपकी शक्ति पर श्रद्धा हुई। भाषा आपने बहुत सुन्दर लिखी है और छन्द पर आपका पूरा अधिकार है।

—श्री रामधारी सिंह दिनकर

☐ आपकी रचना सरस है।

—डॉ० राम विलास शर्मा

☐ आपकी भाषा और भाव दोनों पर समान रूप से अधिकार है।

—डॉ० बनारसी दास चतुर्वेदी

☐ पार्वतीकार की शिव संस्कृति विषयक परिकल्पना नितांत मौलिक उपादेय और युगानुरूप है।

प्रो० देवी प्रसाद गुप्ता

☐ पार्वती सार्थक काव्य की कसौटी पर खरी उतरती है।

—श्री कृष्ण वल्लभ शर्मा

☐ पार्वती महाकाव्य का शिव-संस्कृति निरूपण डॉ० तिवारी की चिंतन शक्ति तथा प्रखर मेधा शक्ति का सबल प्रमाण है। भारतीय संस्कृति की प्रेय श्रेय ज्योति को विकीर्ण करने वाली यह एक महती रचना है।

—डॉ० निज़ामउद्दीन

☐ शक्ति रूप में नारी वर्णन पार्वती में आदि से अन्त तक है जो हिन्दी साहित्य की अनूठी घटना है।

—श्री रामरजपाल द्विवेदी

☐ पार्वती में आद्यन्त उच्च कोटि के कवित्व का सतत स्रोत प्रवाहित हुआ है।

—डॉ० मूल चन्द्र पाठक

☐ पंक्ति पंक्ति में, पद पद में आपकी महिमामयी साधना की अभिव्यक्ति है। यह साधना देश के मस्तक को गौरव-दृप्त बनाएगी।

—श्री चन्द्र प्रकाश सिंह

☐ पार्वती तो अपूर्व ग्रंथ है। इसकी तुलना में तो मुझे कोई भी ग्रंथ नहीं दीखता। क्या भाव, क्या भाषा क्या शैली सभी विषयों में यह अपूर्व है।

—कविवर श्री आरसी प्रसाद सिंह

☐ पार्वती खड़ी बोली में अपने युग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

—डॉ० रामदत्त भारद्वाज

☐ भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से यह अनुपम है।

—श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह

☐ मैं तो आपकी साधना और प्रतिभा के समक्ष श्रद्धावनत हूं।

डॉ० पद्मसिंह शर्मा कमलेश

☐ श्री भारतीनन्दन सचमुच भारतीनन्दन हैं और हम उनका अभिनन्दन करते हैं।

—श्री बंशीधर विद्यालंकार

☐ हिन्दी काव्य साहित्य को पार्वती देकर कवि ने माता भारती की महती सेवा की है।

—श्री मधुसूदन

☐ कवि ने हिन्दी साहित्य में एक अभाव की पूर्ति की है और हिन्दी के भण्डार को परिपूर्ण करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

—गुलाब राय

☐ यद्यपि पार्वती कवि की पहली ही काव्य कृति है तथापि वह इतनी प्रौढ़, उदात्त और उच्च स्तर की है कि उसी के आधार पर डॉ० रामानन्द तिवारी को हिन्दी का प्रथम श्रेणी का कवि घोषित किया जा सकता है।

—सरस्वती (अप्रैल १९५६)

☐ श्री रामानन्द शास्त्री भारतीनन्दन ने इस महाकाव्य को लिखकर हिन्दी और भारतीय संस्कृति

की अनुपम सेवा की है। कवि ने एक उच्च आदर्श को सम्मुख रखकर उदात्त भावनाओं के साथ अत्यन्त मनोयोग और परिश्रम पूर्वक इस महाकाव्य की रचना की है।

—अजन्ता (जनवरी १९५६)

☐ पार्वती महाकाव्य की रचना आज के युग में जब काव्य के कलेवर पर अनेक उच्छृंखल प्रयोग हो रहे हैं कवि की अदम्य प्रेरणा और मौन साधना का ही परिणाम है।

—भारती (फरवरी १९५६)

☐ हम इस काव्य का विशेषकर इसलिए कि यह मानवता का प्रचार है, स्वागत करते हैं।

—साहित्य परिचय (नवम्बर १९५५)

☐ समस्त पुस्तक उमा पार्वती के अलौकिक जीवन, उनकी अगाध तपस्या और शिवत्व का सुन्दर चित्रण उपस्थित करती है जिसके द्वारा भारतीय संस्कृति की प्रवृत्तियों के प्रति स्नेह उत्पन्न होता है और ऐसा जान पड़ता है कि सामने एक ऐसे युग का चित्र उपस्थित है जो कल्पना लोक का होते हुए भी सत्य से परे नहीं।

— राष्ट्र भारती (सितम्बर १९५६)

☐ महाकाव्य पार्वती में कवि ने पुरातन भावनाओं को नूतन रूप देकर युग की आवश्यकता को काव्य कला के चमत्कार और अभिव्यंजना शक्ति से पूरा किया है। पार्वती में प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण और कोमलतम पवित्र भावनाओं का भव्य आदर्श चित्रांकित है और इसकी दुर्लभ उपमाएं स्वाभाविक हृदयग्राही प्रवाह निस्संदेह प्रशंसनीय है।

— नवभारत टाइम्स (१८ दिसम्बर, १९५५)

☐ यह काव्य हमारी राष्ट्रीय भावनाओं को बल देता है।

—साप्ताहिक हिन्दुस्तान (९ सितम्बर, १९५६)

☐ हिन्दी महाकाव्य साहित्य में पार्वती का उच्च स्थान असंदिग्ध है।

— नवयुग (२० जुलाई, १९५५)

निश्चय ही महाकाव्य पार्वती के विषय में उपर्युक्त प्रतिक्रियाओं से उसकी महानता का प्रमाण मिलता है साथ ही प्रकाशन के कुछ वर्षों बाद ही १९५६ में सर्वश्रेष्ठ साहित्यक रचना होने के कारण उसे २१००/- रु० का श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार प्राप्त हुआ और मई १९५७ में उत्तर प्रदेश सरकार ने १०००/- रु० का पुरस्कार देकर पार्वती की श्रेष्ठता स्वीकार की। मार्च १९५८ में भारत सरकार के केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने पार्वती को सर्वोत्कृष्ट मानते हुए उसे २०००/- रु० के पुरस्कार से सम्मानित किया।

एक अज्ञात कुलशील कवि के आविर्भाव से हिन्दी जगत के मठाधीश बौखलाए हुए ही थे कि पार्वती को मिलने वाले पुरस्कार उनकी आंखों में खटकने लगे और हिन्दी के एक नामधारी आलोचक ने एक अंग्रेजी पत्र के माध्यम से पार्वती और डॉ० तिवारी पर अपने विष वाण छोड़े। जयपुर से प्रकाशित नवयुग के २८-४-५८ के अंक में श्री सुबोध सत्यार्थी ने इस आलोचना का करारा उत्तर देते हुए कहा कि —"यह कैसा फूहड़ तर्क है कि पार्वती के लेखक को हिन्दी साहित्य के प्रमुख व्यक्ति नहीं जानते। हो सकता है यह सही ही हो और यह भी हो सकता है कि तथाकथित आलोचक भी उनसे परिचित नहीं हों। किन्तु किसी साहितियक कृति के मूल्यांकन का मापदण्ड यह कब से हुआ कि साहित्यकार ख्याति प्राप्त अथवा अमुक अंग्रेजी पत्रों के आलोचकों का कृपापात्र होना ही चाहिए।"

IN THE CONTEXT OF THE UPANISHADS

—Dr. G. P. Pilania

Dr. Ramanand Tiwari has expresssed some important and original ideas in his recent work on Upanishads published under the title "SECULAR, SOCIAL, and ETHICAL VALUES IN THE UPANISHADS". These ideas are remarkable in the context of fundamentals of epistemology and ethics. Below are given some salient statements selected from the book mentioned above. These statements contain some assertions of fundamental aud far-reaching significance, in the context of knowledge, consciousness and conduct.

The identification of Brahman with consciousness has caused great misunderstanding in the tradition of the Vedanta. This has also resulted from an unwitting neglect of more important character of Brahman as Bliss. Brahman is not merely and essentially cognitive consciousness which is dualistic but Blissful consciousness which is non-dualistic, immediate and integral. But the Blissful character of Brahman is largely ignored and most of the discussion in later Vedanta centres round Brahman as cognitive consciousness. The conflict with Samkhya view of creation from unconscious prakriti and (Page 269) with the Buddhistic denial of a subjective self has deluded Vedantic tradition into arguments for asserting a conscious self as creator and an identical subject of changing modes of cognition.

The cognitive consciousness is not the essential nature of spiritual being. Its essence is Blissful consciousness which is integral and which can be deemed to be supraconsciousness.

Often knowledge or Jnana has been used in place of integral spiritual knowledge which is not cognitive knowledge but blissful experience. Much confusion has resulted in the Vedanta philosophy by this dubious usage of Jnana. (Page 270)

Confusion is created in philosophy and life by the neglect of the idea of bliss as the essence of spiritual reality and by the use

of the word 'Knowledge' for two different kinds of intelligent experiences i. e. both for cognitive knowledge of objects and for immediate, intimate and integral experience of spiritual Bliss or Divine Delight. (Page 272)

Cognitive consciousness or reflective awareness involving self-consciousness is the crux of the whole situation. It is dualistic and objective. It is the knowledge of an object by a subject who is capable of being self-conscious about the phenomenon of knowledge. This self-consciousness is called 'anuvyavsaya, in schools of Indian philosophy. The object known and transformed into an idea constitutes the inner content of this cognitive consciousness. The subjective self has no character of its own in case of cognitive consciousness. It is only a reflective point of reference to adjust the bipolarity of cognitive consciousness. The transcendental self of Kant also is such a characterless entity. Its identity is deduced from the continuity and coherence of knowledge which is not in fact due to any hypothetical subjective identity but has its source in the transcendent endurance of the superconscious and blissful spirit which underlies all our experience, but which can neither be deduced from it nor can be reflectively suggested by it. This subjective entity can also be deemed as ego, i. e. individual consciousness, which also (page 273) has no inner content of its own and subsists only as a point of reference in conscious knowledge and self-conscious reflection. Bliss or delight is the only original intrinsic and positive content of human experience. That is not individualistic, as it is non-dualistic. Ego implies a duality of egos besides that of ego and the object. A subtler duality is implied in its consciousness of itself i. e. in its own bifurcation into a subject and an object for itself. (Page 274)

Buddhistic nihilism is completely correct in regard to its analysis of cognitive objects and empirical self. It errs only in its insistence on presenting this half-truth as the whole truth of existence and life. It also commits an error of omission in ignoring the positive truth of life which has been revealed in the Upanishadic Vedanta as the supra-conscious, non-dualistic, immediate, intimate, integral Bliss and as the deeper reality of life and experience. The cognition of object, its construction from atomic sensations as Russell suggests, the recollection of objects cognised in past and construction of a coherent knowledge by memory, all these are supported by

this transcendental Blissful Spiritual reality.

Shankara, Kant and many other thinkers have been tempted to use the fact of memory as an argument to prove the enduring identity of a cognising subject. But in fact it is not the empirical or individual self which endures. It seems to endure by virtue of the transcendent Blissful spirit which is the only enduring reality. It is behind all objective and subjective phenomena and sustains them. Memory seems to be a continuity of knowledge and consciousness. But in fact it is not so. The only continuous reality is super-conscious and blissful spirit. Memory is not continuity of consciousness but consciousness of continuity made possible by enduring superconscious blissful spirit underlying all experience. (Page 275)

Individuality is a subjective reflection of objective duality which characterizes the phenomenal content of empirical knowledge. Knowledge, as a relation that involves a subject and an object, is bipolar phenomenon of human life. But duality of phenomenal poles of subject and object is not the ultimate reality. (Page 525)

But freedom of will, individuality and ego are not such ontological actualities as they are believed to be. Ego and individuality are merely functional phenomena of human life, which are imagined to be ontological entities on the analogy of physical identity of external objects. The ideas of the subjective and objective entities obtain in the bipolar phenomenon of human knowledge. They are implied in empirical knowledge as necessary poles of reference and understanding. Infact even physical objects do not possess a stable and an enduring identity as human understanding would require them to possess.

Human individuality is an assumption in which objective bias of human understanding is reflected in a subjective context. The same human understanding which requires a stable object assumes, as if by an implicit analogical reasoning, a subjective entity which reflects in phenomenal consciousness as self-conscious Ego. Individuality and ego are re-ifications of an abstraction required for maintaining and explaining the phenomenon of empirical knowledge. Both the object and the subject are the outcome of the polarization of the phenomenon of knowledge. Neither can be maintained as enduring ontological beings in the form in which they are required and assumed in common understanding. Philosophical understan-

ding also, so far as it is influenced by empirical predilection of understanding, deludes itself in these assumptions. But a deeper reasoning dispels this delusion of human understanding.

In fact individuality and ego are as much functional phenomena as are external objects. The 'I' which signifies the Ego is a linguistic symbol which does not denote even such a phenomenal identity as do the terms used for objects. Relatively the (Page 527) identity of objects is more stable than that of the subjective Ego. Subjective Ego is a more swiftly changing phenomenon than the object. And for that very reason of swift change it appears to be more stable in regard to its identity. It is like the illusion of a fiery-circle or a fastly spinning top in which the swiftly changing subjective ego takes itself to be an unchanging entity because it is even less capable of apprehending its own unstable being. Curiously enough, individuality and ego are perhaps consequences of a self-contradiction involved in the very nature of the cognitive subject. The contradiction is not confined merely to its failure in coping with the speed with which it is changing; it also extends to its determination of objectivity, dominates in the empirical being of man and on account of which he suffers from a secret predilection towards surrendering his being to objectivity as it has been indicated by modern existentialism in a different context.

On account of this predilection towards objectivity, the abstract and hypothetical ego seeks to identify itself with some objective content and thus assume a concrete being. This illusion, called Adhyasa or super-imposition by Shankara, operatts as a continuous and contingent phenomenon of life and maintains the fluctuating and illusory identity of man's egoistic existence. The objective identification becomes necessary in the conscious life of man due to the inner emptiness of consciousness. Consciousness is objective by its nature and internally empty of content. It has no inner content. The only inner and continuous content of consciousness (in the form of super-conscious) is Delight, or Ananda. Delight in an implict form, sustains the existence of man and maintains his phenomenal and conscious life. But when Delight is not duly realized, as it happens in ordinary life, identification with objective content becomes necessary for ego in order to give a concrete form and a semblance of continuity to its existence. This continuity and identity of both the subjective and objective being

is illusory, though this illusion is mysteriously sustained on one side by (Page 528) underlying spiritual Delight and is on the other hand entertained by the inexplically confused character of human existence and consciousness. Consciousness is, in fact, a contingent phenomenon which assumes the form of stream within the ocean of Delightful Spiritual Reality. Cognitions are like series of waves which are in reality supported by the waters of Delightful Spiritual Reality which alone is the continuous Reality by virtue of its Delightful infinity and abundance.

The cognitive Ego is more devoid of inner content of spiritual Delight than the ethical ego which is formed not merely in course of cognition of an external object but in the event of willing a good act and concurrent identification of one's self as agent of good act. Good act is essentially altruistic and implies an extension of inner being of man by its identification with the interest of others. Altruistic ethical ego is a phenomenon of a higher order than merely cognitive ego or self-seeking ego or negative ego which asserts itself in evil actions. Altruistic ethical (Page 529) ego is conative ego. By virtue of its dynamic nature and also on account of willing non-dualistic altruistic good it represents a real dimension of spiritual reality. It is the least illusory of all other modes of ego, and when freed to the utmost degree of remnants of individualistic egoism by humility and surrender to God, it becomes a supreme schema of spirituality in human life.

All ego is an abstract identification of human existence with non-being, which is necessitated by the privation of positive delightful beingexemplified in cognition and more sharply in evil action. Altruistic ethical ego is more positive by virtue of the non-dualisticspirituality and the grace of spiritual delight deserved with and by virtue of it. This kinship of altruistic good with Delightful Spiritual Reality is the secret of the Delight (530) of good actions which the humble and good alone can enjoy in their experience. The delight of good actions expresses in its greater purity when the ethical ego seems to liquidate in humility and surrender to God, contrasted with the arrogance of agentship. Ethics seems to mingle with Religion on thesehigh horizins of non-dualistic experience.

Thus ego and individuality which is presupposed in ethical agentship is not an ontological entity, but only a functional phenomenon of practical and ethical life. It appears as a contingent

phenomenon in life and takes form with age gradually after the birth of the child. The idea of ego as an entity is a reflection of objective entity (which also is phenomenal). So also the idea of retention of individuality in salvation or spiritual realization is mere-lya continuation of the idea of individuality assumed in life and its conduct. It is projection of a falsehood in the sphere of ultimate truth. As this individuality is not an ontological entity but merely a phenomenal concretization of a functional mode of life, the idea of its retention in spiritual realization is irrelevant to spiritual truth of life. It is only under the illusion of this functional reality of ego that its retention is demanded and its merger in wider spiritual reality is questioned or demanded to be explained to the satisfaction of a person acting under this illusion, as for example in case of the figure of river and ocean used in the Mundaka Upanishad.

What is dissolved and merged in the ocean of spirit is this phenomenal and illusory identity of individuals. It is only melting of a misty illusion of life in the sunlight of spiritual enlightenment. It is a negative treatment of an illusory individuality according to Vedantic metaphysics. Positively persons and objects are illumined by the transcendental glory of spirit. The flight of spirit permeates and saturates both, even as fiery light permeates an iron-ball. The analogy is a highly significant representation of the Advaitic non-duality of spiritual enlightenment, so far as it can be represented in words and concepts. (Page 531) The monism of Advaita is to be understood not on the analogy of physical unity of existence. The analogy of fiery iron-ball explains it as a non-duality of fire and iron-ball. Spirit is the principle of Reality and not a physical fact or object, so as to be understood as an empirical unity. What appear as objects the subjects are phenomena to be illumined by non-dualistic spirit. The subjective individual is not an ontological entity but a phenomenal and functional unity generated in life in course of concrete manifestation of non-dualistic spirit in the form of parental love. The subjective individuality formed as a phenomenal and functional principle of life is expandediuts a wider spiritual (non-dualistic) being and sustained by the latter in the course of life. The objective individuality is not ontologically negat-ed in spiritual enlightenment but it is axiologically transcended in its transvaluation even as the iron-ball is transformed into a veritable

ball of fire.

So also the phenomenal subjective identity of the individual is not negated in spiritual enlightenment but transformed in spiritual transvaluation. As the objects may remain as ontological facts in spiritual transvaluation, so also individuality may continue as a functional and phenomenal entity; only its axiological status is transformed in the spiritual experience.

Freedom of will is a transcendental truth of life. It is a dimension of Reality expressed in the phenomenon of moral action. As Reality is spiritual i.e. non-dualistic and delightful. Only altruistic and non-dualistic actions are to be treated as motivated by real free will. Other actions which are dominantly selfish and dualistic are not truly moral actions. They are dominantly determined by egoistic nature. Though really deterministic, they are confused with moral actions motivated by free will. Moral responsibility for such actions is a rational and legal assertion of social adjustment of consequences of such acts. Freedom of will in such cases is rather hypothetical than real, something which, though not really there, is to be assumed if any moral judgment is passed on acts and which is really present as a motivating force behind good acts. Goodwill is the only free will as good and volition are both dimensions of reality. Evil is not (Page 534) really ethical in its character. It is natural and determinate. It is assumed to be negatively ethical for social adjustment of evil reflecting in moral judgment. Actually all evil is determinate action hypothetically attributed to moral will which is not present behind evil. What is called deliberation in evil acts is also a determination, attributed by the subject and judges, as deliberation to the subject of evil act. The absence of freedom of will in case of evil acts can be easily discovered by contemplating about the possibility of abstenance from evil or resisting it. Moral freedom consists not only in doing an act, but it is also to be tested, particularly in case of evil, in abstaining from an act. How irresistibly evil overwhelms the agent is observed and experienced by every man. The irresistible obsession of evil proves its violently determinate character. Ethical freedom can be assumed, in case of evil, only for assigning responsibility of evil on the agent and for according punishment to him, for social adjustment of evil. Only apparent evil which is resorted to for defensive purpose or for correclive action for social good which also is ultimately defensive reaction against some earlier evil, that can be attributed to free will. (Page 535)'

'सावित्री' में पातिव्रत की मृत्युंजय महिमा का दिग्दर्शन

—डॉ० हरदत्त शर्मा सुधांशु

डॉ० रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन' का यह खण्डकाव्य **'सावित्री'** उनके महाकाव्य 'पार्वती' की ही भांति भारतीय संस्कृति का प्रतिष्ठापक है। सावित्री की भूमिका में लेखक ने अपना दृष्टिकोण जिस गहन तात्विक विवेचन के साथ स्पष्ट किया है उसके पश्चात कुछ अधिक कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती। यह समग्र आख्यान सांस्कृतिक गरिमा से मण्डित है, शाश्वत रूप से संजीवनप्रद है, पातिव्रत्य की मृत्युंजयी आस्थाओं का द्योतक ही नहीं, समुद्घोषक भी है। भौतिकवाद की अतिशयता से ग्रस्त, अधिकार संघर्ष के नाम पर पुरुषवर्ग से विद्रोह करने वाली और स्वकीय जीवन की भी शान्ति को खण्डित करने वाली नारी के लिए इस काव्य का स्पष्ट संकेत है कि वह सांस्कृतिक गरिमा, तेजस्विता, कर्तव्यनिष्ठा और विनीत सेवाभाव से मण्डिता हो जाए तो पुरुष की समकक्षता का उन्माद समाप्त होकर वह उसकी प्रेरणा शक्ति बन सकती है, पुरुष को संजीवन प्रदान कर सकती है।

प्रथम सर्ग मंगलाचरण के रूप में बड़ा प्रेरक है, आत्मा की तेजस्विता का चिन्तन है—

सूर्यदेव ! जगती के सविता ! सदा तुम्हारी जय हो;
लोकों का उन्मेष, तुम्हारा नित्य नवीन उदय हो,
पलें तुम्हारे उज्ज्वल कर से जीव सृष्टि के सारे,
जीवन की गति के प्रमाण हों ज्योतिश्चरण तुम्हारे।

० ० ०

अणु से भी अणु औ महान से भी महान जो होती
जो अणुओं को साम्यसूत्र में कुसुमों-तुल्य पिरोती,
जिसके प्राणों से स्पन्दित हो संसृति के कण चलते
जिसकी करुणा से सिंचित हो बीज सृष्टि के फलते।

(सर्ग १/पृष्ठ १/ पद्य १, ५)

चतुर्थ सर्ग में सावित्री के यौवन विकास का वर्णन करते समय विभिन्न मासों से सम्बद्ध उत्सवों के वर्णन के मिस भारत की सांस्कृतिक गरिमा का आख्यान किया गया है जो समाज के सामान्य धार्मिक कार्यक्रमों के रूप में जीवन को अज्ञात रूप से गहनतया संस्कारित करती है—

आश्विन के सालस दिवसों में सोलह दिन पर्यन्त
सांझी के चित्रों से रंजित करके आयु-दिगन्त,

० ० ०

नवरात्रों में कर नव दिन तक देवी का उपवास,
करती दिव्य कुमारी-व्रत का पालन भर उल्लास।

० ० ०

कार्तिक के मृदु मन्द शीत के पुण्य मास में नित्य
कर तारों में स्नान बनातीं यौवन का आदित्य
सह्य, सहेली कन्याओं के दल, कर मंगलगान,
भरती यौवन के सपनों में शिव के शुभ वरदान।

(४/१७/१, ३, ४)

षष्ठ सर्ग में सावित्री जहां स्वयंवरा बनकर देशाटन करती है और विभिन्न राजकुमारों से साक्षात्कार करती है, वहां एक तो वैसे ही पारम्परिक दृष्टि से यह विचित्र-सा लगने वाला प्रयास था, दूसरे क्षत्रिय धर्म का चिन्तन कर नृपतिगण रण और विजय के मार्ग से लक्ष्मी का वरण करना उचित समझ, गृहागता लक्ष्मी को शिष्ट पदावली का प्रयोग करते हुए, हाथ जोड़ते हुए लौटा देते थे तो सचिवों और सेवकों को बड़ी निराशा हाथ लगती थी। क्षत्रियपुत्रों और ऋषियों का तेज सावित्री के तेज के समक्ष फीका पड़ जाता था—

सिंह पुत्र चाहते हैं हरिणी-सी बाला
दुःसह थी सावित्री की तेजमयी ज्वाला।

० ० ०

किन्तु ऋषिपुत्र भी थे हीन तेज बल से
म्लान होते सावित्री के तेज की अबल से।

(६/३३/१,३)

अष्टम और नवम सर्ग तो इस काव्य के प्राण-तत्व हैं। अष्टम सर्ग की अत्यन्त मार्मिक, सहज, सरल, भावोच्छल भाषा है। इसमें सांस्कृतिक गरिमा का सहज, निश्छल आख्यान है। वन में सत्यवान, वृद्ध माता-पिता की सेवा में अहर्निश रत है। वधू रूपा सावित्री वैभव परिपोषिता, वनवासिनी, पति सेवारत सास ससुर सेवारत, निरन्तर श्रमरत, अति प्रसन्न है। श्रमपूर्ण संकट-सहिष्णु जीवन में ही मृत्युंजयी शक्ति आती है जो सावित्री से सत्यवान को प्राप्त होती है, अन्यथा सत्यवान एतदतिरिक्त सर्वगुण सम्पन्न था। नवमसर्ग में जन्म, मरण, जीवन, आयुष्य, निसर्ग, नियम, आत्म-तेज (अमृत-संजीवनी) आदि अनेक विषयों पर गहन विचार-सरणि प्रस्तुत की है। भारतीय संस्कृति की गरिमा अन्तर्निहित किये हुए नूतन, मौलिक विचारों का सुचारू प्रस्तुतीकरण इस सर्ग का सौन्दर्य है। इन दो सर्गों के कुछ उदाहरण प्रमाणार्थ प्रस्तुत हैं—

सत्यवान द्वारा परिणीता वनवासिनी सावित्री सचिवों को लौटा देती है और प्रदत्त वैभव का भी परित्याग कर देती है—

मैं पली राजसी वैभव के सागर में
पर मिली न उससे तृप्ति कभी अन्तर में,
वन में पाई वह पति के आज चरण में
मैं हूं प्रसन्न इनकी एकान्त शरण में। (८/५६/१)

सत्यवान के चित्त की प्रसन्नता का चित्रण—

सचिवों को देकर विदा अतीव विनय से
जब सत्यवान आए विद्रवित हृदय से
सावित्री को बैठा कुटीर में पाया
ज्यों दीन रंक ने पाई त्रिभुवन माया। (८/५६/६)

सत्यवान के मानसिक दौर्बल्य को मिटा सावित्री उसमें प्राण संजीवन तत्व भरती है। यही संजीवनी, यही आत्मा का वैभव सत्यवान को यमद्रष्ट्रा से खींच बाहर ले आता है—

कर सत्यवान के समाधान की बातें
करती व्यतीत सावित्री रति की रातें
सब अर्थदैन्य की गहन जुगुप्सा हरती
पति के मन में आत्मा का वैभव भरती
रक्षक कह उसको निज नारी जीवन का
संकोच मिटाया पति के लज्जित मनका
सम्भावन का दे मान और बल भारी
बन रही शक्ति नर की तेजस्वी नारी। (८/५६/४, ५)

आत्मा का वैभव धन से बहुत बड़ा है
आत्मा का बन्धन बन धन रहा अड़ा है (सभंग यमक द्रष्टव्य है)
मेरे मन का कल्पद्रुम यहां खिला है
मुझको आत्मा का राज्य अनन्त मिला है।
पति के चरणों की रज विभूति जीवन की
क्या करूं कामना अन्य किसी भी धनकी

बन सत्य सहचरी वह एकाकी पति की
करती प्रतिरक्षा उसकी विहित नियति की। (८/६०/ १, २, ६)

मृत सत्यवान और व्यथाग्रस्त सावित्री का अटूट आत्मविश्वास एक प्रभावी दृश्यांकन—

मौन हुए औ तन मन की संज्ञा खोई
सावित्री केवल अन्तर में ही रोई।

क्षीण हो रही क्रमशः संध्या की लाली
घेर रही थी निर्जन की रजनी काली
आत्मा का विश्वास दीप सा था जलता
उससे ही कुछ भीषण तम का गिरि गलता।

सावित्री के नयन हो रहे थे गीले
टूट रहे रह रह कर के पत्ते पीले
आर्द्रनयन में थी आत्मा की ज्योति जगी
देख रही थी दूर कहीं कुछ दृष्टि लगी। (९ ६४/२, ४, ६)

सावित्री और यमराज के संवाद के माध्यम से कवि ने जो जन्म, मरण, कर्मफल, पूर्णायुष्याधिकार निसर्ग-नियमों की कठोरता, लाड़न-दोष आदि पर जो गहन विचार प्रस्तुत किए हैं वे इस काव्य की अमूल्य निधि हैं—

क्या मनुष्य जीता केवल जीवन अपना ?
क्या जीवन का आत्म-भाव केवल सपना ?
क्या अपनी ही मृत्यु सभी मानव मरते ?
क्या अपने ही कर्मों के फल सब भरते ?
क्या न हमारे कर्म दूसरों तक जाते ?
एक दूसरे से न प्राण क्या हम पाते ? (९/६७/२, ३,)

एक प्राण के साथ तीन यदि ले सकते
तो न तीन के हेतु एक क्या दे सकते ?
धर्मराज ! हैं आप नियम के अधिकारी
न्याय मांगती संकट में आतुर नारी। (९/६७/४)

पतिव्रता की निष्ठा और सेवा द्वारा
किया समर्पित आत्म-भाव अपना सारा।
क्या इस सबसे इनका आयुष नहीं बढ़ा ?

० ० ०

आत्मवान भी यों अकाल निरुपाय मरे। (९/६८/४, ५)

यम की दृढ़ वाणी में प्रकृति के शाश्वत अटल नियम की बात बड़ी प्रभविष्णु है—

मानव आत्मा और प्रकृति का संगम है
जीवन और मरण का कुछ अद्‌भुत क्रम है।
मृत्यु प्रकृति की गति में ही गोपित पलती
क्षय के क्रम से वह नित मनुजों को छलती।

माता और पिता ने इनको बचपन में
लाड़ प्यार से किया बहुत दुर्बल मन में,
इसीलिए बस इसकी आयुष क्षीण हुई।
लाड़ प्यार से बनता बालक छुई-मुई। (६/६६/३, ६)

मृत्यु देवता सूर्यपुत्र मैं दृढ़ यम हूं
मैं प्राकृत जीवन का नियमित क्षयक्रम हूं।
मेरा वाहन महिष मन्द गति से चलता,
क्रूर काल बन मानव का आयुष कलता। (६/७१/३)

देवर्षि नारद के वचनों (सावित्री के माता-पिता को सान्त्वना प्रदान के समय) के रूप में आत्मा की मृत्युंजयी शक्ति पर मौलिक विचार प्रकट हुए हैं। देखिए पृष्ठ ४३ पद्य ३ से पृष्ठ ४६ पद्य २ तक।

काव्य के कुछ अन्य सुन्दर स्थलों की स्फुट झांकी —

अश्वयति-दम्पत्ति में सृजनेच्छा का जागरण,
होने लगा नवीन सृजन के हित उत्सुक प्राणों के कोक।

सावित्री का जन्म— (पृ० ४/पद्य ३)

व्योमिल आशाओं ने सहसा किया भूमि का कोमल स्पर्श (४/६)

० ० ०

दम्पत्ति की आत्मा एक रूप में मूर्त्त हुई
बनकर तृतीय अद्वैत भाव से स्फूर्त्त हुई। (६/३)

सावित्री के शरीर की वृद्धि का संकेत —

लघुतर होने लगी वृद्धि से माता पिता की गोद (१२/३)

सत्यवान की वर के रूप में उपलब्धि का सन्देश —

गन्ध-सा फैला प्रजा में हर्ष का सन्देश। (३८/२)

संक्षेपत : समग्र काव्य में जीवन रहस्य और आत्मा की अमृत-संजीवनी शक्ति के विषय में गुरू-गंभीर मौलिक विचार और सहज, स्वाभाविक काव्य-तत्व का नैसर्गिक, सुखद, प्रसार गुण सम्पन्न समन्वय है। भारतीय संस्कृति की सनातन अजरामर भाव सम्पदा का यह एक नयनाभिराम उज्ज्वल रत्न है।



उपनिषदों में जीवन का ऐहिक पक्ष

—डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय दार्शनिकों के सम्मुख लम्बे समय से एक सांस्कृतिक चुनौती रही है। भारतीय दर्शन के वैशिष्ट्य तथा आधुनिक भारतीय दार्शनिकों की पहचान को लेकर एक संकट की स्थिति बनी हुई है। "दर्शन" तथा "फिलासोफि" का शब्दार्थक झगड़ा एक ओर, तथा दूसरी ओर सुदीर्घ विदेशी शासन से मुक्त हो जाने पर भी उसके प्रभाव से त्रस्त तथा अपनी पहचान की खोज में व्यस्त भारतीय मनीषा—ये बातें चुनौती के स्वरूप को कुछ जटिल बना देती हैं। यदि इस मनोविश्लेषण के पचड़े से हटकर शुद्ध (१८) वैचारिक धरातल पर देखें तो भारतीय दर्शन के स्वरूप को लेकर बाहरी आक्रमण मुख्यतया दो दिशाओं में हुआ है : तर्कशास्त्रीय सन्दर्भ तथा नीति दर्शन के सन्दर्भ में।

इसमें सन्देह नहीं कि गणित-दर्शन तथा तर्कशास्त्र का जो घुलन मिलन पश्चिम के चिन्तन के इतिहास का वैशिष्ट्य रहा है, वह भारतीय चिन्तन के इतिहास में नितान्त अनुपस्थित रहा है। यह अन्वेषण का विषय है कि भारतीय परम्परा में गणित के प्रति चिन्तनपरक दृष्टि क्यों नहीं उभरी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय दर्शन तर्क के प्रति उदासीन हैं। न्याय, नव्य-न्याय, व्याकरण, तथा विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में विशिष्ट न्याय तन्त्रों का विकास एवं उनके तथा "न्याय" परम्परा के बीच बहस—आदि क्षेत्रों में ऐसा बहुत कुछ है जो आधुनिक दर्शन के सन्दर्भ में भी आधारभूत महत्व का है तथा आत्मसात किये जाने की अपेक्षा रखता है। आधुनिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में कतिपय दार्शनिक (भारतीय तथा पश्चिमी दोनों ही) इन क्षेत्रों में व्यस्त हैं। कम से कम अब इतनी सरलता से भारतीय दर्शन की यह कहकर उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि भारतीय दर्शन तो श्रद्धा प्रधान धार्मिक परम्परा मात्र है।

आक्रमण का दूसरा सन्दर्भ भी भारतीय दार्शनिकों के लिये एक महत्वपूर्ण वैचारिक अध्यवसाय रहा है। इस प्रसंग में आधारभूत प्रश्न यह है कि यदि परम सत् की कल्पना अनुभूत जगत को अस्तित्व की दृष्टि से, मूल्य की दृष्टि से अथवा ज्ञान की दृष्टि से वास्तविकता से वंचित कर देती है, तो कर्ता, कर्म, व्यक्तियों के बीच संघर्ष, लक्ष्योन्मुखता—ये सब अर्थशून्य अभिव्यक्तियां रह जाती हैं। अधिक से अधिक उन्हें व्यवहार जगत तक सीमित किया जा सकता है, परन्तु यह यहां स्मरणीय है कि व्यवहार जगत स्वयं परमार्थ की दृष्टि से या तो गौण है या अर्थहीन। परिणाम यह निकलता है कि नीति जगत, नैतिकता, नैतिक चेष्टा के लिये भारतीय दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता। कुछ भारतीय दार्शनिकों ने इस समस्या का सामना करने का प्रयास करते हुये ऐसे विकल्प प्रस्तावित किये हैं जिसमें व्याहारिक जगत महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेता है तथा नैतिक सम्प्रत्यय अधिक सार्थकता पा जाते हैं। इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द, विवेकानन्द जैसे दार्शनिकों का उल्लेख किया जा सकता है। डॉ० रामानन्द तिवारी का शोध ग्रन्थ

"सैक्यूलर, सोश्यल, एण्ड एथिकल वैल्यूज़ इन द उपनिषदज़" इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण एवं श्लाघ्य प्रयास है। तिवारी जी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि उपनिषदों की निषेध परक, अनैहिक, एवं नीतिशून्य व्याख्या उनकी एकांगी और इसलिये भ्रान्तिजनक व्याख्या है। इस प्रकार की व्याख्या के लिये उन्होंने शांकरवेदान्त के प्रभाव को उत्तरदायी माना है। इसके विपरीत, तिवारी जी का मत है, वास्तविकता यह है कि उपनिषदों में न केवल नीतिपरक मूल्यों को स्वीकारा गया है, अपितु ऐसे मूल्यों को भी स्वीकृत किया गया है जो सामाजिक सम्बन्धों तथा किन्चित ऐसी आवश्यकताओं से सम्बन्धित हैं, जिन्हें तिवारी जी ने "सैक्यूलर" का विशेषण दिया है। निस्सन्देह ये ऐसे पक्ष हैं जिनकी ओर उपनिषद के अध्येता का ध्यान आपाततः नहीं जाता। वह साधारणतया उन्हें वेदों का ज्ञानांग मानकर केवल उन्हीं बिन्दुओं की ओर अधिक ध्यान देता है जो केवल सत्तामीमांसीय दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है। "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्वमसि" ... ... जैसे महावाक्य एक मात्र तात्विक सूत्रों का रूप ग्रहण कर लेते हैं, तथा उनके दैदीप्यमान प्रकाश में शेष प्रसंग फीके पड़ जाते हैं।

उपनिषदों में जिन विशिष्ट मूल्यों का अन्वेषण तिवारी जी ने किया है उनमें जैव (दैहिक तथा सैक्यूलर), आर्थिक, यौन, कर्म तथा बुद्धि से सम्बन्धित, सौन्दर्यपरक, निषेधात्मक मूल्य (भय, मृत्यु, तथा दुःख एवं कष्ट) सामाजिक, परिवार तथा समुदायों से सम्बन्धित मूल्यों को ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त तिवारी जी ने संन्यास, शान्ति, कर्मकांड तथा धर्म से सम्बन्धित सद्गुणों का भी अन्वेषण किया है। यदि यह कहें कि लेखक की दृष्टि से जीवन का कोई ऐसा व्यावहारिक पक्ष नहीं है जिसके सम्बन्ध में उपनिषदों में कुछ महत्वपूर्ण नहीं मिलता हो, तो गलत नहीं होगा। इनमें से किसी भी सन्दर्भ में उपनिषदों का जो भी अध्ययन करना चाहें उन्हें समस्त आवश्यक सामग्री एक जगह प्राप्त हो जायगी— इस दृष्टि से उपनिषदों के भावी शोधकर्ता तिवारी जी के प्रति अपने को ऋणी मानेंगे।

पाठक को अपनी स्थापना हृदयंगम कराने के निमित्त तथा विभिन्न पक्षों से सामग्री को प्रस्तुत करने की चिन्ता में ग्रन्थ का कलेवर वृहत्तर हो गया है। एक अध्याय में इस दृष्टि को अपनाया गया है कि जो अलग-अलग प्रकार के मूल्य उपनिषदों में स्वीकृत हैं, उन मूल्यों की ओर निर्देश हो तो दूसरी दृष्टि से अलग-अलग उपनिषदों में जो विभिन्न मूल्यों का सन्दर्भ आया है, उसे लेकर तीसरा अध्याय लिखा गया है। तथा बाद के तेतीस अध्यायों में इन्हीं मुद्दों को अधिक विस्तार से लिया गया है। परिणाम यह हुआ है कुछ स्थलों की पुनरावृत्ति तो कई बार हो गई है। ग्रन्थ के सम्पादन की दृष्टि से यह पाठक के लिए सुविधाजनक न रहकर कष्टकारी हो जाता है। इस दृष्टि से ग्रन्थ को "इकहरा शरीर" देना आवश्यक है।

लेखक की न केवल यह मान्यता है कि उपनिषदों में अनेक ऐसे मूल्यों को स्वीकार किया गया है, जिनकी उपस्थिति पर अध्येताओं का साधारणतया ध्यान नहीं जाता, उनकी एक और मान्यता यह भी है कि उपनिषदों में इन मूल्यों के आध्यात्मिक समायोजन पर मुख्य बल है (पृ० १८, २०-२१)। यदि ऐसे कथन कहीं आये हों जो विरोधी मत की पुष्टि करते हुये जान पड़ें तो उन्हें अपवाद मानना चाहिये। उनसे कतिपय ऋषियों के व्यक्तिगत आग्रह का पता चलता है, वे उपनिषदों की सामान्य धारा में ठीक नहीं बैठते (पृ० १२, २१, ३०)। इस स्थल पर एक अन्य रोचक एवं महत्वपूर्ण बिन्दु की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। सामन्यतया वेदों की ऋचाओं में ऐहिक जीवन के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टि का बोध मिलता है, इस अवस्था में वेदों का ज्ञानांग पक्ष इस ऐहिक दृष्टि के विपरीत परमार्थ का

एकांगी प्रतिपादन क्यों करता है ? निश्चय ही यहां अन्वेषण के लिए अवसर है। यदि तिवारी जी की व्याख्या को मान लें तो इस प्रश्न का एक उपयुक्त समाधान प्राप्त होता है। यहां कदाचित यह कहा जा सकता है कि वेदों अथवा उपनिषदों के विषय में किसी एक दृष्टि की बात इसलिए ठीक नहीं बैठती क्योंकि जिस रूप में वे आज उपलब्ध हैं वह वस्तुतः शताब्दियों पर फैला हुआ है, तथा उसमें अनेक ऋषियों तथा मनीषियों का योगदान है। परन्तु यह बात तिवारी जी की स्थापना को उतना ही बल देती है, जितना प्रचलित मत को।

इस स्थल पर तिवारी जी की प्रमुख स्थापना के सम्बन्ध में एक भिन्न प्रकार की कठिनाई का उल्लेख आवश्यक लगता है। भारतीय परम्परा में चतुर्वर्गीय पुरुषार्थ की कल्पना का यह वैशिष्ट्य है कि वह समस्त मानवीय मूल्यों का न केवल एक वर्गीकरण प्रस्तुत करती है, अपितु उनके परस्पर सम्बन्ध के विषय में निर्देश भी करती है। धर्म तथा मोक्ष को क्रमशः शीर्ष पर रखने से आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोपरि महत्व, तथा अर्थ एवं काम को सापेक्षतः गौण परन्तु आधारभूत महत्व प्राप्त हुआ है। इस तथ्य के साथ दार्शनिक परम्पराओं के आनुषंगिक साधना पक्ष की ओर ध्यान दें। लोकायतियों को छोड़कर अन्य सभी परम्पराओं में किसी न किसी रूप में व्यवहार तथा परामर्श के भेद को माना गया है। वर्तमान प्रसंग की दृष्टि से अद्वैत वेदान्त का दृष्टान्त ही सामने रखें। अद्वैत वेदान्त में, यद्यपि परमार्थ को ही वास्तविक सत् का दर्जा प्राप्त है, तथापि व्यवहार जगत की कल्पना को स्वीकार कर जीवन के साधारण एवं ऐहिक पक्ष के लिए कुछ स्थान दिया गया है। उपनिषदों में, जैसा सर्वविदित है, भिन्न-भिन्न प्रकार के कथन मिलते हैं, और उनकी विभिन्नता के कारण अद्वैतवादी अनेकवादी दोनों प्रकार की तत्वमीमांसाओं का निर्माण संभव है। स्पष्ट है कि एकवादी व्याख्या देने पर ऐहिक अनुभव को दूसरे दर्जे का स्थान देना पड़ता है। यह दूसरे दर्जे की कल्पना कई प्रकार की होती है, तथा विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में विभिन्न रूपों में प्राप्त होती है।

अब चाहे पुरुषार्थों के क्रमिक महत्व को ध्यान में रखें, परमार्थ एवं व्यवहार के भेद को लें या उपनिषदों में विभिन्न प्रकार के कथनों की एकवादी संगत व्याख्या को लें, हम देखते हैं कि व्यवहार पक्ष की नितान्त अवहेलना कहीं नहीं मिलती। इसके विपरीत उसकी संगत व्याख्या के प्रयास का दबाव स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होता है। दिलचस्प बात यह है कि तिवारी जी भी ऐहिक पक्ष को वह महत्व देने को तैयार नहीं हैं, जो आध्यात्मिक पक्ष के महत्व को कम कर दे। वे किसी रूप में ऐहिक पक्ष को भी आध्यात्मिक पक्ष से अनुप्राणित दिखाने का प्रयास करते हैं, तथा यही उपनिषदों का सन्देश मानते हैं। परन्तु इस अवस्था में उनका मत शांकर अद्वैत के बहुत निकट आ जाता है। फलतः अद्वैत सम्बन्धी उनकी आलोचना का बल कम हो जाता है।

दो एक विशिष्ट बिन्दुओं पर कुछ टिप्पणियां प्रासंगिक प्रतीत होती हैं। प्रथम, तिवारी जी का "सैक्यूलर" शब्द का प्रयोग। तिवारी जी ने इस शब्द को कुछ नई सी व्यंजना दी है। अपने मूल तथा विशिष्ट प्रयोग की तुलना में तिवारी जी के हाथों "सैक्यूलर" कहीं व्यापक प्रयोग पा गया है। अपने मौलिक प्रयोग में "सैक्यूलर" का अर्थ चर्चा की व्यवस्था से अलग तथा बाहर के क्षेत्र की ओर निर्देश करता है। बाद में लाक्षणिक अर्थ में वह "धर्म-निरपेक्ष" के रूप में प्रयुक्त होने लगा। यह प्रयोग आधारभूत रूप में राजनैतिक पृष्ठभूमि रखता है। उस सन्दर्भ में भी उसके प्रयोग विवादास्पद रहे हैं, तथा "सैक्यूलर"

सम्प्रत्यय की अर्थव्याख्या समस्यामूलक रही है। तिवारी जी ने इस शब्द का प्रयोग अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद के संघर्ष की पृष्ठभूमि में कर उसे भौतिकवाद के लिए किया है। उनका मानना है कि सैक्यूलर आध्यात्मवाद तथा सन्यासवाद का विरोधी है तथा भौतिकवाद, सुखवाद, जीवन के प्रति ऐहिकवाद आदि का निर्देश करता है (पृ० १३९, २६६)। अन्यत्र वे उसे एन्द्रिक कहकर रहस्यवाद तथा प्रकृतिवाद (३३) से अलग करते हैं। सैक्यूलर मूल्यों के अन्तर्गत उन्होंने भोजन, देह, शारीरिक बल, प्राण, इन्द्रियां, मनस, तथा धन आदि का समावेश किया है (पृ० ३२-३३, १४८)। लेखक का मत है कि इन सभी मूल्यों को उपनिषदों में स्थान दिया गया है। और यह इस बात का प्रमाण हैं कि उपनिषदों में ऐहिक पक्ष को नकारा नहीं गया है। फलतः उनकी केवल निषेध परक, अनैहिक व्याख्या अनुचित है।

डॉ० तिवारी ने अपने ग्रन्थ में उपनिषदों में ऐहिक मूल्यों के स्थान और महत्व का समर्थन कर उपनिषदों के लौकिक पक्ष को उजागर किया है।



Valuable Contribution

—Dr. K. C. Sogani

The present work, namely, **"Secular. Social, and Ethical Values in the panishads"** by Dr. Ramanand Tiwari under an assignment by the U. G. C. presents a positivistic study of Upanishads. Upanishads are generally recognised as the treatise on the essence of religion. Dr. Tiwari has remarkably exhituted a deep insight into the Upanishadic literature by presenting the multi-value scheme in the Upanishads. He has significantly brought out that the Upanishads have a positive attitude towards secular, social, ethical, intellectual and esthetic values. The author rightly points out that the Upanishads do not seek to devalue their status or nature, rather they intend is enrich their intrinsic empirical values by adding a new dimension of blissful spirituality to them. Dr. Tiwari has been faithful to the Upanishads in pointing out the significance of bodily and economic values embodied in them. Though these are negative values in the Upanishads, yet they do not outpower man's positive attitude towards life. The whole atmosphere of Dr. Tiwari's work is empirical without any inconsistency.

I have no doubt that the present study is of great merit. It has opened a new dimension for the study of the upanishads. The author is to be congratulated on this study.

Like the upanishads, if Dr. Tiwari takes up a similar study of the **Gita**[1] it will bring to light new point of view interest in the Gita. The need of the present day is to study the basic wish of Indian Culture in a socio-secular perspective. The Indian life is deeply spiritual but not at the cost of socio-secular values. This approval is to be put forth by the scholar of Dr. Tiwari's status. Hence I feel that the positivistic study of the Gita by Dr. Tiwari will be a valuable contribution to the comprehensive of Indian culture in a contemporary perspective.

[1] This has also been accomplished & published by Dr. Tiwari—Editor.

भारतीनन्दन : विहंगम दृष्टि

—पूर्णिमा शर्मा

☐ रामानन्द का जन्म उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध गंगा तीर्थ सोरों (जिला एटा) में ३ अगस्त, १९१९ को हुआ।

☐ उसके पिता पंडित प्यारे लाल त्रिवेदी एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण और प्रसिद्ध वैद्य थे !

☐ उसकी मां का नाम श्रीमती चमेली देवी था जो दो पुत्रों को शिशु अवस्था में छोड़कर स्वर्ग सिधार गईं।

☐ घर में दूसरी मां आई पर वह भी दो पुत्रों को जन्म देकर चल बसीं।

☐ रामानन्द का बचपन मातृ स्नेह से वंचित रहा और परिस्थितियों ने उसे अन्तर्मुखी बना दिया।

☐ बालक रामानन्द को प्राइमरी शिक्षा दिलाने का श्रेय उनके मामा पंडित श्री वल्लभ दीक्षित को है जो सोरों के स्कूल में प्रधानाध्यापक थे।

☐ अध्ययन की ऊंचाइयों को छूने वाले इस प्रतिभाशाली विद्यार्थी को मित्रों ने आदर और गुरुओं ने प्रेरणा दी।

☐ रामानन्द को हिन्दी मिडिल में प्रथम श्रेणी व छात्रवृत्ति मिली।

☐ उसने १९३४ में एटा से हाई स्कूल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की तथा हिन्दी, संस्कृत व गणित में विशेष योग्यता पाई।

☐ युवक रामानन्द चन्दौसी के श्यामसुन्दर इण्टर कालेज से इण्टरमीडियेट परीक्षा में प्रथम आया और पूरे उत्तर प्रदेश में उसका दसवां स्थान रहा।

☐ रामानन्दजी उच्च अध्ययन के लिए प्रयाग आ गए जहां अपना खर्च चलाने के लिए उन्हें अनुवाद कार्य और ट्यूशन करने पड़े ! आर्थिक संघर्ष पढ़ाई में व्यवधान बना।

☐ बी० ए० (१९३८) और एम० ए० (दर्शन) १९४० परीक्षाओं में उन्हें अच्छे अंकों वाली द्वितीय श्रेणी से संतोष करना पड़ा।

☐ १९४६ में श्री रामानन्द तिवारी राजकीय महाविद्यालय वाराणसी से प्रथम श्रेणी में दर्शन शास्त्री बने।

☐ १९४७ में श्री रामानन्द तिवारी को Ethics of Shankaracharya नामक शोध प्रबंध पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने डी० फिल० की उपाधि प्रदान की।

☐ ठीक दस वर्ष बाद डॉ० रामानन्द तिवारी को सत्यं शिवं सुन्दरम् नामक विषय पर एक गम्भीर व सैद्धान्तिक प्रबंध प्रस्तुत करने पर राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा (हिन्दी में) पी-एच० डी० की उपाधि दी गई।

☐ डॉ० तिवारी ने डी० लिट्० की उपाधि के लिए "भारतीय जीवन दर्शन" शीर्षक से एक विशाल ग्रंथ का प्रणयन किया किन्तु तीन में से एक परीक्षक की तकनीकी असहमति के कारण आपको यह उपाधि नहीं मिल सकी।

☐ १९४८ में डॉ० रामानन्द तिवारी का शुभ विवाह आगरा के पं० रामस्वरूप शर्मा की सुपुत्री कुमारी शकुन्तला के साथ हुआ।

☐ सुशिक्षित और उदारमना पति का सक्रिय सहयोग पाकर सुसंस्कृत और विद्या प्रेमी शकुन्तला रानी तिवारी स्वयं उच्च शिक्षा की ओर अभिमुख हुईं और संस्कृत में एम० ए० करने के पश्चात उन्होंने "महाभारत में धर्म" नामक शोध प्रबंध प्रस्तुत कर १९६५ में पी-एच डी० की उपाधि अर्जित की।

☐ एक सुयोग्य प्राध्यापक और प्रयोगवादी शिक्षा शास्त्री के बालक उनके विचारों और कार्यों की सफलता के प्रमाण पत्र बने जबकि डॉ० तिवारी के प्रथम पुत्र श्री विनोद मणि दिवाकर एम० ए० (इतिहास) तक की सभी परीक्षाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते गए और अब वे भारतीय पुलिस सेवा (I. P. S.) के वरिष्ठ अधिकारी हैं।

☐ डॉ० तिवारी के द्वितीय पुत्र श्री प्रमोद दीपक सुधाकर ने विज्ञान विषय लेकर यही कीर्तिमान स्थापित किया। यही नहीं वे हर प्रतियोगी परीक्षा में सफल हुए और आजकल भारतीय प्रशासनिक सेवा (I. A. S.) के वरिष्ठ पद पर हैं!

☐ रुड़की विश्वविद्यालय के रीडर डॉ० जयदेव शर्मा से विवाहित, डॉ० तिवारी की सुपुत्री श्रीमती अर्चना दिव्यशीला बी० ए० व एम० ए० परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी प्राप्त कर अब पी-एच० डी० के लिए अपने शोध कार्य को अन्तिम रूप दे रही हैं।

☐ डॉ० तिवारी को आरम्भ से ही अध्यापक बनने की धुन थी। ज्ञान अर्जन के साथ-साथ उसके वितरण का दायित्व वे अपने विद्यार्थी काल से ही निभाते आए थे। स्कूल से यूनिवर्सिटी तक के शिक्षकों के गम्भीर ज्ञान और सदाशयी व्यवहार ने उन्हें इसी मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा दी फलतः डॉ० रामानन्द तिवारी १९४७ में जसवन्त कालेज जोधपुर में दर्शन शास्त्र के व्याख्याता नियुक्त हुए।

☐ राजस्थान में राजकीय सेवाओं के एकीकरण के परिणाम स्वरूप आप कोटा में स्नातक विभाग और जयपुर में स्नातकोत्तर विभाग के क्रमशः अध्यक्ष और कार्यकारी अध्यक्ष रहे।

☐ १९५६ से सेवा निवृत्ति तक डॉ० तिवारी भरतपुर के महारानी श्री जया कालेज से सम्बद्ध रहे। अपनी साहित्य साधना में व्यवधान के भय से उन्होंने ऊंचे पदों के आकर्षण को अस्वीकार किया, यों वह कुछ समय तक इसी कालेज के प्रधानाचार्य पद पर भी रहे। १९७४ में वे इसी कालेज से दर्शन के स्नातकोत्तर विभाग के अध्यक्ष पद से सेवा निवृत्त हुए!

☐ सम्प्रति डॉ० तिवारी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक योजना के अन्तर्गत अध्ययन और अध्यापन की वृत्ति प्राप्त कर रहे हैं और इस बीच उन्होंने दो महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना व प्रकाशन किया है।

☐ साथ ही आपका पर्याप्त समय अध्यापन की भारतीय प्राविधि द्वारा हिन्दी में शिशु शिक्षा तथा अल्प आयास से अंग्रेजी ज्ञान के लिए एक प्राथमिक शिक्षालय के प्रबंध व संचालन में व्यतीत हो रहा है।

☐ भारतीनन्दन डॉ० रामानन्द तिवारी का कवि नाम है। काव्य की प्रेरणा आपको शैशव से ही

मिली। दर्शन जैसे गम्भीर विषय के अध्ययन और कालान्तर में उसके अध्यापन व शिक्षा, संस्कृति तथा कला जैसे गम्भीर विषयों पर चिन्तन मनन के चलते हुए भी उनका कवि कभी समस्या पूर्ति करता रहा तो कभी स्फुट गीतों, काव्यों की रचना में संलग्न रहा। कवि के छन्द भाव और रंग मीठी बोली (ब्रज-भाषा) से चल कर खड़ी बोली (हिन्दी) तक पहुंचे और उनकी कलम को अनेक आयाम दिए। उनकी पहली प्रकाशित कृति परिणय नामक लम्बा गीत थी।

☐ १९५५ में हिन्दी में शिव कथा पर आधारित महाकाव्य पार्वती का प्रकाशन हिन्दी संसार की एक अनूठी घटना थी।

☐ पहली बार महाकवि के रूप में भारतीनन्दन का आविर्भाव लोगों के आश्चर्य का विषय था और अनेक लोग उनकी इस मौन साधना के प्रति श्रद्धावनत हुए।

☐ हिन्दी के मठाधीशों और प्रतिबद्ध आलोचकों के लिए पार्वती गम्भीर चुनौती बनी। उनकी अनुदार आलोचनाओं से पार्वतीकार खिन्न हुआ और उसने काव्य रचना बन्द कर दी पर पत्नी के प्रबल आग्रह पर वर्षों बाद कवि ने मौन तोड़ा और इस बार सात (नारी) खण्ड काव्य सावित्री, उमा, अहल्या, उर्वशी, मेनका, तिलोत्तमा और शकुन्तला तथा चार (पुरुष) खण्ड काव्य चन्द्रगुप्त, सत्यकाम, ब्रह्मर्षि और तुलाधार पर रचे गए।

☐ इनमें से सावित्री का प्रकाशन हो चुका है तथा पार्वती का कुमार दीक्षा से सम्बन्धित अंश सेनानी नाम से छप चुका है।

☐ डॉ० रामानन्द तिवारी दर्शन के विद्यार्थी तथा शिक्षक रहे हैं। भारतीय दर्शन में वेदान्त उनका प्रिय विषय रहा है। डॉ० तिवारी की प्रथम पुस्तक A brief out line of Indian philosophy जोधपुर से १९४९ में प्रकाशित हुई।

☐ १९५० में शंकर का आचार दर्शन नामक आपका शोध प्रबंध (स्वयं द्वारा अनूदित) प्रकाशित हुआ जिसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने निकाला था।

☐ १९५३ में भारतीय दर्शन का परिचय और १९५८ में भारतीय दर्शन की भूमिका नामक ग्रंथ प्रकाशित हुए।

☐ प्रयाग विश्वविद्यालय के स्वनाम धन्य दर्शन अध्यापक प्रोफेसर रानाडे की महत्वपूर्ण कृति का अनुवाद प्रस्तुत किया डॉ० तिवारी ने।

☐ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अन्तर्गत आपने १९७८ में Secular, Social and Ethical values in Upanishads और १९८० में Secular Social and ethical values in Geeta नामक ग्रंथों का प्रकाशन किया है।

☐ डॉ० तिवारी दर्शनशास्त्र के यशस्वी अध्यापक के रूप में जाने जाते हैं। उनके अनेक छात्र इस क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं। आज भी अनेक शोधार्थी डॉ० तिवारी का मार्गदर्शन प्राप्त करने आते हैं।

☐ दर्शन को जीवन का व्यवहार बनाया है डॉ० तिवारी ने और अनेक छात्रों का मार्गदर्शन कर उन्हें जीवन में सफलता की ओर अग्रसर किया है। डॉ० तिवारी का दर्शन अनेक लोगों की प्रेरणा और सम्बल बना है।

☐ उपाधियों से सम्बन्धित शोध प्रबन्धों और काव्य रचना के अतिरिक्त डॉ० रामानन्द तिवारी

ने मौलिक उद्भावनाओं से युक्त अनेक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय ग्रंथों का प्रणयन किया है। हिन्दी में उनकी कुछ विशिष्ट कृतियां हैं सांस्कृतिक प्रतीकों पर लिखित लेखों का संकलन, अभिनव रस मीमांसा, सांस्कृतिक भाषा विज्ञान, और भाषा विज्ञान का वर्ण-मूलक सिद्धान्त (अप्रकाशित) काव्य का स्वरूप, साहित्य कला, शिक्षक और संस्कृति तथा हमारी जीवन्त संस्कृति (सभी प्रकाशित)

☐ डॉ० तिवारी संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय उपयोग के अपने विचारों को अनेक छोटी-छोटी पुस्तकों में प्रकाशित करते रहे हैं। इनमें स्वतन्त्रता का अर्थ, छात्रो उठो जागो तथा आपका बालक होनहार है जैसी कृतियां हैं।

☐ डॉ० तिवारी के असंख्य लेख देश की जानी मानी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं, इनमें से प्रमुख हैं, सरस्वती, ज्ञानोदय, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, मधुमती, सरिता, कादम्बनी, विशाल भारत, पांचजन्य, सुप्रभाव, अमर ज्योति, दार्शनिक, अणुव्रत, स्वदेश, सिद्धान्त वीणा, वसुधा, विभूति, श्री वेंकटेश्वर-समाचार, शक्ति, मानवधर्म, सम्मेलन पत्रिका, त्रिपथगा, धर्ममार्ग, संस्कृति, नागरिक, जनभारती, विश्व-ज्योति, वर्तिका, सरस्वती संवाद, भारती (बम्बई), समाज, अवन्तिका, साप्ताहिक भारत, यूनीवर्सल-मदर, अनन्त संवाद, भारती (ग्वालियर) संयुक्त राजस्थान, चरित्र निर्माण, राष्ट्रभाषा, हिन्दुस्तानी इत्यादि-इत्यादि।

☐ अपनी रचनाओं के प्रति हिन्दी जगत की जानी-पहचानी गुट बंदी और षड्यन्त्र के फल-स्वरूप कवि और दार्शनिक डॉ० रामानन्द तिवारी की लेखनी प्रतिक्रिया के कारण अंग्रेजी की ओर मुड़ी और इसी बीच उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। इनमें से १९६६ में लिखित Unique India १९८० में प्रकाशित हुई है और शेष पुस्तकें अभी अप्रकाशित हैं इनके नाम हैं -- Ethics of Vedanta (1946) Indian Philosophy (1958-60) Concept of Culture (1962) Idea of Beauty (1964) Message of India (1967) Spiritual Foundations of Life (1970) Spiritual Existentialism (1971) और Existence of Man (1974)

☐ महाकवि भारती नन्दन मंच पर काव्य पाठ नहीं करते किन्तु हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी तीनों ही भाषाओं में प्रवाहपूर्ण, सुबोध तथा विनोदपूर्ण शैली में दिए जाने वाले अपने भाषणों से उन्होंने अपार ख्याति अर्जित की है। देश के अनेक विश्वविद्यालयों, विद्यालयों, साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं में उन्हें भाषणों के लिए आमंत्रित किया जाता रहा है। आकाशवाणी से उनके प्रसारण प्रायः होते रहे हैं।

☐ भरतपुर की श्री हिन्दी साहित्य समिति ने डॉ० तिवारी को सम्मानित ही नहीं किया वे उसकी अधिकांश सभाओं और बैठकों के अध्यक्ष और प्रमुख वक्ता हैं।

☐ डॉ० रामानन्द तिवारी की अनेक पुस्तकों को पुरस्कृत किया गया है। इनमें भारतीय दर्शन का परिचय तथा भारतीय दर्शन की भूमिका नामक पुस्तकों और सत्यं शिवं सुन्दरम् नामक ग्रंथ पर उत्तर प्रदेश सरकार के पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। राजस्थान साहित्य अकादमी ने डॉ० तिवारी को दो बार मीरा पुरस्कार प्रदान किए जो भारतीय संस्कृति पर लिखे लेखों तथा अभिनव रस मीमांसा नामक अप्रकाशित पुस्तकों पर थे। पार्वती महाकाव्य को पहले हरजीमल डालमिया और तदुपरान्त केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा पुरस्कृत किया गया। कुछ समय बाद उसे उत्तर प्रदेश सरकार का भी पुरस्कार मिला।

☐ जहां यह सही है कि हिन्दी जगत में पार्वती महाकाव्य की अपेक्षित चर्चा नहीं हुई। और यह

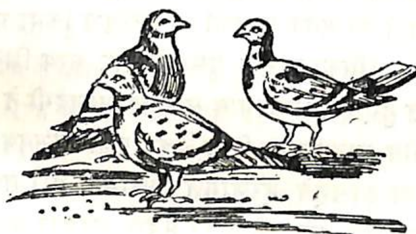
पार्वती और पार्वतीकार की प्रतिष्ठा से निहित स्वार्थों की हानि की निर्मूल आशंका के कारण हुआ वहीं यह भी सही है कि पार्वती के प्रकाशन ने हिन्दी को समृद्ध और हिन्दी के निस्वार्थ साधकों को प्रसन्न किया। उस समय के मूर्धन्य विद्वानों, समालोचकों, महाकवियों और हिन्दी प्रेमियों ने मुक्तकंठ से पार्वती की अगवानी और सराहना करके अपनी निष्पक्षता और सदाशयता का परिचय भी दिया। ये कुछ लोग थे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, राष्ट्रकवि मैथली शरण गुप्त, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, सुकवि आरसी प्रसाद सिंह, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी· डॉ० राम विलास शर्मा, राष्ट्रकवि दिनकर, डॉ० सरनाम सिंह शर्मा अरुण और डॉ० पद्मसिंह शर्मा कमलेश इत्यादि-इत्यादि।

☐ हिन्दी संसार को डॉ० रामानन्द तिवारी की अमूल्य देन राजस्थान के गौरव का विषय रही है। राजस्थान उनकी कर्मभूमि और साधना स्थली रही है। इस रूप में राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम) द्वारा डॉ० तिवारी को अपनी सर्वोच्च उपाधि 'मनीषी' से अलंकृत किया जाना अकादमी व डॉ० तिवारी दोनों के संतोष व गौरव का कारण बनी है।

☐ हाल ही में डॉ० तिवारी को महाराणा कुम्भा पुरस्कार प्रदान किया गया है।

☐ राज्य की यशोगाथा बिम्ब और सम्भावननों का संकल्प **"राजस्थान मंच"** राज्य की विरल विभूतियों का राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान करता आया है। १९७७ में मंच ने वयोवृद्ध पत्रकार, सुप्रसिद्ध इतिहासकार, निस्पृहः समाज सेवी साहित्य वाचस्पति पंडित झाबरमल्लजी शर्मा के सम्मानार्थ एक विशाल, मनोहारी व महत्वपूर्ण अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन किया था। इस बार मंच अनेक कालजयी ग्रंथों के रचयिता, प्रबुद्ध शिक्षा शास्त्री, वेदान्त के विद्वान, मनीषी डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री भारती-नन्दन का अभिनन्दन कर रहा है। ज्ञातव्य है कि इनमें से प्रथम पण्डित झाबरमल्लजी शर्मा जन्म से राजस्थानी हैं किन्तु उनकी महती सेवाओं का लाभ उठाया बंगाल महाराष्ट्र और दिल्ली के प्रदेशों ने जबकि दूसरे डॉ० रामानन्द तिवारी कर्म से राजस्थानी हैं जो सोरों (उत्तर प्रदेश) में जन्म लेकर और प्रयाग से शिक्षा प्राप्त कर राजस्थान में अपने ज्ञान की धारा प्रवाहित करते रहे। निश्चय ही **राजस्थान मंच** एक राष्ट्रीय संस्था है और उसकी दृष्टि व्यापक व उदार है।

☐ डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन-समर्पण एक सच्चे साधक का सम्मान है और राजस्थान मंच की आकांक्षाओं का एक विनम्र प्रकाशन।




विविधा

भरतपुर ८।२

प्रियवर उमादत्त अनजान,

तुम्हारा पत्र मिला। राजस्थान मंच द्वारा मेरे अभिनन्दन का प्रस्ताव अभिनन्दनीय है। राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर ने अवश्य मेरे कृतित्व को 'मनीषी' पद से चर्चित किया। इसके अतिरिक्त सामान्यतः हिन्दी-समाज और संस्थायें मेरे हिन्दी कृतित्व के वैशिष्ट्य के प्रति पिछले २५ वर्षों से उदासीन रहे हैं। उनकी उपेक्षा ने मुझे अपने गम्भीर चिन्तन को अँगरेजी के माध्यम से व्यक्त करने के लिये विवश किया।

साहित्य निस्सन्देह साधना है और किसी सीमा तक वह साहित्यकार का एकान्त उत्तरदायित्व है। किन्तु दीर्घकालीन और विपुल कृतित्व का निर्वाह बिना सामाजिक सहयोग के दुष्कर है। इस नाते मैं हिन्दी समाज की ओर से अत्यन्त क्षुब्ध हूँ। गम्भीर चिन्तन की विपुल परिमाण में अँगरेजी के माध्यम से अभिव्यक्ति मेरे इस क्षोभ का ही प्रदर्शन है।

इस क्षोभ के कारण अब किसी भी प्रकार का अभिनन्दन मुझे रुचिकर नहीं। फिर भी राजस्थान मेरी साधना-भूमि है, इस नाते राजस्थान मंच के द्वारा मेरा यह अभिनन्दन मुझे शिरोधार्य होगा।

सस्नेह -

रामानन्द तिवारी

भारतीनन्दन से भेंट वार्ता

—अर्चना दुबे

अनजान—नमस्कार डॉ० साहब, राजस्थान मंच की ओर से एक शिष्टमंडल के रूप में, मंच के केन्द्रीय संचालक मण्डल के सभापति और अनेक यशस्वी अभिनन्दन ग्रंथों के सम्पादक डॉ० आनन्द स्वरूप पाठक, सुप्रसिद्ध विधिवक्ता श्री शान्ति प्रसाद जी चौधरी, हमारी नई पीढ़ी की प्रतिनिधि अर्चना जी और मैं अनजान, आप से भेंट करने आए हैं। मंच द्वारा प्रकाश्य अभिनन्दन ग्रंथ के संदर्भ में हम आपके व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में कुछ प्रश्न करने की अनुमति चाहते हैं।

भारतीनन्दन—मैं आप सब लोगों का स्वागत करता हूं और मेरे सम्बन्ध में आप लोग जो कुछ भी जानना चाहेंगे उसके बारे में आवश्यक सूचना देकर आपके इस आगमन को सफल बनाने का प्रयत्न करूँगा।

अनजान—बहुत-बहुत धन्यवाद। चूंकि जीवन का क्रम जन्म से ही आरम्भ होता है अतः हम भी आपके जन्म अर्थात कब, कहां और किनके यहां हुआ इत्यादि के बारे में कुछ प्रश्न करना चाहेंगे।

भारतीनन्दन—मेरा जन्म उत्तर प्रदेश के गंगा तीर्थ सोरों (शूकर क्षेत्र) में सन् १९१९ की ३ अगस्त को हुआ। मेरे पिता प्यारेलालजी पंडित एवं वैद्य थे।

अनजान—कुछ और पारिवारिक विवरण देना चाहेंगे ?

भारतीनन्दन—मेरे पिता चार भाई थे। उन सबका एक सम्मिलित परिवार था। उसमें एक भाई के कोई संतान नहीं थी। उसी सम्मिलित परिवार में ही मेरा पालन-पोषण हुआ।

अर्चना—आप सोरों में कब तक रहे ?

भारतीनन्दन—बस बचपन में ही मैं घर में और तभी सोरों में रहा। इससे आगे मेरा सम्बन्ध घर से भी और सोरों से भी टूट गया और मैं बाहर पढ़ने के लिए चला गया।

अनजान—कृपया बचपन की कुछ विशेष घटनाओं के बारे में कुछ चर्चा करें।

भारतीनन्दन—घटनाएं तो उनको नहीं कहना चाहिए, क्योंकि घटनाएं तो दुर्घटनाएं होती हैं और एक ऐसी दुर्घटना मेरे साथ भी हुई, जब मेरी माता का देहान्त हुआ तो मेरी अवस्था बहुत कम थी और मैं बचपन से ही मातृहीन हो गया। इस दुर्घटना ने मुझे कुछ अनाथ और एकान्त प्रेमी सा बना दिया, हो सकता है कि इसी कारण से मैं साहित्यकार और दार्शनिक बना। और कोई महत्वपूर्ण घटना, दुर्घटना या अच्छी घटना मेरे जीवन में नहीं है। एक सामान्य जो घटना है वह उस समय के सामाजिक वातावरण की, उस समय के नगर के वातावरण की और विद्या के वातावरण की हो सकती है जिसका कि मेरे जीवन पर बहुत घनिष्ठ प्रभाव है।

डॉ० पाठक—आप अपनी माता जी का शुभ नाम बताने का कष्ट करेंगे।

भारतीनन्दन—उनका नाम चमेली देवी था।

डॉ० पाठक—कहां की थीं वे ?

भारतीनन्दन —वे मारहरा की थीं। मारहरा में एक पण्डित परिवार था दीक्षितों का। इस दृष्टि से वह सुशिक्षित था, उसका भी कुछ मेरे जीवन में योग है कि हमारे मामा उस समय एक अध्यापक थे और संयोग से और मेरे सौभाग्य से वे सोरों के स्कूल में ही अध्यापक थे जिसके कारण मेरी शिक्षा आरम्भ हो सकी। उस समय के सोरों के वातावरण में एक अद्‌भुत सी चीज थी क्योंकि सोरों के ब्राह्मण परिवारों के बालक स्वयं या उनके माता-पिता आरम्भिक शिक्षा की ओर भी ध्यान नहीं देते थे।

डॉ० पाठक —आपके सोरों में तो संस्कृत का वातावरण था आप अंग्रेजी की ओर कैसे मुड़े ?

भारतीनन्दन —जी हां संस्कृत का वातावरण था और मैं संस्कृत पढ़ता रहा घर में और पाठशाला में। किन्तु सोरों में कुछ इस प्रकार की प्रथा थी कि स्कूल भी जाते थे बच्चे और पाठशाला भी। अगर मेरे मामा स्कूल में अध्यापक न होते तो संभव है मैं भी औरों की तरह पाठशाला में संस्कृत ही पढ़ता। मामा के स्कूल में अध्यापक होने के कारण मैंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की।

अनजान—अपनी उच्च शिक्षा के बारे में बताएँगे, सोरों के बाद आपने कहां-कहां शिक्षा प्राप्त की ?

भारतीनन्दन—मिडिल स्कूल तक मैं सोरों में पढ़ा और फिर एटा के गवर्नमेंट हाईस्कूल में पढ़ा। हाईस्कूल में सौभाग्य से अच्छा परीक्षाफल पाया और छात्रवृत्ति भी मुझको मिली। इण्टर मैंने चन्दौसी के श्याम सुन्दर कॉलिज से किया। इलाहाबाद उस समय शिक्षा का एक उच्च और अच्छा केन्द्र था। वहां भारतवर्ष के अच्छे से अच्छे विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे। उच्च शिक्षा मैंने इलाहाबाद में ही पाई।

अर्चना—आपने किस विषय में एम० ए० किया ?

भारतीनन्दन —एम० ए० मैंने दर्शन में किया। दर्शन के एक बहुत प्रसिद्ध और बड़े अध्यापक, डॉ० रानाडे इलाहाबाद में थे। उनके आकर्षण से मैंने दर्शन में एम० ए० किया।

श्री चौधरी—उसके बाद आपने कुछ शोध कार्य भी किया ?

भारतीनन्दन —हां उन्हीं डॉ० रानाडे के मार्गदर्शन में मैंने शोधकार्य भी किया।

डॉ० पाठक—आपके शोध का विषय क्या था डॉक्टर साहब ?

भारतीनन्दन —शोध कार्य मैंने शंकराचार्य के ऊपर किया है। आरम्भ से ही मेरी रुचि वेदान्त में थी और हमारे जो गुरू रानाडे थे, वे भी वेदान्त के ही प्रमुख पण्डित थे। इसलिए मैंने शंकराचार्य के आचार दर्शन पर शोध किया क्योंकि मुझे इसके साथ-साथ आचार दर्शन में भी रुचि थी और ऐसे सिद्धान्त जो जीवन से कम संबंध रखते हों उनमें मेरी कम रुचि थी। जीवन से सम्बन्ध दर्शन का आचार में ही हो सकता है। इसलिए मैंने शंकराचार्य के आचार-दर्शन पर शोध किया। उसके बाद ही मैंने उस कार्य को आगे बढ़ाया।

अनजान—शिक्षा के बारे में आपका कहना है कि आप छात्रवृत्ति पाकर ही उसे पूर्ण कर सके क्या वह साधन इतना पर्याप्त था कि आप शोध कार्य भी कर सके और अपना निर्वाह भी।

भारतीनन्दन —नहीं, उसको तो मैंने कुछ अनुवाद कार्य करके पूरा किया। रानाडे साहब ने उपनिषद् के ऊपर एक महत्वपूर्ण ग्रंथ अंग्रेजी में लिखा था। मैंने उसका अनुवाद किया। उन्होंने मुझको कुछ

आर्थिक सहायता दी। मैंने कुछ अन्य ग्रंथों और इतिहास की कुछ बड़ी-बड़ी पुस्तकों आदि के अनुवाद करके वहां लोगों को दिए। वे मेरे नाम से नहीं छपे। मुझे उसकी आवश्यकता भी नहीं थी। मुझे तो पैसे की आवश्यकता थी, वह उनसे मिला।

डॉ० पाठक —उच्च शिक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा आपको कहां से मिली ?

भारतीनन्दन —विद्यालयों का सारा ही वातावरण प्रेरणामय था। जब मैं स्कूल में पढ़ता था, तो साधारण अध्यापक भी बड़ी प्रेरणा देते थे। पर मुख्य प्रेरणा मुझे हाई स्कूल के अध्यापकों से मिली। आज के संदर्भ में यह चीज बड़ी अद्भुत-सी दिखाई देगी। इलाहाबाद से शिक्षा प्राप्त कर आए हुए मेरे कई अध्यापक हाईस्कूल में थे और जिस समय मैंने प्रथम श्रेणी में हाईस्कूल किया, उन्होंने आग्रह के साथ और बहुत कुछ जबरदस्ती के साथ मुझे उच्च शिक्षा के लिए इलाहाबाद जाने की प्रेरणा दी। हाईस्कूल के हमारे हैडमास्टर बनारस विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम० ए० थे। दर्शन की प्रेरणा भी मुझको उनसे हाईस्कूल से ही मिली।

श्री चौधरी —डॉ० साहब शिक्षा के उपरांत आपने अपनी आजीविका कहां से प्रारम्भ की ?

भारतीनन्दन —इलाहाबाद से डाक्टरेट लेने के पश्चात् जसवन्त कॉलेज जोधपुर में मुझे दर्शन के अध्यापक का काम मिल गया। उस कॉलेज के प्रिंसिपल दर्शन के अध्यापक थे। वह मेरी दर्शन की शिक्षा से बड़े संतुष्ट और प्रसन्न थे।

श्री चौधरी — इस कॉलेज के बाद आप कहां-कहां रहे ?

भारतीनन्दन —जोधपुर से मेरा स्थानांतरण जयपुर हुआ और फिर वहां से कोटा।

अनजान —हां, वहीं पर मैंने भी दर्शन की शिक्षा आपके श्री चरणों में बैठकर प्राप्त की थी।

भारतीनन्दन —हां कोटा में अनजान जी मेरे विद्यार्थी रहे। कोटा में ही मैंने पार्वती की रचना की। उसके बाद फिर कई वर्ष जयपुर रहा। अब २०-२२ वर्षों से भरतपुर में हूं। स्थानांतरण यहां से भी हो सकता था, किन्तु मैंने कुछ शान्ति और अपनी निश्चिन्तता के निमित्त कार्य करने के लिए सरकार से अनुरोध करके इस स्थानांतरण की प्रक्रिया को रुकवा दिया और नौकरी के अन्त तक यहीं रहा। मैंने १९७४ में महारानी श्री जया कॉलेज से अवकाश प्राप्त कर लिया और तब से यहीं हूं।

श्री चौधरी —तो अब आपने भरतपुर को ही स्थायी निवास स्थान बना लिया है ?

भारतीनन्दन —हां अब तो यहां मकान बना लिया है और भरतपुर ही मेरा स्थायी निवास स्थान है।

श्री चौधरी—परिवार के विषय में मैं आपसे कुछ पूछना चाहूंगा। आपका विवाह कहां हुआ और यह सम्बन्ध कैसे हुआ ?

भारतीनन्दन —विवाह के प्रसंग प्रयाग में पढ़ाई करते हुए कई बार आए किन्तु मेरी स्थिति ऐसी नहीं थी कि शोध-कार्य करते हुए विवाह कर सकूं क्योंकि मैं इसे बाधक मानता था। शोध-प्रबन्ध पूरा करके जब मैं जोधपुर के कालिज में अध्यापक हुआ तब मेरा विवाह सम्बन्ध हो सका। आगरा के एक सज्जन पं० रामस्वरूप जी शर्मा के यहां मेरा विवाह सम्बन्ध हुआ।

डॉ० पाठक आपकी पत्नी भी शिक्षित रही होंगी ?

भारतीनन्दन—जिस परिवार से वे आई थीं उस समय वहां बड़ी आयु की लड़कियों को स्कूल भेजने की परम्परा नहीं थी। कुछ थोड़ी-सी शिक्षा उन्होंने पाई थी किन्तु उच्च शिक्षा में उनकी बड़ी रुचि

थी। उनके माता-पिता ने भी कहा था कि हमारी लड़की को पढ़ने में बड़ी रुचि है। उनकी बात को मैंने सही मान लिया और इनको पढ़ने की प्रेरणा दी। ये घर पर ही पढ़ती रहीं और सारी परीक्षाएं प्राइवेट दीं और प्राइवेट ही संस्कृत में एम० ए० किया और फिर संस्कृत में ही पी-एच० डी० किया।

डॉ० पाठक कृपया उनका नाम बताइये।

भारतीनन्दन —मेरी पत्नी का नाम शकुन्तला है।

श्री चौधरी —कृपया सन्तान के विषय में कुछ जानकारी दीजिए।

भारतीनन्दन —जब हम जोधपुर में रहते थे तो वहीं मेरे दो पुत्रों का जन्म हुआ। उसके बाद जब हम कोटा आए तो हमारे दो कन्याएं हुई जिसमें से एक कन्या तो नहीं रही (कण्ठावरोध) एक कन्या अभी तक मौजूद है।

श्री चौधरी —उन बच्चों को शिक्षा के बारे में भी बताइएगा।

भारतीनन्दन बच्चों की शिक्षा कुछ विचित्र रूप से हुई। उसके कई कारण थे। एक कारण तो मेरी पत्नी की स्वयं की शिक्षा बना। इन्होंने घर का सारा काम स्वयं करके अपनी सम्पूर्ण शिक्षा सम्पन्न की तो मुझे विश्वास हो गया कि शिक्षा घर पर भी हो सकती है और यह भी आशा हो गई कि ये बच्चों की शिक्षा में भी कुछ सहयोग दे सकती हैं। इधर स्कूलों की शिक्षा मुझे कुछ सन्तोषजनक नहीं दिखाई देती थी। इसलिए बच्चों की आरंभिक शिक्षा, केवल आरंभिक ही नहीं बल्कि हाई स्कूल तक शिक्षा, घर पर ही कराई। बहुत अच्छी तरह हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् सभी बच्चे सीधे कालेज ही गए।

डॉ० पाठक —अब वे क्या काम करते हैं?

भारतीनन्दन —सबसे बड़ा लड़का विनोद है उसने विश्वविद्यालय की सारी परीक्षाओं में प्रथम स्थान प्राप्त किया। वह भारतीय पुलिस सेवा (I. P. S.) में है और इस समय बिहार में नियुक्त है।

डा० पाठक — दूसरा पुत्र?

भारतीनन्दन—दूसरा लड़का प्रमोद, बड़े से दो वर्ष छोटा है, उसने भी विश्वविद्यालय की सभी परीक्षाओं में प्रथम स्थान प्राप्त किया। वह अब भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.) में है और उसकी नियुक्ति उत्तर प्रदेश में है।

डॉ० पाठक—आपकी पुत्री?

भारतीनन्दन—पुत्री का नाम अर्चना दिव्यशीला है वह भी घर में पढ़ी और बाद में कालेज गई। एम० ए० करने के पश्चात उसका भी विवाह हो गया और अब वह पी-एच० डी० कर रही है।

अनजान—उनके पति कहां हैं?

भारतीनन्दन—मेरी कन्या के पति, डा० जयदेव शर्मा, रुड़की के इंजीनियरी विश्वविद्यालय में रीडर हैं और आजकल वे एक वर्ष से कनाडा गए हुए हैं उच्च शिक्षा के लिए।

अनजान—पारिवारिक विवरण के बाद अब मैं आपके काव्य की आरम्भिक प्रेरणाओं के बारे में कुछ जानना चाहता हूं। कविता लिखने का कोई न कोई कारण होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं आपकी क्या प्रतिक्रिया है इसके बारे में?

भारतीनन्दन —हो सकता है कि बाल्मीकि के क्रौंच वध पर रचे श्लोक की तरह कुछ विशेष घटनाएं व कुछ विशेष कारण कवि बनने के होते हों लेकिन मैं तो यह मानता हूं कि अपने व्यक्तिगत जीवन

की किसी विषमता के कारण व्यक्ति अंतर्मुखी हो जाता है फिर अभिव्यक्ति के लिए वह कवि या साहित्य-कार बन जाता है। मेरा अब विश्वास हो चला है कि माता की मृत्यु, वह भी शैशव काल में, मेरे अंतर्मुखी होने का कारण बनी, वही मेरे दार्शनिक होने का और वही मेरे कवि बनने का भी कारण बनी। इस काव्य प्रेरणा के बारे में एक विशेष सूचना मैं आपको दे दूं कि आरम्भिक प्रेरणा उस समय के नगर के वातावरण में और विद्यालयों के वातावरण से मिली। हमारे स्कूल के अध्यापक बहुत कम शिक्षा पाए हुए थे पर सब कवि थे। वे कविता बनाकर इतिहास व भूगोल पढ़ाया करते थे और अच्छी कविताएं करते थे ब्रजभाषा में। उधर नगर में कवि सम्मेलनों और समस्या पूर्ति की प्रथा थी और विभिन्न अवसरों पर कभी रामनवमी दशहरा आदि पर कवि सम्मेलन नगर में हुआ करते थे। कुछ शहर के ब्रजभाषा में कविता करने वाले कवि और कुछ अध्यापक लोग कविताएं किया करते थे। उनसे ही मुझे सहज रूप में कविता करने की प्रेरणा मिली और मैं भी समस्या पूर्तियां करता रहा और ब्रजभाषा में कविता करता रहा। उसी क्रम में फिर खड़ी बोली में कविता करने लग गया। पर कोई विशेष प्रेरणा या घटना पहले भी नहीं रही और बाद में भी नहीं रही।

डॉ० पाठक —आपको कोई पुरानी कविता याद है, सुनाएंगे।

भारतीनन्दन —बहुत पुरानी कविताएं हैं। इसलिए याद तो मुझे नहीं होंगे वे कवित्त या सवैया या छन्द। एक बात और इस प्रसंग में कह दूं कि अधिक पढ़ने या फिर अधिक लिखने के कारण मुझे अपनी कविताओं को पढ़ने और याद रखने का अवसर नहीं मिला और सुनाने की भी मेरी रुचि कभी नहीं रही। वैसे मुझे अपनी कविताएं याद नहीं हैं क्योंकि मैं उनको पढ़ नहीं पाया हूं, दुबारा देख नहीं पाया हूं क्योंकि वे परिमाण में अधिक हैं।

अनजान —मैं डॉ० पाठक के प्रश्न को फिर से दोहराना चाहता हूं कि आपका नियमित लेखन कब से हुआ है और आपने कौन-कौन से ग्रंथों की रचना की है?

भारतीनन्दन —प्रयाग में जब मैं विद्यार्थी रहा तब भी ग्रीष्मावकाश में मैं काव्य रचना किया करता था और छायावादी काव्य के प्रभाव में मैंने छायावादी काव्य लिखे हैं। प्रतिवर्ष एक काव्य मैं लिखा करता था। दर्शन का अध्ययन व अध्यापन करने से कविता लेखन की प्रक्रिया मंद हो गई। घटना का कारण तो मुझे मालूम नहीं है। पार्वती महाकाव्य की रचना कुछ इस तरह से हुई कि मुझे भान भी नहीं था कि मैं अब कोई कविता लिखूंगा। पार्वती महाकाव्य से ही साहित्य रचना का मुख्य आरम्भ कम-से-कम प्रौढ़ रूप में, मैं मानता हूं।

डॉ० पाठक —पार्वती महाकाव्य के अतिरिक्त और कौन कौन से काव्य आपने लिखे हैं?

भारतीनन्दन —पार्वती महाकाव्य की रचना के पश्चात् मेरा विचार राम और कृष्ण कथाओं को भी उसी रूप में लिखने का था, लेकिन हिन्दी के इस अकेले शिव काव्य की ओर हिन्दी के अधिकारियों ने कुछ ऐसा ध्यान नहीं दिया कि मुझे उत्साह मिलता, तो फिर मैं काव्य से विरक्त हो गया और आलोचनात्मक गद्य लेखन की ओर प्रवृत्त हुआ और सत्यं शिवं सुन्दरम् पर मैंने एक विशाल आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा है। फिर कुछ सांस्कृतिक व्याख्याएं लिखीं। बहुत दिन के बाद मेरी पत्नी ने मुझे इसके लिए प्रेरित किया या यों कहूं कि विवश ही किया कि मुझे पार्वती महाकाव्य के अतिरिक्त कुछ काव्य अवश्य लिखना चाहिए, क्योंकि पुत्र का और काव्य का अकेले रहना ठीक नहीं है। महाकाव्य लिखने के लिए तो बहुत

समय चाहिए था मैं बहुत विषयों पर काव्य लिखना चाहता था और यदि पार्वती महाकाव्य और खण्ड-काव्यों के बीच के अंतराल का उपयोग काव्य लिखने में हुआ होता तो मैं कई महाकाव्य लिख सकता था। मैंने समय की कमी का अनुभव करके उन्हीं कथानकों को खण्डकाव्यों के रूप में लिख दिया। दस बारह खण्डकाव्य मैंने थोड़े ही वर्षों में भरतपुर के अध्यापन काल में लिखे।

अनजान — क्या आपका लेखन कार्य अध्यापन के साथ-साथ ही होता रहा है ?

भारतीनन्दन —अध्यापन के साथ-साथ ही होता रहा है क्योंकि अध्यापन तो जीविका का साधन था, अनिवार्य था और काव्य लिखना मैंने अनिवार्य बना लिया था।

अनजान — यह अध्यापक व कवि की संगति —?

भारतीनन्दन —जी हां बहुत कठिन है क्योंकि अध्यापक पढ़े-पढ़ाए को दुहराता है और कवि नया रचता है। यह एक विरोधाभास है, मैं इसी विरोधाभास में जीता रहा हूं और जैसा भी बन पड़ा है लिखता रहा हूं।

डॉ० पाठक—काव्यों के आपने विषय क्या रखे हैं ?

भारतीनन्दन — मेरे काव्यों के दो विषय हैं स्त्री-काव्य और पुरुष-काव्य। छः सात स्त्री काव्य हैं व चार पांच पुरुष काव्य है। कुछ पौराणिक कथाओं को लेकर मैंने उन्हें रचा है।

अनजान —आप मौलिक चिन्तन और अध्यापन की भूमिका बड़ी सफलता से निभाते रहे हैं क्योंकि दोनों ही पक्षों की मेरी व्यक्तिगत जानकारी है। क्या आप इस विषय पर कुछ प्रकाश डालेंगे कि आप यह समन्वय किस तरह से कर सके ?

भारतीनन्दन —सफलता तो कितनी मिली है यह मैं नहीं जानता। आप ही लोग उसका मूल्यांकन करेंगे। लेकिन मैं प्रयत्न करता रहा और यह प्रयत्न कुछ जान कर नहीं करता रहा बल्कि एक आकांक्षा के रूप में करता रहा। मेरी यह आकांक्षा रही कि मैं अध्यापक के रूप में सफल हूं। यदि मैं कुछ भी नहीं लिखता तो भी राजस्थान में मेरी अध्यापक के रूप में बहुत प्रतिष्ठा होती। यह कैसे संभव हो सका यह एक बड़ा गूढ़ प्रश्न है। यह दो प्रकारों से संभव हो सका जहां तक मैं समझता हूं। अध्यापन भी एक ऐसा कार्य है जहां पूर्ण मौलिकता न भी हो क्योंकि अध्यापक तो पुरानी विद्या को अपने छात्रों को पढ़ाता है फिर भी उसकी शैली में उसकी प्रणाली में उसकी व्याख्या में कुछ नवीनता हो सकती है। लेकिन एक बिन्दु जिस पर कि अध्यापक और एक कवि एक हो सकते हैं, यदि वे ईमानदार हों, वह यह है कि विद्या के प्रति समर्पण अध्यापक के लिए आवश्यक है और साहित्य के प्रति समर्पण कवि के लिए आवश्यक है। सरस्वती का भक्त होना कवि के लिए भी आवश्यक है और अध्यापक के लिए भी क्योंकि दोनों में ज्ञान प्रधान है। लेकिन तभी यह संभव है कि जब यह दोनों ही व्यक्तिगत अहम् को त्याग कर जिएं। तो जाने या अनजाने, अनजाने इसलिए क्योंकि पहले मैं इन बातों को ज्यादा नहीं समझता था अब अधिक समझता हूं। लेकिन संभव वह इसी प्रकार हुआ क्यों कि मेरी सदा से समर्पण की वृत्ति रही। यह भी कह सकता हूं कि अनाथ होने के कारण मुझे अपने अस्तित्व का कोई बोध नहीं रहा, मोह नहीं रहा। अध्यापक की दृष्टि से मैंने विद्या को अपने को समर्पित कर दिया और रचना लेखन की वृत्ति ही पाई थी और रचना के लिए साहित्य को अपने को समर्पित कर दिया। इसलिए ये दोनों समानांतर क्रम मेरे लिए संभव हो सके।

अनजान—डॉ० साहब जैसे कि काव्य के लिए प्रेरणा की बात हुई, उसी तरह से पृष्ठभूमि भी अपना

महत्व रखती है। आपने पारिवारिक जीवन को किस तरह से अपने रचना जीवन के लिए उपयुक्त पाया ? कोई सहयोग या विरोध रहा हो तो बताइए ?

भारतीनन्दन—विरोध तो कोई नहीं रहा क्योंकि मेरा छोटा-सा परिवार था घर में मैं मेरी पत्नी और छोटे-छोटे बच्चों के अतिरिक्त कोई नहीं था। पत्नी विरोध का शब्द नहीं जानती, किसी बात में किसी तरह का विरोध उन्होंने नहीं किया। मैं लेखन को समय भी बहुत देता रहा। कुछ छपाने आदि पर व्यय भी बहुत किया पर पत्नी ने कभी विरोध नहीं किया। सहयोग उनका व्यावहारिक रूप में बहुत रहा। मेरी रचनाओं का जो विषय तत्व है वह भारतीय संस्कृति की परम्परा है। मेरी पत्नी और उनके माता-पिता के पारिवारिक जीवन की जो परम्परा है वह वैसी ही है। उससे मुझे बहुत संकेत मिले। ये मुख्य बिन्दु जिनमें कि मेरी पत्नी का और उनके परिवार का योग और प्रेरणा, प्रेरणा इस रूप में कि मेरा अनुभव बहुत सीमित रहा और जो घर में और सम्बन्धों में जो देखता रहा उसे ही आदर्शों के रूप में ग्रहण किया। मैंने पारिवारिक जीवन का, पारिवारिक आदर्शों का सांस्कृतिक मान्यताओं का, माता का रूप, पत्नी का रूप, पुत्री का रूप जो कि मैंने जिस रूप में अपने काव्य में अंकित किया है उसका साक्षात संबंध मेरी पत्नी और मेरी पत्नी की माता के शील और व्यवहार से है। उन्हीं को देख करके, उनके व्यवहार चरित्र और आदर्शों का अनुशीलन करके उन सबका वर्णन किया है और ये वर्णन एक तरह से भारतीय संस्कृति के आदर्शों का वर्णन है। दूसरी प्रकार से वह एकदम पारिवारिक वर्णन प्रतीत हो सकता है किसी भी जानकार आदमी के लिए।

अनजान—यह तो सहयोग से बढ़कर है।

भारतीनन्दन—सहयोग तो बहुत ऊपरी व व्यावहारिक चीज है जो कहीं भी मिल सकता है मैंने कहा न यह तो सहयोग से बढ़कर है तो यह जो काव्य की सामग्री है काव्यों के आदर्श ये सब सीधे मुझे इन लोगों से प्राप्त हुए हैं। क्योंकि संस्कृति की परम्परा से तो ये अप्रत्यक्ष रूप में प्राप्त होते हैं। उनकी प्रेरणा उन प्राचीन इतिहासों से हमको नहीं मिल सकती।

अनजान—आइये अब कुछ लेखन के आर्थिक पक्ष पर भी चर्चा कर लें, कृपया यह बताएं कि आपकी रचनाओं का प्रकाशन कैसे हुआ ?

भारतीनन्दन—देखिये मैं अर्थ के सम्बन्ध में अपना दार्शनिक सिद्धांत आपको स्पष्ट कर दूं। अर्थ शब्द संस्कृत का एक बहुत रहस्यमय शब्द है। अर्थ के माने धन के भी हैं अर्थ के माने वस्तु के भी हैं। अर्थ के माने जो कविता, लेखन या छन्द का जो तात्पर्य है। मैं दर्शन का विद्यार्थी हूं इस नाते मैं आपको बता दूं शिव और परमात्मा को भी अर्थ यानी परमार्थ कहा जाता है। तो इसलिए मेरे लिए धन के अर्थ में अर्थ बहुत तुच्छ रहा। उसकी ओर मेरा ध्यान कम रहा। इतना अधिक नहीं पाया कि सुविधापूर्वक लिख सकूं और जीवन व्यतीत कर सकूं और इतना कम भी नहीं रहा कि मैं निर्वाह न कर सकूं। अतः अधिक उपार्जन की ओर ध्यान नहीं दिया। व्यय की ओर भी ध्यान नहीं दिया जबकि व्यय कुछ प्रकाशन आदि के कारण अधिक ही रहा। अतः उसकी भी मैंने चिन्ता नहीं की। धन का मेरे पास सिवा लेखन के और कोई साधन नहीं था। लेकिन उसी में ऋण भार बढ़ा करके मैंने पुस्तकों का प्रकाशन किया क्योंकि पुस्तकें ऐसी हैं कि कोई प्रकाशक उन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं था और संख्या भी इतनी अधिक है कि कम-से-कम संतोष के लिए दो-चार पुस्तकों का प्रकाशन भी आवश्यक था। वे पुस्तकें बहुत बड़ी थीं उनमें भी बहुत

धन व्यय हुआ। तो किसी प्रकार का अर्थ लाभ जीवन में मेरा उद्देश्य नहीं रहा। तो भी बिना उद्देश्य बनाए तो जीवन में कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। उद्देश्य बना करके भी प्राप्त करना कठिन है। भारतवर्ष का जो अर्थशास्त्र है वह अनर्थ शास्त्र है कि सीधे सच्चे रास्ते से किसी को उचित धन प्राप्त नहीं हो सकता। गलत तरीकों से ही प्राप्त हो सकता है। दार्शनिक कठिनाई है कि अनर्थ से धन प्राप्त किया जा सकता है किन्तु अनर्थ से कोई साहित्यिक रचना करके नहीं दिखा सकता, कोई ज्ञान प्राप्त करके नहीं दिखा सकता या कोई वैज्ञानिक या दार्शनिक खोज करके नहीं दिखा सकता, चाहे और कुछ भले ही कर ले। अतः हमें कोई भी उपलब्धि तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि हमारा अर्थशास्त्र ठीक नहीं है। अतः व्यक्तिगत जीवन में मैंने उससे दूर रहना ही ठीक समझा। इसलिए मैं अर्थ से उतना ही डरता हूं जितना कि लोग अर्थ से आकर्षित होते हैं। मैंने एक लेख एक 'संस्कृति' नाम की भारत सरकार की पत्रिका है उसमें भेजा। संस्कृति के ही ऊपर वह लेख था। उन्होंने एक अच्छी राशि पुरस्कार में भेजी। मैं उससे इतना डर गया कि उसके बाद मैंने उसमें कोई लेख नहीं भेजा और जहां कहीं से भी मुझको धन मिलता है तो उससे मुझे आतंक सा लगता है और उसके लिए मैं बहुत कम प्रयत्न करता हूं। आर्थिक आवश्यकता और विवशता से मैंने कुछ प्रयत्न किए हैं। प्रकाशकों से कोई धन मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता है। बल्कि मेरी तो हानि हुई है। हजारों रुपया इस थोड़े से वेतन में से पुस्तकों पर प्रकाशनार्थ व्यय हुआ है और स्वयं प्रकाशन करने के बाद पुस्तकों से कोई लाभ नहीं हो सकता। वितरण की व्यवस्था नहीं हो सकती।

डॉ० पाठक—डा० साहब आपने तो अनेक साहित्यिक रचनाएं की हैं अनेक साहित्यकारों से भी मिलते रहे हैं। हिन्दी के साहित्यकारों में आपके प्रिय साहित्यकार कौन-कौन से रहे?

भारतीनन्दन—ऐसा है कि साहित्यकार तो बहुत से रहे, उनके बारे में मैं बता भी सकता हूं पर उनसे मेरा कोई सम्पर्क, सम्बन्ध या परिचय नहीं रहा। या यों कहिए मेरी उदासीनता रही या जीवन के प्रति खिन्नता रही। दुर्भाग्य भी कह सकते हैं कि जो साहित्यकार मेरे समय में जीवित थे उनके भी मैंने दर्शन नहीं किये। मिलना या बात करना या उनसे कोई लाभ उठाना तो दूर रहा। प्रयाग में रहा जहां सुमित्रानन्दन पन्त रहते थे। नरेन्द्र शर्मा जो उनके मित्र व सहयोगी थे रहते थे। प्रसाद और प्रेमचन्द जी जब मैं बी० ए० में था जीवित थे और काशी में रहते थे। उन लोगों से भी मैं कभी न तो मिला और न उनका परिचय ही प्राप्त किया। साहित्यकारों से मेरा केवल एक बार साक्षात्कार हुआ है। पार्वती महाकाव्य का प्रकाशन कुछ विलम्ब से हुआ। सन ५५ में वह प्रकाशित हुआ था। सन ५६ में मुझे डालमिया पुरस्कार मिला। सरकारी पुरस्कार तो सरकारी तरीके से मिल जाते हैं। वह व्यक्तिगत पुरस्कार था। समारोह किया मुझे वहां बुलाया। साहित्यकारों को भी बुलाया। उस अवसर पर डालमिया जी के डालमिया भवन पर उनकी पत्नी श्रीमती सरस्वती देवी की कृपा से मैथिलीशरण जी गुप्त, दिनकर जी, बच्चन जी, नरेन्द्र शर्मा और भी कुछ लोग रहे होंगे। उनका मुझे दर्शन व साक्षात्कार हुआ। वहां कुछ महत्वपूर्ण बात नहीं हुई। वैसे सामान्य रूप से मैं एक असामाजिक प्राणी हूं। कम ही लोगों से मेरा मिलना-जुलना, सम्बन्ध और सम्पर्क है। बहुत ही कम।

डॉ० पाठक—किसी साहित्यिक संस्था से आप कभी सम्बद्ध रहे हैं?

भारतीनन्दन—मैं तो एक असम्बद्ध प्राणी हूं। संस्थाओं से भी मेरा सम्बन्ध नहीं रहा। न तो मैं किसी का सदस्य हूं। न सम्मेलन का, न नागरी प्रचारिणी सभा का। यहां भरतपुर में एक हिन्दी साहित्य

समिति है मैं उसका भी सदस्य नहीं हूं। कोई उनके यहां उत्सव होता है तो वे बुला लेते हैं तो मैं चला जाता हूं।

अनजान—आपके कुछ मित्र व छात्र उल्लेख के योग्य रहे हों तो।

भारतीनन्दन—संख्या में तो थोड़े ही हैं पर कुछ मित्र व छात्र अवश्य हैं जिनका मुझसे व मेरे परिवार से व्यक्तिगत रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मेरी साहित्य साधना व रचना से तो उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि मेरी रचना वृत्ति कुछ गुप्त प्रकार की है। वैसे तो मैं अन्य प्रकार से तो एक स्पष्ट, सरल व प्रकट आदमी हूं पर विचार व रचना की दृष्टि से मैं गुप्त हूं। मेरी पत्नी के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसका कि मेरी रचना से जानकारी का भी सम्बन्ध हो। कब मैंने क्या लिखा उसकी किसी को जानकारी नहीं थी न है।

अनजान—शायद यही कारण था कि जब पार्वती महाकाव्य प्रकाशित हुआ तो साहित्य जगत में एक आश्चर्यजनक खलबली इस प्रकार की फैल गई कि पार्वती महाकाव्य को लिखने वाले कवि पहली बार में ही महाकवि के रूप में अवतरित हुए हैं।

भारतीनन्दन—हां कुछ लोगों को ऐसा अनुभव हुआ बहुत अधिक लोगों को नहीं। यह संवेदनशीलता हमारे भारतीय समाज में कम है। ऐसा होना चाहिए। हिन्दी में कोई महत्वपूर्ण शिव-काव्य नहीं है। लेकिन अतिशयोक्ति नहीं मेरा ऐसा कहना कि पार्वती काफी अच्छे स्तर का एक अकेला शिव काव्य है और लोगों ने इसका उचित स्वागत नहीं किया। फिर भी मैं एक अनजान साहित्यकार था क्योंकि उससे पहले मेरी कोई भी रचना किसी पत्रिका तक में प्रकाशित नहीं हुई थी। कोई मेरे नाम को नहीं जानता था मैं केवल राजस्थान में अध्यापक था। पार्वती की रचना भी गुप्त रूप से हुई। मेरी पत्नी के अतिरिक्त जिन दो वर्षों के पर्यन्त उसकी रचना हुई किसी को भी इसका आभास नहीं था कि मैं कविता लिखता हूं या कोई काव्य लिख रहा हूं और एक संयोग की बात ही समझिए कि तब अनजान जी कोटा में मेरे विद्यार्थी थे। मैंने तो विद्यार्थी के नाते ही पार्वती छपाने के प्रसंग में ही उनकी सहायता चाही थी लेकिन यह संयोग मेरा व उनका दोनों का ही सौभाग्य है कि पार्वती के अस्तित्व को जानने वाले, मेरी पत्नी के बाद दूसरे व्यक्ति हैं। मुझको शामिल करके वे तीसरे व्यक्ति हैं। अनजान जी भी जिस समय प्रेस गए थे मेरे साथ तो मेरे पास उस समय पार्वती के कुछ आरम्भिक पृष्ठ थे जो मैं प्रेस में देने गया था। क्योंकि मैं अनजान जी का दर्शन का अध्यापक था वे यही समझते रहे कि कोई दर्शन की पुस्तक होगी। लेकिन जब वह पुस्तक छपने लगी तो उसके प्रूफ देखने के प्रसंग में इन्हें यह मालूम हुआ कि यह कोई दर्शन की पुस्तक नहीं काव्य है। तो प्रश्न की दृष्टि से मेरे साहित्यिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले न कोई मेरे मित्र हैं, न कोई सम्बन्धी हैं, न कोई विद्यार्थी। मेरा स्वभाव भी कुछ गोपनशील रहा या यों कहिए कि अभिव्यक्तिशील नहीं रहा। सारी अभिव्यक्ति जीवन से सिमट कर रचना में केन्द्रित हो गई।

डॉ० पाठक—आपके अधीन कुछ विद्यार्थियों ने रिसर्च वर्क भी किया होगा कुछ उसका उल्लेख भी करें।

भारतीनन्दन—मैं एक डिग्री कालेज में अध्यापक रहा। डिग्री कालेज के विद्यार्थी दर्शन पढ़ते थे लेकिन शोधकार्य नहीं करते थे। पिछले दिनों भरतपुर में स्नातकोत्तर कक्षाओं से मेरा सम्बन्ध रहा तो कुछ विद्यार्थी शोध के लिए मेरे पास आए। दर्शन के ही विद्यार्थी वैधानिक दृष्टि से मेरे अधीन

शोध कर सकते हैं। वैसे हिन्दी के कई शोध कर्ताओं से मेरा अवैधानिक सम्बन्ध शोध की दृष्टि से रहा। वे मुझे हिन्दी का लेखक हिन्दी का कवि मानकर परामर्श के लिए मेरे पास आते रहे। अनेक लोगों को मैंने विषय बताए और उनकी रूपरेखाएँ बनवाईं जिनको कि अहंकार व दंभ के कारण वे आज स्वीकार नहीं करना चाहते। यों शोध मेरी रुचि रही है पर मैंने बहुत कम विद्यार्थियों को शोध कराया है क्योंकि दर्शन के विद्यार्थी शोध कम करते हैं।

डॉ० पाठक —डॉ० साहब आपने अभी अपने काव्य ग्रंथों के बारे में तो बताया, क्या अब कुछ आलोचना और संस्कृति सम्बन्धी ग्रंथों के बारे में बताने का कष्ट करेंगे।

अनजान —दूसरे शब्दों में यों कहिए कि हम आपकी रचना के अन्य क्षेत्रों के बारे में जानना चाहते हैं।

भारतीनन्दन —ऐसा है कि मूल रूप में तो मेरी रुचि काव्य में ही थी। छोटी अवस्था से अपने अध्यापकों की प्रेरणा से मैं कविता ही करता रहा। प्रयाग विश्वविद्यालय में शोध ग्रंथ लिखने से पहले मैंने कभी काव्य के अतिरिक्त कुछ नहीं लिखा और बाद में भी पार्वती महाकाव्य लिखा। यदि पार्वती महाकाव्य को उचित सम्मान मिला होता तो आज जो मैंने कोई भी काव्येतर रचनाएं की हैं वे आपको नहीं मिलतीं। मैं काव्य-ही-काव्य लिखता रहता। लेकिन पार्वती महाकाव्य की हिन्दी के अधिकारियों ने जो उपेक्षा की उसने मुझे काव्य से विरत किया और कुछ आलोचनाएं कीं एक सज्जन ने तो पार्वती के बारे में यह भी लिखा कि पार्वती में कवित्व कम है और यह एक गद्य है। तो विशाल गद्य का जो शब्द प्रयोग किया हिन्दी के एक अधिकारी आलोचक ने तो मुझे इस बात के लिए प्रेरित किया कि आखिर काव्य क्या है, काव्य का रूप क्या है तो सत्यं, शिवं, सुन्दरम् में मैंने बहुत गम्भीरता के साथ काव्य का स्वरूप काव्य के साथ मूल्यों के सम्बन्ध काव्य के सौन्दर्य का विवेचन किया है और आगे भी कुछ ग्रंथों में किया है। इस प्रकार काव्य से हटकर मैं आलोचना और समीक्षा के क्षेत्र में आ गया। दर्शन का विद्यार्थी था अतः कुछ दार्शनिक रुचि तो थी ही। साहित्य की आलोचना करते-करते संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ विचार आए। संस्कृति के सम्बन्ध में भी मैंने रचनाएं कीं संस्कृति के सम्बन्ध में विचार करते-करते मैं शब्दों पर पहुंच गया। और भाषा पर विचार किया तो पिछले कुछ दिनों में भाषा विज्ञान के सम्बन्ध में रचनाएं कीं। यों काव्य, साहित्य, आलोचना, संस्कृति और दर्शन, भाषा विज्ञान इन विभिन्न क्षेत्रों में मैं भटकता रहा। मैं यही कहूंगा क्योंकि मैं लग कर किसी क्षेत्र में काम नहीं कर सका पर इन सभी क्षेत्रों में मेरी रचनाएं हैं।

डॉ० पाठक – आपकी संस्कृति सम्बन्धी रचनाएं हैं वे सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित हैं या भारत की किसी क्षेत्रीय संस्कृति से।

भारतीनन्दन —सामान्य भारतीय संस्कृति और संस्कृति का सामान्य स्वरूप बस संस्कृति के ये दो ही क्षेत्र हैं जिनमें कि मेरी रुचि है कि संस्कृति है क्या, संस्कृति का स्वरूप क्या है, संस्कृति के सिद्धान्त क्या हैं किसी विशेष संस्कृति से नहीं अपितु संस्कृति में ही मेरी रुचि रही है जैसे कि हमारे पर्व आदि।

अनजान —दर्शन के क्षेत्र में भी क्या आपकी यही आस्था है अर्थात आपको सभी भारतीय दर्शनों में रुचि रही है।

भारतीनन्दन —दर्शन के क्षेत्र में भी यही रहा अर्थात सामान्य रुचि भारतीय दर्शन में रही पर सभी दर्शनों में नहीं रही क्योंकि सभी में मेरा न तो अध्ययन रहा न लेखन रहा। भारतीय दर्शनों में वेदान्त मेरा प्रिय विषय रहा। किन्हीं कारणों से वेदान्त में ही मेरी विशेष रुचि रही। वेदान्त पर मैंने काम भी किया

है। अब अवकाश प्राप्त करने के बाद मैंने गीता और उपनिषद् के सम्बन्ध में कार्य किया है।

डॉ० पाठक —भाषा—शास्त्र के बारे में आपने कई ग्रंथ लिखे हैं इस बारे में आपने पाश्चात्य सिद्धान्त को माना है या अमेरिका का ये जो नया सिद्धान्त है उसे माना है।

भारतीनन्दन —भाषा शास्त्र का जो विदित सिद्धान्त है जिसके अनुसार यूरोपीय और भारतीय भाषाओं को एक परिवार का माना गया है उसको मैं नहीं मानता। लेकिन किसी चीज को मानने या न मानने का निर्णय आप स्वयं अपने आवेग से नहीं कर सकते उसके लिए तर्क और प्रमाण भी चाहिए। उसके सम्बन्ध में मेरा जो तर्क है वह वर्ण-विषय पर आश्रित है कि भाषा की मूल इकाई वर्ण है। वर्ण की इकाई को अलग नहीं किया जा सकता। लिखित को तो भाषा नहीं कहते। भाषण को भाषा कहते हैं। मूल रूप में भाषा शब्द का अर्थ भी यही है जो भाषण से बनी है तो उस इकाई को अलग नहीं कर सकते क्योंकि मौखिक रूप में भाषा एक प्रवाह है। मौखिक रूप में जो भाषा का प्रभाव होता है वह संश्लिष्ट होता है और संश्लिष्टता का यह प्रभाव यूरोप की सभी भाषाओं में दिखाई देता है। फ्रेंच में तो यह सबसे ज्यादा है। फ्रेंच के चार-छह शब्द सुनाई देंगे एक ही ध्वनि प्रवाह में। अंग्रेजी और जर्मनी भाषाओं में भी यही है। उनमें वर्ण का तो कहीं ठिकाना ही नहीं है और है तो अंग्रेजी में सेलेबल कहते हैं जो वर्ण तो नहीं है। कई वर्णों की ध्वनियों से मिलकर बनती है वह तो एक स्वर ध्वनि है। सिलेबल भी अलग-अलग किया जा सकता है पर उच्चारण में अलग नहीं किया जा सकता। यूरोप की ये सब भाषाएं धारा प्रवाह बोली जाती हैं।

डॉ० पाठक —लेकिन आज यह सिद्धान्त है कि भाषा संश्लिष्टता से विश्लिष्टता की ओर जाती है। हमारी हिन्दी आज विश्लिष्टता की अवस्था में है।

भारतीनन्दन —देखिए आप जिस संश्लिष्टता और विश्लिष्टता की बातें करते हैं वह तो विभक्तियों का होता है। संस्कृत की विभक्तियां शब्दों में जुड़ी होती हैं जिसको कि आपके भाषा विज्ञान में संश्लेष और विश्लेष कहा जाता है। मैं जिस संश्लेष और विश्लेष की बात कर रहा हूं वह व्याकरण व विभक्तियों का संश्लेष-विश्लेष नहीं है। यह उच्चारण का संश्लेष-विश्लेष है। इसमें वर्णों का विश्लेषण है या नहीं? बाकी यूरोपीय भाषाओं में ऐसा नहीं है वहां सभी वर्ण ध्वनियां मिली रहती हैं। लेकिन वैदिक संस्कृत की भाषा विशेष रूप से ऐसी भाषा है जिसमें कि विश्लेषण अधिक है। उसको संश्लिष्ट भाषा कहा जाता है। व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत भाषा सबसे अधिक संश्लिष्ट भाषा है आप किसी भी वैदिक मंत्र को बोलिए उसका उच्चारण अलग-अलग कर के बोलेंगे और प्राचीन काल में उन्होंने अलग-अलग लिखकर भी ऐसा ही रखा है। तो इस सिद्धान्त के आधार पर मैंने संस्कृत का पारिवारिक सम्बन्ध यूरोपीय परिवार की भाषा से नहीं माना है। कुछ मातृ, पितृ, भ्रातृ शब्दों को मदर, फादर, मेटर, पेटर, ब्रदर ये मिलने की वजह से, ये लोग एक परिवार की भाषा मानते हैं। भाषा शब्द नहीं है, भाषा अर्थ नहीं है, भाषा व्याकरण नहीं है, भाषा तो ध्वनि है और उस ध्वनि सिद्धान्त की दृष्टि से संस्कृत का यूरोपीय भाषाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो संस्कृत को उससे अलग मानता हूं और यह मानता हूं कि संस्कृत मूलरूप में भारत की भाषा है। उन भाषाओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है जहां कि कोई भी ऐसी भाषा पैदा नहीं हो सकी कि जिसकी ध्वनियां अलग-अलग हों। तो वहां संस्कृत की या जिसको कि उसकी माता भाषा कहते हैं वह कैसे पैदा हो सकती है। जलवायु का, वातावरण का, संस्कृति का जो सम्बन्ध है उसका मैंने गंभीरता से विश्लेषण किया है। इस प्रकार मेरा जो भाषा विज्ञान का चिन्तन है वह आपके मूल

भाषा विज्ञान के चिन्तन से अलग है और उसमें मेरी कोई अधिक रुचि भी नहीं है मैंने तो सिर्फ भाषा के मूल का अध्ययन और विचार किया है जैसे कि संस्कृति के बारे में अध्ययन किया है जैसे भाषा क्या चीज है और संस्कृत और दूसरी भाषाओं में क्या अन्तर है ?

डॉ० पाठक –तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आप के विचार ध्वन्यात्मक प्रणाली पर आधारित हैं।

भारतीनन्दन हां, phonetically Sanskrit is analytical and the European languages are phonetically synthetical उनमें ध्वनियां मिली रहती हैं।

अर्चना —अब मैं आपकी रचना प्रणाली के बारे में कुछ जानकारी चाहती हूं।

भारतीनन्दन —लेखक की रचना प्रणाली को या तो लेखक जानता है या उसके घर वाले जान सकते हैं। इस प्रकार मेरी पत्नी और मेरे बच्चे जो घर में रहते हैं वह मेरी रचना प्रणाली को बाहर से देख सकते हैं। लेकिन उस प्रणाली का आन्तरिक मर्म वे भी नहीं जानते। बाहरी दृष्टि से मेरी रचना प्रणाली मौखिक प्रणाली है। मौखिक का तात्पर्य ये है कि मैं अपने हाथ से कम लिखता हूं बोलकर लिखवाता अधिक हूं। जितना भी मैंने स्वयं लिखा है उसके लिए भी मुझे अगर सुविधा और साधन उपलब्ध होते तो वह भी मैं नहीं लिखता। अभिप्राय यह है कि गद्य में हिन्दी में मेरी जितनी भी पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें से कोई सी भी मैंने स्वयं नहीं लिखी। किसी लेखक को बुलाकर, सामान्यतया अपने अच्छे हिन्दी के विद्यार्थियों को बुलाकर, उसको उचित पारिश्रमिक देकर, समय बांधकर मैंने हिन्दी का सारा लेखन किया है। इसी तरह का मैं अंग्रेजी का लेखन भी चाहता था पर उसके लिए आज के विद्यार्थी इतने योग्य नहीं हैं। एक अंग्रेजी की पुस्तक मेरे छोटे पुत्र प्रमोद ने लिखी है। वह पुस्तक बड़ी पुस्तक है पांच सौ, छः सौ पृष्ठों की पर अधिकांशतः अंग्रेजी की पुस्तकें मैंने अपने आप लिखी हैं। वृत्ति मेरी हाथ से लिखने की नहीं है मुख से बोल कर लिखाने की है। कविता जो भी है वह सब मैंने हाथ से लिखी है। मैं नहीं जानता कि कविता मौखिक लिखी जा सकती है या नहीं। अगर कोई ऐसा सहयोगी मिलता, गृह कार्य से यदि मेरी पत्नी को अवकाश मिलता और उनकी कविता लिखने में रुचि होती तो इसकी परीक्षा हो सकती थी कि कविता भी मौखिक लिखी जा सकती है या नहीं। यह मेरी प्रणाली का बाह्य रूप है। यह तो बाह्य प्रक्रिया की बात हुई कि मैं हाथ से ज्यादा नहीं लिखता हूं न पसन्द करता हूं। आन्तरिक प्रणाली का संबंध अध्ययन, चिंतन, मनन, टिप्पणियां, नोट्स, तैयारी से है। लोग सामग्री सामने रख कर लिखते हैं। यही आन्तरिक प्रक्रिया है जहां तक मेरा अनुमान है। मेरी आन्तरिक प्रक्रिया बाह्य प्रक्रिया की तरह से ही सरल है। ये दोनों प्रक्रियाएं मिल करके एक हो जाती हैं। जिस प्रकार से मैं लिखने के लिए कोई तैयारी नहीं करता। अध्ययन मेरा बहुत कम है। अध्ययन और विचार मैं बहुत कम करता हूं। लिखने से पहले लिखने के समय ही मेरे मन में जो विचार उठते हैं या अवचेतन में रहते हैं उन्हें मैं सरल रूप में लिखाता चला जाता हूं। कोई भी तैयारी अध्ययन के रूप में टिप्पणियां लेने के रूप में मैं नहीं करता। यों कहना चाहिए कि मेरी कोई प्रक्रिया नहीं है या एक सहज प्रक्रिया है कि मुंह से जो निकलता जाता है बस वही रचना बनती जाती है। लेखक है तो मुझे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है और अगर लेखक नहीं है तो जो मन में आता है उसे मैं लिखता जाता हूं। एक प्रक्रिया हीन सा लेखन है मेरा सारा। बड़े-से-बड़े ग्रन्थ और कठिन-से-कठिन ग्रंथ जिन्हें देखकर कि लोगों को अनुमान हो कि वे न जाने कितनी तैयारी के बाद

लिखे गए होंगे उनके पीछे भी कोई तैयारी नहीं।

श्री चौधरी —डॉ० साहब आपकी किन-किन रचनाओं को पुरस्कार मिले हैं।

भारतीनन्दन —कई रचनाओं को पुरस्कार मिले हैं। हिन्दी में पुरस्कार बहुत बंटते हैं। काफी पुरस्कारों की प्रथा है और चर्चा है। कुछ आर्थिक आवश्यकता और कुछ संयोग के कारण कुछ पुरस्कारों का दान मुझे भी लेना पड़ा। किसी प्रकार का प्रयत्न मैंने नहीं किया पर यूं ही कभी सहज रूप में अखबार से सूचना मिल गई तो पुस्तक भेज दी। पहले डालमिया पुरस्कार 'पार्वती पर मिला था। भारत सरकार भी साहित्य पर पुरस्कार देती थी वह भी मुझे पार्वती पर मिला था। उत्तर प्रदेश की सरकार भी कई पुरस्कार देती है वह भी मुझे दर्शन के ग्रंथों पर और कई पुस्तकों पर मिले। राजस्थान की साहित्य अकादमी भी साहित्यिक पुरस्कार देती है वह भी सरकारी है। सरकारी रूप से हस्तलिखित पुस्तकों पर पुरस्कार देती है। उनके यहां भी मैंने कुछ हस्तलिखित पुस्तकें भेजीं वहां से भी मुझे कुछ पुरस्कार मिले हैं। पुरस्कारों से थोड़ी सी आर्थिक सहायता मिल गई। पुरस्कार कोई ज्यादा सम्मान की चीज तो है नहीं। वह सम्मान की दृष्टि से नहीं दान की दृष्टि से दिए जाते हैं सो वह दान मुझे भी ग्रहण करना पड़ा।

अनजान —एक साहित्यकार के रूप में राजस्थान को आप पर बहुत गर्व है और यहां की अनेक संस्थाएं आपको सम्मानित भी कर चुकी हैं। क्या आप उसका कुछ विवरण देंगे।

भारतीनन्दन —सम्मान तो कई स्थानों पर मिला। यह भी ठीक है कि राजस्थान में मेरा बहुत सम्मान है। भरतपुर की हिन्दी साहित्य समिति भी विधि पूर्वक मेरा सम्मान कर चुकी है। एक महत्वपूर्ण सम्मान मुझको राजस्थान साहित्य अकादमी से मिला है, 'मनीषी' उपाधि के रूप में। कई-कई वर्षों बाद यह सम्मान किन्हीं महत्वपूर्ण उपलब्धियों के लिए दिया जाता है। अकादमी ने १९७३ में दिनकर जी के साथ मुझे यह 'मनीषी' पद दिया था।

डॉ पाठक —डॉ० साहब आपने हिन्दी के अतिरिक्त किन और भाषाओं में लेखन कार्य किया है?

भारतीनन्दन —मुख्य लेखन कार्य बहुत समय तक तो हिन्दी में ही था, कविता दूसरी भाषा में नहीं लिखी जा सकती और मूल रूप में मैं कवि ही था और कविता ही लिखता था। अध्ययन अंग्रेजी में ही हुआ प्रयाग विश्वविद्यालय में तो मुझे अंग्रेजी पर भी काफी अधिकार प्राप्त था। दर्शन की थीसिस अंग्रेजी में ही लिखी थी। बीच में हिन्दी से विरत होकर मैंने अंग्रेजी में भी कई ग्रंथ लिखे हैं। दर्शन और संस्कृति, अध्ययन और गीता, उपनिषद के बारे में। हिन्दी और अंग्रेजी ये ही दो मुख्य भाषाएं हैं जिन्हें मैं जानता हूं। इनमें ही मैंने बहुत कुछ लिखा है।

डॉ० पाठक —अंग्रेजी में लिखे अपने कुछ ग्रंथों के नाम बता सकेंगे।

भारतीनन्दन —अंग्रेजी में सबसे पहले तो शंकराचार्य पर अपनी थीसिस लिखी। उसके बाद डी० लिट्० के लिए भी मैंने थीसिस लिखी थी १९५८-५९ में यहां भरतपुर में आकर। उसके बाद साहित्य संस्कृति, दर्शन और अध्यात्म के ग्रंथ मैंने अंग्रेजी में लिखे। संस्कृति के बारे में चिन्तन करते-करते मैंने एक सैद्धान्तिक ग्रंथ लिखा था—'Concept of culture' के नाम से। फिर संस्कृति के अन्तर्गत ही सौन्दर्य आता है। सत्य शिवं सुन्दरम् में भी सौन्दर्य पर कुछ विचार किया था। फिर एक Idea of Beauty के नाम से सौन्दर्य पर एक सैद्धान्तिक ग्रंथ लिखा था। कुछ अध्यात्म और दर्शन के ग्रंथ हैं Spiritual Foundations of Life और उपनिषद के ऊपर Values in Upanishads, 'Values in the Gita'

आजकल एग्जिसटैन्स की चर्चा हमारे दर्शन में बहुत रहती है। तो एक Existence of man, ग्रंथ भी मेरा है। ऐसे कुछ दस-बारह ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे हुए हैं। ये सभी बड़े-बड़े ग्रंथ हैं।

अर्चना—हाल में भी तो आपका कोई ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।

भारतीनन्दन—प्रकाशित तो देर से हुआ है लिखा हुआ बहुत पहले का है। १९६६ में मैंने एक Unique India नामक ग्रंथ लिखा था जिसमें भारतवर्ष की संस्कृति, दर्शन, धर्म आदि का विशेष रूप से वर्णन किया है। प्रकाशन में उसमें विलम्ब हुआ, वह अभी हाल ही १९८० में प्रकाशित हुआ है।

श्री चौधरी—अपने कुछ हिन्दी ग्रंथों के नाम भी बताइए?

भारतीनन्दन—हिन्दी के काव्य ग्रंथों में तो पार्वती, प्रथम है। खण्डकाव्यों में सावित्री, अहल्या, चन्द्रगुप्त जैसे कुछ ऐतिहासिक पौराणिक खण्ड काव्य हैं। सत्यं शिवं सुन्दरम् साहित्य व संस्कृति का ग्रंथ है। उसके अतिरिक्त "रस मीमांसा" रस का विवेचन करते हुए लिखी थी। शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ ग्रंथ हैं। 'साहित्य कला' के नाम से कला का विवेचन है। 'काव्य का स्वरूप' है उसमें काव्य का विवेचन है।

अर्चना—आपने हिन्दी में भी दर्शन पर कुछ ग्रंथ लिखे हैं।

भारतीनन्दन—दर्शन पर मैंने शुरू में सामान्य भारतीय दर्शन पर कुछ पुस्तकें छोटी-छोटी अध्यापन के शुरू में लिखी थीं। 'दर्शन का परिचय' 'भारतीय दर्शन की भूमिका'। हिन्दी में दर्शन पर लेखन में मेरी ज्यादा रुचि नहीं रही क्योंकि हिन्दी के माध्यम से दर्शन बहुत कम पढ़ा जाता है। सामान्य जन तो पढ़ते हैं पर विद्वान नहीं पढ़ते। विद्वान अंग्रेजी के माध्यम से ही पढ़ते हैं।

डॉ० पाठक—आपने बताया था कि आपने भाषा विज्ञान के ऊपर भी कुछ लिखा है।

भारतीनन्दन—भाषा विज्ञान के सम्बन्ध में मैंने हिन्दी में ही लिखा है क्योंकि उसका हिन्दी व संस्कृत से सम्बन्ध है। भाषा विज्ञान का एक सिद्धान्त मुझको संस्कृति के बारे में विचार करते-करते आया था। भाषा विज्ञान में यह माना जाता है कि सब भाषाएं एक परिवार की हैं। मैंने वर्ण और ध्वनि की दृष्टि से भाषा का चिन्तन किया है कि ध्वनि विवेक की दृष्टि से ये भाषाएं एक परिवार की भाषा नहीं हैं और समान नहीं हैं। संस्कृत में जितना शुद्ध व कठोर वर्ण विवेक है उतना अन्य भाषाओं में नहीं है, ध्वनियां मिल जाती हैं। यूरोप की भाषाओं में फ्रेंच, जर्मन, इटली भाषाओं में वर्णमाला है। उनके यहां पर वर्णमाला का नाम वर्णमाला नहीं है। एल्फा, बीटा है उनके यहां। वर्ण तो हैं उनके यहां पर वो वर्णों को शब्दों की तरह से बोलते हैं। इसलिए कि उनको वर्ण का ज्ञान नहीं था जो वे वर्ण को वर्ण की तरह से बोलते। वैज्ञानिक विधान नहीं है। ए, बी, अ के बाद बी आ गई। अ किसी वर्ग का है, ब किसी वर्ग का है। सी किसी वर्ग का है। इस तरह से यह अस्त-व्यस्त हैं। अतः मैंने संस्कृत को इन भाषाओं से अलग माना है। संस्कृत की ध्वन्यात्मकता अलग है और इस नाते संस्कृत भारतवर्ष की मौलिक भाषा है। कहीं से आई हुई भाषा नहीं है।

श्री चौधरी—आपका जन्म ब्रज प्रदेश में हुआ। यौवन का अधिकांश भाग भी ब्रज प्रदेश में ही व्यतीत हुआ। भरतपुर भी बोली की दृष्टि से ब्रज प्रदेश में है। आपने कुछ ब्रज की भी रचनाएं की हैं।

भारतीनन्दन—ब्रजभाषा की रचना मैंने बाल्यकाल में की थी जब मैं घर पर था। मैं समझता था कि ब्रजभाषा कविता की भाषा है और घर में बोलने की भाषा है। जब मैं आगे गया तो मुझे पता चला कि खड़ी बोली ही पढ़ने और लिखने की भाषा है। खड़ी बोली में ही लिखता रहा। भरतपुर में भी

ब्रज से कुछ ज्यादा सम्बन्ध नहीं रहा है। इच्छा तो थी कि ब्रजभाषा में लिखूं पर लिख नहीं पाया।

अनजान —आपने संस्कृत में शास्त्री किया है। मैंने आपको अत्यन्त सरल व धाराप्रवाह संस्कृत बोलते सुना है क्या आपने संस्कृत में भी कोई पुस्तक रची है।

भारतीनन्दन —संस्कृत मैंने बचपन से पढ़ी थी। संस्कृत का ज्ञान भी रहा। यों कोई ऐसा विधि पूर्वक ज्ञान तो नहीं रहा। साहित्य भी पढ़ा। दर्शन साहित्य अधिक पढ़ा। व्याकरण का अधिक ज्ञान नहीं था अतः संस्कृत में अधिकार नहीं कर पाया। अभ्यास तो बहुत रहा था बचपन में भी श्लोक बनाता था! अनुवाद के प्रश्नपत्र में मैंने श्लोकों में अनुवाद किया। जो प्रश्न परीक्षा में आया उसका मैंने श्लोक बना दिया। बना लेता था यों लिखता था थोड़े बहुत छन्द। बाद में मुझको संस्कृत में एक काव्य शास्त्र और दर्शन शास्त्र लिखने कि इच्छा हुई। पूरे तो नहीं लिखे जा सके हैं पर उनके कुछ अधूरे से अंश मैंने लिखे हैं।

अर्चना —आपने हिन्दी में इतने उत्कृष्ट और विशाल ग्रंथों की रचना की उसके बाद आपने अंग्रेजी में क्यों लिखना शुरू किया?

भारतीनन्दन —अंग्रेजी में ही क्या यदि कोई किसी भाषा में लिखता है तो उसका सबसे पहला कारण तो उसका अधिकार होता है। भाषा का उसको इतना आधिकारिक ज्ञान हो कि वह उसको लिख सके। मैंने अंग्रेजी में शिक्षा पाई थी विश्वविद्यालय में अंग्रेजी पर बहुत अधिकार था। मैं आज नहीं पहले भी बहुत लिख सकता था अंग्रेजी भाषा में। लेकिन मेरी अपनी धारणा यह थी कि हिन्दी में ही लिखना चाहिए क्योंकि स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रभाषा हिन्दी है और उसका गौरव बढ़ना चाहिए। बहुत वर्षों तक मैं इस आस्था में रहा। मैंने हिन्दी में विशेष रूप से सत्यं शिवं सुन्दम् पार्वती जैसी विशाल रचनाएं की हैं। उसका हिन्दी समाज ने कोई ऐसा आदर नहीं किया तो इससे मेरा झुकाव अंग्रेजी की ओर हो गया। कुछ लोगों ने तो सुझाव भी दिये जो मेरे मित्र थे, परिचित थे कि साहब आप हिन्दी में क्यों लिख रहे हो आप अंग्रेजी में लिखो, उसका अधिक महत्व है। दूसरे दर्शन है संस्कृति है ये विषय आप अंग्रेजी में लिखिए क्योंकि कविता तो किसी दूसरी भाषा में नहीं लिखी जा सकती। विचार की कोई भाषा नहीं होती है जिस भी भाषा पर आपको अधिकार है आप उसमें लिख सकते हैं। अंग्रेजी पर मेरा अधिकार है मैं अंग्रेजी में भी लिख सकता हूं। और कोई भी लिख सकता है। हिन्दी का कोई भी लेखक अगर हिन्दी में ही लिखता है और किसी दूसरी भाषा में नहीं लिखता है तो इसमें उसका हिन्दी प्रेम तो मानना ही चाहिए पर साथ-ही-साथ यह भी जानना चाहिए कि वह किस और भाषा में लिख सकता है उसको और किस भाषा का ज्ञान है क्या वह संस्कृत में लिख सकता है, या मराठी का या बंगाली का या अंग्रेजी का जर्मन का, या फ्रेंच किसी भाषा का इतना अधिकार है कि वह उस भाषा में लिख सकता है। बहुत से लेखकों को तो यह कोई गौरव की बात नहीं लगती है लेकिन सत्य बात है कि हिन्दी में बिरले ही ऐसे लेखक होंगे जो किसी दूसरी भाषा में लिख सकते होंगे। अंग्रेजी में मैं स्वयं लिखता हूँ। पर अब उसे फिर दुहरा दूं जैसा कि आपको मैंने पहले बताया कि यदि पार्वती को हिन्दी जगत में पर्याप्त सम्मान मिला होता तो आज अंग्रेजी या हिन्दी का एक भी ग्रंथ आपको मुझसे नहीं मिलता चाहे आपको पचास काव्य मिलते, एक प्रकार से प्रतिक्रिया से ही मैंने अंग्रेजी में लिखा है। मेरे अंग्रेजी के जितने ही ग्रंथ आपको उपलब्ध होंगे उनका श्रेय या अश्रेय हिन्दी अधिकारियों को ही है।

श्री चौधरी—डॉ० साहब सेवा निवृत्ति के उपरान्त आप किन प्रवृत्तियों में संलग्न हैं।

भारतीनन्दन —मेरे पास लेखन का ही एक कार्य है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अवकाश ग्रहण के पश्चात् कुछ वृत्तियां देता है जिससे आप कुछ शोध कार्य लेखन आदि कर सकते हैं। पांच वर्ष हो गए मुझको अवकाश ग्रहण किए। इनमें मैं गीता, उपनिषद का ही अध्ययन करता रहा हूं। पिछले तीन वर्षों में मैंने उन्हें उपनिषद का एक अध्ययन दिया था। इधर के दो वर्षों में गीता का अध्ययन उन्हें देना है अब वैसे भी मैं लिखूंगा तो दर्शन के सम्बन्ध में ही लिखूंगा अब मेरी रुचि दर्शन में अधिक हो गई है।

डॉ० पाठक —आप बातचीत के समय बता रहे थे कि आपने एक शिक्षा संस्थान की स्थापना की है, उसका उद्देश्य भारतीय पद्धति से शिक्षा देना है। उस हॉबी पर प्रकाश डालेंगे।

भारतीनन्दन — देखिए न तो वह कोई हाबी है न व्यवसाय है। यह तो एक साध्य है जो शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रयोग है। इस सम्बन्ध में मैंने कई ग्रंथ लिखे, पांच छः सौ पृष्ठों का एक ग्रंथ मैंने लिख कर रख दिया 'शिक्षा के उपेक्षित अंग'। उसके छपने की तो कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि कौन तो उसको खरीदेगा और कौन उसे पढ़ेगा। शिक्षा के बारे में बहुत सोचता रहा हूं। बच्चों की, पत्नी की सारी शिक्षा घर में हुई। हमारी शिक्षा की स्थिति बहुत खराब है कालेज में देख-देख कर बहुत विचार किया और मैंने एक स्कूल खोला है। इसमें बच्चों की आधार भूत शिक्षा की व्यवस्था है। भाषा को पढ़ने की, भाषा का शुद्ध रूप में आरम्भिक ज्ञान कराने के उद्देश्य से वह विद्यालय चलाता हूं। साथ-साथ संस्कारों का प्रश्न भी है और जैसे-जैसे विद्यालय में सुधार विस्तार होगा, उद्देश्य भी विस्तृत हो जाएंगे।

अनजान —धन्यवाद डॉ० साहब ये परिचर्चा समाप्त करने से पहले मैं एक व्यक्तिगत प्रश्न आपसे करना चाहूंगा। राजस्थान मंच राज्य की यशोगाथा विम्ब और संभावनाओं के प्रतिबिम्ब रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है। राज्य की विरल विभूतियों का सम्मान हमारी अभिलाषा रहती है। आप हमारे राजस्थान के गौरव हैं इस दृष्टि से साहित्य के अतिरिक्त अन्य अनेक क्षेत्रों में आपने जो अमूल्य ग्रंथ रत्न दिए हैं, उन्हें और अध्यापन के क्षेत्र में आपके विशिष्ट योगदान को देखते हुए राजस्थान मंच ने राष्ट्रीय स्तर पर आपके अभिनन्दन का निश्चय किया है, मैं इस बारे में आपकी प्रतिक्रिया जानने के लिए बहुत उत्सुक हूं।

भारतीनन्दन—अभिनन्दन की अभिलाषा तो मुझको नहीं रही; मैं तो केवल इतना चाहता रहा हूं कि मैं जो कुछ भी लिखता रहूं उसको अधिकारी लोग देखें, पढ़ें उसका उपयोग हो क्योंकि राष्ट्रीय उपयोग के विचार हैं मेरे बहुत से ग्रंथों में, उनका उपयोग करें। यों अभिनन्दन तो नंदन है, नंदन माने जो आनन्द देता है, सभी को उसमें प्रसन्नता होती है। यों मुझे भी उससे हर्ष हुआ। राजस्थान मंच एक आधिकारिक संस्था है उन्होंने मुझे अभिनन्दन योग्य समझा इससे मुझे प्रसन्नता हुई कि मेरे महत्व को जानने वाले कुछ व्यक्ति ही नहीं एक पूरी संस्था है जिससे बहुत से प्रबुद्ध लोग संबंधित हैं। इतना तो मैं अवश्य कहूंगा कि जिससे शायद आपको प्रसन्नता नहीं होगी कि ऐसा कोई सम्मान, ऐसा कोई पुरस्कार, ऐसा कोई लाभ नहीं है जो उतनी अधिक प्रसन्नता दे सके, जितनी खिन्नता मुझे समस्त जीवनकाल में मिली है लेकिन वैसे मैं राजस्थान मंच का बहुत आभारी हूं जिसने बड़ा संतोष, बड़ा महत्व, बड़ी सान्त्वना दी है, सबसे बढ़कर वह अवसर दिया है कि पिछले बीस, पच्चीस, तीस वर्षों से जो रचनाएं पड़ी हुई थीं उनको खोजने, समेटने, सहेजने का अवसर दिया, ध्यान में आ गईं। उनमें बहुत सी रचनाओं का तो मुझे ज्ञान भी नहीं था बहुत सी पुस्तकें हैं जिनका मुझे यह भी ज्ञान नहीं था कि किस विषय पर मैंने पुस्तक

लिखी है, कब लिखी है। इस सम्बन्ध में मेरी पत्नी ने जो खोज घर में की है उससे रचनाएं व्यवस्थित हो गईं। उनकी जिल्दें बन गईं। इस दृष्टि से सजग हो गया कि अब इन्हें जनता के सामने लाना है क्योंकि मुझे लिखने का उन्माद है लिखने के बाद छपना तो बहुत दूर की चीज है।

अनजान —मंच की संचालन समिति के सभापति डॉ० पाठक, श्री शांति प्रसाद जी चौधरी व अर्चना जी की ओर से परिचर्चा की समाप्ति पर आपका धन्यवाद और कृतज्ञता ज्ञापन। अन्त में यह चाहूंगा कि आप राजस्थान मंच के माध्यम से हिन्दी जगत को, हमको कोई संदेश दें।

भारतीनन्दन – संदेश तो बहुत बड़े नेताओं का अधिकार है, कुछ विचार हैं जो मैंने अपने ग्रंथों में भी दिए हैं जो संदेश के रूप में हो सकते हैं। वे यही हैं कि भाषा को, साहित्य को, राष्ट्र को, संस्कृति को सर्वोपरि मान कर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और अभिमान को दूर रखकर साहित्य के अधिकारी कुछ साहित्य की सेवा करें और साहित्यकारों के अलावा जो सामाजिक लोग हैं जैसे आपके राजस्थान मंच के पदाधिकारी हैं और सरकारी अधिकारी व नेता हैं वे भी उसी भावना से उसका सम्मान करें व राष्ट्र के विकास में सहयोग दें। मेरी दृष्टि में साहित्य के, विशेष रूप से हिन्दी के, विकास व कल्याण का यही एकमात्र उपाय मुझे दिखाई देता है।

अनजान —आपका बहुत बहुत धन्यवाद।

भारतीनन्दन —आप लोगों का मैं बहुत अभिवादन करता हूं कि आप लोगों ने दिल्ली से यहां आकर, इतनी बातचीत करके मुझे अपने विचारों को व्यक्त करने का अवसर दिया। धन्यवाद !



भारतीनन्दन की जन्मभूमि सोरों (शूकर क्षेत्र)

—परमहंस वाशिष्ठ

डॉ. रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन' का जन्म उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध गंगातीर्थ सोरों (शूकर-क्षेत्र) में हुआ। यह वही शूकर क्षेत्र है, जिसके बारे में तुलसीदास ने लिखा है—

"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु शूकरखेत।"

इसी शूकर क्षेत्र में बाल्यकाल में तुलसीदास जी को अपने गुरू से रामकथा सुनने का अवसर मिला था। अनेक विद्वान इसी शूकर क्षेत्र को तुलसीदास की जन्मभूमि मानते हैं। राजापुर से तुलसीदास के बाल्यकाल में सोरों आने का कोई सन्तोषजनक कारण भी नहीं है। बांदा जिले के गजैटियर में यह उल्लेख मिलता है कि सोरों का एक सन्त तुलसीदास राजापुर आया रामचरित मानस की भाषा में भी कुछ ऐसे प्रयोग विपुलता से मिलते हैं, जिनका व्यवहार सोरों की भाषा में अधिक होता है। ऐसे अनेक प्रमाण इस सम्भावना को बल देते हैं कि सोरों ही तुलसीदास की जन्ममूमि थी।

तुलसीदास की जन्मभूमि का प्रसंग विवादास्पद है। भारतवर्ष में कवियों और विद्वानों के जीवन के ऐतिहासिक तथ्यों को सुरक्षित रखने की प्रथा प्रचलित नहीं रही है। इसी कारण यह तथ्य आज विवादास्पद बने हुए हैं। किन्तु भारतीनन्दन की जन्मभूमि सोरों है, यह एक विदित और वर्तमान तथ्य है। वे उसे स्वयं प्रमाणित करते हैं और उनके अनेक परिचित जन इस तथ्य को जानते हैं। मेरा उनके साथ पारिवारिक सम्बन्ध है। मेरे मामा उनके कुल में ही थे तथा अन्य कुल जनों के साथ उनका पैतृक घर भारतीनन्दन के पैतृक घर के सन्निकट ही था।

भारतीनन्दन का जन्म सोरों के प्रसिद्ध वैद्य पं० प्यारेलाल के घर हुआ। वे त्रिवेदी ब्राह्मण थे। लोकभाषा में तिवारी कहलाते थे। उनके किसी प्रसिद्ध पूर्वज का नाम 'सूरज' था। अतः वे सूरज के तिवारी कहलाते थे। मौहल्ले में आस-पास सूरज के तिवारियों के कई घर हैं। सामान्य रूप से सोरों के सभी ब्राह्मण सनाढ्य हैं और व्यवसाय से पण्डा-पुरोहित हैं। भारतीनन्दन के कुल में भी यह व्यवसाय था, किन्तु एक आयुर्वेद के ज्ञाता महात्मा की कृपा से उनके पिता को आयुर्वेद का ज्ञान मिला और वे वैद्य बन गए।

भारतीनन्दन की जन्मभूमि सोरों पुराणों में शूकरक्षेत्र अथवा वाराहक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है। गंगातट पर होने के कारण यह गंगातीर्थ है। किन्तु अवतारों की दृष्टि से यह वराह भगवान का क्षेत्र है। वराह भगवान का मन्दिर यहां का सबसे प्राचीन और प्रतिष्ठित मन्दिर है। यह गंगातट के उस किनारे पर और नगर के उस छोर पर स्थिति है, जो बसाव की दृष्टि से सबसे प्राचीन है। नगर के नवीन भागों

में अन्य देवताओं के भी मन्दिर हैं। किन्तु सोरों तीर्थ की महिमा वराह भगवान और गंगा के ऊपर ही निर्भर है। सोरों के साथ गंगा के सम्बन्ध में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जिन्होंने सोरों को एक विख्यात गंगातीर्थ बनाया। गंगा की मान्यता समस्त भारतवर्ष में है। निकट होने के कारण राजस्थान, और मध्य प्रदेश के लिये सोरों एक सुलभ गंगातीर्थ रहा है। सोरों के पण्डा-पुरोहितों की यजमान वृत्ति राजस्थान और मध्य-भारत में ही अधिक प्रचलित रही है। इन्हीं प्रान्तों के तीर्थयात्री अधिक आते हैं। इनमें अधिकांश यात्री अपने मृतकों के फूल (अस्थि अवशेष) सोरों लाते हैं और गंगा में उनका विसर्जन करते हैं। गंगास्नान के अतिरिक्त अस्थिविसर्जन का प्रयोजन एक ऐसा पुण्य कार्य है जिसके लिये इन प्रान्तों के सभी वासी सोरों आते रहे हैं।

प्राचीनकाल में सोरों उसी प्रकार गंगातट पर बसा हुआ तीर्थ था, जिस प्रकार मथुरा यमुना के तट पर है। नगर के किनारे ऐसे चिह्न अभी मिलते हैं, जिनसे मालूम होता है किसी समय गंगा की धारा नगर के बिल्कुल किनारे बहती थी। आज उस स्थान पर एक विशाल सरोवर रह गया है, जिसे हरि की पैड़ी कहते हैं। इसके किनारे पक्के घाट बने हुये हैं। वाराह जी का घाट इसके एक छोर पर है, जो पुराने नगर की ओर है। दूसरे छोर पर सोमेश्वर महादेव का घाट है। बीच में रघुनाथ जी का घाट और रघुनाथ जी का मन्दिर है, जिसे जयपुर के महाराज ने बनवाया। रघुनाथ जी के निकट एक छोटा सा लक्ष्मण जी का मन्दिर भी है तथा लक्ष्मण जी का घाट है। नगर के मध्य में होने के कारण रघुनाथ जी का घाट स्त्रियों के स्नान के लिये सुरक्षित रहता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन गंगा अथवा हरि की पैड़ी के तट और घाटों पर बने हुये मन्दिरों में श्रीकृष्ण का कोई मन्दिर नहीं है। श्री कृष्ण का एकमात्र मन्दिर गंगातट से दूर शहर और बाजार में है, जो बहुत नया बना हुआ प्रतीत होता है। यह द्वारिकाधीश का मन्दिर कहलाता है। यह पत्थर का बना हुआ विशाल मन्दिर है, फिर भी अन्य मन्दिरों की अपेक्षा इसकी मान्यता बहुत कम है। वराह, राम और शिव इन तीन देवताओं की ही मान्यता अधिक है। कुछ देवी और हनुमान के भी मन्दिर हैं। इससे विदित होता है कि ब्रज की सीमा के निकट होते हुए भी सोरों में कृष्ण भक्ति का प्रभाव बहुत कम रहा। वराह अवतार लोक में भक्ति का आश्रय नहीं बन सका। इस दृष्टि से राम और शिव की भक्ति ही नगर में अधिक प्रचलित रही है। नगर के इस धार्मिक वातावरण का रामचरित मानस की रामभक्ति और शिव भक्ति से सीधा सम्बन्ध दिखाई देता है, जो सोरों में तुलसीदास जी के जन्म और उनकी शिक्षा सम्बन्धी मत का समर्थन करता है।

गंगा-तीर्थ होने के कारण गंगा की ही अधिक मान्यता है। घर-घर गंगाजी की पूजा होती है। गंगाजी ही सोरों की अन्नदाता हैं। स्नान के लिए आने वाले यात्रियों से ही ब्राह्मण और व्यवसायियों की जीविका चलती है। वराह का क्षेत्र होने के कारण अगहन मास की एकादशी से वराह जयन्ती के अवसर पर एक विशाल मेला लगता है। यह मेला शहर के बाहर दूर तक फैल जाता है, किन्तु शहर के भीतर भी इस मेले की दुकानें इतनी लगती हैं कि सारा शहर ही एक विशाल प्रदर्शनी जैसा बन जाता है। इस मेले में दूर-दूर से दुकानें आती हैं, किन्तु नगर के निवासियों के लिये भी यह अच्छी वार्षिक आय का स्रोत है। वैसे प्रत्येक पूर्णमासी को एक मासिक मेला हरि की पैड़ी पर लगता है, जिसमें निकट के गांवों के लोग स्नान करने के लिए आते हैं।

गंगा के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सोरों में दो अथवा तीन गंगाओं की मान्यता है। त्रिधारा का यह भेद कुछ ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से पैदा हुआ है। पहले गंगा की धारा नगर के किनारे बहती थी, जैसे यमुना की धारा मथुरा के किनारे बहती है। इसके प्रमाण रूप चिह्न आज भी वर्तमान हैं। नरौरा का बांध बन जाने से गंगा की धारा में परिवर्तन हो गया और वह सोरों नगर से तीन मील दूर चली गई। नगर के किनारे पर गंगाघाट का एक विशाल सरोवर रह गया, जो हरि की पैड़ी कहलाता है। इस सरोवर में आज नहर से पानी भरा जाता है। हरि की पैड़ी के अतिरिक्त एक मील दूर पर एक और सरोवर रह गया, जो बूढ़ी गंगा के नाम से विख्यात है। यहां भी कुछ यात्री जाते हैं। इसके किनारे भगीरथ का मन्दिर और भगीरथ की गुफायें हैं। गंगा की असली धारा नगर से तीन मील दूर है, जो बड़ी धारा कहलाती है। उसके किनारे एक लहरा नाम का मल्लाहों का गांव है और लहरेश्वर महादेव का मन्दिर है। नगर से गंगा की धारा की ओर जाने वाली सड़क पर दो वन्य तीर्थ हैं, जो कभी बिल्कुल सुनसान में रहे होंगे, आज भी वे नगर से दूर श्मशान की ओर हैं। इनमें एक वटुक नाथ का मन्दिर कहलाता है। इसमें काली देवी की प्रसिद्ध प्रतिमा थी, जो अब चोरी चली गई है। उसी के सामने एक पुराना मठ है, जो प्राचीन बौद्धविहार-सा प्रतीत होता है। आज वह सीतारामजी का मन्दिर कहलाता है तथा पुरातत्व विभाग के अन्तर्गत है।

तीर्थ होने के नाते यही सोरों की परम्परा है। भौगोलिक दृष्टि से सोरों आगरा मण्डल के अन्तर्गत जिला एटा का एक प्रसिद्ध नगर है। इसके किनारे पर गंगा की धारा बहती है। गंगा के दूसरी पार बदायूं जिले का क्षेत्र आरम्भ हो जाता है। एटा जिले की अन्य सीमाओं पर मथुरा और अलीगढ़ के जिले हैं। इस प्रकार सोरों मथुरा, अलीगढ़ और बदायूं जिलों के बीच में है। सोरों रेल का स्टेशन है। सोरों से कुछ दूर चलकर गंगाजी पर एक पुल बना हुआ है, जो कछला घाट कहलाता है। अब किसी महात्मा ने उसे कच्छप क्षेत्र के नाम से विख्यात किया है। राजघाट की भांति रेल के निकट होने के कारण कच्छप क्षेत्र भी काफी लोकप्रिय हो गया है। वराह अवतार के साथ कच्छप क्षेत्र की संगति भी इसे लोकप्रिय बनाने में सहायक हुई है।

धर्म-क्षेत्र होने के कारण सोरों कर्मकाण्ड का तीर्थ रहा है। गया में जिस प्रकार पितरों का अन्तिम पिण्डदान होता है, उसी प्रकार सोरों में मध्यभारत, राजस्थान आदि क्षेत्र के मृतकों का प्रथम पिण्डदान होता है। मृतक की अस्थियां यहां गंगा में विसर्जित की जाती हैं। कर्मकाण्ड के प्रसंग से प्राचीन काल में सोरों में पांडित्य की अच्छी परम्परा रही। पं० अंगदराम शास्त्री नाम के एक विख्यात पंडित हुये, जो स्वामी विरजानन्दजी के शिष्य थे तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती जिनके गुरु भाई थे। अंगदराम जी ने सोरों में ही शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द जी को पराजित किया था, जिसका निर्णय स्वयं स्वामी बिरजानन्द जी ने दिया था। अंगदराम जी के पुत्र पंडित रामरत्न व्याकरण के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने सिद्धान्त कौमुदी पर एक विशाल कारिका की रचना की थी, जो काल के कोप से नष्ट हो गई। वर्तमान काल में पं० दशरथ शास्त्री तथा उनके पुत्र बाल शास्त्री एवं यशोधर शास्त्री प्रसिद्ध रहे हैं। पं० गंगावल्लभ-शास्त्री विख्यात विद्वान और वक्ता रहे हैं। एन० सी० मेहता द्वारा स्थापित मेहता संस्कृत पाठशाला नगर में संस्कृत विद्या की परम्परा का पोषण करती रही है।

मेरी साधना के तीर्थ

—डॉ० रामानन्द तिवारी

सम्पूर्ण जीवन और साधना में आठ नगरों से मेरा विशेष सम्बन्ध रहा है। ये नगर सोरों, एटा, चन्दौसी प्रयाग, जोधपुर, जयपुर, कोटा और भरतपुर हैं। इनमें चार उत्तर प्रदेश के हैं और चार राजस्थान के। उत्तरप्रदेश के चार नगरों से मेरा सम्बन्ध शिक्षा के निमित्त रहा तथा राजस्थान के नगरों का सम्बन्ध सेवा से रहा। साहित्य साधना की दृष्टि से इन सभी नगरों का मेरे जीवन में महत्व है। इनको मैं अपनी साधना के तीर्थ कह सकता हूं। इनमें प्रयाग और भरतपुर में मेरा अधिक निवास रहा। निश्चय ही ये मेरी साधना के महातीर्थ हैं। यौवन काल की अधिकांश रचनायें प्रयाग में सम्पन्न हुईं तथा प्रौढ़-काल की विपुल रचनायें भरतपुर के दीर्घ निवास की उपलब्धियां हैं। कोटा में रचित 'पार्वती' महाकाव्य के अतिरिक्त मेरी अन्य किसी महत्वपूर्ण कृति का स्थानीय सम्बन्ध अन्य किसी नगर से नहीं है। शंकराचार्य सम्बन्धी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मैंने देहरादून में किया। इस नाते देहरादून को सम्मिलित कर मेरे साधना तीर्थों की संख्या नौ हो जाती है। ये नौ नगरियां ही मेरी साधना का संसार हैं। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत कम नगरों को मैंने देखा है।

जिन नौ नगरियों में मैं रहा हूं, उनसे भी मेरा सम्बन्ध बहुत सीमित रहा है। साधक की दृष्टि से मैं सनातनी हूं। जीव की दृष्टि से कुछ अचल हूं। मनुष्य की दृष्टि से अनैतिहासिक और अभौगोलिक हूं। किसी भी स्थान के इतिहास और भूगोल का अधिक ज्ञान नहीं हैं। दृश्यदर्शन में रुचि नहीं रही। जीवन प्राय:घटनाहीन रहा। साधना बहुत कुछ उदासीन और आत्मनिष्ठ रही। प्रयाग, जयपुर और भरतपुर के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान से स्थायी सम्बन्ध न रहा है। प्रयाग और जयपुर के अतिरिक्त मेरा कहीं अन्यत्र आवागमन भी नहीं रहा। ये तीन नगर ही मेरे जीवन के त्रिलोक हैं। इनमें प्रयाग मेरा भूलोक है। प्रयाग के दीर्घ निवास में ही मेरे जीवन की भूमिका बनी। भरतपुर मेरा स्वर्गलोक है। यहीं मुझे जीवन की उच्च उपलब्धियां मिलीं तथा सबसे अधिक सुख, सुविधा और सम्मान प्राप्त हुआ। जयपुर मेरा भुवर्लोक है। यह मेरा स्वर्लोक तो न बन सका किन्तु मेरे जीवन की गतिविधियों का अन्तराल तथा अन्तरिक्ष अवश्य बना रहा। भरतपुर का स्वर्लोक ही साधना की भांति स्थायी निवास का आश्रय भी रहा है।

इन नौ नगरियों में सोरों मेरी जन्मभूमि है। सोरों के पक्षधर इसे तुलसीदास की जन्मभूमि मानते हैं। भारतीय जनता को कवियों की जन्मभूमि तथा उनके जीवन-वृत्त में ऐसी रुचि न रही कि उनका जन्मस्थान लोक परम्परा द्वारा विदित एवं सुरक्षित रहता। तुलसी के समकालीन शेक्सपियर का निवास सुरक्षित है और तुलसी का जन्मस्थान भी विवादास्पद है। मैं तुलसी के तुल्य नहीं किन्तु मेरे सम्बन्ध में भी कोई कुछ नहीं जानता और मेरे पचास वर्ष के साहित्यिक जीवन में इस सम्बन्ध में किसी की कोई रुचि

नहीं रही। यह अभिनन्दन एक अपवाद है जो मेरे कुछ अधिक श्रद्धालु सुहृदों की आकांक्षा का फल है।

अस्तु मेरा बाल्य काल मेरी जन्मभूमि सोरों में बीता। धर्म, अध्यात्म और साहित्य के संस्कार मुझे अपनी जन्मभूमि से मिले। पिता वैद्य थे। संस्कृत के वैद्यक ग्रन्थ घर में थे। कुछ और संस्कृत-हिन्दी के ग्रन्थ भी थे। भारत-भारती उनमें उल्लेखनीय है। पिता दैनिक अग्निहोम करते थे। अंगदराम शास्त्री, दशरथ शास्त्री, गंगावल्लभ शास्त्री आदि उद्भट विद्वानों की चर्चाओं से संस्कृत और धर्म का आकर्षण उत्पन्न हुआ। गंगावल्लभजी के चरणों में कुछ दिन संस्कृत पढ़ने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। वे प्रचण्ड विद्वान और प्रबल वक्ता थे।

पिता के गुरू एक संन्यासी थे। कभी-कभी घर आते थे। हमारे घर पर ही उनका देहावसान हुआ। उनके विमान का दृश्य आज भी स्मरण है। पिता उनकी पादुकाओं का पूजन करते थे। वेदान्ती थे। गीता तथा शंकराचार्य के ग्रन्थ उनके गेरुआ बस्ते में मैंने बचपन में देखे थे। समझने की आयु न थी। किन्तु देखता पढ़ता था। यह वेदान्त के बाल-संस्कार और प्रेरणा का सूत्र रहा है। बिना समझे गीता, विवेक चूड़ामणि, अपरोक्षानुभुति, आदि पढ़ता रहा। इच्छाराम सूर्यराम देसाई का वेदान्त विषयक विशाल उपन्यास बचपन में पढ़कर 'बाल संन्यासी' बनने का कुतूहल जगा जो चरितार्थ न हो सका।

सोरों गंगातीर्थ है। टोली के साथ गंगास्नान करने जाते थे। तैरते थे। दादी-चाची के साथ मन्दिर जाते थे। वराहमन्दिर हमारे घर से दूर था। रघुनाथजी, महादेवजी और द्वारकाधीश के मन्दिर निकट थे। सोमेश्वर महादेव के घाट पर बहुत स्नान, दर्शन और खेल किया है। 'पार्वती' काव्य उनके दर्शन के बाल-संस्कारों से प्रेरित है। उनके निकट ही एक देवी का मन्दिर भी था। बटुकनाथ के क्षेत्र में स्थित कालीदेवी के भी अनेक बार दर्शन किये। हाल में सुना उनकी प्रतिमा चोरी हो गई। मूर्ति-भंजन के बाद मूर्ति-चोरी हिन्दू धर्म की एक आधुनिक विडम्बना है।

साहित्य के संस्कारों की दृष्टि से भारत-भारती मेरा आदिवेद है। पिता राष्ट्रीय भावना से प्रेरित थे। काव्य से उनका अधिक सम्बन्ध न था। कविता की प्रेरणा मुझे बाल्यकाल में सोरों के साहित्यिक वातावरण से मिली। उस समय सभी अध्यापक कविता प्रेमी होते थे। कुछ कवि भी थे। पं० लीलाधर, पं० सुनहरी लाल, पं० टीकाराम आदि की रचनायें सुनने से कविता के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। समस्या पूर्ति के कवि-सम्मेलन सोरों में बहुत होते थे। मैं भी उनमें भाग लेता रहा। ब्रजभाषा में लिखित समस्या पूर्तियों का संग्रह आज भी मेरे पास सुरक्षित है। कुछ हरिगीतिका में रचित खड़ी बोली की रचनायें भी हैं। गुप्तजी की भाषा के संस्कार अन्त तक मेरी भाषा में रहे, यद्यपि मैंने अर्थ-भाव और व्यंजना से उसे अधिक सम्पन्न बनाने का ध्यान रखा है। एक पड़ौसी अध्यापक लाला गोपीनाथ से वीरपंचरत्न, प्रिय-प्रवास और साकेत पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वीरपंच रत्न से ही वीर रस के संस्कार मिले। हाथरस के पं० नथाराम के संगीत ग्रन्थ भी बचपन में बहुत पढ़े। सोरों की ब्राह्मणपुरी में सदा महाभारत रुपे रहते थे। लाठी अस्त्र और अलंकार दोनों थीं। कई स्थानीय संग्राम आंखों से देखे। पार्वती का वीर-रस वर्णन इन्हीं बाल-संस्कारों से प्रेरित है। 'रक्तमाण्ड-सा अरि-सिर फूट' कल्पना नहीं, बचपन देखे दृश्य का वर्णन है। सिर लाठी के युद्ध में ही फूटता है, जो आसुरी युद्धों का अस्त्र नहीं थी।

१९३१ तक सोरों रहा। १९३१ से १९३४ तक एटा में हाई स्कूल में पढ़ता रहा। हिन्दी संस्कृत के अध्यापक पंडित थे। किन्तु प्रेरक नहीं थे। एटा में एक पं० सरयूप्रसाद प्राइवेट अध्यापक थे। बड़े प्रेमी

और प्रेरक कवि थे। उनके सम्पर्क ने अविता के अनुराग को प्रेरित किया। वातावरण व्यवसायी और वकालत का था। मेहता पुस्तकालय में माधुरी-सुधा आदि पत्रिकायें पढ़ने से जन्म भूमि का काव्य-बीज सिंचित होता रहा। चांद और भविष्य के राष्ट्रीय पत्र सोरों में पढ़े थे। झांसी के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में सुभद्राकुमारी चौहान ने जो ओजस्वी कविता सुनाई थी वह माधुरी में मेहता पुस्तकालय में पढ़ी थी। आज भी याद है—

हर पत्थर पर लिखा जहां बलिदान लक्ष्मीबाई का।
कौन मूल्य है वहां सुभद्रा की कविता चतुराई का।
क्षत्राणी हूं, सुख पाने दो अरुणामृत की धारों से।
बनने दो इतिहास देश का पानी चढ़े दुधारों से।

भारत भारती, वीर पंचरत्न, पं० नथाराम के संगीत ग्रन्थों से उद्‌बोधित वीर-रस और राष्ट्रीयता के संस्कार एटा में पढ़े कुछ अन्य ग्रन्थों से घोषित हुये। इनमें प्रताप प्रतिज्ञा, प्रणवीर प्रताप, सिंहगढ़ विजय तथा हरिनारायण आपटे के शिवाजी सम्बन्धी उपन्यासों ने बहुत उत्तेजित किया। अंगरेजी युग में प्रताप शिवाजी आदि पाठ्य और प्रेरणा के स्रोत थे। गान्धी नेहरू की स्थापना हो रही थी जिन्होंने स्वाधीन भारत में ब्रह्मा विष्णु का स्थान लिया। धार्मिक और पौराणिक संस्कार होने के कारण मैं सामयिक की रचनायें न कर सका। पुरातन से संश्लिष्ट नवीन भारत ही मेरी आराधना का अवलम्ब और आकांक्ष्य रहा है।

सोरों छोड़ने के बाद एटा हाई स्कूल में पढ़ते समय में भी तीन वर्ष तक कुछ समस्या पूर्तियां तथा अन्य ब्रजभाषा कवितायें लिखीं। खड़ी बोली के छायावादी कवियों का एटा में मुझे कोई परिचय नहीं था। १९३४ में इन्टर मीडियट पढ़ने के लिए चन्दौसी आया। प्रसाद और पन्त की कवितायें हिन्दी पाठ्य में थीं। रामेश्वर प्रसाद नाम के एक मेरे साथी काशीपुर नैनीताल के निवासी थे। छायावादी कवितायें लिखते थे। उन्हीं से छायावाद की छूत मुझे लगी। स्वर्गीय भारत भूषण अग्रवाल से भी मेरी मित्रता चन्दौसी कालिज के छात्रावास में हुई। बड़ी घनिष्ठता रही। फिर प्रयाग में १९४६-४७ में उनका सान्निध्य रहा। बाद में मेरी पुरातन प्रियता और उनकी आधुनिकता के कारण सम्पर्क कम हो गया। बहजोई के एक सत्यप्रकाश वार्ष्णेय भी कविता में रुचि रखते थे। छात्रावास में निकट सम्बन्ध रहा। उनके साथ स्नेह सम्बन्ध आज भी बना हुआ है। चन्दौसी निवास के सबसे अधिक अमूल्य प्रसाद भक्त, कवि और अध्यापक पं० गंगाशरण शील के साथ स्थायी सम्बन्ध के रूप में मिला। वह उनके उदार माधुर्य भाव के अनुग्रह के रूप में ही मिला था और आज भी बना हुआ है। चन्दौसी में कोई साहित्यिक वातावरण नहीं था। व्यापारिक नगरी थी। आटा और घी की मंडी थी। मंडी में चटाइयों पर घी के ऐसे ढेर लगे रहते थे कि दूर से रुई के पहाड़ से लगते थे। कालेज में ही कुछ कार्यक्रम होते थे। पाठ्यक्रम के प्रसाद और पन्त तथा रामेश्वर और भारत भूषण की प्रेरणा से कुछ खड़ी बोली की आधुनिक (छायावादी कल्पना से प्रभावित) कवितायें मैंने चन्दौसी में लिखीं। तब से खड़ी बोली में लिखने लगा।

चन्दौसी से इन्टरमीजियट पास करके १९३६ में प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। प्रयाग का तत्कालीन वातावरण शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र की श्रेष्ठ विभूतियों के तेज से आलोकित था। विश्वविद्यालय में गंगानाथ झा, अमरनाथ झा, शिवाधार पाण्डे, देव, दस्तूर, फिराक, धीरेन्द्र वर्मा, रामकुमार वर्मा, वेणीप्रसाद, रामप्रसाद, ईश्वरी प्रसाद, ताराचन्द, रानाडे, मेघनाथ साहा, नीर तनधर आदि

प्राध्यापकों की कीर्ति वायुमण्डल में गूंजती थी। प्रायः उनके सार्वजनिक भाषण होते थे। सन् १९३७-३८ के दीक्षान्त समारोह में मालवीयजी के दर्शन करने तथा भाषण सुनने का सौभाग्य मिला। उसी वर्ष अखिल भारतीय कांग्रेस का अधिवेशन प्रयाग में हुआ। आनन्द भवन विश्वविद्यालय के निकट ही है। विश्वविद्यालय में अनेक महान नेताओं के भाषण हुये। गान्धी, नेहरू, पटेल, राजगोपालाचारी, भूलाभाई देसाई, पट्टाभि सीतारमैया, कृपालानी आदि को देखा और सुना। बाद में सुभाषचन्द्र बोस और सरोजिनी नाइडू को भी विश्वविद्यालय के सीनेट हाल में देखा और सुना। स्टैफर्ड क्रिप्स का भाषण भी सुना। वैचारिक और राष्ट्रीय चेतना की जो प्रेरणा मुझे प्रयाग के दीर्घनिवास में मिली वहीं इन क्षेत्रों में मेरी उपलब्धियों के रूप में फलित हुई है। विचार और चेतना का स्तर मेरे प्रयाग के कल्पवास का प्रसाद है।

साहित्यिक प्रेरणा के कई स्रोत मुझे प्रयाग में मिले। धीरेन्द्र वर्मा और रामकुमार वर्मा मेरे अध्यापक रहे। पन्त, निराला, बच्चन आदि भी प्रयाग में रहे। निकट सम्पर्क तो नहीं रहा। किन्तु दूर की प्रेरणा बहुत मिली। बन्धन, कंगन आदि फिल्मों के कवि प्रदीप का 'आज मत जाओ प्रवासी' गीत छात्रावास में एक मित्र के कमरे में सुना। निराला जी के मत्तगयंद तथा सिंहगति रूप के दर्शन अनेक बार लीडर रोड पर किये जिसे रामविलास शर्मा ने इन शब्दों में अंकित किया है—

वह सहज विलम्बित मन्थर गति जिसको निहार
मृग राज लाज से राह छोड़ दे एक बार।

यों प्रयाग के दीर्घ निवास में विद्या, विचार और साहित्य की प्रशस्त प्रेरणायें मिलीं। गुरु रानाडे से दर्शन, वेदान्त और उपनिषद् की दीक्षा मिली, जो जीवन भर मेरी दर्शन-साधना का सम्बल बनी रही। वेदान्त के अध्ययन के प्रसंग में उन्होंने ही मुझे संस्कृत का विशेष अध्ययन करने के लिये प्रेरित किया जिसको मैंने इन्टरमीडियट के बाद छोड़ दिया था। धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला के आचार्य पं० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी से कौमुदी, काव्य, न्याय, सांख्य आदि पढ़े। शास्त्री की परीक्षा भी की। संस्कृत शिक्षा और विश्वविद्यालय के सूत्र से डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे, डॉ० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० चन्द्रधर शर्मा आदि के साथ परिचय-सम्बन्ध हुआ जो आज भी बना हुआ है। डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे एक वर्ष एलनगंज में निकट रहे। आचार्य क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय भी निकट थे। इनसे संस्कृत और दर्शन के अभ्यास का अवसर मिला। डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे जयपुर में बहुत दिन रहे। उनसे अधिक सम्पर्क का अवसर मिला। एक बार भरतपुर आये तो शीतकाल में मेरे घर पर कम्बल में बैठे उन्होंने बड़ी मार्मिकता से स्मरण किया कि प्रयाग में हम लोग इसी प्रकार एक पलंग पर कम्बल में बैठकर योग-सूत्र पढ़ते थे। आगरा आ जाने से विद्यानिवासजी के साथ अब अधिक सम्पर्क रहता है। कुलपति डॉ० श्यामनारायण मेहरोत्रा भी मेरे प्रयाग के साथी हैं। संस्कृत अध्ययन के सूत्र से प्रयाग के साहित्यिक नेता, संस्कृत के कवि एवं गीतग्रन्थों के अनुसंधानकर्त्ता पं० प्रभात मिश्र से मेरा घनिष्ठ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित हुआ, जो आज भी बना हुआ है। साहित्य, संस्कृत, और दर्शन की त्रिवेणी साधना की उत्कृष्ट प्रेरणा मुझे प्रयाग के दीर्घकालीन कल्पवास से ही मिली। सोरों छोड़ने के बाद प्रयाग ही मेरा आश्रय रहा। प्रयाग के विख्यात वकील प्रकाशचन्द्र-चतुर्वेदी के साथ निकट मित्रता का सम्बन्ध प्रयाग में ही बना, जो मेरे व्यक्तिगत जीवन का एक सुदृढ़ अवलम्ब रहा। प्रोफेसर रानाडे, आचार्य भूपेन्द्रपति त्रिपाठी, प्रभात मिश्र, प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी और

गोविन्द चन्द्र पाण्डे की प्रेरणा का पंचामृत मेरे प्रयाग वास का पुण्य प्रसाद है।

१९३६ से १९४७ तक ग्यारह वर्ष प्रयाग ही रहा। जीविका उपार्जन, दर्शन और संस्कृत का अध्ययन तथा काव्य रचना ये तीन ही काम थे। एकान्त वास ने साधना को कठोर बना दिया। घर से सम्बन्ध छूट गया था। कहीं आना जाना नहीं था। उक्त पाँच महानुभावों का स्नेह सौहार्द ही मेरा सम्बल था। इनके अतिरिक्त स्वर्गीय डॉक्टर श्रीकृष्णलाल तथा कारवल-परिवार का मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह रहा। इन सबके स्नेह-सहयोग ने ही मेरे ग्यारह वर्ष के प्रयाग के एकान्त वास को सह्य बनाया।

इन ग्यारह वर्षों में कभी डॉ० श्रीकृष्णलाल के पास बनारस हो आता था। एक बार १९४२ में अपने एक साथी और मित्र अर्जुन सहाय के पास ग्रीष्म में शिमला में रहा। वे सचिवालय में कर्मचारी थे। शिमला में जब वे कार्यालय चले जाते मैं अध्ययन और रचना करता। वहां कुछ कवितायें लिखीं। ऊपर जिन नौ नगरियों का उल्लेख मैंने किया है उनमें शिमला को जोड़कर दस किया जा सकता है।

१९४७ में देश के साथ मेरा भाग्य भी बदला। ठीक १५ अगस्त को मैंने जोधपुर के लिये प्रस्थान किया। स्वतंत्रता के उल्लास के दृश्य मैंने स्टेशनों पर और रेल में ही देखे। १९४७ से ५१ तक जोधपुर में रहा। दर्शन के अध्ययन और अध्यापन में लीन रहा। विवाह और सन्तान से कुछ समाधान और कुछ व्यवधान भी हुआ। काव्य को मैं भूल चुका था। जोधपुर में भारतीय दर्शन के दो छोटे ग्रन्थ लिखे। विवाह के पूर्व १९४८ के ग्रीष्म में अपने साथी, मित्र तथा अनुज तुल्य बन्धु शिवसेवक शर्मा के पास देहरादून रहा। वहीं मैंने शंकराचार्य सम्बन्धी अपने शोध-ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया। शिमला और देहरादून दोनों ही स्थानों में किसी साहित्यकार से परिचय अथवा सम्बन्ध नहीं हुआ।

रचना की दृष्टि से तो नहीं किन्तु सम्बन्धों की दृष्टि से जोधपुर का मेरे जीवन में बहुत महत्व है। डॉ० सोमनाथ गुप्त के परिचय सूत्र से जोधपुर गया था। वहीं त्रिवेदी परिवार से आत्मीय सम्बन्ध जुड़ा जो अब तक बना हुआ है। उनकी पुत्री प्रभा ने मेरे जीवन में बहन के अभाव को पूरा किया। अन्य अनेक कवियों, साहित्यकारों आदि से परिचय हुआ। चार वर्ष बाद जोधपुर छूट गया किन्तु पहली नौकरी, विवाह, सन्तान, स्नेह-सम्बन्ध आदि की दृष्टि से जोधपुर की मेरे जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका है।

१९५१ में मैं जोधपुर से जयपुर आया। १९५३ तक रहा। फिर १९५५-५६ में एक वर्ष रहा। जयपुर में कवियों, साहित्यकारों, सहयोगी अध्यापकों से विपुल सम्बन्ध बने। उनमें अनेक आज भी जयपुर में हैं। जयपुर राजधानी है। विश्वविद्यालय है। अनेक कार्यों और कारणों से वहां जाता रहा हूं। जयपुर मेरे राजस्थानी जीवन की धुरी है। साहित्य-साधना तो जयपुर में अधिक न हो सकी। किन्तु सम्बन्ध-संपर्कों के सूत्र जयपुर में बहुत हैं। विश्वविद्यालय में मेरे अनेक साथी-परिचित अध्यापक हैं। मैं जल्दी अवकाश पाने की इच्छा के कारण नहीं गया। पं० देवीशंकर तिवारी के परिवार से परिचय जयपुर की एक प्रमुख उपलब्धि है। जोधपुर का त्रिवेदी परिवार भी जयपुर आ गया था। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय डॉ० सरनामसिंह शर्मा पड़ौसी और प्रेमी रहे। घरेलू सम्बन्ध था। डॉ० नन्दकिशोर शर्मा तथा डॉ० प्रकाशकुमार श्रीवास्तव जो मेरे विद्यार्थी रहे; विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में अध्यापक हैं। शास्त्री कालिज के डॉ० विष्णुचन्द्र पाठक और हरीशचन्द्र शर्मा मेरे शिष्य रहे हैं। डॉ० पी० डी० शर्मा मेरे मित्र हैं। शिक्षा सचिव स्वर्गीय विष्णुदत्त शर्मा मेरे प्रयाग के साथी थे।

जयपुर में दो बालक पुत्रों के लालन का दायित्व था। फिर भी दर्शन का एक छोटा ग्रन्थ वहां लिखा।

'पार्वती' महाकाव्य का आरम्भ भी सन् १९५३ के नवरात्रि में जयपुर में ही अचानक हुआ। 'भवानी-स्तोत्र' का पाठ करते-करते अकस्मात् मंगलाचरण के कुछ छन्द बन गये। मैं कविता को भूल चुका था। किन्तु ममतामयी माता की भांति वह मुझे आश्रय देने के लिये स्वयं ही सहसा उपस्थित हो गईं। मां भारती का आदेश लेकर मैंने कोटा आकर 'पार्वती' महाकाव्य सम्पूर्ण किया। मेरी पत्नी ने जयपुर में ही हाईस्कूल की परीक्षा दी। दो बालक पुत्रों को छोड़कर परीक्षा देने जाती थी। मैं परीक्षा भवन के बाहर उन्हें खिलाता रहता था।

१९५३ से १९५५ तक दो वर्ष कोटा रहा। इन दो वर्षों में ही मैंने 'पार्वती' महाकाव्य की रचना की। साहित्य साधना की दृष्टि से कोटा की यह स्मृति मेरे जीवन का अमर सन्दर्भ है। वहीं डॉ० फतहसिंह तथा आचार्य सुरजनदास स्वामी से परिचय हुआ जो जीवन भर स्थायी सम्बन्ध बन गया। दोनों के साथ सांस्कृतिक एकता सम्बन्ध की सुदृढ़ सूत्र रही। कोटा के कुछ विद्यार्थी भी स्थायी सम्बन्ध के पात्र बन गये। दुबे उमादत्त अनजान को 'पार्वती' के प्रकाशन के प्रसंग में जाना। अन्य विद्यार्थियों में कान्तिचन्द्र गौतम और बद्रीप्रसाद पंचोली क्रमशः मालावाड़ तथा अजमेर में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। रणवीर सहाय वर्मा न्यायाधीश हैं।

अल्पवय पुत्रों के लालन के उत्तरदायित्व के साथ 'पार्वती' की रचना एक कृच्छ्र साधना रही। कोटा में ही सितम्बर १९५३ में मेरी कन्या अर्चना का जन्म हुआ। कोटा में ही मेरी पत्नी ने इन्टर मीजियट परीक्षा दी। कुछ लेख और कवितायें भी लिखीं। 'पार्वती' का प्रकाशन भी कोटा में ही १९५५ के ग्रीष्म में हुआ। दोपहरी में दिन भर दो प्रेसों में घूम-घूमकर दो मास में उसका मुद्रण कराया। कवि की दृष्टि से कोटा का यह सौभाग्य सदा याद रहता है।

१९५५-५६ में एक वर्ष फिर जयपुर रहा। कुछ लेख और कवितायें लिखीं। अनेक स्थानीय कवियों से सम्पर्क रहा। सन् १९५६ में डालमिया पुरस्कार के निमित्त से दिल्ली में मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि से भेंट हुई। सबने व्यक्तिगत रूप से 'पार्वती' की प्रशंसा की किन्तु सार्वजनिक दृष्टि से 'पार्वती पूर्णतः अचर्चित रही है। यह अचर्चा ही मेरे काव्य से आलोचना, आलोचना से संस्कृति, संस्कृति से दर्शन और अन्ततः हिन्दी से अंगरेजी लेखन की ओर स्खलित होने का कारण है।

१९५६ में भरतपुर आया। पत्नी के पीहर आगरा के निकट होने के कारण भरतपुर सुविधाजनक था। भाषा-संस्कृति आदि की समानता ने भी आकर्षित किया। सबसे बढ़कर बात यह रही कि भरतपुर में छात्रों, नागरिकों आदि सबकी ओर से इतना स्नेह एवं सम्मान मिला कि भरतपुर ही मेरा स्थायी निवास बन गया। जिन लोगों ने मुझे आत्मीयता के साथ अपनाया है, उन्हें यह भान भी नहीं है कि मैं भरतपुर का मूल निवासी नहीं हूं। भरतपुर ब्रज क्षेत्र का एक सीमान्त है। मथुरा गोवर्धन आदि निकट हैं। गोवर्धन की परिक्रमा धर्माचार का एक अभिन्न अंग है। 'गिरिराज महाराज की जय' यहां का दैनिक उद्घोष है। इन कारणों से भरतपुर मुझे मातृभूमि की भांति प्रिय हो गया। वस्तुतः भरतपुर मेरी सांस्कृतिक मातृभूमि है। भरतपुर आकर मुझे बीस वर्ष के बाद ब्रजभाषा सुनने बोलने का अवसर मिला। स्नेह और सम्मान के साथ-साथ मुझे भरतपुर में इतनी प्रतिष्ठा मिली जो एक कूपमण्डूक साहित्यकार के लिये बहुत अधिक थी। मेरे जीवन का कूप कीर्ति और मान के अमूल्य रत्नों से भर गया। व्यापक सन्दर्भ में दीन साहित्यकार नगर सेठ की भांति स्थानीय सन्दर्भ में सम्पन्नता का सम्राट बन गया। सरकारी पदोन्नति के सभी पदों का

विचार छोड़कर मैं घाटे के पद पर ही भरतपुर में बना रहा। स्नेह और सम्मान से इस घाटे की पूर्ति होती रही जैसे माता का प्रगाढ़ प्रेम बालक को अन्य दिशाओं के आदर के प्रति निराकांक्ष्य बना देता है, वैसे ही भरतपुर की भावनिधि ने मुझे सभी दिशाओं के मान-लाभ की ओर से निराकांक्ष्य बना दिया। मैं सभी ओर से उदासीन होकर साहित्य साधना में संलग्न हो गया और आज भी सक्रिय हूं। इस सबका श्रेय भरतपुर के छात्रों, अध्यापकों, व्यवसायियों, साहित्यकारों तथा उन सभी नागरिकों को है जिनका-परोक्ष-अपरोक्ष किसी भी रूप में मेरे प्रति स्नेह-सम्मान का भाव रहा है। इस भरतपुर में केवल नगर वासी ही नहीं वरन् जिले के अन्य स्थानों, ग्रामों आदि के लोग भी सम्मिलित हैं। भरतपुर क्षेत्र मेरी साधना का सर्वाधिक श्रेयशील तीर्थ है, वह एक कूपमंडूक साहित्यकार का समग्र संसार है।

भरतपुर की इस भावनिधि ने मुझे व्यावहारिक दृष्टि से अचल और साधना की दृष्टि से तन्मय एवं एकाग्र बना दिया। दीन की सम्पत्ति की भांति मैं इस भाव-निधि को संजोता रहा हूं। भरतपुर से बाहर की ख्याति, प्रकाशन, लाभ आदि किसी का भी विचार न करके मैं चौबीस वर्ष से निरन्तर लेखन में संलग्न रहा हूं। बहुत लिखा है। प्रकाशित कम हो सका है क्योंकि प्रकाशकों से कोई प्रभाव-सम्बन्ध नहीं बना सका। १९५७ के एक वर्ष में ही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' नामक विशाल आलोचना-ग्रन्थ लिखा। उसके बाद हिन्दी और अंगरेजी का लेखन समानान्तर चलता रहा। कविता और अंगरेजी तो मैं अपने हाथ से ही लिखता हूं। कविता इसलिये कि रात्रि और प्रभात के समय के लिये कोई लिपिकार सुलभ नहीं होता; दूसरे बोलकर कविता लिखाने के योग्य वाक्-सिद्धि कुछ कारणों से प्राप्त नहीं कर सका, यद्यपि इसकी तीव्र आकांक्षा रही। अंगरेजी का लिपिकार भी भरतपुर में मिलना कठिन था। अल्प पारिश्रमिक देकर छात्रों को ही मैंने हिन्दी ग्रन्थों के श्रुतिलेख का लिपिकार बनाया। छात्रों की अंगरेजी योग्यता इतनी नहीं होती। एक अंगरेजी ग्रन्थ के लिपिकरण का कार्य मेरे कनिष्ठ पुत्र प्रमोद ने किया है।

भरतपुर के हिन्दी लेखनकार्य में जिन छात्रों का सहयोग मुझे मिल सका उनमें मोहनलाल मधुकर, प्रकाशकुमार श्रीवास्तव, रामप्रसाद शर्मा, महेशकटर पंच, हरीशचन्द्र शर्मा, विष्णुचन्द्र पाठक, और विष्णु-दत्त शर्मा मुख्य हैं। इन्होंने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' 'जीवन्त संस्कृति', अभिनव रस मीमांसा, समात्मभाव, सांस्कृतिक भाषाविज्ञान, आदि ग्रन्थों तथा अनेक लेखों का श्रुतिलेख लिपिबद्ध किया है। 'साहित्य कला' का लिपिकरण मेरी पत्नी ने किया है। अंगरेजी के प्रकाशित, अप्रकाशित ग्रन्थ मैंने अपने हाथ से ही लिखे हैं। पत्नी के अनुरोध पर रचित बारह खण्डकाव्य भी मैंने अपने हाथ से ही लिखे हैं। उनकी प्रतिलिपि पत्नी ने की है। भरतपुर में चौबीस वर्षों में रचित काव्य, साहित्य, संस्कृति, दर्शन और अंगरेजी ग्रन्थों का परिमाण बहुत है। एक साधन-सुविधा-हीन साहित्यकार के सन्तोष के लिये वे पर्याप्त हैं।

ग्रन्थों के लिपिकरण के निमित्त से कुछ छात्रों के साथ निकट का सम्पर्क रहा। उनके श्रम का अल्प पारिश्रमिक ही मैं उन्हें अपने अल्प वेतन से दे सका। किन्तु जिस श्रद्धा और सद्भाव के साथ उन्होंने मेरी साहित्य साधना में सहयोग दिया, वे मेरे जीवन की अमूल्य निधि बन गये हैं। लिखने के लिये घर में आने वाले छात्रों को सहज वात्सल्य देकर मेरी महीयसी पत्नी ने उन्हें पुत्र-कल्प बना लिया। आज भी उनसे वैसा ही सम्बन्ध बना हुआ है। उनमें जो भरतपुर में रहते हैं वे घर आते हैं, जैसे वे घर के ही सदस्य हैं। जो दूर हैं वे भी अपने दूरवासी पुत्रों की भांति आत्मना निकट और अभिन्न हैं। जो छात्र मेरे लिपिकार नहीं रहे उनमें भी अनेकों के साथ आत्मीय भाव-सम्बन्ध हैं।

छात्रों के अतिरिक्त अध्यापकों और नागरिकों में भी अनेकों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पुराने छात्र अब अध्यापक और गृहस्थ हैं। इनमें रामप्रसाद शर्मा, रामकृष्ण शर्मा, मोहनलाल मधुकर भारतभूषण आर्य आदि कुछ तो मेरे पुत्रवत् और परिवार के अभिन्न सदस्य बन गये हैं। एक युवक अध्यापक रामरतन शास्त्री संस्कृत के सूत्र से सम्बन्ध बनाकर नये पुत्र की भांति विशेष वात्सल्य के भाजन बन गये हैं। एक छात्र द्वारकाप्रसाद शर्मा मेरे स्थानीय प्रकाशक बन गये जिन्होंने पुत्रवत् सेवा और घरेलू कामों में सहज आत्मीयता के भाव से व्यावसायिकता के ऊपर मानवीयता की सुदृढ़ स्थापना की है। इतनी सुदृढ़ कि वे पुत्रतुल्य मेरे प्रकाशनों के अधिकारी और घर के कठिन भारों के उत्तरदायी बन गये हैं। मुझे गृह-चिन्ता से मुक्त कर मेरे रचनाधर्म को सफल बनाने में पत्नी के अतिरिक्त द्वारकाप्रसाद का दूसरा स्थान है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक नवयुवक हैं जिनसे अधिक सम्पर्क नहीं रहता किन्तु भाव और सम्बन्ध की दृष्टि से उन पर मेरा पुत्रवत् अधिकार है। पुस्तकों के मुद्रण के सम्बन्ध में अलवर के शर्मा इलेक्ट्रोमेटिक प्रेस के स्वामी श्री रमेशचन्द्र शर्मा मेरे आत्मीय बन गये। उनके पुत्र विशालभारत शर्मा और प्रवीणभारत शर्मा पुत्रवत् श्रद्धा से मेरे ग्रन्थ छापते रहे हैं।

अध्यापकों में जो मेरे विद्यार्थी नहीं रहे तथा आयु में छोटे हैं उनमें अनेकों के साथ मेरा भ्रातृभाव है। मैं उनके प्रति छोटे भाई का सा व्यवहार करता हूं और वे भी मुझे तदनुरूप आदर देते हैं। इनकी संख्या भी बहुत है। इनमें सत्यनारायण मूर्ति, सुरेन्द्रनाथ अग्निहोत्री, गणेशदत्त शर्मा, निर्भयसिंह शर्मा, रामप्रकाश शर्मा स्वर्गीय जगदीशप्रसाद दक्षिणी आदि प्रमुख हैं। दो अनुज तुल्य आत्मीयों के पड़ौस का सौभाग्य मुझे मिला है, जिनके नये मकान मेरे मकान के दोनों ओर हैं, गोविन्दशरण गुप्त और श्यामबिहारी शर्मा, सगे भाई के समान हैं। सगे भाइयों में सम्पत्ति के कारण द्वेष-विरोध होता है। वह यहां नहीं हैं, वरन् लाभ है। हम तीनों ही एक दूसरे के सान्निध्य से प्रसन्न हैं। यह सान्निध्य संयोग से ही मिला है अतः मैं इसे अपना सौभाग्य ही मानता हूं। इनकी पत्नियां भी हम दोनों को सम्बन्धानुरूप आदर देती हैं और बच्चे भी अभीष्ट आत्मीयता मानते हैं। जोधपुर-जयपुर की मेरी राखी-बन्ध् बहन प्रभा की सहेली कुसुम माथुर मेरी दूसरी राखीबन्ध बहन बनी जो निकट होने के कारण अठारह वर्ष से राखी बांध रही हैं।

इस प्रकार अपने परिवार के सम्बन्धों से वंचित एक प्रवासी साहित्यकार को भरतपुर में एक विशाल परिवार का स्नेह सम्बन्ध मिला है। इतने विशाल परिवार का सुख-स्नेह पाकर मैं विपुल भाव-सम्पति से सम्पन्न हूं।

समवयस्कों का सम्बन्ध मुझे इतना अधिक नहीं मिल सका। विद्यार्थी काल के इने गिने मित्र हैं। मैं वात्सल्य से वंचित रहा। अतः बन्धुत्व की अपेक्षा मुझमें वात्सल्य का भाव अधिक है। साथी अध्यापक प्रायः आयु में छोटे ही रहे क्योंकि मैं प्रोन्नति के पदों की उपेक्षा करता रहा। कालिज के प्रिन्सिपलों में सर्व श्री शारदा प्रसाद कौशिक, शान्ति स्वरूप, कृष्णकिशोर महर्षि और पुरषोत्तम सिन्हा का बड़ा अनुग्रह रहा, जिससे साहित्य साधना में प्रेरणा मिली। ये सभी मेरी साधना की सराहना कर मुझे प्रोत्साहित करते रहे। इनके अतिरिक्त किशनलाल भटनागर, हर सहाय सक्सैना और दर्शन विभाग के अध्यक्ष गोपाल बिहारी माथुर के साथ कुछ समवयस्क सौहार्द की आत्मीयता रही है।

भरतपुर के नागरिक मेरा बड़ा आदर करते रहे हैं। किन्तु वे कुछ दूर ही रहे हैं। घर से उपेक्षित

होने के कारण सामाजिक सम्बन्ध बनाने की चेष्टा मुझमें नहीं है। जितने भी सम्बन्ध बने हैं उनमें बनाने वालों की ही चेष्टा अधिक रही है। मैं तो केवल वांछित प्रतिभाव से उन सम्बन्धों का निर्वाह करता रहा हूं। अधिकांश सम्बन्ध छोटों के साथ है जिनके निर्वाह में वात्सल्य और आतिथ्य के द्वारा मेरी पत्नी का योग एवं उद्यम अधिक है। मेरा भाव और शब्द का ही अधिक योग है। नागरिकों में किसी ने भी मेरे साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न नहीं किया। यों आदर बहुत लोग करते हैं। इस दृष्टि से तीन अपवाद हैं। प्रथम और प्रमुख भरतपुर के प्रतिष्ठित सेठ सन्तोषीलाल जी हैं। न जाने किन सूत्रों से मुझे जानकर वे मेरे प्रति एक प्रगाढ़ प्रेम और आन्तरिक आदर का भाव संजोते रहे, जिसका आभास मुझे बहुत विलम्ब से मिला, जब मैं अपने पुत्रों और पुत्री के विवाह का निमन्त्रण देने के लिये उनके पास गया। मेरा निमन्त्रण का संकोचपूर्ण पत्र उनकी ओर से उदार सहायता और अपार प्रेम का प्रदान-पत्र बन गया। बचपन से अकेले और असहाय रहने के कारण किसी की भी सहायता खोजने की वृत्ति मुझमें नहीं है। असंख्य छात्र और अनेक अनुजों की श्रद्धा पाकर भी मैं उनसे बहुत कम व्यावहारिक सहायता लेता रहा हूं। आर्थिक अथवा भौतिक सहायता लेने के प्रति मेरी तथा मुझसे अधिक मेरी पत्नी की अरुचि रही है। किन्तु सेठ सन्तोषीलाल जी ने जिस आत्मीयता और अधिकार के साथ मेरे पुत्रों के विवाहों में मोटर बस, कारों आदि की सहायता तथा पुत्री के विवाह में अपने भव्य अतिथि गृह, साज-सज्जा तथा अपने कर्मचारियों की सेवा अपनी ओर से आवश्यक मानकर जिस सहज भाव से अयाचित ही प्रदान की उसने मुझे कृतज्ञता से विभोर कर दिया और स्थायी रूप से उसके साथ एक अभिन्न आत्मीयता स्थापित कर दी। श्रीमन्तों में तो वे ही एक अपवाद हैं जिनके यहां मैं बिना बुलाये भी जाता हूं, और अधिक दिन न मिल पाने पर मिलने की इच्छा मुझे विवश करती है तथा जिनसे मिलकर मुझे शान्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है। चिन्तन और रचना में निमग्न रहने से मैं जिस सीमा तक व्यावहारिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के अयोग्य बन गया हूं, उस सीमा को सेठ सन्तोषीलाल जी जितना समझते और मानते हैं उतना मेरी पत्नी भी गृहकार्यों की अनिवार्यता के कारण नहीं मानतीं। मेरी अयोग्यताओं को मानने के कारण वे मेरे व्यावहारिक स्खलनों का भी विचार नहीं करते। मेरी व्यावहारिक अयोग्यताओं को मानने में उनका अनादर का भाव नहीं है, वरन मेरी साधनात्मकता का गहन आदर है, जितना कि मुझे कोई नहीं दे सका। यदि सरकार या कोई संस्था दे सकती तो अध्यापन में बिताये पिछले तीस वर्षों की अतिरिक्त रचनायें (जो संभव न हो सकीं) उस आदर का मूल्य बता सकतीं। मेरे अभिनन्दन के प्रसंग में जब एक शिष्ट मंडल सेठ सन्तोषीलाल जी से मिला तो उन्होंने मेरे प्रति अपने प्रेम और आदर की विपुलता से उसे विस्मित कर दिया। सेठ सन्तोषीलाल जी के अनुज श्री प्रेमचन्द जी भी मेरा अनुरूप आदर करते हैं।

अपनी ओर से मेरे साथ सम्बन्ध बनाने वाले नागरिकों में दूसरे ब्रिगेडियर घासीराम जी हैं तथा तीसरे डाक्टर गिर्राजप्रसाद शर्मा हैं। ब्रिगेडियर साहब सैनिक हैं और धार्मिक व्यक्ति हैं। धार्मिक सांस्कृतिक योजनाओं में हमारा संयुक्त प्रयास रहता है। मेरा घर उनके लिये नगर के मार्ग में पड़ता है। प्रायः मेरे घर आ जाते हैं। यह उनकी आत्मीयता और उदारता का प्रमाण है। डाक्टर गिर्राजप्रसाद जी के साथ पुरातन मान्यताओं, सहज भाव और सरल व्यवहार के कारण बन्धुत्व का-सा सम्बन्ध बन गया है। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसने मुझे निष्कारण बन्धुत्व का स्वरूप और अर्थ स्पष्ट किया। इन समवयस्क सम्बन्धों ने मेरे जीवन के एक गहन अभाव को पूरा किया है।

कवि की विदा

डॉ० मूलचन्द्र पाठक

तुम कहीं भी दूर मधुवन में खिलो, पर
सुरभि बन कर पास आते ही रहोगे ।

तुम धरा के चांद हो पीयूष दानी
चांदनी से मुस्कराते हो तिमिर में ।
भावना के, ज्ञान के मुकुलित कुमुद-दल
तुम खिलाते नित रहे मन के अजिर में ।

तुम हंसो भू के किसी अवकाश में भी,
प्रीति-ज्योत्स्ना के परस से पर हृदय के
ज्वार स्मृतियों के जगाते ही रहोगे ।

विश्व-मानव के लिए भर स्नेह उर में
साधना के दीप से तुम जल रहे हो ।
तुम किसी नूतन उषा की खोज में ज्यों
यामिनी के याम-पथ पर चल रहे हो ।

तुम जलो भू की किसी भी पथ ड़गर में
स्नेहमय आलोक से पर उर तिमिर में
ज्योति की ऊषा जगाते ही रहोगे ।

लिख रहे हो तुम चिरन्तन लेखनी से
आज मानव-भाग्य की नूतन कहानी ।
शुष्क संस्कृति के विटप को सींचते हो
आत्म-रस का दान देकर आत्मदानी ।

अवनि की रसवेणु ! तुम गूंजो कहीं भी
तुम चिरन्तन मनुज के शाश्वत हृदय में
भावना के गीत गाते ही रहोगे ।

बांध सकता देश-बन्धन देह को तो
पर हृदय को क्या कभी वह बांध पाया ।
तोड़ सकता काल तंत्री सांस की पर
गूंजता चिरकाल जीवन-राग आया ।

सुकवि ! तुम गाओ किसी दिक्-काल में भी
किन्तु नश्वर बीन के अमर स्वरों से
चिर मनुज-मन को लुभाते ही रहोगे ।

यह कविता १९५६ में डॉ० तिवारी के कोटा से स्थानान्तरण पर लिखी गई थी । डॉ० पाठक उन दिनों वहां संस्कृत में एम० ए० कर रहे थे ।

—सम्पादक

मेरी साधना : मेरा अभिनन्दन

—डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन

'साधना' किसी साध्य की निष्ठापूर्वक आराधना है। तन्मयता के द्वारा साधना ही साध्य बन जाती है। साध्य के रूप में साधना स्वयं अपना पुरस्कार है। सामाजिक सराहना और पुरस्कार से वह वाह्य रूप में फलवती होती है। आन्तरिक अर्थ में साधना स्वयं अपने में कृतार्थ होती है। इस कृतार्थता से सन्तोष होता है। सामाजिक पुरस्कार प्रसन्नता देता है।

मेरी साधना आन्तरिक रूप में मुझे कृतार्थता का सन्तोष देती है। सीमित रूप में कुछ सामाजिक सराहना और आर्थिक पुरस्कार भी मुझे मिले हैं। ये मेरे साधना पथ के अल्प सम्बल रहे हैं। इस अल्प सम्बल ने मेरी साधना-यात्रा को सम्भव बनाया। राजस्थान मंच के द्वारा मेरा सार्वजनिक अभिनन्दन मेरी तीर्थ-यात्रा की अनुपम परिणति है।

साधना और अभिनन्दन मेरे जीवन के दो अनुपम सौभाग्य रहे हैं। साधना तो मेरे जीवन का सहज धर्म रही है और अभिनन्दन समीप के समाज का स्नेहपूर्ण अनुग्रह रहा है। सामान्यतः लौकिक लक्ष्यों की साधना ही मनुष्य का अभीष्ट बनती है। जन्म और जीवन के अभावों एवं प्रभावों से सांस्कृतिक साध्य कुछ व्यक्तियों के अभीष्ट बनते हैं। इस सन्दर्भ में प्रायः दुर्भाग्य ही सौभाग्य बन जाता है।

शैशव के मातृ-वियोग और वात्सल्याभाव ने कदाचित् मेरे जीवन में साधना का बीज बोया जो आज सफल होकर अभिनन्दनीय कल्पवृक्ष बना है। माता का अंचल छूटने के कारण माँ भारती के स्नेहांचल की छाया में सारस्वत साधना ही मेरा जीवन बन गई। बाल्यकाल से ही कुछ कविता रचना आरम्भ कर दिया। अध्ययन भी उसी साधना का अंग बन गया। परिवार से उपेक्षित तथा साधनों से वंचित होने के कारण दोनों ही साधनायें कठिन रहीं। किशोर काल में साधन हीन की शिक्षा एक कठिन क्लेश रही। यौवन और प्रौढ़ वय में साहित्य-साधना अपनी विपुलता के कारण दुर्वह बन गई। अध्ययन-अध्यापन के साथ अधिक साहित्य-रचना के लिए समय, शक्ति आदि की कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। अध्यापन के पिष्टपेषण से मौलिक रचना का विरोध भी बाधा उत्पन्न करता है। फिर भी रातों में जगकर तथा प्रायः ब्रह्मवेला में निद्रा का समय बचाकर जो कुछ जीवन में लिख सका हूं वह कुछ प्रकाशित होकर सबके सामने है; उसमें बहुत कुछ अप्रकाशित है। सब मिला कर परिमाण में इतना है कि एक लघु जीवन के सन्तोष के लिए पर्याप्त है।

संयमी तो इतना नहीं हूं। संयम से नहीं, कुछ परवश-सा रचना करता रहा हूं। विचारों और भावों का ज्वार मुझे रचना के प्रवाह में बहाता रहा है। फिर भी अध्यात्म के अर्थ में नहीं वरन् स्थूल अभियान के रूप में गीता का 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागृति संयमी' मेरी रचना-साधना के सन्दर्भ में घटित

होता रहा है। रात्रि-रचना के कारण मेरी साधना परिवार के लिये कम बाधक रही, फिर प्रातःकाल की रचना परिवार के प्रति मेरे सेवाधिकार में अवश्य विक्षेप रही। मानसिक रूप से अधिक व्यस्त रहने के कारण परिवार की सुख-सुविधा पर इतना ध्यान न दे सका। साहित्यकार का यह सामान्य अपराध मेरी रचना के अनुपात में मेरे लिये कुछ अधिक बन गया। लेखन तथा उसके साथ प्रकाशन में होने वाले व्यय ने मेरे इस अपराध को और बढ़ा दिया। मेरी पत्नी और सन्तान की शिक्षा भी एक कठिन साधना के रूप में सम्पन्न हुई है। उसकी वाह्य सफलता ईर्ष्या तथा आश्चर्य का विषय रही है। किन्तु हमारी समग्र पारिवारिक साधना के क्लेशों को कोई नहीं जानता। अल्प-वेतन और लेखन-प्रकाशन के व्यय के बीच हम सबने जिन विषमताओं में यह साधना सम्पन्न की है, उसे किसी विरले ही अध्यापक के परिवार ने अपना लक्ष्य बनाया होगा। फिर पाण्डुलिपियों, टंकित प्रतिलिपियों, प्रकाशित पुस्तकों के संस्करणों को संभालने, रखने-उठाने आदि में मेरी पत्नी और पुत्री ने जो कष्ट उठाये हैं, उनका ध्यान मुझे प्रायः क्षुब्ध करता रहा है।

अस्तु, अनेक क्लेशों से मेरी यह साहित्य-साधना एक कृच्छ् पारिवारिक तप रही है। विषयों की विविधता और गम्भीरता ने मेरे अनाथ मन के लिये इस साधना को दुष्कर बनाया। बाल्यकाल से कविता में लगन रही। दर्शन का विद्यार्थी बनकर विचारक बन गया। काव्य में भी गम्भीरता आ गई। **'पार्वती'** महाकाव्य कविता और दर्शन के इसी संगम का फल है। 'पार्वती' की आलोचनाओं ने साहित्य-समीक्षा की ओर अभिमुख किया। **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** का विशाल समीक्षा-ग्रन्थ इसी दिशा की उपलब्धि है। सत्यं शिवं सुन्दरम् की रचना के प्रसंग में कुछ सांस्कृतिक विचार उठते रहे। उनके ही सूत्र से हिन्दी और अंगरेजी में कुछ संस्कृति सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे। दर्शन व्यवसाय और अनुराग दोनों रहा। सेवानिवृत्त होकर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की नियुक्ति के अन्तर्गत उपनिषद् और गीता सम्बन्धी अध्ययन प्रस्तुत किये। काव्य रचना तथा हिन्दी लेखन में हिन्दी-समाज का अल्प भी प्रोत्साहन न पाकर मैं प्रतिक्रिया और क्षोभ से अंगरेजी में लिखने की ओर प्रवृत हुआ। मूलतः मैं कवि था और 'पार्वती' के बाद रामकथा और कृष्णकथा तथा कुछ खण्डकाव्य रचने का उत्साह था। मेरे संकल्प की दुर्बलता और हिन्दी-समाज की उपेक्षा ने मुझे अपने सहज काव्य-पथ से भ्रष्ट कर मुझे हिन्दी गद्य तथा उसके बाद अंगरेजी गद्य-लेखन के मार्ग में प्रेरित किया। इस विक्षुब्ध-साधना में भी बीच में मेरी पत्नी ने अपने अनुरोध बल से कुछ खण्ड-काव्य मुझसे लिखवा लिये, इनका श्रेय उनको ही देना होगा।

सुविधा, साधन, लाभ आदि की दृष्टि से मेरी साहित्य-साधना मेरे लिये तपस्या और मेरे परिवार के लिये क्लेशकर रही है। व्यापक यश-लाभ का निमित्त तो मेरी साधना न बन सकी किन्तु सीमित रूप में सामाजिक प्रशंसा-प्रतिष्ठा का सन्तोष मुझे अवश्य मिला। यही सन्तोष मेरी विक्षुब्ध साधना का सम्बल रहा।

कुछ अच्छा विद्यार्थी होने के कारण गुरुजनों और साथियों की प्रशंसा का पात्र मैं आरम्भ से ही रहा। इस प्रशंसा से प्रेरणा भी मिलती रही। थोड़ा बहुत जो कुछ रचता रहा, उसे साथी और मित्र सराहते रहे। निकट-वर्ग की यह सराहना सर्वदा मेरा सम्बल रही है। बचपन के एकाकीपन से जीवन में कुछ गोपन-वृत्ति रही। जीवन की अन्तर्वेदनायें सामाजिक अभिव्यक्ति के स्थान पर साहित्यिक अभि-व्यक्ति का उपादान बनी। किसी की रचनायें देखने-सुनने की उत्कण्ठा लोगों में कम होती है, ऐसी मेरी

धारणा रही है। इस कारण भी मैं अपनी रचनायें लोगों को प्रत्यक्षतः कम दिखाता रहा। कविता सुनाने का मुझे शौक न था। कण्ठ भी इतना संगीतमय न था कि स्वर से ही श्रोताओं को रिझा सकता। रचनाओं की विचारात्मकता सदा सहज सराहना में बाधक रही। प्रयाग में १९३७ में 'परिणय' के नाम से एक किशोर-काव्य प्रकाशित किया, उसकी प्रौढ़ता की श्री जगदीशचन्द्र माथुर आदि ज्येष्ठ बन्धुओं ने प्रशंसा की। एक हार्दिक बन्धु (स्वर्गीय) हृदयनारायण माथुर के साथ कुछ चलचित्र देखकर जो दो चार लेख प्रयाग के अंगरेजी पत्र 'लीडर' में लिखे उनकी अंगरेजी भाषा के सौन्दर्य की अनेक मित्रों ने सराहना की।

भाषा पर मेरा आरम्भ से ही अधिकार रहा। वात्सल्य के अभाव और सुख के साधनों से वंचित साधक को मां सरस्वती ने शब्द-वैभव का वरदान दिया। बाल्यकाल में अनेक कवितायें कण्ठस्थ थीं। उन्हें सुनकर सोरों के साधारण साहित्य प्रेमी मेरी सराहना करते थे। फिर भी न जाने किस दबाव से सोरों रहते हुये विद्यार्थी के रूप में मेरी प्रतिभा चमक न सकी। सोरों छोड़कर एटा हाईस्कूल में आते ही मैं चमक उठा। कक्षाओं में प्रथम आता रहा। साथी और गुरुजन दोनों बड़ा आदर देते रहे। चन्दौसी इन्टर कालिज में आकर मुझे विशेष मान मिला। भाषा, कविता और योग्यता तीनों की दृष्टि से मुझे प्रशंसा मिलती रही। प्रयाग विश्वविद्यालय में आकर आर्थिक कठिनाइयों के दबाव से मैं द्वितीय श्रेणी का विद्यार्थी रह गया। फिर भी न जाने किस चमत्कार से परिचित साथियों और अध्यापकों के समाज में मुझे विशेष मान मिलता रहा।

जोधपुर में १९४७ से दर्शन का अध्यापक बनकर मैंने विद्यार्थियों, अधिकारियों और नागरिकों में निरन्तर प्रतिष्ठा और प्रशंसा पाई। 'पार्वती' और 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के प्रकाशन के पूर्व मेरी प्रतिष्ठा का आधार अध्यापन ही रहा। मेरे विद्यार्थी मेरी ख्याति के राजदूत रहे। १९५६ में भरतपुर में बस जाने के पूर्व भी जोधपुर, कोटा और जयपुर में रहने के कारण राजस्थान में मेरी पर्याप्त प्रतिष्ठा बन चुकी थी। साहित्य-रचना और पुरस्कारों से यह प्रतिष्ठा कुछ और बढ़ी। भरतपुर के चौबीस वर्ष के स्थायी निवास में यह प्रतिष्ठा मेरी स्थायी सम्पत्ति बन गई। कालिज में गांवों से बहुत विद्यार्थी आते हैं। वे गांव-गांव में मेरी कीर्ति फैलाते रहे हैं। गांव-गांव में लोग मेरे नाम से परिचित हैं। भरतपुर नगर के निवासियों ने भी मुझे बहुत आदर मान दिया है। शिक्षित वर्ग साहित्यकार के रूप में भी मेरा आदर करता है। भरतपुर का यह स्थानीय सम्मान मेरे लिये एक छोटे किसान की अपनी कृषि-सम्पत्ति के समान सन्तोषजनक रहा है। इसी के बलबूते पर मैं विशाल हिन्दी समाज के द्वारा अपनी उपेक्षा के अनादर को सहन कर अपने साधना-मय जीवन का निर्वाह करता रहा हूं। भरतपुर की हिन्दी साहित्य समिति सदा मेरा आदर करती रही है। आसपास के विद्यालय मुझे अनेक अवसरों पर आमन्त्रित करते रहे हैं। हिन्दी साहित्य समिति ने विधिवत् भी मेरा अभिनन्दन किया है।

इसके अतिरिक्त 'पार्वती' आदि ग्रंथों पर मुझे कुछ पुरस्कार भी मिले। इन पुरस्कारों ने भी साधारण लोगों की दृष्टि में मेरे सम्मान को बढ़ाया, यद्यपि ये पुरस्कार वास्तव में इतने सम्मानपूर्ण नहीं हैं और न ऐसे सम्मान के साथ दिये जाते हैं। उदयपुर की राजस्थान साहित्य अकादमी ने अपना सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान 'मनीषी' के पद के रूप में मुझे १९७३ में दिया। तत्कालीन शिक्षामंत्री श्री शिवचरण माथुर ने मेरे भरतपुर से बाहर जाने के अनिच्छुक होने के कारण विशेष रूप से मेरे लिये भरतपुर में

दर्शन की स्नातकोत्तर कक्षायें खोलीं। मेरे लिए राजकीय सम्मान का यह एक विशेष स्मरणीय रूप रहा। जिस शालीनता के साथ शिक्षामंत्री ने यह सम्मान मुझे दिया, वह अभिनन्दनीय है। १९७४ में अवकाश ग्रहण करने के बाद विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मुझे नियुक्ति दी, जिसके अन्तर्गत मैंने उपनिषद् और गीता पर कुछ कार्य किया। किन्तु साहित्यिक पत्रिकाओं में चर्चा, पाठ्यक्रम और विश्वविद्यालय के सन्दर्भ में निस्सन्देह मैं उपेक्षित रहा, पुरस्कारों और पाठ्यक्रम को मैं आर्थिक लाभ ही मानता हूं। पुरस्कारों ने मेरे प्रकाशन के दुस्साहस को क्षम्य बनाया। पाठ्यक्रम में निर्धारित होने का लाभ भी मुझे आर्थिक लाभ देकर मेरी विषम साधना में कुछ सहायता दे सकता था। पत्रिकाओं में चर्चा भी कुछ प्रसन्नता देती है। इन सबके योग से यदि हिन्दी रचना की निष्फलता के क्षोभ से बच जाता, तो रामकाव्य, कृष्णकाव्य और कुछ खण्डकाव्य लिखने का उत्साह भंग न होता तथा कुछ गम्भीर गद्य ग्रंथ भी हिन्दी में ही लिखता। विश्व-विद्यालय के अभिजात पद की प्रतिष्ठा कुछ राष्ट्रीय मान में सहायक होती। इस प्रतिष्ठा का मेरे दार्शनिक चिन्तन में क्या योग और अनुपात रहता, इसका अनुमान मेरी पिछली दार्शनिक कृतियों के आधार पर ही लगाया जा सकता है। मेरी साधना किशोरी कुल-वधू के मान की भांति अनुराग पूर्ण मनुहार की आकांक्षी रही हैं! वह प्रगल्भा के आयास और उद्योग को न अपना सकी। ईर्ष्यालुओं को अनेक भ्रम हैं। किन्तु जो कुछ मिला है, वह अनायास ही मिला है। जो कुछ मिला है वह दाताओं ने दिया है। मैंने कोई प्रयास नहीं किया। इसीलिये इसे बहुत मानता हूं।

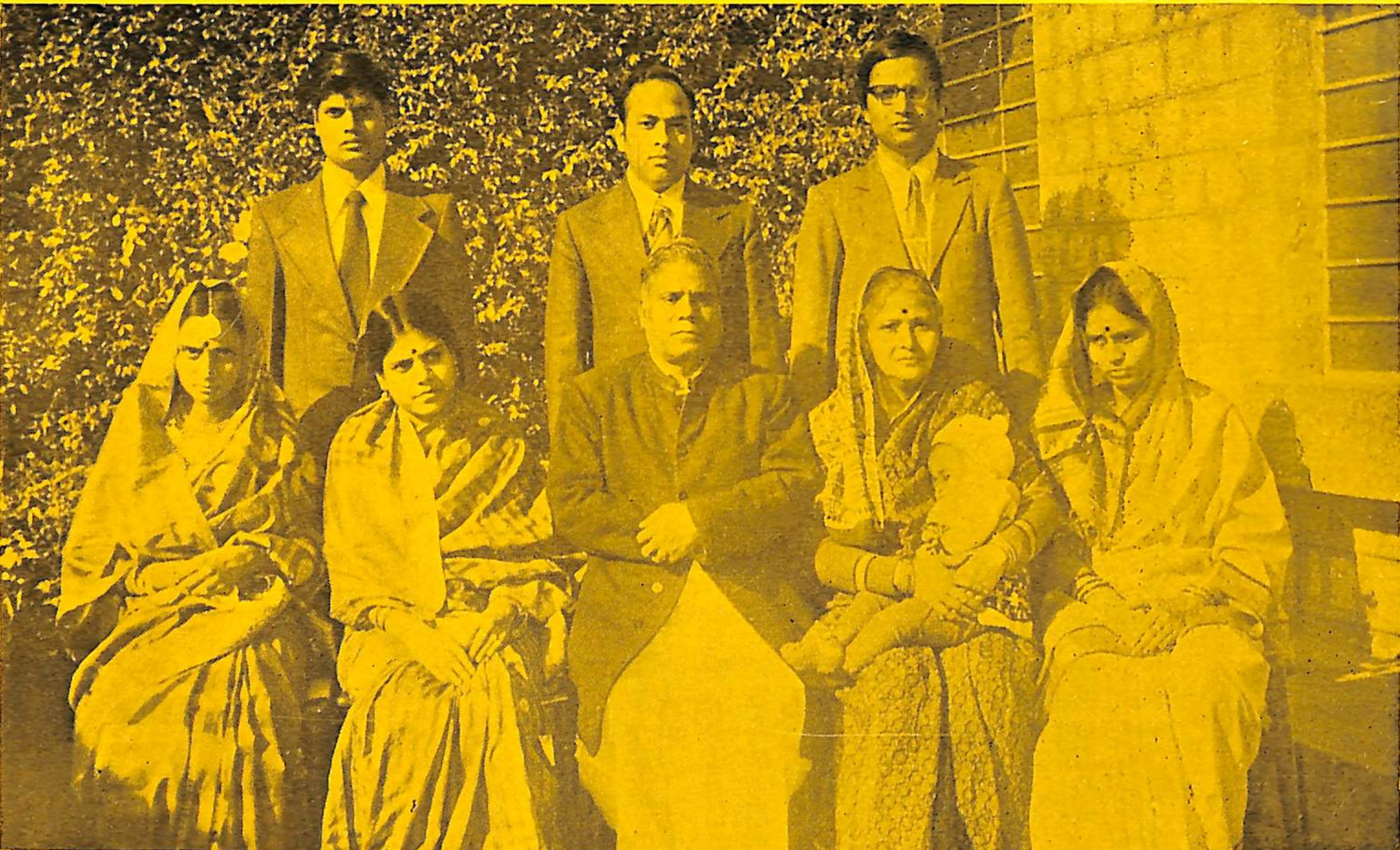
राजस्थान मंच के द्वारा मेरा अभिनन्दन मेरी इस मान परम्परा की परिणति है। राजस्थान मंच दिल्ली में स्थापित होते हुए भी राजस्थान की प्रतिभा को ही चर्चित करता है। इस नाते मुझ पर इसकी (कृपा) दृष्टि होना स्वाभाविक है। मंच के अनेक अधिकारी मुझे जानते रहे हैं। मंच के संस्थापक-संचालक दुबे उमादत्त अनजान कोटा में मेरे शिष्य रहे हैं। मंच की राजस्थान-यात्राओं के प्रसंग में उसके अधिकारियों के भरतपुर आने पर इनसे मेरा परिचय हुआ। जिन विद्यार्थियों, मित्रों आदि ने अभिनन्दन ग्रंथ में अपने संस्मरण दिये हैं वे पहले भी मुझे बहुत आदर देते रहे हैं।

यों मेरा यह अभिनन्दन विशेषकर राजस्थान में पिछले तेतीस वर्षों से निरन्तर मिलते रहने वाले सम्मान का एक प्रतिष्ठा पत्र है। अन्य अभिनन्दन ग्रंथों की भांति देश के प्रसिद्ध विद्वानों के प्रशंसा पत्र मेरे लिये अधिक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। इसका कारण यही है कि अब तक मेरा प्रत्यक्ष प्रभाव अथवा परिचय नहीं रहा। गांव के दुकानदार अथवा नेता की भांति मैं निकट के लोगों के स्नेह-सद्भाव-सम्मान से ही संतुष्ट रहा। मेरी सीमित प्रतिभा के लिये यह सीमित सन्तोष पर्याप्त है।

फिर भी राजस्थान मंच का आसन दिल्ली में है। उन्होंने अनुरोध कर मुझे इस अखिल भारतीय आसन पर ला बिठाया है। इसे मैं मंच के अधिकारियों का स्नेह सद्भाव ही मानता हूं। अखिल भारतीय मंच पर चरण रखने में मुझे अपनी लघुता के कारण भय और संकोच लगता है फिर भी आज गौरव के इस अतिरेक से आह्लादित हूं। कदाचित मेरी कोई रचना इस अतिमान को अर्हता दे सके। कदाचित् यह अतिमान भविष्य में किसी ऐसी रचना की प्रेरणा बन सके जो अर्हता के इस ऋण से मुझे उऋण कर सके।

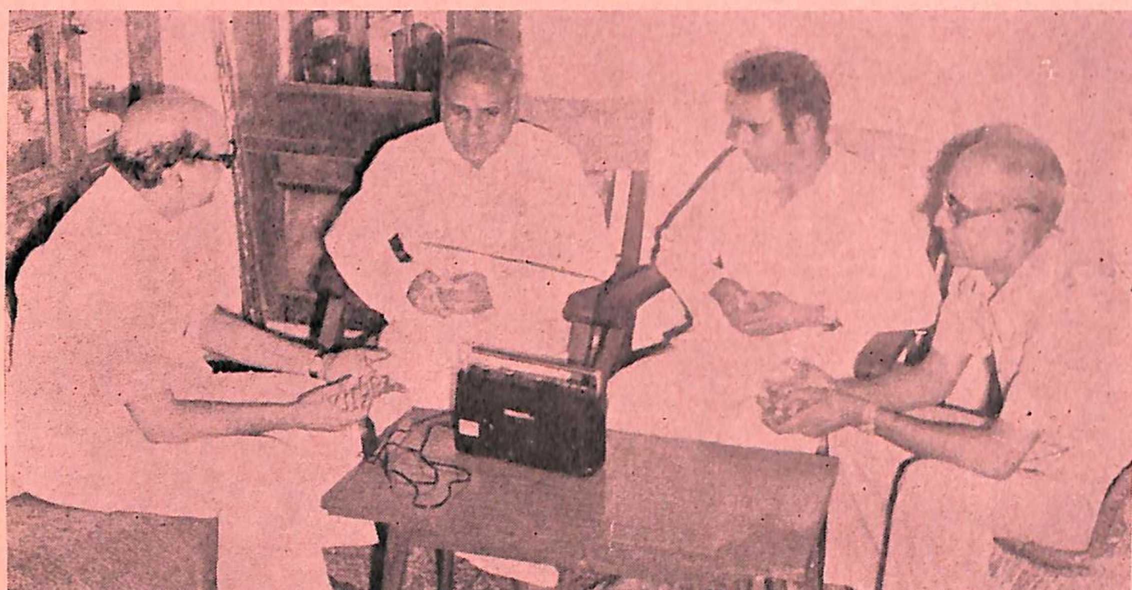
राजस्थान मंच पहली अखिल भारतीय (केन्द्रीय) संस्था है जिसने मुझे अभिनन्दन के योग्य माना है। यदि यह अन्तिम संस्था भी हो, तो भी ऐसा सद्भाव और आदरपूर्ण अभिनन्दन मेरे अन्तिम सन्तोष के लिये पर्याप्त होगा।

तिवारी परिवार



(कुर्सियों पर) → श्रीमती कल्पना सुधाकर (पुत्रवधू) डॉ० अर्चना दिव्यशीला (पुत्री) डॉ० तिवारी, डॉ० शकुन्तला रानी तिवारी (धर्मपत्नी) गोद में विधि (पौत्री) तथा श्रीमती उमा दिवाकर (पुत्रवधू) (खड़े हुए) → श्री प्रमोद दीपक सुधाकर (कनिष्ठ पुत्र) डॉ० जयदेव शर्मा (जामाता) व श्री विनोद मणि दिवाकर (ज्येष्ठ पुत्र)

भेंट वार्ता



राजस्थान मंच के प्रतिनिधि मण्डल के साथ भरतपुर में महाकवि भारतीनन्दन से हुई भेंटवार्ता का एक दृश्य - (बाएं से) डॉ० आनन्द स्वरूप पाठक, डॉ० रामानन्द तिवारी भारतीनन्दन, श्री दुबे उमादत्त अनजान व श्री शांति प्रसाद चौधरी।

A VERSATILE SCHOLAR

—T. N. CHATURVEDI

Dr. Ramanand Tiwari is a versatile scholar and author. By profession he has been a teacher of philosophy, but he is also a poet, a critic and a writer on culture, aesthetics, education etc. This only exemplifies as to how he has viewed life and society as a whole and not in fragments. It is neither possible nor necessary to refer to all his books in this small note of appreciation.

His first appearance on the horizon of literature was as a poet. His monumental Hindi epic **Parvati** was published in 1955. It is an important contribution to Hindi poetry. It is perhaps the first notable work or first epic in Hindi on the theme of Shiva-Parvati. It is a scholarly work of more than 500 pages. It is not only voluminous but is also valuable from the point of view of the different aspects of religion, culture, society and civilization. The earlier part of the epic follows the story of the Kumarasambhava of Kalidasa, but after the marriage of Shiva and Parvati, it adopts an original course of story and substance. Its main theme is the problem of evil. The demon Taraka is the symbol of evil. The poet has given a symbolic significance to the whole story and oriented it towards solving the problem of evil. The author has been critical of the simplistic approach to non-violence as the solution of evil. He asserts righteous use of force as a more realistic and effective approach to resolve the problem of evil. Kartikeya, the son of Shiva-Parvati is presented as the hero of the story. He undergoes a military training with Parashurama, and is chosen as the commander of the celestial army which was defeated by demons several times. He infuses a new military enthusiasm among the gods, inspires them to invade the city of the demon, known as the city of blood, and finally kills the demon in a furious battle and conquers his kingdom. It is for the first time that the gods win against the demon. The author seems to suggest that evil can be conquered only by righteous use of force. The gods were repeatedly defeated due to their one-sided devotion to art

and culture and their neglect of force. Now they conquered evil by organising righteous force.

But all evil is not obvious, it can adopt subtle forms. Three sons of the demon, who escaped from battle-field, represent this subtle evil. Their three kingdoms represent evil in political, economic and religious garb. Such imperceptible evil cannot be eradicated by violence. The author has suggested a social revolution as a remedy for subtle evil. The revolution may be violent but it will not be a mere war. It will be social upsurge and will have a constructive motive. The revolution is conducted by young men, by which the author seems to suggest that as the repository of future only the organised youth can uproot evil by cohesion and the exercise of righteous force. The deep humanism of the author is evident all along.

Thus Parvati is an epic of social reconstruction. It could have been highly useful if its symbolism had been appreciated and applied in our endeavour to eradicate the evils that plague our society. The author naturally intended it, though poetry does not indicate things directly and only suggests them symbolically.

The work is suffused with philosophical profundity and social significance. But inspite of its intricacy of exposition, it does not lack in artistic quality. It has style suited to it as an epic of youthful fervour. Passages of great poetic delicacy and description of natural beauty are scattered through out the work. On the whole the work represents an excellent synthesis of profound thought and significant expression. It deserves to be counted among important and valuable works of modern Hindi poetry.

Another work of Dr. Ramanand Tiwari published in 1963 under the attractive title of **Satyam Shivam Sundaram** embodies cultural criticism of literature. It is a treatment of values in relation to art, literature and culture. The three well known cultural values of Truth, Goodness and Beauty have been deeply examined and their correlation with art and poetry has been minutely analysed. This also is a monumental work of more than a thousand pages in two volumes. It contains a profound view of poetry, culture and values. It is written in a style which appears terse in keeping with the thinking processes of the author. It is a model of pensive prose in Hindi. Full of sober and significant analysis, it is not needlessly burdened with foot-notes and illustrations. It may well be treated

as an exceptional work of analysis and exposition of an abstract theme in Hindi literature.

It is notable for advancing a few definitional concepts, besides developing theories of beauty, culture and poetry. The definition of Beauty as "excess of form" is particularly worthy of attention. The definition is quite adequate to explain various modes of beauty, found in Nature, Arts and even Human Form. The definition of culture as "creative excess of spirit" is also remarkable for its adequacy and application. Poetry is defined as "an art of meaningful words," and excellence of poetry is understood as excellence of the synthesis of form and meaning.

The Good is understood as spiritual altruism implying elevation not of the self but of others so that there is harmonisation of the individual and the society. Truth is described in its various modes—natural, historical, social etc. and its place in poetry is considered with aesthetic balance and perception.

Both these monumental works of Dr. Ramanand Tiwari are a valuable contribution to Hindi literature. **Parvati** is the only standard epic in Hindi based on the story of Shiva. Besides it has great cultural and contemporary relevance. **Satyam Shivam Sundaram** is almost a lone example of cultural criticism presented in its various aspects and manifestations with necessary philosophical and aesthetic implications.

Sahitya Kala is a work of technical and traditional literary criticism which follows the line of Sanskrit poetics, but which strikes a new line of synthesis in the historical poetic theories. The synthesis has been effected according to the definition of art and beauty advanced in **Satyam Shivam Sundaram**. The definition of Beauty, as "excess of form" forms the principle according to which divergent theories of poetics found in Sanskrit tradition have been synthesised. In this respect the work makes an epitome of traditional poetics.

Un'que India published in English as **Jeevanta Sanskriti** in Hindi constitutes important cultural contribution of Dr. Ramanand Tiwari. **'Unique India'** published in 1980 is a valuable book as it contains in a single volume the variegated delineation of the main features of India's geographical landscape, history, culture, religion, philosophy, language etc. The uniqueness of Indias large tropical plain, its living culture, its language and religion are duly

analysed and duly illumined in this book. The book is remarkable for its total view of India's distinctive cultural achievements and possibilities. **Jeewanta Sanskriti** published in Hindi in 1972, elucidates in some details the salient modes of the living culture of India. Symbols, festivals, fasts, sacraments, pilgrimages etc. are the modes of living culture described and explained in this book. The introduction to this book contains a theory of culture which distinguishes between two kinds of culture. One of these is called historical, aristocratic, and individualistic culture. The other is called living, popular and common culture. The main point of distinction is the lack of historical contexts of persons, places and times in the latter. A fine theoritical distinction is that the historical culture is representative, while the living culture is presentative. The former excels in form, while the latter abounds in spirit. Historical culture integrates representative modes of life in the form of art, while the living culture integrates form of art in actual presentative modes of life.

Philosophy has been the main professional interest and pursuit of Dr. Tiwari. His poetry, criticism and cultural theme are also philosophical, though they confirm the versatility of Dr. Tiwari as an author. After his doctoral thesis on Shankara charya (1946) he wrote two small volumes by way of introduction to Indian philosophy. One is historical, the other is comparative. They were published in 1953 and 1957.

Recently, Dr. Tiwari has published another philosophical work under the title **"Secular, Social and Ethical Values in the Upanishads"** 1980. It is a positivistic study of Upanishads and refutes the allegation that the Upanishadic Vedanta is an other-worldly philosophy and that it has no value for worldly life. He brings out the affirmative significance of the Upanishads. Dr. Tiwari's study of Upanishads reveals on the basis of the exposition of texts how much place and importance has been given in the Upanishads to secular values of food, wealth, health, sex, etc. as also to social and ethical values. Dr. Tiwari has interpreted the spiritualisms of Upanishads in correlation with life. He should be credited with reconciling to two attitudes---worldly and spiritual–in a rational manner.

The cultural and philosphical interest of Dr. Tiwari is social in orientation and concrete in approach despite abstractness of the

subject. The practical significance of his interest is proved by his plans of educational reconstruction which he presented in print in 1962 and 1967. These plans contain some valuable suggestions about reconstruction of Indian education, which if followed in some measure could probably contribute to some extent towards improving standards of education and discipline in educational institutions. Besides being specific, these plans indicate elements of and the need for coordinatian of education with development and administration so that the totality of national life could be revitalised and improved. It is not necessary that one will always find oneself in agreement with all the ideas, opinions and approaches to different scholarly disciplines, but no one can deny the stimulating nature of the presentation and the genuine integrity of his analysis and thought-processes.

Thus the versatility of Dr. Tiwari is remarkable in its range and scope. His works cover a wide spectrum of poetry, literary criticism, culture, philosophy and education. His contribution in these diverse spheres is distinctive and valuable. The many sidedness of his thought and work has an enduring value and will provide inspiration to young scholars.

Probably, it is not possible to bring out even briefly the various facets of Dr. Tiwari's creative genius. In any case, I do not find myself competent enough to do justice to Dr. Tiwari either as a man or as a teacher, scholar and poet. Since I have enjoyed reading some of his works and profited by his scholastic insights, I am happy to write this inadequate piece by way of tribute as a token of my appreciation and thankfulness to the author. I distinctly recall meeting Dr. Ramanand Tiwari first almost two decades back in my offical capacity. I was immediately and deeply impressed by his learning, humility and self-effacing nature. The official conversation got converted into an informal one and prolonged itself into a more wide-ranging exchange of ideas and views on different subjects. But for his indifference to limelight and aversion to project himself, he should have got greater recognition and standing in the world of scholarship. He, obviously, does not seek either fame or publicity. Creativity as a scholar is its own reward for him. I have no doubt that he has not only enriched the realm of literature and philosophy, but has added to the lasting contribution of Rajasthan to the cultural heritage of our country.

कविर्मनीषी

भारतीनन्दन तुम्हारी साधना स्वच्छन्द है ।
तुम नहीं इसमें तुम्हारे राम का आनन्द है ।।

—डॉ०सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण'

महाकाव्य पारबती प्रणेता, विजेता कई
पदवी के, दिव्य तेज साहित्य चंदन का ।
सब ही की इच्छा पूर राजस्थान मंच ने भी,
आदर किया है जैसे ईश्वर भक्त वंदन का ।
रामानन्द नाम धारी दर्शन प्रबुद्ध शास्त्री,
नाम बढ़ाया इन्हीने, काव्य के स्यंदन का ।
भारतीय विद्याधाम संस्कृति विख्याता यही,
किया अभिनन्दन यों भारती नन्दन का ।

—राव मुकुन्द सिंह

कविर्मनीषी भारतीनन्दन, श्री शिव के सच्चे आराधक ।
सत्य शिव सुन्दर के ज्ञाता, अभिनव संस्कृति दर्शन साधक ।
आर्य ! आपके आदर्शों से मानवता का मंगल होगा ।
नन्दन का अभिनन्दन सचमुच शिव संस्कृति का सम्बल होगा ।।

—पूरन निर्द्वन्द्व

मेरी भामती : मेरी गीता

—डॉ० रामानन्द तिवारी

वेदान्त – परम्परा में अनेक दर्शनों के अद्‌भुत व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र की पत्नी 'भामती' का स्मरण बड़े मार्मिक सन्दर्भ में किया जाता है। वाचस्पति वेदान्त के महान आचार्य थे। वेदान्त, न्याय सांख्य, योग आदि दर्शनों की उनकी व्याख्यायें विद्वानों में विख्यात हैं। वेदान्त-परम्परा में वे शांकर-भाष्य के विशद-व्याख्याकार के रूप में विख्यात हैं। दार्शनिक व्याख्याओं की रचना में वे इतने निमग्न हो गये कि उन्हें अपनी पत्नी का भी ध्यान न रहा। वाचस्पति की विधवा बहन उनके रचना-कक्ष में सायंकाल दीपक धर आती थीं। वे उसके नूपुर विहीन चरणों को पहचानते थे। एक बार बहन के असमर्थ होने के कारण वाचस्पति के कक्ष में दीपक रखने के लिये उनकी पत्नी 'भामती' गईं। पत्नी के नूपुर-युक्त चरण देखकर वे चकित हुये। परिचय देकर पत्नी ने अपना स्मरण कराया। पत्नी की उपेक्षा करने के लिये वाचस्पति व्यथित हुये। इस उपेक्षा का प्रायश्चित्त उन्होंने यह किया कि शांकर भाष्य की अपनी महान टीका का नाम-करण उन्होंने अपनी पत्नी के नाम पर कर दिया। वेदान्त के विद्वान वाचस्पति की वन्दना के साथ उनकी उपेक्षिता पत्नी का स्मरण करते हैं।

वाचस्पति वेदान्त के महान आचार्य थे। भारतीय दर्शन में उनका नाम अमर है। वाचस्पति के साथ 'भामती' टीका के नामकरण से उनकी पत्नी भी दर्शन के इतिहास में अमर हो गई। नाम की अमरता भी अनुपम है। किन्तु पत्नी नाम की नहीं प्रेम की अमरता चाहती है। महर्षि याज्ञवल्क्य की विदुषी पत्नी मैत्रेयी ने जिस अमरत्व की जिज्ञासा की थी, वह भी मूलतः आध्यात्मिक होने के नाते उपेक्षा का नहीं प्रेम और आदर का अमरत्व होगा। उसकी तुलना में मैत्रेयी ने धन का तिरस्कार किया। नाम और धन का भी महत्व है। पत्नी भी इनको चाहती है। किन्तु इनसे पहले वह प्रेम और आदर चाहती है। पति की साहित्य-साधना तथा उसकी साहित्यिक ख्याति से प्रेम और आदर की पूर्ति नहीं होती। साहित्य-साधना पुरुष का बौद्धिक दम्भ है। प्रेम स्त्री के हृदय की निगूढ़ आकांक्षा है। साधना एकान्त और स्वार्थमय होती है। प्रेम पारस्परिक भाव है। पुरुष के लिये वह एक दुष्कर साध्य है। स्त्री के लिये वह एक सहज धर्म और स्वाभाविक आकांक्षा है। यों कह सकते हैं कि प्रेम ही स्त्री की साधना है।

एक महान् आचार्य की पत्नी होने के कारण 'भामती' का नाम एक टीका के साथ अमर हो गया। किन्तु साहित्य और साधना के धनी इस देश में न जाने भामती की कितनी बहनें अख्याति के अन्धकार में विलीन हो गईं। सभी साहित्यकार अपने को महान् समझते हैं किन्तु सभी साहित्यकार वास्तव में इतने महान् नहीं होते कि उनके साथ उनकी पत्नी का नाम भी अमर हो सके। कालिदास और तुलसीदास के साथ उनकी पत्नियों का नाम जिस रूप में अमर हो गया वह किसी भी पत्नी के लिये गौरव की बात नहीं। पत्नी पति का गौरव और पति का प्रेम चाहती है। कालिदास ने ही पति के प्रेम को तप का फल बताया

है (तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः) तुलसीदास ने भी सीता और अनसूया के द्वारा पति-प्रेम की महिमा का रहस्योद्घाटन किया है। साहित्यकारों की उपेक्षिता पत्नियों की कीर्ति कथाओं को महत्व देने वाले लोग नारी-जीवन के निगूढ़ मर्म को भूल जाते हैं। यह मर्म प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। प्रेम नारी का सर्वस्व है। सेवा उसका धर्म है। प्रेम और सेवा ही उसकी साधना है। इनमें ही उसके जीवन की कृतार्थता है। साहित्य और साधना में निमग्न रहने वाला पति नारी के इस मर्म की उपेक्षा करता है। नाम से अमर होकर भी उसकी उपेक्षिता पत्नी का जीवन नीरस और निष्फल हो जाता है।

किन्तु विडम्बना यह है कि साधना और साहित्य के धनी इस देश में नारी-जीवन की यह नियति प्रायः अनिवार्य रही है। न जाने कितने साहित्यकारों की पत्नियां आजीवन उपेक्षित रही हैं। उनमें कदाचित् ही किसी को 'भामती' के समान अमरता मिली। वाचस्पति पत्नी के हृदय के साथ अपना तादात्म्य नहीं कर सके; किन्तु अपनी महान् कृति के साथ पत्नी के नाम का तादात्म्य वे कर सके। अनेक साहित्यकारों के जीवन में साधना और पत्नी का वैषम्य अन्त तक बना रहता है। पत्नी जीवन भर एकान्त और उपेक्षा का अभिशाप भोगती है।

यह साहित्य जैसी श्रेष्ठ साधना की शोचनीय विडम्बना है। इस विडम्बना का बीज साधना के स्वरूप में निहित है। साधक के भ्रान्त दृष्टिकोण से यह बीज पल्लवित होता है। साधना एकान्त कर्म है। कुछ साधनाओं में कदाचित् सहयोग सम्भव हो किन्तु साहित्य-साधना में वह कठिन है। लेखन और रचना का कार्य अकेले ही होता है। फिर उपेक्षा अथवा प्रेम व्यवहार के साथ-साथ मन के भाव में भी प्रकट होते हैं। मन से साधना और साहित्य अकेले के ही धर्म रहते हैं। कृति के रूप में साहित्य का कर्त्ता एक व्यक्ति ही रहता है। विद्या को नीतिकारों ने अविभाज्य (न भ्रातृभाज्यम्) कहा है। ठीक ही है। साहित्य-रचना और ज्ञान में साझेदारी सम्भव नहीं। वे एक व्यक्ति की ही सम्पत्ति रहते हैं। वस्तुतः 'भामती' टीका के समान उनका दान भी नहीं किया जा सकता। पत्नी के नाम पर नामकरण होने पर भी 'भामती' टीका वाचस्पति मिश्र की ही कृति है। पत्नी का नाम पत्नी की उपेक्षा को भी उजागर करता है। हां इस नामकरण में वाचस्पति की महान् प्रतिभा में छिपी गहन भावना भी प्रतिबिम्बित होती है। पत्नियों को अपनी कृतियां समर्पित करने वाले इस भावना के अधिकारी हो सकते हैं। किन्तु पत्नी नाम नहीं, प्रेम चाहती है वह कृति का नहीं हृदय का समर्पण चाहती है। किन्तु साहित्य की विडम्बना यह है कि अधिकांश साहित्यकारों की पत्नियां इस प्रेम से वंचित रह जाती हैं। साहित्य एक स्वार्थमय साधना है। सम्बन्धों से अलग होकर साहित्यकार की चेतना व्यक्तिगत साधना में सिमट जाती है। साहित्य से संवलित होकर व्यक्तित्व प्रखर हो जाता है तथा प्रेम में असमर्थ बन जाता है। साहित्यकार भावों, विचारों और रूपों के कल्पनालोक में विचरता है। पत्नी और परिवार को ही नहीं, एक प्रकार से वह अपने को भी भूल जाता है। केवल एक अवास्तविक रूप में साहित्य का कृतित्व उसके व्यक्तित्व को पूरित करता है। साहित्य-रचना में डूबे हुये अधिकांश साहित्यकारों की उपेक्षित पत्नियां अपनी पारिवारिक विवशताओं में भामती की छोटी-बड़ी बहनें बन जाती हैं।

मैं भी भारत की इस विडम्बना की वेदनामयी परम्परा का अपवाद नहीं हूं। वाचस्पति के समान वेदान्त का आचार्य नहीं, फिर भी दार्शनिक परम्परा की दृष्टि से वेदान्त का पोषक हूं। किन्तु उक्त विडम्बना की परम्परा की दृष्टि से मैं वाचस्पति से बढ़कर हूं। मण्डन मिश्र की पत्नी भारती विदुषी थीं।

उन्होंने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था। वाचस्पति मिश्र की पत्नी भामती के बारे में निश्चित नहीं कि वे कितनी विदुषी थीं। मेरी पत्नी शकुन्तला कुछ कालिदास की शकुन्तला के शील-संस्कार लेकर आईं। किन्तु कालिदास की विद्योत्तमा के विपरीत वे अधिक शिक्षित न थीं तथा मेरे संग के प्रभाव से उन्हें विवाहित जीवन में उच्च शिक्षा का भार उठाना पड़ा। हाई स्कूल से लेकर एम० ए०, पी-एच० डी० तक की परीक्षायें उन्होंने घर पर ही पढ़कर परिवार का पूरा भार उठाते हुये पूरी कीं। अनिवार्य उपेक्षा के अतिरिक्त शिक्षा का दुर्वह भार भी उन्हें वहन करना पड़ा, जो कदाचित् भामती का भागधेय नहीं रहा। इसके अतिरिक्त अपने तीन बालक आरम्भ से ही स्कूल नहीं भेजे गये। हाई स्कूल तक की पढ़ाई और परीक्षा उन्होंने घर पर ही पूरी की। उसके बाद कालिज गये। बालकों की हाईस्कूल तक की शिक्षा का भार मेरी पत्नी ने उठाया।

वाचस्पति मिश्र ने दर्शनों की व्याख्याओं की रचना में व्यस्त रहने के कारण पत्नी की ओर ध्यान नहीं दिया। साहित्य-रचना में व्यस्त रहने के कारण मैं भी पत्नी को यथेष्ट समय, ध्यान और भाव नहीं दे सका। किन्तु मेरी पत्नी को केवल उपेक्षा का क्लेश ही नहीं रहा, इसके साथ-साथ उन्हें मेरे रचनात्मक अतिचार (अधिक लेखन) तथा परिस्थिति की सीमाओं (धन, साधन आदि के अभाव) के कारण मेरी रचनाओं की पाण्डुलिपि एवं अन्य प्रसंगों के कागज-पत्रों के रखने-संभालने में जीवन भर जो कष्ट उठाना पड़ा है, वह उनके प्रति मेरा अक्षम्य अपराध है। चाहते हुये भी मैं इस अपराध की उग्रता को कम न कर सका। भावों और विचारों की बाढ़ के कारण अधिक लेखन मेरी विवशता रही। अध्यापन के उत्तरदायित्व के कारण यह रचनात्मक अतिचार मेरे लिये भी एक त्रास रहा। धन एवं साधनों की सीमाओं में पत्नी के क्लेश-कष्ट और मेरे त्रास को दुर्वहता की सीमाओं तक पहुंचा दिया।

मेरे साहित्यिक रचना सम्बन्धी आग्रह तथा परिस्थितियों की सीमाओं के कारण मेरी पत्नी भामती की परम्परा में परिगणित होने से न बच सकीं। पातिव्रत की निष्ठा, नारी के शील आदि अन्य दृष्टियों से भी वे भामती के समकक्ष हैं। अपनी शिक्षा के सम्पादन तथा मेरी पाण्डुलिपियों के संरक्षण में उन्होंने भामती से अधिक कष्ट उठाया है। इसके अतिरिक्त मेरे संस्कार स्वभाव तथा उनके भाग्य ने उनकी पीड़ा को और तीव्र बनाया है। यह सब इतिहास बड़ा कटु और वेदनामय है। मैंने आत्म चरित के रूप में इसको लिखना कभी वांछनीय नहीं माना। किन्तु राजस्थान मंच द्वारा सामाजिक अभिनन्दन के इस गौरवमय प्रसंग में इस अन्तर्कथा का कुछ आभास दे देना आवश्यक-सा प्रतीत होता है।

पहले अपने संस्कार स्वभाव का ही विवरण करूं, क्योंकि यही हमारे समस्त क्लेश-त्रास का मूल हेतु है। संस्कारों ने एक ओर मुझे साहित्यकार बनाया तथा दूसरी ओर क्रोध-क्षोभ का उग्र आवेश दिया जिसकी ज्वाला में हम दोनों जीवन भर जलते रहे। मेरे संस्कारों का बीज शैशव के उस दुर्भाग्य में है जिसने मुझे अबोध शैशव में ही माता के वात्सल्य से वंचित किया तथा एक उपेक्षामय पारिवारिक वातावरण ने 'भारतीनन्दन' बनने की प्रेरणा दी। आज कई दशकों के चिन्तन और मनन के बाद मेरे वात्सल्य-वंचित विचारक को जीवन का यह सरल सत्य स्पष्ट हुआ है, जिसका अनुग्रह माता, पिता तथा अन्य परिवारीजनों एवं सम्बन्धियों के वात्सल्य से लालित बालकों को सहज ही मिलता है। अभाव से उद्घाटित उस सत्य का सारांश यह है कि इसी वात्सल्य से मनुष्य को जीवन का वह आधार मिलता है जिस पर उसका जीवन-प्रासाद खड़ा होता है, तथा भाव का वह मूलधन मिलता है जिसके ब्याज से वह शेष जीवन का

निर्वाह करता है। मनुष्य के भाव-स्वभाव भी इसी पर निर्भर करते हैं। वात्सल्य का भाव आत्मिक भाव है। वह आत्मिक उदारता से प्रेरित होता है तथा बालक के स्वभाव में शान्ति, सौम्यता, मधुरता आदि के भाव समाहित करता है, जो सभी आत्मा के उदार लक्षणों से अन्वित होते हैं। हास, उल्लास, प्रसन्नता, सन्तोष आदि भी इसी के फल-पुष्प हैं। वात्सल्य के भाव से ही मनुष्य को जीवन में वह तृप्ति मिलती है, जो उसे अपने पारिवारिक और भौतिक जीवन में आबद्ध रखती है। तत्व-ज्ञानी इस तृप्ति को मोह, अज्ञान अभ्यास आदि की संज्ञा दे सकते हैं किन्तु वस्तुतः यही तृप्ति मनुष्य को साधना के अतिचारों से बचाती है। इसी तृप्ति से मनुष्य को मोह, ममता आदि का माधुर्य मिलता है जो उसे सुखी-जीवन बिताने का सन्तोष देता है।

और इसी तृप्ति का अभाव जीवन में वह अशान्ति, असन्तोष आदि उत्पन्न करता है जो एक ओर स्वभाव को क्षुब्ध बनाता है तथा दूसरी ओर असाधारण साधना की प्रेरणा देता है। बुद्ध, ईसा, मोहम्मद आदि ऐसी ही अतृप्ति से असाधारण व्यक्ति बने। दर्शन, साहित्य, कला आदि के प्रतिभाशाली साधकों के जीवन की यही अतृप्ति प्रेरणा बन जाती है। 'वात्सल्य' प्रेम, लाड़, प्यार, लालन आदि के रूप में तृप्ति देता है। इनका अभाव अन्य असाधारण दिशाओं में तृप्ति की खोज को प्रेरित करता है। प्रतिभा इसी अभाव की आत्मजा है। जो प्रत्यक्ष रूप में वात्सल्य से वंचित नहीं है, उनके जीवन में अभाव के सूक्ष्म रूपों को खोजना होगा तथा भाव एवं अभाव के अनुपातों से प्रेरित प्रतिभा की आकांक्षाओं के अन्तर का अध्ययन करना होगा।

वात्सल्य से वंचित विभूतियों में बुद्ध ईसा और मोहम्मद मसीहा बन गये। हिन्दी कवियों में तुलसी और पन्त वात्सल्य से वंचित रहे। अन्य महान् कवियों के बाल्य का वृत्त विदित नहीं। दान्ते, शेक्सपियर कीट्स आदि प्रेम और वियोग से पीड़ित रहे। 'वियोगी होगा पहला कवि' का अभिप्राय केवल प्रणय के वियोग से नहीं, किसी भी प्रकार प्रेम से वंचित व्यक्ति कवि बन जाता है। बाल्य में वात्सल्य और यौवन में प्रणय-ये दो ही जीवन के मूल सत्य हैं। इनमें ही व्यक्ति को सत्य का साक्षात स्पर्श मिलता है। इनसे वंचित व्यक्ति के लिये यह साक्षात सत्य आकांक्षा, कामना और कल्पना का विषय बन जाता है। दर्शन सत्य का चिन्तन है। काव्य और साहित्य उसकी कल्पना है। कल्पना अप्राप्त की मानसिक सृष्टि है। काव्य और साहित्य वास्तविक जीवन के साक्षात सत्य से वंचित व्यक्तियों के लिये उसकी काल्पनिक रचना के अध्यवसाय बन जाते हैं। वे अप्रस्तुत को मन में बसाने के उद्योग हैं।

वात्सल्य और प्रणय आत्मिक भाव हैं। आत्मा ही परम सत्य है। वही एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से जोड़ कर जीवन का संतुलन बनाती है। व्यापकता और परार्थता आत्मा के लक्षण हैं। वंचित के लिये आत्मा एक व्यापक साध्य बन जाती है। आत्मीयता का अभाव वंचित व्यक्ति को विश्व-जीवन में उसकी खोज के लिये प्रेरित करता है। यह जीवन की वंचना का आध्यात्मिक उदात्तीकरण है जो वंचित व्यक्ति को मसीहा सन्त अथवा महान साहित्यकार बनाता है। जीवन के अन्य अनुभव, अवसर और सन्दर्भ इनके रूपों की भिन्नताओं एवं विशेषताओं का निर्धारण करते हैं। रचना अथवा उपलब्धि की श्रेष्ठता की कोटियां भाव अभाव और साधना के स्वरूप भेदों पर निर्भर करती हैं।

मैं कितना महान अथवा लघु साहित्यकार हूं, यह निर्णय करने का अधिकार तो मुझे नहीं है, किन्तु वात्सल्य के अभाव तथा जीवन के अन्य आत्मिक अभावों ने ही प्रस्तुत से अप्रस्तुत की ओर प्रेरित कर मुझे

भी साहित्यकार बनाया। अबोध शैशव में ही माता का अंचल छूट गया। माता के अस्तित्व का मुझे कोई स्मरण नहीं। अभाव की जो तीव्र प्रेरणा मेरी साधना में रही, उसका बीज माता की असमय मृत्यु में ही है। दूसरी ओर भाव का जो संतुलन मेरी साधना को मिला उसका श्रेय मेरे सौम्य और उदार पिता तथा मेरी दोनों पितृव्याओं (चाचियों) को है जो उस युग की मर्यादाओं के प्रभाव से और स्वयं पुत्र-विहीन होने के कारण मुझे यथा संभव प्रश्रय दे सकीं। फिर भी मैं शैशव से ही अपने को अकेला, असहाय और अनाथ अनुभव करता रहा। बाल्य से ही कल्पना मेरा अवलम्ब रही और जल्दी ही उसने रचनात्मक रूप ले लिया। घर में मैं अपने को उपेक्षित अनुभव करता रहा। कोई ममता और भाव के साथ, मन की पूछने, सुनने कहने वाला न था। मन इतना मर गया कि उसमें खाने-पहनने आदि किसी की लौकिक कामना न रही। अवचेतन में जो मन की छोटी-छोटी किशोर कामनायें रही होंगी वे मन में ही रहीं, कभी प्रकट न हो सकीं घर में केवल दो बार रोटी खाकर पलता और पढ़ता रहा। घर से बाहर पढ़ने जाने पर सोलह वर्ष रोटी के अतिरिक्त कभी कुछ खाया नहीं। न पास पैसा था और न मन में कामना। ज्ञान और कल्पना ही जीवन बन गये। वास्तविक जीवन के दीर्घकालीन अभाव ने कल्पना और चिन्तन को ही जीवन बना दिया।

पारिवारिक सम्बन्धों के विषय में मेरी असमर्थताओं तथा मेरी रचनात्मक उपलब्धियों को समझने के लिये यह भूमिका आवश्यक है। पत्नी के चरित्र-निदर्शन के लिए भी यह आवश्यक है, क्योंकि इन असमर्थताओं के कारण क्रोध-क्षोभ की जो कटुता उन्हें झेलनी पड़ी तथा मेरी अपार रचनाओं के व्यावहारिक अनुषंगों का जो कठिन भार उन्हें वहन करना पड़ा, वह अवर्णनीय है। उस अनुपम सौभाग्यवती दिव्यशीला साध्वी के जीवन में इन दोनों के कारण जो गहन क्लेश रहा, उसके लिये पहले मुझे और उसके बाद हिन्दी समाज को ही दोषी मानना होगा। मुझे इसलिये कि पत्नी के सुख-दुःख के लिये पति ही सबसे अधिक उत्तरदायी है। हिन्दी समाज को इसलिये कि वह, विशेष रूप से अधिष्ठाओं के द्वारा हमारे क्लेश को न्याय एवं औचित्य के साथ बहुत कुछ कम कर सकता था। मेरी पत्नी ने मेरे घर आने के प्रथम दिन से ही मेरी व्यक्तिगत कुण्ठाओं से उत्पन्न क्षोभ तथा मेरी विपुल रचनात्मकता के व्यावहारिक अनुषंगों को विषमताओं को जिस शान्ति, सौम्यता, धैर्य, शालीनता और कर्मठता से सहन किया, उसी के विलम्बित अभिज्ञान ने मुझे उनके लिये 'गीता' का अभिधान सुझाया है। कर्मयोग की जो निष्ठा उनका जीवन-धर्म रही है तथा सभी के प्रति जैसा सहज एवं उदार सद्भाव रखकर कर्मयोग का निष्ठापूर्वक निर्वाह किया है, उसने मेरे दार्शनिक चिन्तन-पथ में वेदान्त के साक्षात् अद्वैत भाव के तथा गीता के कर्मयोग के जीवन्त तत्व को प्रकाशित किया है। याज्ञवल्क्य ने उपनिषद् में अपनी पत्नी मैत्रैयी को जिस आत्मतत्व का उपदेश दिया है, उस आत्मतत्व को साक्षात् जीवन्त रूप में मैंने अपनी पत्नी के शील, सद्भाव, व्यवहार एवं उनकी सहज आस्था से ग्रहण किया है। गीता समस्त अध्यात्म-शास्त्रों का सार है। गृहिणी, सचिव, सखी के अतिरिक्त मेरी पत्नी शकुन्तला मेरे अध्यात्म के चिन्तन और अनुशीलन में सिद्धान्त और व्यवहार के सम्बन्ध के अनुसंधान का प्रकाश एवं प्रेरणामय सूत्र भी रही है। उनके इसी योगदान को व्यक्त करने के लिये मैंने उन्हें अपनी जीवन्त गीता का पद दिया है। पत्नी के सम्बन्ध में जिनकी धारणा सामान्य व्यवहार तक ही सीमित है, उन्हें पत्नी की यह प्ररोचना अतिरंजना प्रतीत होगी। किन्तु मेरे लिये यह जीवन के एक अद्भुत अनुभव का सहज स्वीकरण है। उसी अनुभव से मेरा आध्यात्मिक अनुसंधान सफल हुआ है। मेरे इष्ट मित्र जो मेरी पत्नी के सहज सद्भाव का प्रसाद पाते रहे हैं तथा मेरे अनेक शिष्य जो घर में

पुत्रवत् प्रवेश पाकर उनके विपुल वात्सल्य में अपना अंश पाते रहे हैं, मेरी उक्त धारणा के साक्षी बनेंगे। कालिदास और तुलसीदास किस प्रकार पत्नी के द्वारा भर्त्सना से उत्तम सरस्वती-साधना की दिशा में प्रेरित हो सके, यह मेरे लिये सदा एक अविश्वसनीय आश्चर्य रहा है। किन्तु शैशव से मातृ-वंचित एक आत्मलीन सरस्वती-पुत्र की बौद्धिक अध्यात्म-साधना को एक तपःशीला पत्नी का सहज-सिद्ध आत्मिक भाव किस प्रकार एक जीवन्त ज्योति प्रदान कर सकता है, यह मेरे लिये एक अद्भुत अनुभव रहा है तथा दूसरों के लिए यह एक अविश्वसनीय आश्चर्य हो सकता है। मेरे अनेक बन्धु और शिष्य इस अद्भुत सत्य को प्रमाणित करेंगे। मेरी ओर से वेदान्त और अध्यात्म की जीवन-संगत व्याख्यायें पत्नी के जीवन्त ब्रह्मसूत्र के भावपूर्ण भाष्य का स्थान रखती हैं।

अस्तु मेरी विपुल रचना-वृत्ति तथा आर्थिक एवं व्यावहारिक विषमताओं के बीच मेरी साहित्य-साधना तथा प्रशस्त परिवार-पालन के गुरु भार को जीवन भर वहन करने के अर्थ में मेरी पत्नी भामती की छोटी नहीं, बड़ी बहन है। मेरे वेदान्त-चिन्तन और आध्यात्मिक अनुसंधान के मार्ग में सहज एवं साक्षात् आत्मिक-भाव तथा कर्मयोग की जीवन्त ज्योति के रूप में वह मेरी जीवन्त-गीता है। मेरी पत्नी का नाम 'शकुन्तला' है। नाम के संयोग से कालिदास की शकुन्तला के भागधेय का कुछ अंश भी उन्होंने पाया है। कालिदास की शकुन्तला परभृता थी। कण्व ऋषि ने उसका पालन किया था। माता-पिता का वात्सल्य तो उसे नहीं मिला, किन्तु कण्व ऋषि से उसे स्नेह तथा उनके आश्रम में जो शील-शिक्षा मिली उसका लाभ उसे वियोग के तपोमय जीवन में मिला। मेरी शकुन्तला के जन्म काल में उसकी माता रोग ग्रस्त हो गईं, अतः उसका पालन मामा के घर में हुआ। यद्यपि शैशव में वह अपने माता-पिता के वात्सल्य से वंचित रही, किन्तु कण्व के तुल्य पंडित मामा तथा मामी-नानी के स्नेह ने उसकी यथासंभव पूर्ति की। आरम्भ में वंचित रहने के बाद बाल्य-काल से विवाह पर्यन्त वह अपने माता-पिता के साथ रही। शिक्षित, कर्मठ कलावती और तपोमयी माता से शकुन्तला को वे संस्कार मिले, जिन्होंने उसे अपनी माता के समान कर्म-योगी बनाया। कालिदास की शकुन्तला के समान वह पति के द्वारा तिरस्कृत तो नहीं हुई किन्तु शैशव से मातृवंचित, परिवार से उपेक्षित, कष्ट-पूर्ण स्वावलम्बन से अपनी उच्चतम शिक्षा का उपार्जन करने वाले, शिक्षा काल में सम्बन्धों से रहित अकेले जीवन-यापन करने वाले, कवि-दार्शनिक पति से उसे वैसा प्रेम नहीं मिल सका जिसकी प्रत्येक नव-वधू कामना करती है।

हम दोनों के शैशव और पालन की परिस्थितियों ने हमें वात्सल्य के उस मूल स्रोत से अलग किया जो अपने मौलिक रस से जीवन के सभी भावों को सींचता है। फिर भी ननसाल और घर के उदार संस्कारों से मेरी पत्नी का भाव-सन्तुलन उत्तम रहा। उनका स्वभाव शान्त, सौम्य, उदार और कर्मठ बना। किन्तु मेरे पालन और संस्कारों में बहुत वैषम्य रहा। उपेक्षित कैशोर में स्वावलम्बी विद्योपार्जन की कठिनाइयों तथा एकान्त और निरावलम्बता ने मेरे मन को अपार क्षोभ से भर दिया। सभी का जीवन अंशतः सुखी-दुःखी होता है। किन्तु अधिक क्षोभ एक ग्रन्थि बन जाता है। क्षोभ का चिन्तनात्मक बन कर जीवन-धारा के समानान्तर एक प्रतिस्रोत बन जाना जीवन को दुहरा एवं दुष्कर बना देता है। कविता, दर्शन, साहित्य आदि इस दुहरे जीवन में समायोजन की उपलब्धियां हैं। मेरे जीवन में ये उप-लब्धियां एक तीसरा प्रवाह बन गईं। इनकी विपुलता तथा इनके सम्पादन की व्यावहारिक कठिनाइयों ने मेरे मूल क्षोभ को और बढ़ाया। इस क्षोभ की अभिव्यक्ति घर में पीड़ा-प्रलापों के रूप में करता रहा।

मेरी पत्नी जीवन भर दिव्य शान्ति मौन और सहिष्णुता के साथ उन प्रलापों को सुनती रही। उन्होंने अपने किसी भी व्यवहार अथवा वचन से उस क्षोभ को बढ़ाया नहीं। किन्तु वचन से उसको शान्त अथवा कम कर सकने की कला उनके संस्कार और स्वभाव में न थी। उनके भाव और व्यवहार इतने सौम्य एवं आत्मिक रहे कि वे किसी भी पति के जीवन को शान्त, प्रसन्न और कृतार्थ बनाने में समर्थ हो सकते। किन्तु एकान्त और क्षुब्ध जीवन में सक्रिय सामाजिक व्यवहार सम्बन्धों से मैं इतना वंचित रहा कि शब्द ही मेरा सत्य बन गया था। शब्द के सत्य बन जाने पर ही मनुष्य साहित्यकार बनता है।

अस्तु, अध्ययन, अध्यापन और लेखन की व्यस्तता में मेरे क्षोभ का वाङ्मय प्रवाह चलता रहा। मेरी पत्नी मौन शान्ति के साथ उसे सह कर प्रसन्नता से अपने गृह-कर्म का निर्वाह करती रहीं। लेखन में प्रकाशन ने मिलकर जीवन को विषम और विषाक्त बना दिया। लेखन में अस्तित्व का मोह व्यक्त होता है। प्रकाशन में वह अधिक प्रत्यक्ष बन जाता है। मेरे प्रकाशित ग्रन्थों के स्वरूप को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसे ग्रन्थों के लिये हिन्दी में प्रकाशक नहीं मिल सकते। प्रकाशन का प्रमाद पारिवारिक जीवन में नये संकटों का बीज बना। आर्थिक कठिनाइयाँ और व्यावहारिक विडम्बनायें बढ़ीं। आज अवकाश ग्रहण करके भी मुझे अवकाश नहीं है। जो अवकाश मुझे आरम्भ से ही चाहिये था और जो समाज एवं सरकार मेरे लिये सुलभ न कर सके, वह अवकाश मैंने काल की कृपा से तथा विश्वविद्यालय की सेवा के पांच वर्ष के वेतन का लाभ छोड़कर पाया है। अवकाश प्राप्ति के बाद मैं अधिक स्वच्छन्द रूप से लेखन में व्यस्त हूं। अवकाश ग्रहण करने से मेरी पत्नी का त्रास कम नहीं हुआ वरन् बढ़ा है। अभिनन्दन के प्रसंग में राजस्थान मंच के संस्थापक-संचालक श्री अनजान के अनुरोध पर उन्होंने मेरी समस्त अप्रकाशित रचनाओं की पाण्डुलिपियों को निकाल कर व्यवस्थित किया है। इस व्यवस्था में उन्हें जितना श्रम और कष्ट हुआ है वह अवर्णनीय है।

अस्तु एक जन्म जात कवि, परिवार से उपेक्षित, दर्शन जैसे दीन विषय के अध्यापक, और उन्मादी साहित्यकार पति की पत्नी बनकर मेरी शकुन्तला ने सौभाग्य और सन्ताप कालीदास की शकुन्तला से कुछ कम किन्तु वाचस्पति की भामती से बहुत अधिक पाया है। इस कष्ट, क्लेश, भार, श्रम अभाव के बीच वे अपने नारी-धर्म का पालन जिस शान्ति, सन्तोष, धैर्य, शालीनता, प्रसन्नता और कर्मठता से करती रही हैं वह वस्तुतः अभिनन्दनीय है। राजस्थान मंच द्वारा मेरा अभिनन्दन वस्तुतः उनका ही अभिनन्दन है। उनके ही सहयोग और उनकी सहिष्णुता से ही मेरा विपुल रचना एवं गहन चिन्तन का जीवन संभव तथा लौकिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से सफल हो सका है। समग्र रूप में नारी के आदर्श को मैंने उनके व्यक्तित्व और व्यवहार में साक्षात देखा है। परिवार की उपेक्षा कर साहित्य-साधना और चिन्तन में जीवन भर निमग्न रहने वाले कवि पति के द्वारा पत्नी की ऐसी प्रशंसा काल्पनिक प्ररोचना प्रतीत होगी। उसमें आदर्शों का दर्शन एक दार्शनिक पति की प्ररोचात्मक भ्रान्ति कही जा सकती है। कवि के रूप में मेरी कल्पनायें कितने कठोर सामाजिक यथार्थ की भूमि पर खड़ी हैं तथा दार्शनिक के रूप में मेरे विचार कितने यथार्थमय एवं सन्तुलित हैं, इसका अनुमान मेरी कृतियों के पाठक ही लगा सकते हैं। व्यावहारिक रूप में मेरी पत्नी के मरणासन्न माता-पिता, मेरी सन्तान, तथा उनके आतिथ्य के अधिकारी अनेक सुहृद-बन्धु एवं वात्सल्य भाजन अनेक विद्यार्थी उनके आदर्श व्यक्तित्व से परिचित हैं। जीवन के क्षोभ तथा चिन्तन और लेखन के उन्माद से ग्रस्त रहने के कारण मैं स्वयं तो उनके व्यक्तित्व की महिमा को बहुत विलम्ब से

समझ पाया हूं। मेरे लिये वे दर्शन का एक दुरूह सत्य रही हैं। एक शास्त्र के समान उनका अध्ययन करता रहा हूं। भारवि के शब्दों में वे मेरे व्यावहारिक जीवन में 'दीप इव अर्थ-दर्शन' कर एक जीवन्त शास्त्र के तुल्य रही हैं। भारतीय संस्कृति के आदर्शों के आलोक में तथा वेदान्त-शास्त्रों के जीवन-समन्वित तत्वानुसन्धान के सन्दर्भ में मैं उनकी महिमा को कुछ समझ पाया हूं। उपनिषद् पद की व्युत्पत्ति के अनुरूप यदि दाम्पत्य के सान्निध्य को 'उपनिषद्' कह सकें तो वे मेरे लिये आचरण के आदर्श-संकेत के रूप में 'आचार्य' रही हैं। उनके उदार आत्मीय भाव में मैंने वेदान्त के अद्वैत का साक्षात उदाहरण पाया है। सहज और सिद्ध कर्मयोग की जीवन्त प्रतिमा के रूप में वे मेरी 'गीता' हैं। उपनिषदों और गीता के समान ही मैं उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का अनुशीलन करता रहा हूं। उनके साक्षात उदाहरण ने उपनिषदों के अध्यात्म और गीता के कर्मयोग के वे जीवन्त रहस्य उद्घाटित किये हैं, जिनका प्रतिपादन मैंने अपनी अनेक रचनाओं में तथा अन्ततः उपनिषद और गीता सम्बन्धी ग्रन्थों में किया है।

अनेक महापुरुषों को आध्यात्मिक एवं कर्मयोगी कहा जाता है। महापुरुषों ने त्याग किये हैं। सन्त-महात्मा उपदेश करते रहे हैं। उनमें उदार आत्मिक भाव से किसने कितना वास्तविक सेवा श्रम किया है, यह प्रत्यक्ष अनुसंधान का विषय है। महापुरुषों से मेरा सम्पर्क नहीं रहा। सन्त-महात्माओं से मैं दूर रहा। किन्तु दूर से उनके वास्तविक सेवा-श्रम का रूप मेरी अवगति में नहीं आया। श्री कृष्ण ने अर्जुन का रथ चलाया, युधिष्ठिर के राजसूय में शूद्रोचित सेवा की, यह एक उदाहरण तो प्रत्यक्ष कर्मयोग का मुझे दिखाई देता है। मेरी पत्नी को भी तीर्थ, मन्दिर, सन्त, महात्माओं में आस्था नहीं है। आत्मीयता और कर्मयोग ही उनका धर्म है। धर्म और अध्यात्म के इस मर्म को मैं शास्त्रों से नहीं, उनके साक्षात जीवन के व्यवहार से समझ पाया हूं। उनके जीवन से समझ कर ही मैंने शास्त्र और दर्शन की व्याख्याओं में उसे घटित किया है। इसी लिये वे मेरे लिये उपनिषदों से बढ़कर उपनिषद तथा गीता से बढ़कर गीता हैं।

भारतीय संस्कृति में मेरी बड़ी आस्था है। इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा भी है। नारीत्व की महिमा भारतीय संस्कृति की विशेषता है। आद्याशक्ति के साथ नारी की एकता की कल्पना की गई है। पार्वती, सावित्री, सीता, दमयन्ती आदि के चरित्र नारीत्व के उज्ज्वल नक्षत्रों की भांति लोक एवं साहित्य की परम्परा में चमकते रहे हैं। अनेक भारतीय नारियां इन आदर्शों से प्रेरित रही हैं और इनका अनुशीलन करती रही हैं। मैंने अपने काव्यों में नारी की महिमा और उसके शील का बहुत वर्णन किया है। परम्परा के साथ-साथ वह मेरी पत्नी के साक्षात सान्निध्य से प्रेरित हैं। उनके रूप, शील, सौन्दर्य, भाव आदि में मुझे तन्त्रों की शक्ति तथा परम्परा में पूजित नारी के दिव्य दर्शन होते रहे हैं। नवयौवन में उनके गोरे सुन्दर रूप में पार्वती की पवित्रता की जो छाया दिखाई देती थी, उसी के आलोक में मैंने 'पार्वती महाकाव्य में उमा का वर्णन किया है। 'सावित्री' खण्डकाव्य में पातिव्रत की निष्ठा की जो संजीवनी व्याख्या मैंने की है वह मेरे चिन्तन का परिणाम नहीं, वरन् मेरे साक्षात अनुभव का फल है। दाम्पत्य के जिस अनन्य भाव में मैंने काम-अध्यात्म के समन्वय का सूत्र खोजा है उसका साक्षात संकेत मुझे पत्नी की उस अनन्य निष्ठा में मिला है, जिसे कवि अंचल ने एक पंक्ति में बड़ी मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है —अप्सरियों के सुन्दर तन में सतियों का कैवल्य निबाहा।

अस्तु नारीत्व की महिमा, निष्ठा तथा उसके उदात्त शील का जीवन्त आदर्श मेरे सामने पत्नी की साक्षात सत्ता के रूप में रहा है। पुत्री, पत्नी, माता, गृहिणी आदि सभी रूपों में वे इस आदर्श का अकलंक

निर्वाह करती रही हैं। उनके इस आदर्श शील में कुल के शिक्षा संस्कारों का योग अवश्य है। किन्तु एक साधारण परिवार में शील सौजन्य के आदर्श के इस उदात्त उत्कर्ष में मुझे उनकी पूर्व जन्म की साधना का अनुयोग भी दिखाई देता है। मेरी पत्नी की माता भी शील, सद्भाव और कर्मयोग की साक्षात प्रतिमा रही है। मेरी पत्नी ने अपनी कन्या को भी अपने आदर्शों के अनुरूप शिक्षा-प्रेरणा देने का प्रयत्न किया है। इसी संस्कार परम्परा को शब्द देने के लिये मैंने अपनी कन्या को 'दिव्यशीला' का नाम दिया है। बाल्य-काल में मेरी पत्नी अपने शील, गुण और व्यवहार से कुल की प्रिय रहीं। विवाह के बाद भी वे अपने माता-पिता की चिन्ता करती रहीं। उनकी सेवा-सहायता के लिये ही उन्होंने भरतपुर में टिकने का विचार किया। आज समय-समय पर आगरा जाकर अपने वृद्ध और मरणासन्न माता-पिता की वे ऐसी शुश्रूषा करती हैं कि वे उन्हें नित्य आशीष देते हैं। उनके शब्दों में मानों मेरी पत्नी उन्हें प्राणदान करती रही हैं।

पत्नी के रूप में उनका शील एक सेवा-निष्ठ नारी का आदर्श है। गृह-व्यवस्था का सम्पूर्ण भार अपने ऊपर लेकर उन्होंने मुझे लेखन और चिन्तन का मुक्त अधिकार दिया है। मेरे काव्य, सांस्कृतिक गद्य और दार्शनिक चिन्तन में जो कुछ भी श्रेष्ठता है, वह उनके द्वारा प्राप्त सहयोग और स्वतंत्रता की कोटि के अनुरूप है। अध्यात्म का आदर्श अपनी ही मुक्ति नहीं वरन् दूसरों को भी मुक्ति देना है, यह कल्पना उस साक्षात् अनुभव की छाया है जो मुझे उनके द्वारा प्राप्त अपनी मनोमुक्ति में मिला है। उन्होंने नारीत्व के शील का निर्वाह केवल भाव से ही नहीं प्रत्यक्ष कर्म से किया है। गीता के कर्मयोग का मर्म मैंने उनकी साक्षात् कर्मनिष्ठा से समझा है। सद्भाव एवं प्रसन्नता-पूर्वक परार्थ कर्म ही सच्चा कर्मयोग है। यह मेरी व्याख्या नहीं, उनके सहज शील का अनुवाद है। जिस संवेदना, और सूक्ष्मता के साथ वे मेरी और बच्चों की छोटी-छोटी आवश्यकताओं का ध्यान रखती रही हैं, उसी में मुझे कर्मयोग का व्यावहारिक मर्म मिला है। उनके श्रम, सहिष्णुता और कर्मठता की सीमा आश्चर्यजनक है। मेरे लेखन, प्रकाशन के कारण उनके श्रम का भार बहुत बढ़ा जिसे उन्होंने बड़ी सहिष्णुता के साथ वहन किया है। हिन्दी के आधुनिक युग की यह भामती किसी एक ग्रन्थ के नाम से नहीं, वरन् मेरे सम्पूर्ण कृतित्व की प्रेरणा शक्ति, उसके व्यावहारिक पोषण की धात्री एवं संरक्षिका के रूप में अमर रहेगी।

पत्नी के रूप में मेरी भामती मेरे निराश्रित जीवन का एकमात्र अवलम्ब रही हैं। मेरा लेखन कार्य वाचस्पति के समान एकान्त साधना नहीं रहा। पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी का इसमें किंचित् भी सहयोग नहीं है। किन्तु सारी रचना मैंने पत्नी के दृष्टि-दीपक के आलोक में की हैं। पुस्तकों के विषयों के सम्बन्ध में उनका परामर्श रहा है। हिन्दी समाज की मेरे 'पार्वती' महाकाव्य के प्रति उदासीनता के कारण जब मेरा कवि खिन्न हो गया और गद्य-रचना, फिर बाद में अंगरेजी लेखन, में भ्रान्त हो गया, तब उन्होंने ही अनुरोध करके मुझे खण्डकाव्य लिखने के लिये प्रेरित किया। वे नित्य उन काव्यों की प्रगति को देखती थीं और उन्हें सुनती थीं। उनके अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति ने वे काव्य न देखे थे, न सुने थे। जिस अल्प अवधि में तथा जिस तीव्र गति से (अध्यापन, अध्ययन और अंगरेजी लेखन के समानान्तर) इन काव्यों की रचना हुई है, उसमें मेरी प्रतिभा की अपेक्षा उनकी प्रेरणा-शक्ति का चमत्कार अधिक है। उन ग्यारह खण्डकाव्यों की प्रतिलिपि उन्होंने ही की है। 'पार्वती' की प्रतिलिपि भी उन्होंने ही की थी।

माता के रूप में नारी की महिमा मेरी दृष्टि में समाज और सभ्यता का मूल मर्म है। भारतीय

मातृपूजा का धर्म इसी मर्म को रेखांकित करता है। सन्तान के लालन-पालन और शिक्षण में तथा मेरे अनेक शिष्यों को वात्सल्य की विभूति बांटने में उन्होंने उसी चर्चित मातृत्व को चरितार्थ किया है। मातृत्व नारी के अस्तित्व का मर्म है, जिसे आज की नारी दाम्पत्य के विलास-विहार में भूल रही है। मेरी पत्नी ने उस विलास-विहार का संवरण कर माता और गृहिणी के रूप में ही अपने जीवन को अधिक सार्थक बनाया है। अपनी सन्तान की सफलता उनकी ही साधना का फल है। मेरा साहित्यिक गौरव सन्तान के लिये प्रेरणा और प्रकाश अवश्य रहा। किन्तु सन्तान की शिक्षा-सफलता की व्यावहारिक व्यवस्था में उनका ही योग अधिक रहा है। खाने, पहनने तथा अन्य सुख-सुविधाओं के सन्दर्भ में उनकी अपनी आकांक्षा कुछ न रही। वे पति और सन्तान के लिये ही सब कुछ करती रही हैं। माता के रूप में अपने सुख के मोह को छोड़कर ही नारी अपना और परिवार का जीवन सफल बना सकती है, यह उनका विश्वास ही नहीं वरन् उनके व्यवहार और जीवन का मन्त्र रहा है।

मेरी पत्नी के इस उदात्त और महिमामय मातृत्व का प्रसाद घर में आने वाले अनुजतुल्य बन्धुओं, पुत्रकल्प विद्यार्थियों तथा प्रसंगत आने वाले कर्मकारों को मिलता रहा है। आधुनिक अंगनाओं का प्रसाधित और सुसज्जित, रमणीय रमणीत्व आज के सभ्य दाम्पत्य का अलंकार है। मेरी पत्नी का अप्रसाधित सौन्दर्य किसी आधुनिका के प्रसाधित सौन्दर्य से कम नहीं रहा। रूप-सौन्दर्य के सन्दर्भ में वे कालिदास के 'किमिह मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' को चरितार्थ करती रहीं। किन्तु सन्तान को अधिकतम आत्मीयता देने के उत्साह में उन्होंने अपने रमणीत्व को महत्व नहीं दिया। परिचित समाज में उनका रमणीत्व नहीं मातृभाव चर्चित रहा। साहित्यकार के नाते मैं जो कुछ प्रतिष्ठा अर्जित कर सकता था, उसे उनके मधुर और महिमामय मातृत्व ने चौगुना बढ़ाया है। वे स्नेह देकर ही सन्तुष्ट हैं। दान ही उनका धर्म है। प्रदान आत्मा का लक्षण है। जीवन में उस आत्मधर्म का पालन करने वाली माता पृथ्वी पर परमात्मा की प्रतिनिधि हैं। पत्नी के इस उदार और उज्ज्वल मातृत्व ने भारतीय संस्कृति की परम्परा में, तन्त्र विधान में तथा सभ्य मनुष्य जीवन में मातृत्व के महत्व को मेरी मनीषा में प्रकाशित किया है। मातृत्व ही नारी को वन्दनीय देवी तथा दिव्य शक्ति का अवतार बनाता है। मेरी भामती का सात्विक और स्नेहमय पत्नीत्व मेरी मानसिक मुक्ति की प्रतिश्रुति तथा मेरे रचना धर्म की प्रेरणा रहा। उनका महिमामय मातृत्व मेरे तत्व-चिन्तन का शास्त्र एवं सूत्र रहा। प्रेयसी की अपेक्षा श्रेयसी के रूप में उनके सहज और सूक्ष्म सहयोग ने मेरे और परिवार के जीवन को सफल एवं सार्थक बनाया है।

शकुन्तला के समान शैशव में माता-पिता के वात्सल्य से वंचित रहकर, तथा विवाहित जीवन में साहित्य रचना में आकण्ठ निमग्न पति के साथ भामती से बढ़कर उपेक्षा और उत्तरदायित्व के भार को वहन कर जिन आर्थिक और व्यावहारिक कठिनाइयों के बीच उन्होंने इस कठिन नारी धर्म का निर्वाह किया है तथा प्रेरणा एवं प्रकाश से मेरे जीवन को अभिनन्दनीय बनाया है, उसके लिये मुझसे भी बढ़कर वे अभिनन्दन की अधिकारिणी हैं। उनकी सहिष्णुता, उनके त्याग-सहयोग से ही मैं सुविधा और लाभ की उपेक्षा कर स्वार्थ, यश और लाभ की आपाधापी के इस युग में अपनी अभीष्ट साहित्य साधना कर सका। घाटे की अर्थ-व्यवस्था भारत की अर्थनीति बन गई है, किन्तु घाटे की साधना ही साहित्य और राष्ट्र के अभ्युदय की नीति हो सकती है। इस नीति के अनुसार ही साहित्य-साधना और राष्ट्र-सेवा का मूल्यांकन अभिनन्दन की भ्रांतियों में भटकते हुए भारत के लिए यथार्थ और सत्य का दीप स्तम्भ बन सकता है।

चिन्तन की चर्चा[1]

डॉ० रामानन्द तिवारी

विधायक चिन्तन – चिन्तन मानवीय जीवन और समाज के विकास का मुख्य सूत्र है। वह जीवन और समाज के प्रासाद की नींव है। चिन्तन की नींव पर ही और उस नींव के अनुरूप ही प्रत्येक राष्ट्र और समाज के प्रासाद की मंजिलें बनती हैं। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में अकस्मात् कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है वह अनेक कारणों से होता है, जिनमें चिन्तन प्रमुख है। यह चिन्तन राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय संगठन, राष्ट्रीय साधन, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों आदि के माध्यम से राष्ट्र के भाग्य की रचना करता है। चिन्तन ही राष्ट्रों की उन्नति की प्रेरणा और इस उन्नति के मार्ग का प्रकाश है। विश्व इतिहास के पटल पर उत्थान अथवा पतन की नियति को अपनाने वाले राष्ट्रों की चिन्तन की सरणि में उनकी नियति की व्याख्या खोजी जा सकती है। चिन्तन के ही बल से विश्व के कुछ देश उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते रहे हैं। चिन्तन के ही दोषों से कुछ देश इतिहास में आक्रांत, पीड़ित, पराजित तथा पतनोन्मुख होते रहे हैं।

चिन्तनीय भारत – विश्व के इतिहास में भारत की नियति सबसे अधिक शोचनीय रही है। पिछले दो हजार वर्षों से वह निरन्तर विदेशी आक्रमणकारियों से आक्रान्त और पीड़ित रहा है। संसार के बड़े देशों में कोई भी देश इतना आक्रान्त और निर्यातित नहीं रहा। अधिकांश छोटे देश भी भारत से अधिक स्वतंत्र, सशक्त और गौरवशाली रहे हैं। इतना विशाल और महान देश इस ऐतिहासिक विडम्बना को इतने अधिक काल तक कैसे सहता रहा, यह विचारणीय है। स्वतन्त्रता के बाद भी भारत की स्थिति उत्तरोत्तर अधिक संकटापन्न होती गई है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी भारत की प्रतिष्ठा दिनोंदिन गिरती जा रही है। विश्व-राजनीति में भारत आज अनेक संकटों में उलझा हुआ है। इन संकटों की स्थिति में भारत के भविष्य के लिए अनेक आशंकायें हो सकती हैं। इस चिन्ताजनक स्थिति में भूत और भविष्य का चिन्तन भारत के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन भारत के चिन्तन में क्या दोष रहे जिनके कारण भारत का इतिहास इतना विडम्बनामय रहा, यह विचारणीय है। वर्तमान का सुधार और उज्जवल भविष्य का निर्माण भी समुचित चिन्तन के द्वारा ही हो सकता है।

प्राचीन चिन्तन – विद्या और संस्कृति के क्षेत्र में प्राचीन भारत बहुत समृद्ध रहा है। प्राचीन विद्या का जितना विपुल भण्डार भारतवर्ष में है उतना संसार के किसी भी प्राचीन देश में नहीं हैं। अनेक विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट किए जाने पर भी यह भण्डार अपरिमित है।

भारत की संस्कृति भी अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध रही है। अभिजात कला तथा लोक-संस्कृति दोनों रूपों में ही यह संस्कृति अपनी अपरिमेय विशालता में आज भी प्रकाशित है। प्राचीन लोक-संस्कृति का जितना सम्पन्न और समृद्ध रूप भारतीय परम्परा में मिलता है, उतना संसार के किसी अन्य देश में नहीं

१. पाक्षिक "भारतीय चिन्तन" दिसम्बर, १९६५

मिलेगा। भारत की लोक संस्कृति अन्य देशों की संस्कृतियों की भांति समाज के कुछ पिछड़े हुए वन्य और ग्रामीण वर्गों में ही नश्यमान अवशेष के रूप में नहीं रही है। भारत की विशाल लोक-संस्कृति उच्चतम नागरिक जीवन में पर्वों, उत्सवों, संस्कारों आदि के रूप में व्याप्त है। विदेशी और भारतीय दोनों प्रकार के सांस्कृतिक अध्ययनों में भारत की इस व्यापक लोक संस्कृति की उपेक्षा की गई है। विदेशी विद्वान अपने देश में ऐसी संस्कृति सुलभ न होने के कारण, इसके महत्व को नहीं समझ सके। किन्तु खेद की बात है कि भारतीय विद्वान भी अपनी इस सम्पन्न और समृद्ध लोक-संस्कृति का समुचित मूल्यांकन भारतीय जनता तथा विदेशी विद्वानों के सम्मुख न रख सके। भारतीय विद्याओं का विदेशी मूल्यांकन भी विदेशी दृष्टिकोणों से प्रभावित रहा है। विदेशी विद्वानों के लिए तो यह स्वाभाविक था, यद्यपि यह न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता।

शोचनीय बात यह है कि स्वतंत्र भारत की मनीषा भी अपनी विद्या और संस्कृति के विषय में स्वतंत्र और भारतीय दृष्टिकोण न अपना सकी। स्वतंत्रता के १८ वर्ष बाद भी आज भारतीय चिन्तन पर विदेशी विद्वानों का प्रभुत्व छाया हुआ है। हम आज भी स्वतंत्र और भारतीय दृष्टिकोण से अपनी प्राचीन विद्या व संस्कृति का मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं हैं। स्वतंत्र भारत के गौरव के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी प्राचीन विद्या और संस्कृति का स्वतंत्र और भारतीय दृष्टिकोण से मूल्यांकन कर उसे सही रूप में देश की जनता और विदेशी विद्वानों के सामने रख सकें।

वर्तमान चिन्तन – प्राचीन भारतीय चिन्तन और संस्कृति के उचित मूल्यांकन का अभाव महान भारत की महती विडम्बना है। दूसरी विडम्बना भारत के वर्तमान चिन्तन की दीनता है। आधुनिक भारत में स्वतंत्र और महत्वपूर्ण चिन्तन किस-किस क्षेत्र में हो रहा है? प्राकृतिक विज्ञानों में आधुनिक भारतीय वैज्ञानिकों ने कुछ चमत्कार अवश्य दिखलाया है। किन्तु अन्य क्षेत्रों में विश्व-चिन्तन के अन्तर्गत भारतीय चिन्तन का कोई स्थान नहीं है। धर्म और दर्शन को प्राचीन भारत की महत्वपूर्ण थाती माना जाता है। इन क्षेत्रों में भी वर्तमान भारतीय चिन्तन का आज क्या स्थान है? क्या धर्म-मीमांसा अथवा दार्शनिक सिद्धांतों का ऐसा कोई आधुनिक भारतीय ग्रन्थ है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पाई हो अथवा जो भारतीय दार्शनिक अध्ययन में ही प्रतिष्ठा का स्थान रखता हो? उच्च कक्षाओं में अध्ययन-अध्यापन के लिए स्वीकृत धर्म और दर्शन सम्बन्धी सभी पुस्तकें अभारतीय हैं। धर्म और दर्शन के अतिरिक्त अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र आदि सभी विषयों में विदेशी विचारकों के ग्रन्थों का प्रभुत्व छाया हुआ है। उच्च कक्षाओं की पुस्तकों के विचार और लेखक दोनों ही अभारतीय हैं। भारतीय लेखकों के ग्रन्थ प्रायः विदेशी लेखकों के विचारों के संग्रह मात्र हैं। उनका अपना मौलिक विचार कुछ भी नहीं है। स्वतंत्र भारत के उच्चतम आचार्य भी विदेशी ग्रन्थों के विचारों के अध्यापन में ही अपना गौरव मानते हैं। अध्यापन के प्रसंग के अतिरिक्त सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, भाषाविज्ञान, धर्म, दर्शन, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर उच्चकोटि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ हिन्दी में कितने लिखे गये हैं? कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना में ही सीमित रह कर हिन्दी भारत की गौरवमयी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकेगी।

पत्र का प्रस्तावः—भारतीय मनीषा की वर्तमान दीनता अत्यंत शोचनीय और प्रत्येक स्वाभिमानी और देश-प्रेमी भारतीय के लिए चुनौती है। 'भारतीय चिन्तन' की आकांक्षा यही है कि वह वर्तमान भारत के स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन का प्रतिनिधि बन सके।

चिन्तन के लक्ष्य

चिन्तन के क्षेत्र—

वर्तमान भारतीय चिन्तन के जो क्षेत्र अभाव-ग्रस्त हैं उनको सम्पन्न बनाना ही चिन्तन का अभीष्ट लक्ष्य है। इन क्षेत्रों को चिन्तन के विषय कहा जा सकता है। सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, भाषा-विज्ञान, शिक्षा, मनोविज्ञान इतिहास, धर्म, दर्शन आदि इन क्षेत्रों अथवा विषयों के उदाहरण हैं। चिन्तन के इन सभी क्षेत्रों में भारतवर्ष में पश्चिमी विचारकों का प्रभुत्व छाया हुआ है। छोटी कक्षाओं से लेकर उच्चतम कक्षाओं तक भारतीय विद्यार्थी जो पुस्तकें पढ़ते हैं उनमें पश्चिमी विचारकों के नाम और मत भरे रहते हैं। इससे भारतीय नवयुवकों के मन में एक हीनता की भावना घर करती है कि भारत का विचार के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है। उनके मन में राष्ट्रीय गौरव की भावना जागृत नहीं होती। उसका मुख्य कारण यही है कि शिक्षा के क्रम में उन्हें विचार-क्षेत्र में भारत का कोई गौरव नहीं दिखाई देता।

यह स्थिति कई कारणों से उत्पन्न हुई है। एक कारण तो यह है कि भारतीय शिक्षा में प्राचीन भारतीय चिन्तन को बहुत कम महत्व दिया जाता है। शिक्षा की उक्त स्थिति के प्रभाव से भारतीय नेताओं, मनीषियों, अध्यापकों, छात्रों आदि सबके मन में प्राचीन भारतीय चिन्तन के बारे में एक हीन-भावना बैठ गई है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन रूढ़िवादी, पुरातनपंथी और उपेक्षणीय है। दूसरा कारण यह है कि विदेशी शासन की पराधीनता के कारण मध्यकाल में भारतीय चिन्तन का विकास शिथिल हो गया। मानो पराजित और पराधीन होकर भारत स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन के क्षेत्र से उपरत हो गया। अंगरेजी शासन काल के आधुनिक युग में प्राचीन भारतीय चिन्तन का पुनरुत्थान अवश्य हुआ, किन्तु नवीन और मौलिक चिन्तन की कोई दिशायें नहीं खुल सकीं। तीसरा कारण यह है कि स्वाधीनता के अठारह वर्षों में भी स्वतन्त्रता, मौलिकता और राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से चिन्तन को उचित महत्व नहीं दिया गया। मौलिक चिन्तन को एक राष्ट्रीय परम्परा बनाकर शिक्षा-प्रणाली में समन्वित नहीं किया गया। हमारी शिक्षा एक लक्ष्यहीन ज्ञान-सम्पादन मात्र है और इस कार्य में भी वह अधिक सफल नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीयता, अभारतीयता आदि अनेक कारण स्वतन्त्र भारत के मौलिक चिन्तन के विकास में बाधक रहे हैं। मध्यकालीन चिन्तन की दीनता ने भी दरिद्रता का ही उत्तराधिकार दिया। अंगरेजी शासनकाल की विदेशीयता और अभारतीयता कई गुनी बढ़ कर भारत के विकास को सब ओर से रोक रही है। मध्यकालीन और अर्वाचीन हिन्दी ललित साहित्य तक ही सीमित रही। स्वतन्त्र भारत में भी वह मानों अपनी सीमाओं का विस्तार नहीं चाहती। भाषा की समस्या को इस विस्तार में बाधक कहा जा सकता है। किन्तु हिन्दी-भाषी प्रान्तों में शिक्षा के क्षेत्र में यह बाधक नहीं होनी चाहिये। किन्तु शिक्षा अंगरेजी और हिन्दी दोनों से विच्छिन्न होकर धोबी के कुत्ते की गति को प्राप्त हो रही है। हिन्दी-रचना कविता, कहानी और आलोचना की परिधि में ही घूम रही है। चिन्तन के अन्य क्षेत्रों और विषयों में

लेखकों और पाठकों दोनों का ही अभाव है। अन्य विषयों के अधिकांश ग्रन्थ विदेशी विचार कणों के आधार पर पाठ्य पुस्तकों के रूप में लिखे गये हैं। अन्य विषयों के श्रेष्ठ और मौलिक ग्रन्थ बहुत कम दिखाई देते हैं। जो कुछ लिखे जाते हैं उनका, अनुकूल वातावरण न होने के कारण, उचित मान नहीं होता। राष्ट्र और भाषा दोनों के गौरव के लिये सभी क्षेत्रों में मौलिक और महत्वपूर्ण चिन्तन की परम्परा का प्रसार आवश्यक है।

चिन्तन की भूमियाँ—

'भारतीय चिन्तन' की योजना में इस परम्परा का कई भूमियों पर अनुष्ठान करना अपेक्षित है। चिन्तन का चरम शिखर मौलिक सिद्धान्त और उनके सूत्र-वचन हैं। ये शिखर विचार की लम्बी श्रेणियों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं किन्तु उर्ध्वगामिनी दृष्टि को ये शिखर ही अधिक स्पष्ट दिखाई देते हैं। चिन्तन के ग्राहकों को ये शिखर स्पष्ट दिखाई देते रहते हैं तो वे लम्बी श्रेणियों के मार्ग से इन तक पहुंचने का उद्योग कर सकते हैं। चिन्तन के सूत्र स्पष्ट होने पर उनकी विस्तृत व्याख्यायें बोधगम्य और उपयोगी बन जाती हैं। इसी कारण 'भारतीय चिन्तन' की योजना में चिन्तन-सूत्रों के निर्वचन को प्राथमिकता दी गई है। जिस स्तम्भ के अन्तर्गत ये सूत्र देना अभीष्ट है उसे 'प्रस्तावन' का नाम दिया गया है। सूत्ररूप में चिन्तन के सिद्धान्तों और निष्कर्षों के निर्वचन को 'प्रस्तावन' कहना उचित ही है। मौलिकता के अनुरोध के कारण 'प्रस्तावन' के अन्तर्गत दिये जाने वाले विचार-सूत्रों में भारतीय अथवा विदेशी किसी प्रकार के सन्दर्भ को स्थान देना हम उचित नहीं समझते। अतः इन निर्वचनों का पूर्णतः सन्दर्भ-हीन होना अपेक्षित है।

किन्तु चिन्तन के सूत्रों का संक्षिप्त निर्वचन मात्र पर्याप्त नहीं है। इसे चिन्तन का आदि अथवा अन्त कहा जा सकता है। किन्तु इस आदि और अन्त के बीच की विचार प्रक्रिया ही चिन्तन को प्रशस्त, पूर्ण और पुष्ट बनाती है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत हमने 'प्रतिपादन' को प्रथम स्थान दिया है। इसमें भी मौलिकता का अनुरोध है। 'प्रतिपादन' का अभिप्राय विचार-सूत्रों की तर्क-संगत व्याख्या करना है। यह 'प्रतिपादन' किसी भी विषय के विचार-सूत्रों का हो सकता है। इन विचार-सूत्रों को 'प्रस्तावन' में देना आवश्यक नहीं है, किन्तु 'प्रतिपादन'' के कलेवर में अन्तर्वर्ती शीर्षकों के रूप में इनका देना अपेक्षित है। मौलिकता का अनुरोध होने के कारण 'प्रतिपादन' में भी भारतीय अथवा विदेशी संदर्भों के लिये स्थान न होगा। 'प्रस्तावन' और 'प्रतिपादन' दोनों ही लेखकों के मौलिक विचारों पर आश्रित होंगे। एक में मौलिक विचार-सूत्रों का संक्षिप्त निर्वचन होगा और दूसरे में उनकी संक्षिप्त एवं तर्क-संगत व्याख्या।

भारत अथवा अन्य देशों के ऐतिहासिक चिन्तन के संदर्भ में विभिन्न विषयों का जो विवेचन होगा, उसे 'विवेचन' के स्तम्भ के अन्तर्गत दिया जायेगा। 'प्रस्तावन' और 'प्रतिपादन' में अभारतीय शब्दों का प्रयोग वांछनीय न होगा, किन्तु 'विवेचन' में भारतीय अथवा अभारतीय विचारकों के नामों तथा उनके विचारों का उल्लेख अभारतीय भाषाओं में भी किया जा सकेगा। मौलिक चिन्तन को प्रशस्त करने के साथ-साथ प्राचीन भारतीय चिन्तन का 'अनुवचन' भी हमें अभीष्ट है। यह 'अनुवचन' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत किया जायेगा। भारतीय विचार-कणों की व्याख्या 'विवरण' के अन्तर्गत दी जायेगी। विविध विचार-प्रत्ययों की प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय भाषायें भी आमन्त्रित हैं। इस प्रकार चिन्तन के विविध क्षेत्रों के सम्बन्ध में उक्त भूमियों अथवा स्तम्भों के अन्तर्गत स्वतन्त्र भारत के मौलिक चिन्तन की परम्परा को प्रशस्त करना 'भारतीय चिन्तन' का लक्ष्य है।

पूर्णतः पाठकों का पत्र[1]

— दिग्दर्शक : "भारती नन्दन"

'परिप्रश्न' पूर्णतः पाठकों का ही पत्र है। इसमें प्रति सप्ताह पाठकों के देश, समाज, जीवन आदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न प्रकाशित होंगे। देश, समाज, जीवन आदि की समस्याओं में रुचि रखने वाले कोई भी पाठक अपने प्रश्न 'परिप्रश्न' में प्रकाशन के लिए भेज सकेंगे। 'परिप्रश्न' के प्रबुद्ध पाठक ही इन प्रश्नों के उत्तर भेजेंगे। एक प्रश्न का उत्तर कई पाठक कई प्रकार से दे सकते हैं। ये सभी उत्तर 'परिप्रश्न' में यथासम्भव प्रकाशित किये जायेंगे। उत्तरों के प्रत्युत्तर भी आयेंगे और प्रकाशित होंगे।

इस प्रकार 'परिप्रश्न' प्रश्नोत्तर के द्वारा पाठकों के परस्पर विचार-विनिमय का माध्यम बनेगा। 'परिप्रश्न' पूर्णतः पाठकों का अपना पत्र होगा। सभी पाठक प्रश्न तथा उत्तर भेज सकते हैं। प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में अधिकारी लेखकों की रचनायें ही प्रकाशित होती हैं। सामान्य पाठक केवल उन्हें पढ़ने के अधिकारी हैं। उनके सम्बन्ध में कोई प्रश्न या तर्क-वितर्क नहीं कर सकते हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाओं में पाठकों के पत्र छपते हैं किन्तु इसके लिए केवल एक-दो पृष्ठ ही दिये जाते हैं। 'परिप्रश्न' में कोई लेख प्रकाशित न होंगे। उनमें केवल पाठकों के प्रश्न और उत्तर प्रकाशित होंगे। वह पूर्णतः पाठकों का अपना पत्र होगा। इस रूप में 'परिप्रश्न' कदाचित् एक अद्वितीय साप्ताहिक पत्र होगा।

'परिप्रश्न' की आवश्यकता

'परिप्रश्न' का प्रकाशन शिक्षित एवं सजग समाज की एक मुख्य आवश्यकता को ध्यान में रख कर किया जा रहा है। प्रत्येक मनुष्य देश, समाज, जीवन आदि के विषय में समय-समय पर कुछ सोचता-विचारता है। भारत का इतिहास तो बहुत ही शोचनीय रहा है। स्वतन्त्र होने के बाद भी भारत की दशा उत्तरोत्तर अधिक चिन्तनीय होती जा रही है। भारतीय जनता का जीवन अनेक कठिनाइयों एवं कुण्ठाओं से पीड़ित है। राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में नई-नई समस्यायें बढ़ रही हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ कुछ विश्व व्यापी समस्यायें भी उग रही हैं।

ऐसी स्थिति में सभी के मन में अनेक प्रश्न, अनेक तर्क-वितर्क उठते हैं। कुछ लोग मिल कर कभी-कभी इन प्रश्नों के बारे में आकस्मिक विचार-विवाद कर लेते हैं। यह विचार-विवाद अधूरा रह जाता है और अव्यवस्थित होता है। इन प्रश्नों और विचारों को व्यवस्थित रूप से प्रकट करने के लिये कोई माध्यम हिन्दी में नहीं है। समाज की इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये परिप्रश्न का प्रकाशन किया जा रहा है। सभी पाठक देश समाज जीवन सम्पता आदि के प्रश्नों को प्रकाशन के लिए प्रश्न 'परिप्रश्न' में भेज सकते हैं। 'परिप्रश्न' शिक्षित एवं सजग पाठकों के प्रश्नों एवं उत्तरों के द्वारा उनके परस्पर विचार-विनिमय की स्वस्थ परम्परा का माध्यम बनेगा।

---

१. परिप्रश्न (साप्ताहिक विचार-पत्र) १४ जनवरी, १९७०।

'परिप्रश्न' के उद्देश्य

१—'परिप्रश्न' का प्रकाशन शिक्षित एवं सजग समाज की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति के लिये आरम्भ किया गया है। जिज्ञासा और विचार की स्वाभाविक एवं सामाजिक आवश्यकता को पूर्ण करना 'परिप्रश्न' का प्रमुख उद्देश्य है।

२—किन्तु 'परिप्रश्न' केवल पाठकों के सामयिक कौतूहल की पूर्ति का साधन बना रहना नहीं चाहता। प्रश्नों के रूप में पाठकों के गम्भीर विचार-विनिमय का माध्यम बन कर वह देश, समाज, जीवन और सभ्यता के मौलिक, मुख्य, गम्भीर एवं कठिन प्रश्नों के यथासम्भव समाधान भी प्रस्तुत कर सकेगा।

३—भारतीय इतिहास और समाज के प्रश्नों में 'परिप्रश्न' की विशेष रुचि होगी। भारत का इतिहास बहुत शोचनीय रहा है तथा समाज की वर्तमान स्थिति भी चिन्तनीय होती जा रही है। इनके सम्बन्ध में गम्भीर और व्यवस्थित विचार करके ही हम देश और समाज के अपेक्षित विकास की दिशा खोज सकते हैं।

४—उदासीन जनता में देश और समाज की समस्याओं के प्रति रुचि एवं चेतना उत्पन्न करना भी 'परिप्रश्न' का लक्ष्य है।

५—युवक छात्रों को देश और समाज की समस्याओं के बारे में संयत एवं गम्भीर चिन्तन करने के लिये प्रेरित करके 'परिप्रश्न' देश की गिरती हुई शिक्षा के उन्नयन में योग देने का भी अभिलाषी है।




साहित्य

कवि का परिचय

मैं एक बिन्दु हूँ उस रस के सागर का,
जो अखिल विश्व के अन्तर में लहराता;
जिसमें आत्मा का राज-कमल केसर-का
सौरभ पराग आलोक-सदृश बिखराता।

किस तरुण ताप से ऊर्जित शून्य गगन में
जो लक्ष्य-हीन-सा नभ में रहा विचरता,
जो अचल शिलाओं से अवरुद्ध, भुवन में
अन्तःसलिला-सा रहा अलक्षित बहता।
किस करुणामय का शीतल स्पर्शन वर-सा
नभ से अवनी का सरस मार्ग बन जाता,
किसका अवलोकन वेध्य शिलायें शर-सा
जीवन-प्रवाह की मुक्त-सरणि बन जाता।

बह रहे अनेकों रस के स्रोत भुवन में,
कितने सर निर्मल नीर भरे लहराते!
कितने रस के निर्झर कलकल निस्वन में,
जीवन के सुन्दर गीत चिरन्तन गाते!!

यह स्वाति-बिन्दु-सा सफल, अश्रु कन मेरा
होगा मन की सीपी के मुक्ता-फल में,
बन किसी आँख का आशा-पूर्ण सवेरा.
होगा कृतार्थ खिल ओस-भरे शतदल में।

ब्रज रचनाएं[1]

दोहा

रामनाम के भजन ते, मिटै सकल भव त्रास ।
जेहि घर तुलसी वृक्ष तेहि, करे लच्छिमी वास ।।

आई है

कूरम पै कोल, कोल हू पै शेष कुण्डली है,
कुण्डली पै सुफलन की भारी छवि छाई है।
फन हूं पै राजित अति मंजु मात धरणी है,
राजत हिमाचल भूमि हूं पै गिरिराई है ।
राजत हिमाचल पै शम्भु सुरनाथ कहूं,
शम्भु पर हू ज्योति जटाजूट अधिकाई है ।
शम्भु जटाजूट पै हू राजति अपार गंग,
नृप के तप हेतु मात सोरों में आई है ।

गंग धारा है

सर्वश्रेष्ठ तीर्थ और सर्वोत्तम क्षेत्र सोरों,
जाको गुणगान चारि वेदन उचारा है ।
अनुपम महती को भाग भगवान कियों,
आय पंचभूत गात अपना बिसारा है ।
धन्य है हमारे भाग्य पायो जो जन्म यहां,
कोई महापुण्य पूर्व संचित हमारा है ।
जाके फलरूप पाई सोरों सी जन्म भूमि,
जाके कल कूल पै प्रवाहित गंग धारा है ।

१. रचना काल १९२८-३०

आरम्भिक रचनाएं[1]

निरक्षर श्रीमती

ग्रेजुएट पती निरक्षर श्रीमती के संग,
रहते थे कभी एक आगरा नगर में ।
ग्रीष्म की गर्मी सों आकुल हो बोले आप,
मसूरी चलेंगे माई डार्लिंग समर में ।
बोली घबराय तिय कौन सो कहत माई,
सूझी कहा सूझ नई नाथ क्षण भर में ।
कैसो समर रोप्यो है प्रीतम मसूरी माहिं,
बारे बारे लालन तजि जैयो ना समर में ।

तुलसी स्तोत्र

सप्रेम जिसने शुभ पाठ भक्ति का ।
पढ़ा किया जन्म कृतार्थ ये अहो ।
विनीत भावेन तथाति श्रद्धया ।
नमामि शिरसा तुलसी कवीन्द्र को ॥
वसुन्धरा का अनमोल रत्न जो ।
अतीव प्यारा वह राघवेन्द्र का ॥
सरस्वती का वह लाल लाड़िला ।
हमें सदा ही अति वन्दनीय है ॥

---

१. रचना काल १९३३-३४

माता[1]

अब तक मैंने बाल्यकाल में, सब सुख पाये।
बांधि बांधि हठ काम किये सब ही मन भाये।।
पर धरनी से आज उठ गया सब सुख मेरा।
सुख दायी ने किया कहीं अन्यत्र बसेरा।।
माता को हा! नहीं कभी क्या मैं पाऊंगा।
धूरभरे तन बैठ गोद में किसको हरषाऊंगा।।
हा मुझसे अब कौन प्यार से पुत्र कहेगा।
मेरे सुख के लिये विविध दुख कौन सहेगा।।
आवेगी जब याद किसे? हा 'मात' कहूंगा।
जो दुख देखे नहीं स्वप्न में उन्हें सहूंगा।।
लख सुत से निज गोद भरी जो हरषित होती।
मेरे जीवन क्षेत्र मध्य सुख अंकुर बोती।।
वह माता तज मुझे हुई, हा! जग से न्यारी।
मुझे अकेला छोड़ कौन से लोक सिधारी।।
हे माता तज मुझे किया जा कहां बसेरा।
निरालम्ब हो गया आज यह प्रिय सुत तेरा।।
मां! मेरे सुख हेतु कौनसा कष्ट न भोगा।
इसका प्रत्युपकार कभी क्या मुझसे होगा।।
तेरा जो ऋण मात स्वयं अनुभव करता हूं।
क्या उससे आजन्म उऋण मैं हो सकता हूं।।
दर्शन तो हो गया मात! हा दुर्लभ तेरा।
किया करूं स्मरण, प्रेम भावों का तेरा।।
यद्यपि मुझे अनाथ मात जग में छोड़ा।
निज प्रिय सुत से सकल नेह का नाता तोड़ा।।
पुत्र विनय यह किन्तु मात स्वीकृत कर लेना।
मात! स्वप्न में कभी-कभी आ दर्शन देना।।

---

१. हाई स्कूल परीक्षा (१९३४) में उत्तर पुस्तिका में सद्य लिखित कविता

संस्कृत अनुवाद[1]

एकस्मिन् दिवसे राजा शक्तिदेवः सुविश्रुतः
अभौमे अमरोद्याने गतः विष्णोरुपासकः ।

ज्येष्ठस्य भ्रातुरादेशात् आनीय विजने वने,
सौमित्रेण परित्यक्ता सीता श्वापद संकुले ।

वस्तुमात्रं च सर्वस्वं हरिश्चन्द्रेण एकदा ।
दत्तं विप्राय एकस्मै सत्यसंधेन भूभुजा ।।
तस्माद् कारणादेव सदा सद्धर्म पालकः ।
गतो देहावसानेहि इन्द्रलोकं सुदुर्लभम् ।।

हरैः पुरे सभारत्नः एकदा शुभपत्तने ।
देवदत्ताभिधानोहि विद्वान्न सत सुविश्रुतः ।।

सीता-सौमित्र युक्तोऽहि मर्यादापुरुषोत्तमः ।
अवसद् ऋषि संगत्यां रामस्तस्मिन् महावने ।।

---

१. हाई स्कूल (१९३४) परीक्षा में हिन्दी से किया गया सद्य अनुवाद

Prayer to Divine Hand[1]

May I pray to Divine Hand
To write so much as not to cease
To us a message now to send
Through ever-lasting poems these.

Not a message of His health
Or of events happened There,
But of instructions, our noble wealth
That may we follow and prepare.

A fine treasury, not of bricks,
But of our heart, the abode of soul
And the evil-thorn that pricks
May we remove, and through the hole.

May pass, I wish, the Voice Divine
To raise the soul that unconscious lies
Pricked with thorn and drunken with wine
Of world-Possessions, which the wise

Thinks unreal, controls himself,
Having One and one in view
And doesn't wish for power and pelf.
But such are in this world a few.

Thus no pension may he require
The soul divine and purely bright
By the spirit's electric wire
A Bulb in dark heart may he light.

As may lead us to the goal
Not grave, but noble aim of life,
And purify our solied soul
That may we win the life's strife.

1. Written in 1934

किशोर काल की कविताएं[1]

वीणा वादिनी

वीणा वादिनी ! तनिक कृपाकर, वीणा मधुर बजा दे ।
जीवन में पुनीत जागृति की मधुमय तान सुना दे ।।
जाग उठें मेरी भी नीरव-हृत्तन्त्री के तार ।
विश्व व्यापिनी वीणा ध्वनि में मिल जावे झनकार ।।

मेरा जीवन

मेरा जीवन सुख स्वप्नों की, एक अतीत कहानी है ।
दो हृदयों के सरल प्यार की, केवल एक निशानी है ।।
पीड़ित उर की चिर अभिलाषा, पागलपन दीवानों का ।
नीरव क्रीड़ा-कुंज हृदय के, अधकुचले अरमानों का ।।
कलित कल्पना का क्रीड़ा स्थल, रंग भूमि है भावों की ।
स्वप्न-लोक के प्यार भरें, उर के मंजुल चावों की ।।
चिर सहचरी निराशा इसकी, विषम वेदना-संग विहार ।
पीड़ा के संग मन बहलाना, इसका शेष यही व्यापार ।।
टूटी सी इस हृत्तन्त्री की, आह भरी नीरव झंकार ।
इसका चिर संगीत उसी में, गूंज रहा है मेरा प्यार ।।
जीवन नौका वहन कर सके, चल लहरें उच्छवासों की ।
लगा सकेगी पार इसे क्या ? पतवारें इन सांसों की ।।
शून्य क्षितिज पर दीख रही है, धूमिल-सी झिलमिल रेखा ।
किन्तु रहे या मिट जावे वह, उसका मैंने क्या देखा ?
उसी एक धूमिल रेखा पर जीवन की आशा सारी,
जीवन की अभिलाषायें सब निष्फलताओं से हारी ।

---

१. रचना काल १९३५-३६

छायावादी रचनाएं[1]

कविते !

कविते ! बस एक तुम्हीं हो, जीवन का परम सहारा ।।
सूखे इस प्राण विटप की, हो तुम्हीं वारिधर-धारा ।।
मेरे निराश जीवन की, तुम ही हो आशा-रेखा ।
रखती हो तुम्हीं हृदय की, प्रतिपल पीड़ा का लेखा ।।
मेरे अंधियारे नभ की उज्ज्वल प्रकाशमय रेखा ।
जिसकी आभा में मैंने अपना मन मोती देखा ।।
जिसके कण कण में मेरी करुणा का सार समाया ।
वह मौन वेदना का स्वर, किसने कब तक सुन पाया ।।

प्रभात श्री

सुन किसका आगमन मोद से, दिग्बालायें मुसकातीं ।
किसके स्वागत हेतु सुकोमल ? कलिकायें हैं खिल जातीं ।।
पहनाने को किसे समीरण ? चुन चुन हार सजाती है ।
किसे रिझाने को वन देवी ? शुचि श्रृंगार बनाती है ।।
वृक्ष शिखाओं पर यह किसकी ? विजय पताका फहराती ।
किसके यश के गीत मनोहर ? वन की भ्रमरावलि गाती ।।
मतवाली हो किसके मद में ? झूम रही डाली डाली ।
किसे पिलाने को छलकाई, कलियों ने मधु की प्याली ।।
समझ लिया मैंने सब सजनी ! प्रियतम आने वाले हैं ।
उनके स्वागत हेतु सजे ये, सुन्दर साज निराले हैं ।।
आओ ! सखि ! इससे पहले ही, जब तक प्रियतम आ पावें ।
हम उस कुसमित लता कुंज में, धीरे से जा छुप जावें ।।

---

१. रचना काल १९३६-३७

किशोर गीत[1]

मधुमास

कुसुम रे ! जगकर निहारो तो मधुमास आया ।
सुहा शैशव का तुम्हारे यह सचेत निवास आया ।।
मुकुल अधरों का तुम्हारे यह विमल मधुहास लाया ।
विकच अंगों का तुम्हारे यह झलकता लास लाया ।
ओढ़कर सारी सुनहली अप्सरा सा वेश लेकर ।
जीर्ण जग के प्राण को मधुमास का सन्देश लेकर ।।
व्योम बाला सी मनोहर आज प्राची आ रही है ।
सुरुचि से मुदमय सजा उपहार अपना ला रही है ।।
स्वप्न के वे सुमन सूखे खिल रहे हैं आज वन में ।
गूंजता उन्माद का वह मधुर स्वर मन का पवन में ।।
कौन भूली सी उसे अब आज उर लगाकर सुनेगी ।
कौन जीवन में रंगीले भाग्य का वह पर सुनेगी ।।
मंजरित सहकार के मधुकुंज की सुकुमार छाया ।
हरित अंचल से ढ़की-सी चांदनी-सी कान्त काया ।।
प्राण में उन्माद भरता पा मधुर झोका मलय का ।
मचलता मधु-मंजरी सा विकच मृदु स्पन्दन हृदय का ।।

नव वर्ष

आ गया नव वर्ष लेकर विश्व की नूतन कहानी ।
किन्तु मुझ को क्या युगों की है वही गाथा पुरानी ।।
आंसुओं से धो उसे ही नित्य कह नूतन बनाता ।
मौन रोदन नित नए स्वर में चिरन्तन गीत गाता ।।
मुग्ध हो भोले पथिक तुम से उसी पर पुलक फूले ।
संग पड़ पागल पथिक के नियत जीवन मार्ग भूले ।।
है सदा अज्ञात पथ निज लोक का उन्माद मेरा ।
है निठुर अभिशाप जग में अमर आशीर्वाद मेरा ।।

---

१. रचना काल १९३६-३७

परिणय[1]

आज बन साकार सुन्दर,
लोक जीवन सार आया!

खेल में बनते कभी दो प्राण राजा और रानी,
सत्य होती आज भूली सरल शैशव की कहानी,
नित नवल-सी चपल पल की अमर चिर-चंचल प्रगति में,
आदि की अनजान-सी पहचान होकर भी पुरानी,
ज्ञान हीन अबोध शिशु की वृत्ति वेद-विधान बनती,
सरस कौतूहल हृदय का बन सहज संस्कार आया।

प्राण में अनजान सा पलता प्रणय का अमर अंकुर,
सांस से शाश्वत मलय से खींच जीवन सार आतुर,
सफल खिलने की सुकोमल कामनायें भर हृदय में,
फूटता दो पल पृथुल-बल-चीर उर्वी सा सरस उर,
लोक-लालन का लजीला भार छिप किसलय वसन में,
सृष्टि सुषमा के हृदय का बन सहज शृंगार आया।

आज मण्डप में हुआ सीमित असीमित व्योम-मण्डल,
उतर परिमित दीप में आये अमित नक्षत्र के दल,
सुरभि-घन-छवि सान्ध्य-रवि बन वेदिका आया धरा पर,
बन व्यंजन का वायु आया वह विजन का मलय चंचल,
रुचिर वन्दन-वार नन्दन कुंज-तोरण इन्द्रधनुष-सी,
मंजरित-मन्दार-छवि का भार मधु-सहकार-छाया।

अचिर के चिर-मिलन से ही मुक्ति बनता लोकबन्धन,
प्राण-परिणय की प्रगति से अमर-नव संसृति चिरन्तन,
त्याग ही अनुराग बनता धर्म की रंजित किरण से,
नित्य नूतन अचिरता में विश्व-चिर-शैशव विवर्तन,
खेलता है लोक-सीमा से असीमित का कुतूहल,
दृश्य आज अदृश्य बन उस पार का इस पार आया।

---

१. प्रकाशित काव्य : १९३७

विश्व की बहु-रूपता में स्वर्ग-श्री सुषमा विखरती,
खिल उषा में प्रात, सन्ध्या ज्योति-सी छवि-हास-झरती,
पल निशा की अंक में चिर बीज नव-छवि प्रात लाता
अचिरता में ज्योति-तम-पल की सनातन श्री निखरती,
एक छवि निस्सीम-सुषमा-सार बन आई सचेतन,
अमर-छवि-बन्धन-धरा को स्वर्ग का अधिकार लाया।

था दिवा के सत्य से प्रिय स्वप्न सुन्दर शर्वरी का,
मुग्ध-सी जो देखती मधुलास नन्दन-अप्सरी का,
तारिकाओं से रहीं जो खेलतीं चिर चपल पुतली,
चाहती परिरम्भ-परिणय कल्पतरु-सुर-बल्लरी का,
आज अवनत, देख नभ में व्याप्त आकर्षण धरा का,
ज्ञान का अधिकार-बन्धन बन सुषम संसार आया।

सलज अवनत विधु-वदन में शून्य में सूने नयन को,
मिल गया आश्रय मनोरम नयन में चिर मूक मन को,
अस्फुटित उर का अभाव अजान-सा बन भाव आया,
मिल गई मधु-मिलन क्षण में अमरता चिर चपल छन को,
मुक्त-तारक-चय-विभूषित क्षितिज की उलझी अलक में,
पुलक-प्राण प्रकाश-कर की वृत्ति ने व्यापार पाया।

सकुच स्पन्दन में मिला आश्वास स्पन्दन को हृदय के,
सांस को जीवन मिला मधु मदिर सौरभ में मलय के,
अधर-सम्पुट में मिला मधु चषक अधरों की तृषा को,
मान में साकार पाया मूक अभिनय ने प्रणय के,
श्रुति-पुटों को लाज के स्वर में मिली मृदु-अमृत-वाणी,
मानिनी के मान का उपचार बन मनुहार आया।

लोक के अस्तित्व के चिर प्रश्न का उत्तर-कुतूहल,
बना संसृति की अमरता का चिरन्तन-साधना-फल,
खिली आज प्रकाश-छाया की मधुर उलझी पहेली,
एक के युग रूप जो था छिपाये पल का चलांचल,
एक के ही सृजन की चिर साधना ले एक होते,
एकता की भूमिका ही बनी उपसंहार-जाया।

कल्पना[1]

विश्व के बिखरे कणों को बांध कर,
प्रेम के ही दृढ़ सनातन सूत्र में।
रूप सुषमा के विविध आकार सब,
संगठित करके विधाता ने रचे॥

प्रेम के ही अमृत मधुमय स्वाद के,
रसिक परिचय की मनोहर चाह में।
विश्व प्राणों में सनातन एक भी,
प्राण बहु बनकर वियोगी से बने॥

प्रेम से बढ़कर परम पद कौन सा,
प्राण, मैं, जिसके लिये तज विश्व को।
विजनता की विरस रज की अंक में,
प्राण पीड़ा-सी करूं चिर साधना॥

प्रेम के उच्छ्वास की ही नीलिमा,
फैल नभ के शून्य उर में प्राण-सी।
झुक क्षितिज पर स्वर्ग के आशीष-सी,
बन रही आश्रय समुत्सुक दृष्टि का।

अलस श्यामल पलक दल में क्षितिज की,
अनिल की मधुमूक मृदु मनुहार से।
मुग्ध रजनी का मधुर अनुराग ही,
बिखर पड़ता मानिनी के मान-सा॥

ध्रुव धरा के अचल उरतल में पला,
स्नेह ही, मीलित निठुर गुरु मान से।
नयन से पड़ता उमड़, नत जलधि की,
चरण चुम्बन की करुण मनुहार से॥

---

१. अप्रकाशित काव्य : १९३८

आह ! भोले प्रेम तुम क्या हो पले
हृदय में दुर्बल कली के, जो लुटा
वात पर निज सुरभि, बन्दी मधुप को
कुटिल कांटों की दया पर छोड़ती ।

विवशता के स्निग्ध कर से छूट कर
कांच के कोमल खिलौने - से गिरे
भग्न कितने प्रेम के दुर्बल हृदय
धर्म के इस उपल उर पर हो चुके ।

धर्म के इस कुलिश कर से आज तक
स्नेह के सुकुमार सौरभ में पले
मधु ऊषा की गोद में ही दुधमुहें
सुमन कितने है नहीं कुचले गये ।

धर्म की अकरुण उपल की लीक यह
लोक के विजड़ित नयन के देखते
आह ! कितने आंसुओं से विरह के
आदि से ही सृष्टि के सींची गई।

आह ! जननी की अपरिचत गोद के
स्नेह से रंचित अभागे प्राण को,
प्रेयसी की अमृत मधुमय अंक का
मदुल आश्रय भी विवर्जित सौख्य है ।

प्राण एकाकी जगत के पन्थ पर
घूमते जो रहे अन्ध विराग से
एक पल अनुराग की मधु बांह में
विचरने को स्वप्न भी अभिशाप है ।

प्रेम अन्तस की असीम विभूति है
अंग से प्रति जो उमड़ कर छलकती,
दिव्य आभा में उसी की देखता
विश्व अपनी म्लान छाया, वासना ।

लोक के कर से बंधी ही ग्रन्थि में
प्रेम के अधिकार सारे हैं बंधे,
पर हृदय में प्रेम - किरणों से बंधी
ग्रन्थि का कोई न क्या अधिकार है।

चिन्तन[1]

प्राण प्रतिनिधि को कर आसीन,
हृदय में भरकर मोद अपार।
सान्ध्य छाया से शिथिलित क्षीण,
प्राण जाते जीवन के पार ॥
अश्रुजल भरे उदार,
युगल नयनों के पारावार।
नूतन युग रूपों से दीपित,
होते प्रतिबिम्बित ॥

काल से फैले अमित उदार,
विश्व के व्यापारों में व्यस्त।
सिद्धि की उपरति सी समुदार,
वृत्तियां हो जातीं सन्यस्त ॥
आप अपनी ही चरम अनुभूति में,
आत्मता सी लीन।
त्याग की अपरिमित प्राण विभूति में,
मात्रता सी दीन ॥

चेतना हो शान्त, तृप्ति सी नितान्त,
अन्तर्नयन खोल, देखती अनमोल।
दिव्य अन्तर्लोक, अमृत औ अशोक,
नीर सा निर्मल, चांदनी सा विमल ॥
ध्रुव सा अचल,
तुषार सा शीतल।

१. अप्रकाशित काव्य : १९३९

साधना[1]

हो विद्रवित असीम स्वर्ग की सुषमा कान्ति निराली,
बन आई कुसुमों के दृग में उज्ज्वल अमल हिमानी,
अविरत साधन से अन्तर के अन्तःपुर में पाली,
अमित रूप-छवि ढुल आई बन दृग में दो कण पानी।

लेकर जिनका अर्घ्य शैशव की तुतली बोली,
सीख कौन-सा मौन मय जप; अखिल मनोहर माया,
कुसुम किशोरी फूलकुमारी लुटा मार्ग पर भोली,
यौवन के दुर्भेद्य दुर्ग के सिंह द्वार पर आया।

प्रखर तेज में तरुण प्रात के पलपल चढ़ते रवि के,
कंचन कलश राज तोरण के जगमग दमक रहे थे,
अगणित रवि से, गुप्तदूत से नव कलियों की छवि के,
कितने सौरभ बाल अलक्षित दिशि दिशि गमक रहे थे।

चारों ओर प्रबल प्रहरी सा प्रतिपल पूर्ण सचेतन,
नव वसन्त का गन्ध मदिर का मलयानिल लहराता,
उसकी पल पल गति परिचय सा मकरालंकृत के तन,
विजय केतु सा तुंग शिखर पर था रह रह फहराता।

किस अभिनव उल्लास हास से पल पल पुलकित प्यारे,
अगणित कुसुम कुमार निराले खिल खिल भूल रहे थे,
बुद बुद वालों से शाद्वल के सर के कान्त किनारे,
डालों की लहरों पर चंचल भिलमिल झूल रहे थे।

मृदु मखमल के कोमल कालीनों पर नव किसलय के,
नाच रही थीं अप्सरियों सी तितली रंग बिरंगी,
झंकृत कर सब तार सुरीले बीन-नवीन-मलय के,
भरती मधुमय तान मनोहर स्वर से बाल विहंगी।

१. अप्रकाशित काव्य : १९४०

अपरिचिता[1]

वल्कल में संकुचित विकसते अपने अंग लपेटे,
मौन शील में सहज उमड़ते उर के भाव समेटे,
संयम में वेला-सी उर के सब उद्वेलन सहती,
अविदित भावों की लहरों में रही अलक्षित बहती।

रही सदा अज्ञात यौवना अपने में ही भूली,
कभी न अपने छवि गौरव पर सपने में भी फूली,
तपस्विनी ने कभी रूप का दर्प न किंचित् जाना,
भावों का लावण्य न अपना इसने भी पहचाना।

देख देख अपने अंगों को मन में विस्मित रहती,
अपनी ही छवि से छाया सी मन में लज्जित रहती,
भाव तरंगों में मानस की अपने अविदित बहती,
अपनी 'अन्तर्कथा' मौन वह अपने से ही कहती।

रंगमंच पर सुनी किसी ने कभी न इसकी वाणी,
पग नूपुर की रुनझुन इसकी नहीं किसी ने जानी,
हावभाव इसके अंगों का नहीं किसी ने देखा,
बनी न बाण किसी के उर का दृग की वंकिम लेखा।

दीन विप्र की शीलवती यह कन्या कान्त किशोरी,
रही कुटी में ही अनजाने लोक ज्ञान से कोरी,
अल्प स्नेह के दीन दीप की मन्द शिखा सी दीना,
ज्योतिष्मती रही जीवन के मलिन तिमिर में लीना,

रूप छटा की किरण कुटी के बाहर कभी न आई,
भूले भटके किसी अतिथि को दी वह मन्द दिखाई,
दीन विप्र की लोक लाज सी वह अज्ञात कुमारी,
रही कुटी में छिपी मान पर कर जीवन बलिहारी।

---

१. अप्रकाशित काव्य : १९५३

नहीं प्रीति से सुनी किसी ने उसकी जीवन गाथा,
रही संकुचित अपने मन में ही एकाकिनी अनाथा,
रही शील-संयम में अपने उर के भाव छिपाती,
आत्मा की विभूति में ही अनुभूति अनेक जगाती।

प्राग-वेग के वल से जब यह तोड़ तिमिर की कारा,
होगी सहसा प्रकट अवनि पर उर की अन्तर्धारा,
पद पद होगा तीर्थ मनोहर इसके पावन तट का,
लहरों का संगीत बनेगा प्राण मन्त्र घट घट का।

ले समान धर्मा की आशा अमर उपेक्षित मन में,
हुई बाल्य से लीन कला के मौन मन्त्र साधन में,
था कोई अवलम्ब न उर की श्रद्धा ही सम्बल थी,
अन्तर की अनुभूति प्रेरणा भावों की केवल थी।

नहीं रूप औ कण्ठ कला को लघु-व्यापार बनाया,
कर पद के श्रम में ही सघन कटु जीवन का पाया,
जीवन के दुर्वह श्रम में भी रही साधना करती,
जीवन की गरिमा के हित यह रही मान में भरती।

पथ की सुन्दर भिखारिणी सी शील निछावर करती,
जीवन की असमर्थ विवशताओं पर जीवित मरती,
बनी न जग के तुच्छ कुतूहल की यह चंचल पुतली,
राजहंसिनी बनी न जग के लीला वन की तितली।

तपस्विनी के तप्त रूप का तेज किसे कब भाया,
जीवन का मर्मी कब इसने पथ पर कोई पाया,
सूने पथ पर एकाकी ही इसका जीवन बीता,
बनी कण्ठ का हार न जग के इसकी जीवन गीता।

समागच्छतां दिवंगतानां कवीनां, परिचायकानि पद्यानि[1]

१—प्रथमं समागच्छत्यादिकविः वाल्मीकिः—

य: क्रौञ्चयुगस्य विलोक्य दुखम्,
श्लोकेन साक्षीकृतवान् स्वशोकम् ।
कारुण्यमूर्तिः प्रथमः कवीन्द्रो,
वाल्मीकिरायाति स एव देव ।

२—ततः प्रविशति भगवान वेदव्यासः—

धर्मप्रतिष्ठा हि कृता पुराणैः
नीतिप्रतिष्ठा किल भारतेन
गीताकृतः साक्षात्-ज्ञान-स्रष्टा
व्यासः समागच्छति वेदमूर्तिः ।

३—ततः समायाति कविकुल चूड़ामणिः कालिदासः—

सरस्वती कण्ठगता हि यस्य,
बभूव रम्या नितरां कृतार्था ।
चूड़ामणिः कान्तकवीश्वराणां,
सोऽयं समागच्छति कालिदासः ॥

४—ततः समायाति कारुण्यमूर्तिः भवभतिः—

कारुण्यमेकं हि निमित्तभेदात्,
विभूतिभूतोऽखिल काव्यसृष्टेः ।
येन प्रमाणीकृतमुत्तरे तु,
सोऽयं सभायां भवभूतिरेति ॥

५—ततः प्रविशति राजा परिव्राजको भर्तृहरिः—

विलोक्य, कामस्य च कामिनीनाम्,
मायामयीं वृत्तिमुपात्तरागो ।
धृत्वा प्रव्रज्यां च मुमुक्षुभूतः,
समागतो भर्तृहरिः सभायाम् ॥

६—ततः सदर्पः प्रविशति पण्डितराजो जगन्नाथः—

श्रुत्वा मनोज्ञां लहरीं यदीया
मुद्वेलितं विद्रवितं हि चित्तम् ।
भागीरथीनां करुणाऽऽकुलानाम्,
सो वाग्भटः पण्डितराज एषः ॥

---

१. कोटा संस्कृत सम्मेलन (१९५४) के निमित्त विरचित पद्य

७—ततः समागच्छति मन्दं मन्दं तन्त्रीवादनपरः परमभागवतो जयदेवः

रसाप्लुतं रागमयं मनोज्ञम्,
रहस्यपूर्णं श्रुतिसारभूतम् ।
गोविन्दगीतं मुदितं कृतीनाम्,
शृण्वन्तु सभ्याः जयदेवगीतम् ॥

८—ततः प्रविशति भेषजपेटिकाभूषितो लोलिम्बराजः—

चन्द्रोदयेनैव करोति हर्षम्,
तस्य प्रकर्षं मकरध्वजेन ।
रत्न-प्रणेता सरसो रसज्ञः,
लोलिम्बराजः स समागतोऽस्ति ॥

९—ततः सशीलं समायाति नीलोत्पला साक्षात् सरस्वतीव वैदग्ध्यवती विज्जिका—

रसाप्लुता हृत्सरिता च यस्याः
चेतांसि वाणी सरसी करोति ।
नीलोत्पला सैव सरस्वतीव,
साक्षात्समागच्छति विज्जकेयम् ॥

१०—ततः सगर्वमागच्छति कवितार्किक चक्रवर्ती श्रीहर्षः—

यस्य प्रहर्षं कुरुते सुधीनाम्,
प्रसन्नगम्भीरपदा हि वाणी ।
प्रेष्ठः कविस्तार्किक चक्रवर्ती,
श्रीहर्ष आयाति स एव देव ॥

११—ततः उदयति दर्पदीप्तो महाकविः भारविः—

यस्योदयेऽस्तं ह्यभियान्ति सर्वे,
नक्षत्रतुल्या अपरे कवीन्द्राः ।
काव्यान्तरिक्षस्य च भारविः सः
सभामिमां शीघ्रमलङ्करोति ।

१२—अन्तेसमागच्छति गर्वगम्भीर धीरः महामतिः माघः—

यस्मिंस्तुषारद्युतिदीप्तिकान्ते,
समागते कम्पित काव्य लोके ।
शीतानि तेजांसि च भारवीणाम्,
सोऽयं समागच्छति देव माघः ॥

मंगलाचरण[1]

नयनों के आलोक-कमल पर राजे श्री कल्याणी,
मधुर कण्ठ की वीणा में हो मुखरित मंगल-वाणी,
भृकुटी पर, बन काल अनय का, नाचे भीषण काली,
पालन, सृजन, नाश में निखरे नित जीवन की लाली।

अखिल धर्म का मर्म प्राण में तत्व ज्योति बन जागे,
अन्तर का आलोक पन्थ पर जगे दृगों के आगे,
श्रद्धा होकर सजग शक्ति से, हो कृतार्थ कल्याणी,
हो चरितार्थ सत्य, सुन्दर औ शिव से मंगल वाणी।

छन्द छन्द में मधुर गुंजरित हो वाणी की वीणा,
शब्द-अर्थ-रस-भाव-व्यंजना हो पद-गति में लीना,
वाणी का वरदान दिव्य यह अमृत काव्य जीवन का,
पूर्णकाम परमार्थ विश्व के बने सजग जन जन का।

चरण प्रभा से पूत दृगों के निर्मल नील गगन में,
खिलें कल्पना-लोक सत्य बन सुन्दर श्रेय-सृजन में,
बन जीवन के ज्योतिष्पथ के कुसुम और अंगारे,
खिलें अनन्त साधनाओं के लोक-तुल्य ही तारे।

बनें निसर्ग सर्ग ज्योतिर्मय नक्षत्रों की माला,
निर्मित हो नवीन योगों से भव्य भविष्य निराला,
आत्मा की आलोक-अर्चना बन अभिजित शिवकारी,
आत्म-तन्त्र कर नियति, मानवी संस्कृति करे हमारी।

जीवन के रस, राग, गन्ध से पूर्ण प्रशस्त कुसुम-से,
अर्थ प्रचुर पद, वाक्य, छन्द हों विकसित कल्पद्रुम से,
भावों के स्फुलिंग अवनी के आत्मजात मंगल-से,
बनें प्रेरणा नव जीवन की ज्योतिर्मयी अनल से।

इन्दुकला-सी कर विकीर्ण निज निष्कलंक उजियारा,
शिव की शीषगता गंगा-सी निर्मल जीवन-धारा,
पावन करे कान्ति औ रस से धरणी और गगन को,
छन्द-छन्द हो अमृत तीर्थ-सा जगती के जीवन को।

---

१. पार्वती महाकाव्य : प्रकाशित १९५५

अन्तर्निहित पुण्य पद पद में दीप्ति तृतीय नयन की,
बने भूमिका जग-मंगल के विश्रुत काम-दहन की,
त्रिपुर-विहीन सर्ग की शाश्वत सुषमा बन कल्याणी,
शब्दों में साकार सहज हो मंगलमयी भवानी ।

श्री की सुषमा से आलोकित कान्तिमती कल्याणी,
दीप्त शक्ति की द्युति-सी उज्ज्वल ओजमयी शुचि वाणी,
प्राणों में साकार, स्वरों में गुंजित हो जीवन के,
मंगल के वरदान, वचन हों वाणी के वन्दन के।

वाणी का श्रृंगार सहज हो ओजमयी ऋजु भाषा,
आत्मा का संगीत मुखर : हो कविता की परिभाषा,
हो कल्पना कृतार्थ सत्य के सुन्दर श्रेय सृजन से,
मानवता का मंगल ध्रुव हो वाणी के वन्दन से ।

सावित्री-सी अमृतमयी यह गायत्री कल्याणी,
संजीवनी दिव्य जीवन की हो ज्योतिर्मय वाणी,
जागृति का वर बन व्याहृतियां गुंजित हों त्रिभुवन में,
आत्मा का वर्चस्व उदित हो सविता-सा जीवन में।

जाग्रत स्वर की शिखा दीप्त हो विश्व-क्रान्ति के क्षण में,
निश्वासों के चारवायु से संसृति के कानन में,
हो त्रिलोक में व्याप्त चतुर्दिक महाप्रलय की ज्वाला,
जीवन के सुन्दर सुवर्ण का भस्म कलुष हो काला।

उच्छृंखल उन्मादमयी हो दग्ध आसुरी होली,
हो पुनीत प्रह्लाद उदित, ले जीवन के रंग-रोली,
आत्मा का अनुराग सुरंजित करे मनुज के मन को,
अन्तर का उल्लास हर्ष से भर दे जग-जीवन को ।

बिखराता रुचि-राग-गन्ध-रस वैभव-सा यौवन का,
खिले अपूर्व वसन्त, पर्व बन नव-संस्कृत जीवन का,
हो संस्कृति से पूत प्रकृति ही मर्यादा मानव की,
आत्मा का आनन्द अखण्डित चिर विभूति हो भव की।

करुणा के मेघों से अंचित धरणी की हरियाली,
नई उषा के करे भाल पर अंकित पावन लाली,
तप से पूत-उमा-सी उज्ज्वल निखरे सृष्टि-कुमारी,
बने नवीन सर्ग की लक्ष्मी वन्दित निर्मल नारी।

श्रद्धा के पीयूष-स्रोत-सी जीवन के समतल में,
मानव के विश्वास-शिखर के बहती नित पदतल में,
शक्ति-शिखा बन वह शंकर के दीप्त तृतीय नयन की,
इन्दुकला-सी अमृत-ज्योतिमय करे अमा जीवन की।

हों बालक भगवान : विश्व की अर्चा के अधिकारी,
उनके मुक्ति, मोद, गौरव में खिलें भूतियां सारी,
उनके तन का तेज जगत में जीवन ज्योति जगाये,
उनके मन का हर्ष लोक का पल-पल पर्व बनाये।

कन्या के निर्मल तन-मन की आभा पुण्य पुनीता,
प्रकृति पूत कर, बने मनुज की उज्ज्वल जीवन-गीता,
नारी के स्वतन्त्र गौरव में निधियां नव जीवन की,
विकसित हों, समृद्ध कर सुषमा तन-मन-नयन वचन की।

जीवन की कक्षा के ध्रुव युग बन बालक औ नारी,
करें विश्व की गति, मति, कृति को सुन्दर मंगलकारी,
मानवता के सजग मान के बन कुमार अभिमानी,
बनें नवीन स्वर्ग के नेता जयी देव—सेनानी।

आत्मा की विभूति बन निर्मल-जीवन-संवित् जागे,
ज्ञान शक्ति से शक्ति श्रेय औ सुन्दर से अनुरागे,
शिव से संयुत शक्ति जागरित मानवता की जय हो,
सुन्दर शिव आनन्द सृजन का पर्व अखण्ड अभय हो।

सुषमा का सहस्रदल विकसित हो जन-जन के उर में,
सौरभ का आलोक प्रपूरित हो जग के पुर पुर में,
श्री शिव से सुषमित मानव का संस्कृत तन औ मन हो,
एक अखिल आनन्द महोत्सव जगती का जीवन हो।

विजय-पर्व[1]

विजय पर्व में ही जीवन का गौरव सबने जाना,
निर्भयता का मुक्त तेज था प्रथम बार पहचाना,
वे विलास के स्वप्न, भंग सब होते ज्ञानोदय में,
आत्मा का आलोक प्रकाशित हुआ स्वर्ग की जय में।

गूंज उठी किस नूतन ध्वनि में अप्सरियों की वीणा,
किन्नरियों के स्वर में फूटी गीता कौन नवीना,
जीवन के स्रोतों में उमड़ा निर्मल नूतन जल-सा,
खिलता देवों के मानस में चिर कैलास कमल-सा।

हुये धर्म के मार्ग प्रकाशित पूत प्रशस्त गमन को,
निर्भय ऋषि-मुनि चले सत्य की ऊषा के वन्दन को,
कर्मों के कण्टक-मग में भी खिले प्रसून प्रणय के,
हुये प्रतिष्ठित जीवन पथ में नियम चिरन्तन नय के।

उत्पातों से आतंकित जो रहते आश्रम वन के,
मुक्त मार्ग हो गये उन्हीं में सकल मुक्ति-साधन के,
अचल कूर्म-से जो अन्तर्मुख विमुख हो चले गति से,
पुण्य तीर्थ वे बने प्रगतिमय जीवन की परिणति से।

जहां धर्म का शंखनाद भी बन जाता रणभेरी,
मृगछाला को देख टूटते सहसा असुर-अहेरी,
प्लुत, गम्भीर, मन्द्र मन्त्रों का वहां गूंजता स्वर था,
संध्या और उषा-सा पूजित गैरिक का अम्बर था।

ललनाओं ने जहां जला कर चिता हाथ से अपने,
समिध-हव्य-से अर्पित उसमें कर जीवन के सपने,
स्वयं सती के तुल्य देह की भेंट सहर्ष चढ़ाई,
दे सतीत्व पर प्राण धर्म की जग में कीर्ति बढ़ाई।

---

१. पार्वती महाकाव्य : प्रकाशित १९५५

वहां आज वधुओं के कर से अंकित चौक सजीले,
ऊषा के कमलों-से होते अश्रु-बिन्दु से गीले,
सतियों ने की भेंट जहां पर कण्ठों से ज्वालायें,
उनकी बलि पर वहां समर्पित होती जय-मालायें।

कन्या कुल के लाज-मान पर जहां गाज-सी गिरतीं,
शशिमुख की ज्योत्स्ना से कुल में काल-घटायें घिरतीं,
जहां दुधमुहीं कन्याओं को काल-भेंट कर दुख से,
करुणा के आंसू से धोई भावी शंका मुख से।

वहां पार्वती सम कन्यायें अतुलित गौरव पाती,
उभय कुलों में दहली-दीपक तुल्य प्रकाश जगाती,
चन्द्रानन आकाश-दीप-सा संध्या के प्रहरों में,
रचता ज्योति-पन्थ जीवन के सागर की लहरों में।

जहां केसरी-से वीरों ने ले केसरिया बाना,
माना मानव-धर्म धर्म की बेदी पर बलि जाना,
वहां अभय स्वच्छन्द विचरते मानव के मृग-छौने,
जीवन के मुख पर दानव के बनते कृत्य दिठौने।

विजय-पर्व की निर्भयता में सोई आत्मा जागी,
जागृति की ऊषा जीवन के वर्णों से अनुरागी,
खिले शान्ति के शुभ्र शरद में भावों के शतदल-से,
स्फुटित हुई जिनमें जीवन की श्री अज्ञात अतल से।

नये सर्ग की पुण्य प्रभाती बन नव उदय प्रहर में,
गूंज उठे मधुकर-कवियों के गीत नये नव स्वर में,
संगति से छवि के रवि-कर की वर्ण-विभव-मय तूली,
संध्या और उषा में रचती नित रंजित गोधूली।

प्राणमयी बन कर सुन्दरतम प्रतिमायें पाहन की,
बनती रूप और सौष्ठव में उपमायें तन-मन की,
श्रेयमयी बन रही साधना चिर सौन्दर्य-सृजन की,
बनी रूप-रस मयी कला थी शुचि संस्कृति जीवन की।

तारक का संहार बन गया नव जीवन का वर-सा,
भय से भीषण भुवन, सृजन के नव स्वप्नों से सरसा,
शोणितपुर की जय लक्ष्मी ने बन जयन्त की रानी,
नये स्वर्ग की रची भूमिका भावमयी कल्याणी।

दबे प्रकृति के विवश भार से, त्रास अनिर्वच सहते,
आत्मयोग-कामी मानव भी जल-से नीचे बहते,
शक्ति-विजय बन गई अर्गला प्रकृत अधोमुख गति की,
अभय भूमिका है आत्मा के साधन की परिणति की।

भय के दीर्घ ताप से शोषित हुये स्रोत जीवन के,
हुये स्वार्थ से आविल, पंकिल, शिथिल स्नेह-स्रव मन के,
सहज प्रवाहित हुये शान्ति के स्रोत अपूर्व अभय में,
स्वच्छ नवीन प्रगति में गूंजे गीत नवीन उदय में।

पुण्य प्रकृति के सुदृढ़ पीठ पर शुचि संस्कार प्रकृति का,
बना सफल आरम्भ मनुज की नव अध्यात्म प्रगति का,
आत्म-साधना के प्रतिबन्धक असुरों को संगर में,
निर्जित कर बढ़ चले देव-नर निर्भय योग-डगर में।

अनाचार की आशंका से आतंकित कुल-नारी,
रही कल्पनाओं से भय की कुण्ठित सदा विचारी,
पूर्ण अभय की प्रथम उषा के स्वर्गिक मुक्त पवन से
खिलते सौरभ का प्रसार कर उसके भाव सुमन-से।

आडम्बर के इन्द्रधनुष से सज्जित वर्षा-घन-सा,
रहा सदा, अध्यात्म स्वच्छ वह खिलता मुक्त गगन-सा,
जिसके ज्योतिर्दीप बने ये कुछ खद्योत विचारे,
करते उसमें दिव्य आरती अगणित रवि, शशि, तारे।

काव्य, कला, संगीत, धर्म का लेकर सम्बल मन में,
निर्भयता की शक्ति अमित ले निज निर्बन्ध चरण में,
जीवन के कैलास कूट के पुण्य तीर्थ के मग में,
उत्साही नर निकल पड़े भर नई स्फूर्ति रग रग में।

खंडहर पूर्ण हुये जीवन से स्वस्थ धरा के व्रण-से,
दूर हुये नूतन भावों से क्षोभ नरों के मन से,
असुरों का विद्वेष मिट गया उर से शान्त नरों के,
निर्भयता में अमल हुये मन मनुजों औ अमरों के।

एकाकिनी अहल्या[1]

जाग्रत अपने सूने एकान्त शयन में,
क्या सोचा करती मौन अहल्या मन में,
अध खुले दृगों में खुलते कितने सपने,
नचते थे सम्मुख भूत भविष्यत अपने।

"जब से आई मैं इस घर में परिणीता,
तब से मेरा सब काल अकेले बीता,
दर्शन का तो है द्वैत यहां पर, माना,
आत्मा का पर अद्वैत न मैंने जाना।

कैवल्य मिला मेरे एकाकी मन को,
औ वीतराग अनुराग भरे जीवन को,
हो रही साधना इनकी कैसी पूरी,
मेरी सब साधें रहती सदा अधूरी।

कहते अर्धांगी होती नर की नारी,
पति के जीवन की वह आधी अधिकारी,
मैंने इनसे अधिकार कौनसा पाया,
केवल सेवा के हेतु बनी मैं जाया।

पर मन क्यों इनका ऐसा सूना होता,
क्या इसमें कोई बीज न रस के बोता।
क्यों भूल रहे ये मेरा भी तन-मन है,
इन पर ही निर्भर मेरा यह जीवन है।

ये यज्ञ कर्म में निरत प्रात से रहते,
ये मुक्त ध्यान-धारा में निशदिन बहते।
ये सुलझाते तत्वों की गूढ़ पहेली,
मैं बनी पहेली होकर किन्तु अकेली।

१. खण्डकाव्य अहल्या : अप्रकाशित १९६६

था समाधि निलीन आश्रम पूर्णतः एकान्त,
चित्त-सा मुनि के समाहित सदा पूर्ण प्रशान्त।
किन्तु उस एकान्त में भी कौन भाव द्वितीय
था बनाता शान्ति को भी कान्ति से कमनीय।

सजग आत्मा तुल्य सत्ता कौन-सी अभिराम
जड़ित आश्रम को बनाती थी सजीवित धाम।
रहे जो एकान्त में गौतम सदैव अनन्य
थे हुये संयोग किसका प्राप्त कर वे धन्य।

धन्य थी किसके चरण से तपोवन की धूल
गन्ध से किसकी विकसते कल्पवन के फूल
प्रकृति आश्रम की सरस थी देख किसका स्नेह
प्राण से किसके सजग थी शून्य गृह की देह।

चित्त-से मुनि के समाहित व्योम में अविकार
रूप शशि से फैलते किसके समुज्ज्वल ज्वार।
वायु प्राणायाम-सी छू विकल किसके श्वास
सहज हो उठती तरंगित बन सरस वातास।

मन्द गति में गौतमी के नीर की निस्पन्द,
गूंजते बन वीचि किसकी कल्पना के छन्द
रूप रस और गन्ध से किसके धरा गुणमान
धन्य थी कर कामना के नभ कुसुम निर्माण।

दूध-से किसके हृदय का प्राप्त कर नवनीत,
अग्नि उज्ज्वल होम की बनती प्रशस्त पुनीत।
पुण्य आश्रम की प्रकृति के पंचभूत महान
प्राण से किसके निरन्तर पा रहे थे प्राण।

सुन्दरी उर्वशी[1]

शिखा-सी वासना के दीप की वे अप्सरायें,
रहीं थीं कर रहीं ज्योतित हृदय की कन्दरायें,
लहरती तीव्र यौवन वायु की चंचल लहर में,
प्रभा सी रूप की कैशोर के संध्या प्रहर में ।

वयस की सान्ध्य धारा में झलकता दीप तन का ।
बनाकर अतल तक ज्योतित गभीर प्रवाह मन का,
तरंगें रुप की उज्ज्वल विचंचल जगमगाती,
चमत्कृत कर नयन को, विकलता मन में जगाती ।

हुई जीवन्त मानों रूप यौवन की सुरा थी
बनी सुरलोक की सुन्दर किशोरी पातुरा थी,
दृगों के चषक से वे पान भूपति को करातीं,
सुरा का रूप यौवन की, विमोहित मन बनातीं ।

गढ़े थे अंग उनके कल्पना-से काम-कवि ने
किया तनु देह में उनकी समागम अमित छवि ने,
समाकर वह न तन में अतः थी अतिशय झलकती
सुरा ही रूप सागर से भरी तन की छलकती ।

रुधिर में जल रहीं उनके हृदय की कौन ज्वाला
शिखा उज्ज्वल उसी की कर रही तन में उजाला,
प्रदीपित कान्ति से संजीवनी से अंग लगते
बिना ही स्पर्श के, मन में अनेक अनंग जगते ।

कुसुम सी देह में थी कान्ति मणियों की झलकती
प्रणय के भाव में ज्यों दीप्ति यौवन की छलकती,
हुई थी मोतियों की मूर्त्त मानस में मराली
हुई साकार यौवन रूप लीला की प्रणाली ।

---

१. खण्ड काव्य उर्वशी : अप्रकाशित १९६७

दिवा के गर्भ में शुचि पूर्णिमा की यामिनी सी
शरद के मेघ में जल से धुली सौदामिनी सी
किरण-सी प्रथम यौवन की विकच कौमार्यक्षण में
झलकती कान्ति छवि की रूप रस से स्नाततन में।

हुई जीवन्त मधु श्री स्वर्ग की कोमल तनों में
हुये रति काम सहसा समाहित चंचल मनों में,
तरंगें रूप सागर की बनी थीं अप्सरायें
हुई थीं दिव्य तन में मूर्त्त मन्मथ की कलायें।

थिरकते ताल गति पर कलित कोमल अंग उनके
थिरकते हृदय स्पन्दन नृपति के भी संग उनके,
पदों की और अंगों की तरंगों के सहारे,
कमल से ज्वार में फिरते नयन नृप के विचारे।

नितम्बों और वक्षों में उमड़ते ज्वार छवि के
हुये साकार सुगठित भाव उन्नत काम कवि के
भटकता रूप शिखरों और कटि की घाटियों में
मनोमृग भूप का भूला नई परिपाटियों में।

उषा में चांदनी सा हास अधरों से बिखरता
प्रणय का भाव उज्ज्वल कान्तिसे मानीनिखरता
दृगों के मीन तिरते वारुणी में कामना की
बने छाया नृपति के दृग सरित में कल्पना की।

लहरतीं कुसुम निर्मित शुभ्रफणियों तुल्य बाहें,
दिखाती रंग दृग को कल्पना को मधुर राहें,
हुई जीवन्त मानों काम की मधुरागिनी थी
बनी वह राग से नृप के सदेह सुहागिनी थी।

मोहिनी मेनका[1]

उज्ज्वल अम्बर में पल पल खुलती छिपती
वह शरद मेघ में चन्द्र कला सी दिपती,
उतरी अवनी पर नीरव बिजली-सी
अवनी पर सुन्दर स्वर्गिक रूप-कली सी।

नीरव बिजली सी एक ज्योति की रेखा
बन गई प्रगति का उसकी चंचल लेखा,
वह कौंध क्षितिज पर सन्ध्या के अम्बर में
हो गई लीन सी बन के गहन कुहर में ।

ज्योत्स्ना से उसके अंगों की छवि छाया
झलकी वन में बन मृग जल की सी माया,
नभ गंगा सी सावन के सान्द्र घनों में
झलकी वह अवनी के सघन वनों में।

पद बढ़े उठे कर बिजली की लहरों से
निकले वीणा के स्वर अरुणिम अधरों से,
पर्वत सरिता के भ्रमरों में बिजली सी
वह नाच उठी चंचला रजत-मछली सी ।

वह शरद चांदनी तुल्य कान्ति चल तन की
कर रही चमत्कृत प्रकृति शान्तिमय वन की,
अंगों की द्युति पत्रों के चकित नयन में
चंचल बिजली-सी कौंध रही क्षण क्षण में ।

आश्रम के तरु हो चकित और विह्वल से
थे देख रहे वह कला पत्र-दृग-दल से,
आवर्तित सम से स्थिर रागों के क्रम में
मुनि रहे अचंचल कलापूर्ण विभ्रम में ।

---

१ खण्ड काव्य मेनका : अप्रकाशित १९६७

पर कान्ति, गीत, गति की द्रुत विद्युत धारा
कर रही वायुमण्डल आश्रम का सारा,
आकुल, अलक्ष्य आवेगमयी लहरों से
जो मांग रहीं अधिकार कर्ण-कुहरों से ।

विद्युत धारा के प्लावन से हो अंचित,
हो उठे अंग मुनि के सहसा रोमांचित,
वे बन्द पलक किस संवेदन से डोले
वे द्वार मोह के किस माया ने खोले ।

अनहद स्वर-सा जो गूंज रहा अन्तर में
वह राग सुना श्रुति से व्युत्थान पहर में,
जो दिव्य ज्योति छवि ध्यान योग में झलकी
वह उषा बन रही मुनि के नयन कमल की ।

कुण्डलिनी की जो कान्त कल्पना मन में
सोयी, वह जाग रही घर के आंगन में,
किस गूढ़ गर्भ में मन के सोयी नारी
थी जाग उठी जीवन में रूप कुमारी ।

जो मधुर कल्पना दिव्य रूप यौवन की
अति गूढ़ वासना रही तपस्वी मन की,
साकार हुई वह आज अप्सरा वन के
हो प्रकट अचानक गहन गर्भ से मन के ।

रह गये एक पल मुनि भी स्तब्ध ठगे-से
थे लीन ध्यान में यद्यपि अभी जगे-से
जागृति, समाधि या स्वप्न कि अथवा छल था
अस्थिर विकल्प में मुनि का मन चंचल था ।

किशोरी शकुन्तला[1]

खेल खेलकर आश्रम वन में बड़ी हुई वे तीनों संग
आश्रम के जीवन में रचती उनकी लीला नई तरंग,
चंचल चरणों से करती थीं वे आश्रम में मुक्त विहार
करुणा सागर कण्व सदा थे उनके प्रति अत्यन्त उदार।

'बेटी!' कहकर सदा बुलाते वे उनको ममता के साथ
कन्द मूल फल देकर उनको नित्य खिलाते अपने हाथ,
मिला उन्हें था पिता कण्व से अन्तर का आत्मिक अपनाव
प्रकृति पिताओं के अभाव का शेष न कोई रहा प्रभाव।

मिली गौतमी से माता की ममता उनको सहज अपार
आश्रम में भी कन्याओं का पाया सब अधिकार दुलार,
एक पिता माता की तीनों बन सहोदरा-सी सन्तान
करती थीं आत्मीय भाव से खण्डित प्रकृति विभेद विधान।

ईर्ष्या के अभाव से पाया अनसूया ने सार्थक नाम
प्रिय वचनों से प्रियम्बदा संज्ञा मिली यथार्थ ललाम,
दिव्य मेनका की पुत्री में गुण अनेक थे एक समान
शकुन-तले पाई थी इससे शकुन्तला पाया अभिधान।

गंगा यमुना सरस्वती-सी रहतीं एक भाव में लीन
आश्रम के पद-पद पर रचती रहतीं नित्य प्रयाग नवीन,
करते जिस अद्वैत भाव का साधन वटु मुनि कर तप ध्यान
बनतीं वे उस कठिन भाव का सहज मधुर जीवन्त प्रमाण।

गंगा-सी उज्ज्वल अनसूया करती निर्मल भाव प्रवाह
यमुना-सी प्रियम्बदा के थे मधु वचनों के अर्थ अथाह,
सरस्वती-सी शकुन्तला थी रहती उनमें अन्तर्धान
दिव्य कान्ति छवि की छाया से होता था उसका अनुमान।

१. खण्ड काव्य शकुन्तला : अप्रकाशित १९६७

तीनों सखियों के अविदित अस्फुट नव यौवन में
खेल रहा कैशोर पूर्व के अपने भोलेपन में,
तन मन के नवीन भावों से कुछ विचकित-सी रहतीं
पर किशोर क्रीड़ा की परिचित धारा में ही बहतीं।

नव यौवन बढ़ रहा क्षणों के अविदित सोपानों पर
अन्तर में नव भाव आ रहे स्वप्नों के यानों पर,
पर तपस्विनी कन्याओं को बोध न था कुछ उनका
कर न सकी सत्कार अलक्षित यौवन के पाहुन का।

वनबाला सीं वे बचपन के भावों में ही भूली,
अर्चित करती क्रीड़ा से ही यौवन की गोधूली,
क्रीड़ा से ही वे आश्रम के कार्य सभी थीं करतीं
स्नेह संग से काल-कर्म में हर्ष मोद थीं भरतीं।

उठ ऊषा के साथ नित्य वे मंगल गायन करतीं,
झाड़ बुहार कुटीर यज्ञ के साधन सकल जुटातीं,
दूध काढ़ गायों का सार्थक दुहिता नाम बनातीं
घट लेकर जल हेतु मालिनी तट पर हिलमिल जातीं।

शीष भरे घट धरे, धर्म के गीत मनोहर गातीं
गंगा यमुना सरस्वती सी आश्रम पथ पर आतीं,
संगम-से आश्रम में आकर सहज मन्द गति होती
देख गौतमी माता मन में शंकित स्वप्न संजोती।

जब तक करके स्नान नदी में कण्व लौटकर आते,
यज्ञ और पूजा के सारे साधन प्रस्तुत पाते,
हर्षित होते कन्याओं के धर्म शील से मन में'
पर उनके परिणय की चिन्ता थी मुनि के जीवन में।

तिलोत्तमा का उद्भव[1]

एक रूप-सौन्दर्य मात्र ऐसा धन है,
हो सकता जिसका कोई न विभाजन है,
स्वर्ग लोक में विपुल इन्होंने वह पाया,
इनकी घातक नहीं रूप की भी माया।

रचें विश्वकर्मा यदि ऐसी सुन्दरता,
जिसकी तुलना कोई रूप न कर सकता,
अतः न सम्भव जिसमें कहीं विभाजन हो,
वही रूप इनके विनाश का साधन हो।

तनिक विश्वकर्मा का मुख से नाम लिया,
शीघ्र उन्होंने आकर नम्र प्रणाम किया,
"क्या आज्ञा!" धाता से वे सविनय बोले,
देने को आदेश अधर प्रभु ने खोले—

"ले तिल तिल सौंदर्य अखिल तुम त्रिभुवन से,
संयोजित कर उसे कला शिल्पी मन से,
रचो अप्सरा अद्वितीय सुन्दर ऐसी,
नहीं विश्व में प्रकट हुई अब तक जैसी।"

"जो आज्ञा" कह, विनय प्रकट कर वन्दन में,
हुये विश्वकर्मा रत आज्ञा पालन में,
अखिल विश्व से तिल तिलकर सौंदर्य लिया,
कला शिल्प से उसे समन्वित रूप दिया।

रत्नों से ले कान्ति, मृदुलता फूलों से,
यौवन की तरंग सरिता के कूलों से,
तेज सूर्य से, दीप्ति चन्द्र से मनहारी,
रची षोडशी अद्वितीय सुन्दर नारी।

१. खण्ड काव्य तिलोत्तमा : अप्रकाशित १९६७

त्रिभुवन की तिल तिल सुषमा के संचय से,
निर्मित थी वह कला रूप के अतिशय से,
तिलोत्तमा का नाम अतः उसने पाया,
चकित देवता हुये देख छवि की माया।

तिलोत्तमा धाता के सम्मुख प्रकट हुई,
रूप भार से अवनत उनके निकट हुई,
'करें पितामह आज्ञा' वह उनसे बोली,
छवि से विस्मित देव सभा मन में डोली।

तिलोत्तमा से धाता ने यह वचन कहा,
"आया है त्रिभुवन पर संकट एक महा,
सुन्द और उपसुन्द दनुज दो बलधारी,
कर त्रिभुवन को विजय बने अत्याचारी।

मुझको ही तप से प्रसन्न कर वर पाये,
अन्य न कोई जन उनका वध कर पाये,
पा अपार साम्राज्य अखंडित त्रिभुवन का,
हुआ अखण्ड प्रगाढ़ प्रेम उनके मन का।

है विभाज्य साम्राज्य अपरिमित, यदि चाहें
शेष अनेकों सत्ता वैभव की राहें,
अद्वितीय यह रूप तुम्हारा त्रिभुवन में
पा सकते इसको दोनों न विभाजन में।

रूप शिखा के दोनों दैत्य पतंग बने।
उन्मादक दोनों के देव अनंग बने,
रूप तुम्हारा दोनों का संघर्ष बने,
बन घातक संघर्ष सुरों का हर्ष बने।"

सावित्री का त्याग[1]

कौमार्य काल में मैं थी राजकुमारी,
थी मिली राजसी सुख सुविधायें सारी,
अब मुझे भाग्य ने वनवासिनी बनाया,
सौभाग्य इसी में मैंने अपना पाया।

सर्वस्व एक नारी का केवल पति है,
वह ही नारी के जीवन की सद्‌गति है,
अब संग उसी के बन कर उसकी छाया,
पाऊंगी सेवा में ही मन की माया।

पति ससुर राज्य से वंचित हैं वनवासी,
मैं नहीं राज्य के सुख वैभव की प्यासी,
मैं भी बनकर उनके अनुरूप रहूंगी,
जो कुछ वे सहते हैं मैं भी वही सहूंगी।

धन वैभव तो बस जीवन के साधन हैं,
नैसर्गिक साधन यहां अपरिमित वन हैं,
जीवन तो मन का साध्य भाव का सुख है,
धन विभव बनाता उससे हमें विमुख है।

वैभव ही प्रायः बनते साध्य हमारे।
उसमें खो जाते अन्य साध्य ही सारे,
मोहित करती वैभव की मोहन माया,
पर अन्तर का सुख उसमें किसने पाया।

मैं पली राजसी वैभव के सागर में,
पर मिली न उससे तृप्ति कभी अन्तर में,
वन में पाई वह पति के आज चरण में,
मैं हूं प्रसन्न इनकी एकान्त शरण में।

---

१. खण्ड काव्य सावित्री : प्रकाशित १९७६

वैभव सागर का जीवन खारा होता,
पति के चरणों में बहता रस का सोता,
सागर में मिलते अलंकार के मोती,
पति के चरणों में मुक्ति सजीवन होती।

बोली सावित्री गद्गद् सुमधुर स्वर से,
"पूछो अपना वैभव मेरे अन्तर से,
जिसने अपना सर्वस्व इसी में पाया,
मैं धन्य आज वन सत्यवान् की जाया।

महलों में कितने राजपुत्र थे आये,
कितने महलों में मैंने अलख जगाये,
पर नहीं किसी ने मुझको था अपनाया,
इस आश्रम में ही मैंने आश्रय पाया।

इसलिये बना अब यही तीर्थ जीवन का,
सौभाग्य, तुम्हारी सेवा है यौवन का,
पति ही नारी की एक धर्ममय गति है,
औ एक धर्म उसके चरणों में रति है।

मैं नहीं राजसी सुख वैभव की प्यासी,
मैं बनी आज से इन चरणों की दासी,
यह आश्रम ही प्रासाद बनेगा मेरा,
तापस जीवन आह्लाद बनेगा मेरा।

वे अन्ध तुम्हारे पिता, वृद्ध वे माता,
उनसे मेरा भी वही तुम्हारा नाता,
अब उनकी सेवा करें नित्य हम दूनी,
उनकी संध्या अब रहे न राग-विहूनी।"

उमा की साधना[1]

कर रही थी साधना का प्राण में समवाय,
वन रही जीवन उमा का योग का पर्याय,
बनी आज वियोगिनी भी योगिनी साकार,
शक्ति शिव के योग हित थी कर रही उपचार।

योग के आरम्भ में उठ उमा आधी रात,
स्नान कर हिमनीर में एकाकिनी अज्ञात,
उषा से भी पूर्व करती बैठ ध्यान अखण्ड,
जया विजया को जगाता था उदित मार्तण्ड,

उमा की मुख कान्ति से होता विलज्जित सूर्य,
स्वर्ण बनता रवि किरण से देह का वैदूर्य,
उमा को करके नमन प्रति प्रात सूर्य महान,
नित्य करता नियम से तपमार्ग का सन्धान,

और संध्या में विलज्जित वदन, ले उर ज्वाल,
क्षितिज से होता विदा धर कर चरण में भाल,
सहस कर से सुमन से नक्षत्र वार अनन्त,
नील अम्बर में छिपाता मुख निशा पर्यन्त।

स्तब्ध होती थी निशा तप उमा का अवलोक,
मर्म उसका जानते सन्तप्त कोकी कोक,
तारकों के चकित दृग से देखता था व्योम,
क्षीण हो समवेदना से लुप्त होता सोम।

शिशिर में करती उमा तप बैठ हिमजल बीच,
योग करती यामिनी-सी श्वास स्पन्दन खींच,
सूर्य भी होता शिथिल कर तप, शिशिर में मन्द,
चांदनी मूर्छित धरा पर हिम बनी निस्पन्द।

---

१. खण्ड काव्य उमा : अप्रकाशित १९६८

ग्रीष्म में पंचाग्नि ज्वाला कर प्रदीप्त प्रचण्ड,
बैठ उनके बीच, सन्तत देखती मार्तण्ड,
देह के अद्वैत का तप में जगा सन्देह,
स्वयं तप से दीप्त बनती यज्ञ ज्वाला देह।

प्रथम तप के बीच कर विश्राम संध्या काल,
आग्रहों से आलियों के, छोड़कर जयमाल,
कन्दमूलों का ग्रहण करती तनिक आहार,
देखती कैलाश को थी शिखर के उस पार।

किन्तु कुछ दिन बाद करके कन्दफल का त्याग,
पर्ण औ जल मात्र माने पारणा के भाग,
अन्त में फिर पर्ण का भी त्याग पारण-ध्यान,
उमा ने पाया अपर्णा का अमर अभिधान।

शेष पारण के लिये बस रहे जल के बिन्दु,
बना जीवन का अमृत था प्रतिपदा का इन्दु,
और धूसर व्योम था शिव का विशाल स्वरूप,
बन रही उससे धरा-सी योग से तद्रूप।

उमा का तप पहुंच तप के शिखर पर अज्ञात,
कर रहा गौरी शिखर को लोक में विख्यात,
हो रहा गौरी शिखर का शिखर उन्नत और,
बन रहा कैलास से बढ़ पीठ वह सिर मौर।

दूर तक गिरि आश्रमों में हुआ कीर्ति प्रसार,
उमा के तप का, चकित ऋषि मुनि अनेक उदार,
नित्य गौरी शिखर पर आते दरस के हेतु,
फहरता तरु निर्झरों में उमा का यश केतु।

ब्रह्ममय जीवन[1]

ब्रह्म अनिर्वचनीय, विदित पर आत्मा के अनुभव में
परा वाक् में आलोकित वह, होता ध्वनित प्रणव में,
मानव के मन वचन कर्म में उसका सदा उदय हो,
जीवन का तम-कलुष ज्योति में उसकी नित्य विलय हो।

परम सत्य वह अन्तर्तम है मानव के जीवन का,
सत् भी चित् प्रज्ञान पूर्ण ध्रुव दीपक तिमिर गहन का,
सत् चित् भी आनन्द पूर्ण हैं अभिनव अनुभव उसके,
ब्रह्म सच्चिदानन्द मर्म है जीवन का मानुष के।

उसी ब्रह्म से जीवन का सत् सहसा चिन्मय होता,
उसी ब्रह्म से चित् जीवन में बहता रस का सोता,
जीवन में आनन्द उमड़ता बन चिन्मय रसधारा,
बनता है कृतार्थ जीवन बस उसी ब्रह्म के द्वारा।

मानव की अन्तर आत्मा में ब्रह्म प्रकाशित होता,
अन्तर्यामी उसी ब्रह्म से जीवन शासित होता,
उसी ब्रह्म से अर्थवती जीवन संज्ञायें सारी,
उसी ब्रह्म से काम-क्रियायें प्रेरित सभी हमारी।

सम्भावन से पूर्ण साम्य में ब्रह्म विवर्धित होता,
भाव और आनन्द वृद्धि में अपना रूप संजोता,
संवर्धित, आनन्द, काल के, होता सन्तत क्रम में,
एक ब्रह्म-आनन्द सत्य है विपुल प्रकृति के भ्रम में,

भारत की उस वन्य प्रकृति को तपोवनों में पाला,
मोह और अज्ञान तिमिर में तप का भरा उजाला,
उन ऋषियों ने बना ब्रह्म से युत जीवन की माया,
जीवन के कल्याण तीर्थ का पन्थ पवित्र बनाया।

---

१. खण्ड काव्य ब्रह्मर्षि : अप्रकाशित, १९६७

सप्त महाऋषियों में अनुपम थे वशिष्ठ तपशाली,
ब्रह्म साधना की प्रशस्त कर नय से पुण्य प्रणाली,
ब्रह्म मार्ग के हुये प्रदर्शक जो जग में माया के,
जिससे मिलती सहज मुक्ति इस बन्धन में काया के।

सदा अरुन्धित रख वशिष्ठ के जीवन की गति धारा,
किया यथार्थ जिन्होंने अपना नाम अर्थ के द्वारा,
अरुन्धती वे मुनि वशिष्ठ के जीवन की सहकारी,
चरणों में स्वीकार वन्दना करें विनम्र हमारी।

पति के साधन में सेवा से रहीं योग जो करतीं,
शान्त प्रसन्न भाव से गृह में ह्लाद योग का भरतीं,
गृहकर्मों को कर्म-योग से लौकिक योग बनाया,
बनी ब्रह्म की सचिव, रूप में उनके, मोहक माया।

अर्धांगिनी महामुनि की बन, आत्मा की अनुरागी,
बनकर, हुई अखण्ड अपरिमित आत्मभाव की भागी,
आत्मभाव से सहज उन्होंने जीवन योग बनाया,
स्वर्ग और अपवर्ग सहज ही गृह जीवन में पाया।

क्षत्रिय कुल में जन्म ग्रहण कर बने ब्रह्म-अनुरागी,
इष्ट ब्रह्मपद-हेतु जिन्होंने भूति राजसी त्यागी,
कौशिक विश्वामित्र करें शत वन्दन ग्रहण हमारे,
उनकी ब्रह्म साधना से हों वर्ण विभूषित सारे।

पर 'ब्रह्मर्षि' परम पद उनका लक्ष्य रहा जीवन का,
रही उसी की प्राप्ति पूर्ण दृढ़ निश्चय उनके मन का,
किये उसी के लिये उन्होंने तप व्रत साधन भारी,
बने पूर्ण 'ब्रह्मर्षि' परम पद के यथार्थ अधिकारी।

तेज की वन्दना[1]

करें हम वन्दना उस तेज की जो सूर्य में जलता,
करों में दीप्त जिसके विश्व का सुख-श्रेय पलता,
प्रकाशित कर रहा आलोक का जो लोक में शासन,
ज्वलित जिससे सदा ही यज्ञ और गृह का हुताशन।

उषा में वन्दना उस तेज की हैं आर्य करते,
सुरक्षित यज्ञ वेदी में निरन्तर अग्नि धरते,
उसी की शान्त निर्मल पूर्णिमा में पर्व होते,
उसी के दीप लक्ष्मी का रुचिर उत्सव संजोते।

धरा में सर्वदा वह रहे जाग्रत तेज जलता,
रहे उससे तिमिर-नाशक प्रकाश सदा निकलता,
सदा ही विश्व में उस तेज की निश्चित विजय हो,
शिखा के तुल्य उसकी, श्रेय का नित अभ्युदय हो।

जगा वह तेज भारत में कभी चाणक्य रवि में,
हुआ वह दीप्त चन्द्रकुमार के दृढ़ चित्त-पवि में,
शिखा ने शुभ्र जिसकी नन्द कुल तृण सा जलाया,
भयंकर यवन-सिंहों को प्रजा-वन से भगाया।

विमल राका बनाया निशा को भीषण अंधेरी,
समुज्ज्वल कीर्ति से उनकी गिरा हो धन्य मेरी,
सदा ही देश उनकी विजय का यश-गान गाये,
उन्हीं के तेज के आलोक में जय-पथ बनाये।

जिन्होंने सूर्य-सा उस तेज को दीपित बनाया,
अनय की यामिनी का तिमिर प्रतिभा से मिटाया,
बने अध्वर्यु प्रातर्यज्ञ के जो क्रान्तिकारी,
करें वे वन्दना चाणक्य गुरु स्वीकृत हमारी।

---

१. खण्ड काव्य चन्द्रगुप्त : प्रकाशित १९७९

बने मंगलमयी जो क्रान्ति के गुरु-मन्त्र-दाता,
बने जो शान्ति के साम्राज्य के नि:स्पृह विधाता,
वही चाणक्य पाटलिपुत्र में अपने सदन में,
नि:भृत एकान्त में कुछ सोचते थे मौन मन में।

खुली लम्बी शिखा थी काल-नाग-भुजंगिनी सी,
हृदय में उमड़ती थी दीप्त क्रोध-तरंगिनी सी,
अरुण युग नेत्र जलते थे प्रलय क्षण के तरणि से,
किसी संघात से क्रोधित उरग की दीप्त मणि से।

नदी ज्यों घाटियों में ग्रीष्म में गिरि को उमड़ती,
घटा जो भाद्रपद में ज्यों दिशाओं में घुमड़ती,
उमड़ते पूर्णिमा में सिन्धु में ज्यों ज्वार भारी,
विपिन में फैलती दावाग्नि जैसे प्रलयकारी।

हृदय की घाटियों में उमड़ते चिन्तन विषैले,
भयंकर फेन जिनके थे अधर-पर्यन्त फैले,
वही बन शब्द अस्फुट मन्द अधरों से बिखरते,
दृगों की अग्नि-ज्वाला में सुवर्ण सदृश निखरते।

वहां सुनसान खंडहर के अकेले भग्न घर में,
अमा की रात्रि के काले निविड़ मध्यम प्रहर में,
खड़ी चुपचाप दीवारें विखण्डित सुन रही थीं,
दिशायें वायु में षड्यन्त्र काला बुन रही थीं।

स्वयं चाणक्य प्रतिध्वनि सी श्रवण से सुन रहे थे,
उसी से अर्थ भव्य अनर्थ के कुछ चुन रहे थे,
प्रलय की रागिनी विस्वर स्वरों में चल रही थी,
उलूकों को असंगत ताल लय को छल रही थी।

ब्रह्म-विलास[1]

ब्रह्म का आलोक फैला है भुवन में,
भूमि तल में, अन्तरिक्ष तथा गगन में,
ब्रह्म का ही भाव मन में भाव भरता,
ब्रह्म देता मर्त्य जीवन को अमरता।

ब्रह्म की ही ज्योति से रवि सोम तारे,
हो रहे ज्योतित अमित नभ में हमारे,
ब्रह्म की ही ज्योति से वे विषय जग के,
बन रहे हैं मान चंचल आयु मग के।

ब्रह्म की ही ज्योति से आंखें हमारी,
देखतीं हैं यह विषय की सृष्टि सारी,
ब्रह्म की ही ज्योति बनकर भाव मन का,
कर रही अनुमान जीवन औ मरण का।

ब्रह्मका ही तेज के उन्मुक्त सहस्र कर से,
बांटता है सूर्य जग को ज्योति वर से,
रूप के बहु वर्ण रवि कर से खिलाता,
विश्व का सौन्दर्य जिनमें जगमगाता।

ब्रह्म से ही रूप जग के रूप पाते,
ब्रह्म से ही रस जगत के कूप पाते,
ब्रह्म की ही गन्ध जगती में गमकती,
शक्ति जिसमें बन मधुर आमोद बसती।

ब्रह्म का ही रूप सुमनों को खिलाता,
ब्रह्म का ही रस सरित निर्झर बहाता,
ब्रह्म की ही गन्ध फूलों में बिखरती,
रसिक जीवों में मधुर आमोद भरती।

१. खण्ड काव्य सत्यकाम : अप्रकाशित, १९६८

रूप रस और गन्ध की पावन त्रिवेणी,
बन वसन्ती प्रकृति में सौन्दर्य श्रेणी,
पल्लवों, फूलों, फलों में मधुवनों में,
पर्व छवि के विचरता सुन्दर क्षणों में,

ब्रह्म का ही तेज सर्जक काम बनता,
सर्गक्रम जिसमें रुचिर अभिराम बनता,
मिथुन धर्मों में उसी की मधुर माया,
कल्पक्रम से विरचती नव रूप काया।

ब्रह्म ले अवतार जिसमें मूर्त होता,
भावना में हृदय की वह स्फूर्त होता,
मूक अनुभव में विभासित ब्रह्म होता,
लोक जिसमें हृदय के सब शोक खोता।

ब्रह्म का ही स्पर्श संवेदन जगाता,
त्वचा में तन की सरस अनुभव बहाता,
द्वैत और अद्वैत उसमें लीन होते,
बुद्धि के सब भेद भेद-विहीन होते।

ब्रह्म का अद्वैत मन का प्रेम बनता,
दिव्य पारस परस से तन हेम बनता,
तेज में कर न्याय अन्तर्भाव तन का,
बनाता उसको विभूषण मुक्त मन का।

ब्रह्म का ही रस मधुर आनन्द बनता,
वही जीवन के मनोहर छन्द रचता,
हास बनकर वही अधरों पर झलकता,
अश्रु में सागर उसी का ही छलकता।

ब्रह्म-व्यवहार[1]

जीवन के उपकरणों का कर विनिमय औ व्यवसाय,
मानव की नौका मानव के सुख का बने उपाय,
मानव के श्रम भाव धर्म से बने धर्म्य व्यापार,
तुलाधार के तुल्य धर्म का करें वणिक विस्तार।

धर्म तुला पर तुले धर्म बन सत्य ब्रह्म का न्याय,
ब्रह्म भाव से पूर्ण धर्ममय बने अर्थ व्यवसाय,
धर्म भाव से पूर्ण काम हो रसमय ब्रह्मविलास,
जीवन के व्यापार मुक्ति के बने सहज अभ्यास।

हो विस्मित ब्रह्मर्षि वणिक का देख धर्म औ ज्ञान,
धर्मशील के सम्मुख उनका हो खण्डित अभिमान,
जाजलि के समान तपव्रत का विगलित हो सब गर्व,
धर्म विनय के संगम पर हो नव जीवन का पर्व।

धर्म अर्थ औ काम मुक्ति में ब्रह्मभाव अनुस्यूत,
करे पदार्थों को निर्भ्रम कर सत्यकान्ति से पूत,
धर्म अर्थ औ काम मुक्ति के बने सहज पर्याय,
बने ब्रह्म व्यापार लोक के सब लौकिक व्यवसाय।

धर्म दण्ड बन धर्म-तुला का दण्ड अनम्र कठोर,
करे अचंचल गति से, रहकर सम दृढ़ दोनों ओर,
तुलित न्याय के तुल्य मान से सभी पदार्थ समान,
समता से व्यवसाय ब्रह्म का करे समक्ष निदान।

समता सत्य न्याय जीवन में करें ब्रह्म चरितार्थ,
जीवन के व्यवसायों में ही अन्वित हो परमार्थ,
जीवन में साकार ब्रह्म हो माया से अभ्रान्त,
जीवन का व्यवहार बने वह ऋषियों का वेदान्त।

१. खण्ड काव्य तुलाधार : अप्रकाशित, १९६८

है समता ही भाव ब्रह्म का, समता शिव की शक्ति,
समता से होती मानव की मानव में अनुरक्ति,
वही शक्ति बनकर समाज की रचती रक्षा तन्त्र,
है समता का ब्रह्म लोक का मौलिक मंगल मंत्र।

समता ही है सार धर्म का समता ही है सत्य,
समता जीवन का स्वरूप बन रचती है सातत्य,
समता की शिवशक्ति लोक को करती है बलवान,
समता से बनता समाज यह उन्नत और महान।

समता से मानव में होता उदित गूढ़ अपनाव,
आत्मभाव ले जाग्रत होते सभी मांगलिक भाव,
कल्पवृक्ष बनकर समत्व वह देता सब फल काम्य,
चिन्तामणि बनता जीवन की वह अन्तर का साम्य।

ब्रह्मभाव से अपृथक होते सार्थक सारे अर्थ,
प्रबल ब्रह्म का तेज मिटाता जग के सभी अनर्थ,
जीवन के सब व्यापारों में वह समता बन न्याय,
करती उद्घाटित समृद्ध के अगणित धर्म्य उपाय।

यज्ञवेद विद्या तप में रत ब्राह्मण बनें महान,
इनका पावन पुण्य सभी को करें सहर्ष प्रदान,
क्षत्रिय औ वैश्य कर उनका आदर भाव समेत,
करें साम्य को वे वर्णों की त्रिपुटी में समवेत।

जीवन के उपकरणों का कर धर्मपूर्ण व्यापार,
रचे वैश्य लौकिक जीवन का आवश्यक आधार,
ब्राह्मण औ क्षत्रिय कर उनकी सेवा का सम्मान,
करे स्वयं व्यवसाय मार्ग का समुचित अनुसन्धान।

संस्कृतं भारतीय संस्कृतेः मूलम्

संस्कृत भाषा भारतीयानां प्राचीना भाषा अस्ति। संस्कृत भाषायां विरचितः ऋग्वेदः विश्वस्य प्राचीनतमः ग्रन्थोऽस्ति। ऋग्वेद एव भारतीयानां धर्म संस्कृतेः मूलाधारः। अयं प्राचीन भारतीयानां विविधविषयस्य ज्ञानस्य भाण्डारोऽस्ति। यजुर्वेदः यज्ञविधीनां निधानः। सामवेदः संगीतकलायाः स्रोतः। अथर्ववेदः मन्त्रतन्त्राणां भैषज्यायुष्याणां चागारः। एवं चतुर्वेदाः भारतीय धर्मविद्या संस्कृतीनां मूल-स्रोतांसि। भारतीयानां आचारव्रत-संस्कारपर्वोत्सववानां मूलमपि वेदेषु विद्यते। एतस्मादेव वैदिक मूलात् सुमुदितानि पल्लवपुष्पफलरूपाणि भारतीय-संस्कृतेः बहुरूपतत्वानि रूपाणि च भारतीय लोकजीवने सौन्दर्यस्यानन्दस्य च संचारः कुर्वन्ति। धर्म-दर्शन-नीतिस्मृतिग्रन्थाः एतस्य संस्कृतेः कल्पवृक्षस्य स्तम्भवत् तिष्ठन्ति। तेऽपिवैदिकमूलाः। सर्वे एते ग्रन्था संस्कृत भाषायां सन्ति। अतएव संस्कृत भारतीय संस्कृतेः मूलमिति कथनं नितान्तसमीचीनम्।

शिक्षाकल्पनिरुक्तादयः वेदांगानि वैदिकसाहित्यं संस्कृतिं च संवर्द्धयन्ति। उपनिषत्सु वैदिकीयस्य अध्यात्मदर्शनस्य गहनविस्तारोभूत। एतदौपनिषदमध्यात्ममेव भारतीय संस्कृतः सैद्धान्तिकः आधारः। उपनिषत्सु ब्रह्मआत्मा इति पदानवलम्ब्य अद्वैतानन्दरूपस्य अध्यात्मस्य गहननिरूपणं कृतम्। अनिर्वचनीय-स्यापि अध्यात्मस्य अपेक्षितत्वात् सांकेतिकनिर्वचनं कृत्वा उक्तं महर्षिभिः अध्यात्मतत्वमवाङ्मनस्गोचरम्—

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति।
अध्यात्मतत्वं न शब्दैः विवेचयितुं शक्यते॥

परं साक्षात् जीवने अनुभवनीयम्। तद् अद्वैतभावेऽनुभूयते। भारतीयेषु पारिवारिकसम्बन्धेषु, वात्सल्ये, दाम्पत्ये, भ्रातृत्वे, पर्वसंस्कारोत्सवेषु एतस्य सजीवाध्यात्मस्य रुचिरपुष्पाणि प्रस्फुटन्ति अमृत-फलानि च फलन्ति। भगवद्गीतासु सर्वोपनिषद्रूपधेननां मध्यात्मक्षीरस्य संचयः कृतः भगवतागोपालकृष्णेन। वत्सरूपपार्थस्य निमित्तं निस्सारितंमिदं अमृतरूपक्षीरं लोकानां परमुपकारकं स्वास्थ्यकरं च।

एतेसर्वेग्रन्थाः भारतीय धर्माचारसंस्कृतेः आधारभूताः संस्कृतभाषायां सन्ति। संस्कृतभाषयैव तेषां परिज्ञानं सम्भवति। अनुवादोऽपि मूलादेव भवति। अतएव यथार्थमेवोक्तं यत् संस्कृतं भारतीय संस्कृतेः मूलमिति।

भारतीय दर्शन का सन्देश[1]

प्रत्येक जाति का दर्शन जीवन और जगत की समस्याओं के प्रति उसकी चेतना के विकास का प्रतीक होता है। दर्शन का इतिहास उन समस्याओं के क्रमिक समाधान का इतिहास है : ये समस्यायें मानव के मन की कल्पना से प्रसूत नहीं, वरन् उसके वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से प्रस्तुत होती हैं। कुछ दर्शनों की समस्यायें अधिक बौद्धिक होने के कारण जीवन से दूर प्रतीत होती हैं। जीवन व्यवहारिक अवश्य है, किन्तु उसका बुद्धि से सदा सहयोग है। बौद्धिक चिन्तन से प्रमुखतः सम्बन्ध होने के कारण कुछ समस्यायें जीवन से दूर प्रतीत हो सकती हैं। किन्तु दूर होते हुये भी वे जीवन से असम्बद्ध नहीं। उनमें दूरान्वय दोष भले ही हो, किन्तु जीवन के साथ उनका अन्वय अवश्य है। चिन्तन स्वच्छन्द और असीम है। व्यावहारिक जीवन की परिधि सीमित और प्रयोजन परिमित है। क्रिया की गति विचार की अपेक्षा मन्दतर है। यही कारण है कि दर्शनों में चिन्तन की प्रधानता दिखाई देती है। पश्चिमी दर्शनों में तो बौद्धिक चिन्तन की ही प्रमुखता है। विश्व की व्याख्या की ओर अधिक रुचि होने के कारण वह चिन्तन शून्य बौद्धिक विवेचन तो प्रतीत नहीं होता, किन्तु जीवन के साथ उसका समन्वय सदा नहीं रहा। पश्चिम के अनेक दर्शन केवल बौद्धिक विजृंभण मात्र हैं। भारतीय दर्शन में जीवन के साथ चिन्तन का जो समन्वय पाया जाता है वह उसकी एक प्रमुख विशेषता है। भारतीय चिन्तन की धारा केवल विचार के शून्य लोक में कभी विलीन नहीं हुई। उसका पथ सदा जीवन का धरातल रहा। उसका प्रयोजन सदा जीवन का अभिसिंचन रहा और उसका अन्तिम लक्ष्य सदा सत्य के सागर से तादात्मय रहा। अध्यात्मिक उद्देश्य, व्यावहारिक मार्ग और मंगलमयी प्रगति भारतीय दर्शन के तीन प्रमुख पक्ष रहे हैं। आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की आत्मा है। आध्यात्मिक होने के कारण ही भारतीय दर्शन का सदा धर्म और नीति से समन्वय रहा है। पश्चिमी दर्शन की भांति भारतीय दर्शन धर्म और नीति से पृथक जीवन के तत्व का विशुद्ध अथवा शून्य विवेचन न बन सका। पश्चिमी आलोचक इसे भारतीय दर्शन का दोष मानते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से कदाचित् यह दोष भी हो, किन्तु जीवन और उसके प्रयोजन की समन्वित दृष्टि से यह दोष भी गुण है। भारतीय दर्शन एक विज्ञान अथवा शास्त्र न होकर जीवन का एक दृष्टिकोण है। केवल बौद्धिक दृष्टिकोण नहीं, वरन् जीवन का एक गम्भीर और पूर्ण निदर्शन है। दृष्टिकोण के साथ-साथ वह जीवन का एक मार्ग भी है। धर्म जीवन के पथ का सम्बल है, दर्शन मार्ग का प्रकाश है और जीवन की पूर्णतम कृतार्थता उस पथ का लक्ष्य है। भारतीय दर्शन मनोलोक के शून्य कक्ष में जीवन की समस्याओं का स्थिर विवेचन नहीं, वरन् बुद्धि के प्रकाश से आलोकित साधना पथ के अनुकूल कल्याण तीर्थ की तीर्थ-यात्रा है। चिन्तन और साधना का अद्भुत समन्वय होने के कारण भारतीय दर्शन केवल विद्वानों का वैभव न रहकर लोक की विभूति रहा है। दर्शन के शास्त्र में केवल सिद्धान्त और सम्प्रदायों का ही स्थापन नहीं हुआ, वरन् लोक के जीवन में इन सम्प्रदायों की जीवित परम्परायें रहीं, जो अनेक ऐति-

१. भारतीय दर्शन की भूमिका : प्रकाशित १९५८

हासिक विषमताओं के बाद आज भी प्रचलित हैं। सम्प्रदायों की परम्परा से भी अधिक महत्वपूर्ण जनता के जीवन पर उनका प्रभाव है। जनता के जीवन पर भारतीय दर्शन के तत्व-सिद्धान्तों के प्रभाव की तुलना यदि कहीं मिल सकती है तो वह आज के विश्व के दलित और श्रमिक वर्ग के जीवन पर साम्यवाद के सिद्धान्तों के प्रभाव में। साम्यवाद के भौतिक न्याय ने जिस तीव्रता और गम्भीरता के साथ दलित और श्रमिकों की चेतना को आन्दोलित किया है, उस तीव्रता और गम्भीरता के साथ भारतीय दर्शन की आध्यात्मिकता ने भारतीयों के मन को प्रभावित किया था। जीवन के भौतिक पक्ष की कुछ उपेक्षा करने के कारण भारतवर्ष राजनीति और विज्ञान के क्षेत्र में अवश्य पिछड़ा रहा, किन्तु आध्यात्मिक निष्ठा के नैरन्तर्य के कारण जीवन के आन्तरिक स्रोत अक्षुण्ण रहे। उन स्रोतों के अमृत-जल से ही परिपुष्ट होकर भारत का भविष्य उसके उज्ज्वल अतीत के अनुरूप बनेगा और इसी परिपोषण के प्रसार में विश्व के कल्याण और शान्ति की आशा निहित है। साम्यवाद का वैज्ञानिक भौतिकवाद सम्भवतः अध्यात्मवाद के एकांगी अतिरेक और उक्त उपेक्षा का समाधान अथवा संशोधन हो। किन्तु वह भी एकांगी ही है और अन्ततः दोनों का समुचित समन्वय ही विश्व का माननीय दर्शन बनेगा। इस विश्व-दर्शन में अध्यात्मवाद की प्रमुखता रहेगी तभी यह दर्शन लोक के कल्याण और शान्ति का मार्ग दर्शक बन सकेगा। साम्यवाद भौतिक उपकरणों और साधनों के न्याय पूर्ण वितरण का सिद्धान्त है। समान अवसर उसका सन्देश है। किन्तु मानव जीवन के एक आध्यात्मिक लक्ष्य में ही इन अवसरों और साधनों का प्रयोजन तथा जीवन की कृतार्थता हो सकती है। अतः अध्यात्म से समन्वित होकर ही साम्यवाद विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। केवल भौतिकवाद के रूप में वह एक प्रतिक्रिया मात्र है। विश्व का मान्य मत बनकर वह अशान्ति और अराजकता का ही कारण बन सकता है, शान्ति और मंगल का साधक नहीं।

अस्तु आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन का प्रथम और प्रमुख सन्देश है। आध्यात्मिकता से अनुप्राणित होकर ही विश्व का जीवन श्रेय और शान्ति का अनुगामी बन सकता है। आध्यात्मिकता के सम्पुट से ही बौद्धिक विचार और सिद्धान्त जीवन की आस्था और आधार बनते हैं। जीवन के विश्वास और आधार बनकर ही विचार दर्शन को धर्म का रूप देते हैं। धर्म का रूप ग्रहण कर ही दर्शन जीवन का मंगल मार्ग बनता है। सत्य निष्ठा आध्यात्मिकता का मूल है। सत्य केवल मनुष्य की बौद्धिक जिज्ञासा के कौतूहल का विषय नहीं, वह मनुष्य की आत्मा की अन्तर्तम आकांक्षा है और उसकी जिज्ञासा के परितोष के साथ-साथ उसके जीवन की कृतार्थता भी है। एक जाति की सत्य निष्ठा बनकर ही दर्शन धर्म का रूप ग्रहण करता है। यह सत्य निष्ठा ही दर्शन का जीवन से समन्वय सम्भव बनाती है और यही दर्शन की व्यवहार मुखी वृत्ति की प्रेरणा बनती है। व्यावहारिकता तथा आचरणशीलता एक दृष्टि से भारतीय दर्शन की आध्यात्मिक आस्था का परिणाम है। दूसरी दृष्टि से वह उसकी जीवन में पूर्ति और जीवित अभिव्यक्ति भी है। आध्यात्मिकता विचार और व्यवहार के समन्वय का सिद्धान्त बिन्दु है। जीवन की साधना बन कर ही चिन्तन के 'सिद्धान्त कल्याण के साधक हो सकते हैं। विश्व संस्कृति के इतिहास की समस्त विषमताओं का एक मूल सत्य निष्ठा का अभाव और तज्जन्य विचार और व्यवहार का वैषम्य है। विश्व के अशान्ति अन्याय, युद्ध, अराजकता, अत्याचार आदि का कारण यह नहीं है कि किसी युग में हम सत्य के स्वरूप और कल्याण के आदर्श से अपरिचित थे। सत्य सनातन है। कल्याण का सामान्य रूप मनुष्य के

सहज अन्तर्ज्ञान का विषय है। प्राचीनतम विचारक मनुष्य जाति की जागरण वेला में उस सत्य का उद्‌घाटन कर चुके हैं। जीवन के मंगल मार्ग की दिशा हमें आदि काल से ही विदित है। सत्य के सिद्धान्त अत्यन्त सरल और मंगल का मार्ग अत्यन्त सीधा है। इस विषय में ज्ञान का इतना अभाव नहीं है जितना कि सत्य निष्ठा का। सत्य निष्ठा के अभाव के कारण ही सत्य के सिद्धान्त जीवन की साधना न बन सके और कल्याण का मार्ग जीवन का राजमार्ग न बन सका। विचार विश्वास में परिणत होकर हमारे वास्तविक जीवन का सहचर न बन सका। सत्य विचारकों के विवेचन का विषय रहा और कल्याण-मार्ग जीवन के कुछ गिने चुने साधकों की तीर्थ यात्रा का पथ। कदाचित् इस विषमता का मूल मानव की प्रकृति में ही हो। इसी कारण भारतीय इतिहास भी उससे अछूता नहीं है। विश्व में भी भ्रांति हुई है। धर्म भी भ्रष्ट और विकृत होकर अपने लक्ष्य से च्युत हो गया किन्तु भारतीय दर्शन की परम्परा में सत्य निष्ठा मुनियों का एक महान सन्देश रही है। भारतीयों को अपनी भ्रांति से सजग होकर मुनियों का यह सन्देश विश्व के देश-देश में पहुंचाना है। यह सत्य निष्ठा का सन्देश ही हमारे आदर्शों को यथार्थ और हमारी कल्पना को सत्य और सार्थक बना सकता है।

भारतीयों की यह सत्य-निष्ठा केवल एक आत्मिक विश्वास न थी, वरन् एक सक्रिय और सचेष्ट साधना थी। दर्शन का सत्य केवल एक धार्मिक आस्था बनकर ही सार्थक नहीं हो सकता, वह व्यावहारिक जीवन की आचारगत साधना बनकर ही कृतार्थ और कल्याणकर हो सकता है। इसी कारण भारतीय दर्शन धर्म बनकर सदा जीवन की एक साधना रहा। दर्शन ने जीवन की मीमांसा कर एक आध्यात्मिक लक्ष्य का संत किया। धर्म ने उस आदर्श को जीवन के विश्वास और आत्मा की आकांक्षा का रूप दिया। सत्यनिष्ठा ने उसे जीवन की साधना बनाकर उसकी प्राप्ति से एक व्यावहारिक मार्ग का निर्माण किया। भारतीय दर्शन में साधना और आचार का महत्व इस सत्यनिष्ठा का ही परिणाम है। दर्शन मोक्ष-शास्त्र कहलाते हैं। मोक्ष जीवन के परमार्थ का स्वरूप और उसकी संज्ञा है, साधना उसकी प्राप्ति का साधन और आचार उसका मार्ग है। प्रत्येक भारतीय दर्शन में मोक्ष के स्वरूप निरूपण के साथ-साथ उसकी प्राप्ति के व्यावहारिक मार्ग का निर्देश किया गया है। इस मार्ग का विस्तृत वर्णन प्रत्येक दर्शन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। योगादि कुछ दर्शनों का तो यह साधना ही सर्वस्व है। अन्य दर्शनों में भी तत्व-विवेचन के साथ साथ इस व्यावहारिक साधना का महत्वपूर्ण स्थान है। तप, योग, संयम, त्याग, दया, दान, उदारता, क्षमा, सेवा, प्रेम, अभय, अहिंसा आदि इस साधना पथ के प्रमुख पर्व हैं। नैतिक गुणों के सम्पादन और तपोयोग द्वारा आत्म-संस्कार मोक्ष-साधना की आवश्यक भूमिका है। विश्व के अन्य धर्म और दर्शनों में भी इनमें से कई गुणों को पर्याप्त महत्व दिया गया है। किन्तु उनका यह महत्व एक सैद्धान्तिक मान्यता अथवा एक सीमित रूढ़ि है। मुक्त मानवीय दृष्टिकोण से तथा उदात्त मानवीय भावना और अनन्य तथा अनुपहित निष्ठा पूर्वक इनकी साधना भारतीय दर्शन और संस्कृति की ही विशेषता है। मानव का गौरव और लोक का कल्याण भारतीय दृष्टिकोण की विशेषतायें हैं। मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है। आत्मा उसका अन्तर्तम स्वरूप है। यह आत्मा दिव्य और अनन्त है। प्रकृति का दास होने के साथ-साथ मनुष्य ईश्वर का अवतार भी है। सत्य-निष्ठा और निरन्तर साधना द्वारा अपने इस स्वरूप की प्राप्ति भी कर सकता है। यही उसका मोक्ष और परम कल्याण है। इसी की साधना में दर्शन की सार्थकता और जीवन की कृतार्थता है।

इस साधना के प्रयोजन और इस दृष्टिकोण के स्वरूप का सार आत्मिक अनुभव है। केवल बौद्धिक ज्ञान से सन्तोष न कर आत्मिक अनुभव का आग्रह भारतीय दर्शन की एक उल्लेखनीय विशेषता है। आत्मिक अनुभव बनकर ही ज्ञान जीवन का सजीव और सार्थक सिद्धान्त बन सकता है। अनुभव के ताप से द्रवित होकर ही मन का वैभव-भूत विचार सुवर्ण आत्मा की आस्था बनकर जीवन का अलंकार बनता है। दर्शन और जीवन में एक सार्थक समन्वय स्थापित करने के लिये ही भारतीय दर्शन में मोक्ष को अनुभव का रूप दिया गया है। मोक्ष अथवा परमार्थ किसी बाह्य पदार्थ की प्राप्ति नहीं, एक आन्तरिक आत्मिक स्थिति की सिद्धि है। समस्त बाह्य पदार्थ साधन मात्र हैं। विश्व का मंगल जिसमें समस्त मानवीय मूल्यों का समाहार है, जीवन और दर्शन का एक मात्र और अन्तिम साध्य है। बौद्धिक-ज्ञान-रूप दर्शनों में यह साध्य सदा क्षितिज की भांति अप्राप्य रहता है। विचार और व्यवहार के वैषम्य के कारण उस साध्य के प्रति आत्मिक अध्यवसाय सम्भव नहीं होता। जीवन की विकृति विचार के दम्भ और अवांतर विक्षेपों के कारण इस आदर्श की मानसिक साधना चन्द्रमा को ग्रहण करने की कामना के समान रहती है उस आदर्श के अनुरूप आत्मिक स्थिति की क्रमिक साधना के बिना न उस साध्य की प्राप्ति सम्भव है और न लोक में मंगल और शांति की स्थापना। केवल ज्ञान मन का विलास मात्र है। आत्मा का वैभव बनकर ही वह लोक का मंगल कर सकता है। अनुभव आत्मा की विभूति है। आत्मिक अनुभव के रूप में परिणत होकर ही दर्शन के तत्वसिद्धान्त विश्व के मंगल पथ के पर्व बन सकते हैं। भारतीय दर्शन में अनुभव का आग्रह लोक के कल्याण की दिशा का यथार्थ निर्देश है। सभ्यता और संस्कृति का विकास विचारों का विस्तार और भौतिक साधनों का संवर्धन मात्र नहीं, वास्तविक विकास मानव का आत्मिक उत्थान है और वह तभी सम्भव है जब ज्ञान के तत्व आत्मा के अनुभव बन सकें दार्शनिक सिद्धान्तों का मनुष्य के व्यक्तित्व और लोक के जीवन के साथ समन्वय हो सके। सिद्धान्तों के उद्घाटन और पुस्तकों के प्रकाशन मात्र से यह सम्भव नहीं है। आधुनिक अध्यापन की प्राणहीन भाषण शैली भी इस विषय में अनुपादेय है। अभिभाषण वर्षा के जल की भांति व्यर्थ जाता है। वापी के शांत संचित जल की भांति उसका उपयोग नहीं होता। प्राचीन गुरु परम्परा का उद्देश्य सजीव आत्मिक सम्पर्क द्वारा साधना का पथ प्रशस्त कर ज्ञान को आत्मिक अनुभव के रूप में परिणत करना ही था।

प्राचीन मुनियों, ऋषियों और आचार्यों के आरण्य विद्याश्रम आध्यात्मिक साधना और संस्कृति के केन्द्र थे। इन केन्द्रों से ही धर्म, ज्ञान और संस्कृति का आलोक और सन्देश प्राचीन भारत देश में प्रसारित हुआ था। सजीव सम्पर्क और सत्यनिष्ठ व्यावहारिक साधना की आत्म-संस्कार शैली से ही व्यक्तित्व का निर्माण तथा कल्पना के आदर्शों की वास्तविक जीवन-जगत् में प्रतिष्ठा हो सकती हैं। तप, स्वाध्याय आदि द्वारा देह और मन शुद्धि और संस्कार, ब्रह्मचर्य, त्याग, संयम आदि द्वारा आत्मा का उन्नयन और व्यक्तित्व की भूमिका की प्रतिष्ठा तथा अहिंसा, प्रेम, करुणा आदि के संवर्धन द्वारा व्यक्तित्व का विकास और आत्मा का स्वरूप-लाभ आदि की व्यावहारिक प्रणाली से ही संस्कृत विश्व के व्यक्ति का निर्माण हो सकता है।



कविता की भागीरथी[1]

कविता की कोई सर्वमान्य परिभाषा कठिन है। सामान्यतः सभी लोग कविता के रूप को पहचानते और किसी न किसी अंश में उसका आनन्द लेते हैं। किन्तु कविता के स्वरूप के निरूपण का प्रयत्न करते हुए इस सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयां उपस्थिति हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि कविता मानवीय कृतित्व की एक व्यापक व्यंजना है। उसकी व्यापक परिधि में जीवन और कला की अनेक प्रेरणाओं और विधियों का समाहार है। मानवीय चेतना के अनेक रूप, पक्ष और धरातल हैं। संभव है भागीरथी के स्रोत की भांति विश्व मानस के अन्तर से उदित होने वाली कोई एक मूल प्रेरणा ऐसी हो जिसे हम कविता का उद्‌गम कह सकें। भागीरथी के उद्‌गम की भांति ही कविता की इस मूल प्रेरणा को खोजना कठिन है। चेतना के उस ऊर्ध्व और दुर्गम देश में मन की गति कठिन है। आदि-कवि की विगलित करुणा के गोमुख से कविता की भागीरथी के उदात्त और उज्जवल समारम्भ के पीछे मानवीय चेतना की कितनी दुर्लक्ष्य सरणियों का सहयोग है, यह अन्वेषण सहज नहीं है। सामान्य जीवन के समतल पर कविता की भागीरथी के जिस प्रौढ़ प्रवाह से हम सामान्यतः परिचित हैं तथा जिनके पुण्य तटों पर हम प्रायः अवगाहन करते हैं, उसके निर्माण में भी उद्‌गम के दुर्गम देश की न जाने कितनी सहस्र धाराओं का सहयोग है।

कविता के लिए भागीरथी की यह उपमा सुन्दर ही नहीं उपयुक्त भी है। वस्तुतः यह कविता की भाषा में ही कविता के स्वरूप की परिभाषा है। कविता जीवन की भागीरथी है। तर्क की दृष्टि से इस परिभाषा में आलंकारिता का दोष भले ही हो किन्तु कविता की दृष्टि से यह परिभाषा अत्यन्त उपयुक्त और अर्थपूर्ण है। इस परिभाषा में हमें कविता के स्वरूप का उसी प्रकार साक्षात्कार होता है जिस प्रकार स्वयं कविता के रूपों में मानवीय जीवन और आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार जगत के ऊर्ध्व लोकों से भागीरथी गंगा का उद्‌गम होता है उसी प्रकार मानवीय चेतना के ऊर्ध्व लोकों में कविता का मूल स्रोत है। हिमालय के उज्ज्वल शिखरों पर सूर्य के सप्तरंग आतप के पड़ने से आरम्भ होने वाला हिम का विगलन ही भागीरथी के प्रवाह का आदि सूत्र है। उसी प्रकार मानवीय चेतना में सत्व के उत्कर्ष जीवन की रश्मियों से रंजित और विगलित होकर कविता के प्रवाह का आरम्भ करते हैं। सूर्य विश्व की जीवन-शक्ति है, वही हिम के विगलन का प्रेरक है। हिम के साथ सूर्य के सम्पर्क में आलोक की वर्णविभूति भी विच्छुरित होती है। प्रवाह की तरंगों पर यह वर्ण-विभूति इन्द्रधनुषी स्वप्नों का अनन्त विधान करती है। हिम के उज्ज्वल सत्य में स्रवण के शिवम् के साथ अभिव्यक्ति के सुन्दरम् का उदय होता है। उसी प्रकार सत्व के उत्कर्ष में जीवन की ऊष्मा के सम्पर्क से जिस व्यापक करुणा में चेतना का द्रवण होता है, वही कविता का प्रथम दर्शन है। जीवन की ध्वनि पर तरंगित चेतना के इस प्रवाह में सांस्कृतिक विधानों के अनन्त इन्द्रधनुष कल्पना की तूलिका से अंकित होते हैं। सत्व के मंगलमय स्रवण

१. काव्य का स्वरूप : प्रकाशित १९६८

की करुणा में कल्पना के ये चित्र-विधान ही सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।

सत्य की भूमि पर मंगल की गति में सौन्दर्य की सृष्टि ही कविता का पूर्ण रूप है। सत्य जीवन की स्थिति है। उसमें उज्ज्वल आलोक की समष्टि है, किन्तु गति नहीं है। सत्व का उत्कर्ष होने के कारण ही अध्यात्मवादी दर्शन परम सत्य को अचल और अविकारी मानते रहे हैं। हिमाचल इसी सत्य के उत्कर्ष का प्रतीक है। जीवन की ऊष्मा के सम्पर्क से सत्व का हिमाचल विगलित होता है। करुणा का यही स्राव कविता का आदि स्रोत है। आदि कवि का प्रथम उच्छ्वास इसी कविता के प्रवाह का प्रथम बिन्दु है। यह स्रवण ही शिवम् है। आत्मदान इसका स्वरूप है। अभिव्यक्ति की प्रेरणा बनकर यही आत्मदान सुन्दरम् की सृष्टि करता है। जीवन की ऊष्मा से विगलित होकर हिम का तीव्र प्रवाह पृथ्वी के प्रदेशों को अपना जीवन समर्पण करता है। उसका यही आत्मदान प्रकृति के वृक्ष, वीरुध, लता, गुल्म, पादप, तृणादि में के रूपों में पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य बनकर यही आत्मदान खेत, शाद्वल, उपवन, वन आदि की सृष्टि करता है। इसी प्रकार सत्व की करुणा रसमय आत्मदान के द्वारा मंगलमयी गति से जीवन के सौन्दर्य-लोकों की रचना करती है।

जिन सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य धाराओं के रूप में सत्व के इस विगलित प्रवाह का आरम्भ होता है, उनका अनुसंधान इन ऊर्ध्वलोकों के श्रद्धालु और साहसपूर्ण-यात्री कर सकते हैं। सत्व के उत्कर्ष के उत्तुंग कैलाश और उसके अंचल में लहराते करुणा के निर्मल मानसरोवर के दर्शन विरले ही पुण्यशाली कर पाते हैं। उपत्यकाओं और तराइयों के वासियों को उन सहस्रधाराओं के कौमार्य में कविता की भागीरथी की विकसित लीलाओं का दर्शन अवश्य होता है। उन्हें इन सहस्रधाराओं के शत-शत संगमों पर निर्मित होने वाले शतशः प्रयागों के पुण्य का भी लाभ होता है। लोक-जीवन की साधारण समतल भूमि के निवासियों को तो एक मन्थर और समवेत प्रवाह के रूप में ही इस कविता की भागीरथी के दर्शन होते हैं। इसी के तट पर उनके अनेक सांस्कृतिक तीर्थ निर्मित हैं। इस रस की भागीरथी में अनुराग की यमुना के संगम से निर्मित एक प्रयाग ही उनका तीर्थराज है। इस कविता भागीरथी का मधुर-मधुर कल-कल ही उनकी दिव्य श्रुति है। उसका विशाल अंचल ही उनके जीवन का करुणामय आश्रय है। उद्गम के ऊर्ध्व लोकों की रसकुमारियों की क्षिप्र गति, चंचल, लीला, बंकिम विलास, उज्ज्वल कान्ति और मन्द संगीत के वास्तविक रूप की कल्पना भी उनके लिए कठिन है। खेतों, शाद्वलों उपवनों और वनों की विभूति को ही बहुत मानने वाले समतल-वासियों को इन ऊर्ध्व लोकों के देवदारु-वनों, गन्ध-मादनों, औषधि-प्रस्थों आदि के सौरभ और सौन्दर्य की कल्पना भी संभव नहीं है।

कविता की भागीरथी के उद्गम की सुषमा और विभूतियों का अनुसंधान जितना दुष्कर है, उसके कौमार्य की सहस्रधाराओं के समवाय से निर्मित समतल की उदारधारा के दर्शन और अवगाहन का पुण्य उतना ही सुलभ है। उद्गम के रहस्य और चमत्कारों की प्रतिभा का दर्शन चाहे दुर्लभ हो किन्तु उसके रस का प्रसाद इसमें भी समान रूप से प्राप्य है। यह रस ही कविता की भागीरथी का स्वरूप और सार है। मूलतः कविता की भागीरथी का रस पवित्र और अविकार्य है। समतल के प्रवाह में यदि कोई विकार अथवा अपवित्रतायें मिलती हैं तो वे उस रसप्रवाहिनी का स्वरूपगत दोष नहीं है, वे सभ्यता के विकारों के कलुष हैं। कविता की रसप्रवाहिनी इस कलुष को आत्मसात् और प्रच्छालित करने की शक्ति रखती है। सूरदास के समदर्शी भगवान के समान कविता की प्रवाहिनी इन कलुषों को भी आत्मसात् करके 'सुरसरी' की

संज्ञा प्रदान करती है। वस्तुतः उपनिषदों के 'रसौ वैसः' के अनुरूप रस ही इसका स्वरूप है। पुराणों में भागीरथी के रसप्रवाह को ब्रह्म-द्रव कहा गया है। कविता की भागीरथी का प्रवाह ब्रह्म के समान ही रसमय और अविकारी है। कविता ब्रह्म के रसमय तत्व का ही संगीतमय प्रवाह है।

कविता की रसमय भागीरथी अपने मूल और दिव्य रूप में ब्रह्मा के कमण्डलु की विभूति है। ब्रह्मा सृजन का देवता है। क्षीर सागर पर शेष शय्या पर विराजमान विष्णु की नाभि से निःसृत कमल पर आसीन ब्रह्मा सृजन के प्रतीक हैं। क्षीर सागर मानवीय संस्कृति की आधारभूत मातृ-भावना का प्रतीक है। अनन्त की संज्ञा से विभूषित सत्य के अनुरूप और सहस्र-फण-युक्त शेषनाग अनन्त और अनेक शाखाओं से सम्पन्न ज्ञान का प्रतीक है। 'विष्णु' चक्र और गदा से सूचित विक्रम के द्वारा शंख और पद्म से द्योतित धर्म और अध्यात्म के रक्षक हैं। मातृशक्ति की प्रेरणा और ज्ञान का सम्बल उनकी स्थिति का स्थायी आश्रय और अवलम्ब है। आदि-शक्ति की प्रेरणा और अनन्त ज्ञान के सम्बल से विष्णु अपने विक्रमों में सफल होते हैं। 'नाभि' देह का केन्द्र है। कमल जीवन के रस (जल) और कलपु (पंक) से उद्भूत जीवन की ऊर्ध्वगामी श्री का आसन है। उसी श्री की सृजनात्मिका विभूति से विष्णु के विक्रमों का केन्द्रीय प्रयोजन सफल होता है। सृष्टि के विधाता होने के साथ-साथ ब्रह्मा वेदों के आदि वक्ता भी हैं। सृष्टि प्रकृति है। वेद ज्ञान और संस्कृति के आगार हैं। ब्रह्मा प्राकृतिक और सांस्कृतिक सृजन के पौराणिक प्रतीक हैं। उनका कमण्डलु उनकी अर्चना का पात्र और साधना का उपकरण है। उसमें वर्तमान गंगा सृजन की साधना और अर्चना का रसमय तत्व है। ब्रह्मलोक की वासिनी गंगा के पृथ्वी पर अवतार के लिए भागीरथ की तपस्या अपेक्षित है। कवि ब्रह्म लोक की रसभूति को भूलोक में प्रवाहित करने वाला तपस्वी भगीरथ है। तप से ही उसकी साधना सफल हो सकती है। भूलोक में कविता की भागीरथी की रसधारा प्रवाहित करने के साथ-साथ वह अनन्त वैभव और अनन्त विलास के आकांक्षी लोक की कामना के प्रतीक स्वर्ग के अभिशप्त इन्द्र के छल से भस्म हुए अपने उद्वेजित पूर्वजों का भी उद्धार कर सकता है।

किन्तु कवि रूपी भागीरथ की यह साधना शिव के सहयोग के बिना संभव और सफल नहीं हो सकती। शिव लोक मंगल के प्रतीक हैं। अनन्त ज्ञान के प्रतीक शेषनाग के फणों पर पृथ्वी की स्थिति है। उत्कृष्ट सत्य के शुभ्र संचय का प्रतीक कैलाश पृथ्वी का चूड़ामणि है। उस कैलाश पर आसीन 'शिव' सत्व के उत्कर्ष की साधना द्वारा प्राप्य लोक के चरम और उच्चतम मंगल के द्योतक हैं। शिव का गुम्फित जटा-जूट साधना की सघन वीथियों का संकेत करता है। लोक की उच्चतम मंगल साधना की सघन वीथियां ही सृजन के देवता के साधना-पात्र के रस प्रवाह को वलयित करने में समर्थ हैं। इस लोक मंगल की साधना और उसकी प्रीति के अनुग्रह से ही कवि-रूपी भागीरथ उस रस-प्रवाहिनी को पृथ्वी पर उतारने में समर्थ होता है। ब्रह्मा का यह वचन कि 'अन्यथा वह प्रवाह पाताल को चला जायेगा' लोक-मंगल की साधना के बिना रस-साधना की निष्फलता का व्यंजक है। पाताल विश्व का अधोलोक है। शिव की साधना के अभाव में कितनी रस साधना इस अधोलोक की गामिनी बनी है, यह कला, कविता और साहित्य का स्वस्थ अनुशीलन करने वाले पाठकों को अविदित नहीं है। शिव का स्वरूप स्वयं साधनामय है। भागीरथ और शिव का सहयोग रस और मंगल की साधना और संगति का सूचक है। तप और साधना प्रकृति के संस्कार के मार्ग हैं। रस और मंगल की दिशा में इस साधना की समन्वित गति ही पृथ्वी पर मंगलमयी रस-भागीरथी को अवतरित करने में सफल होती है। पौराणिक कल्पना में गंगा की धारा शिव के शीष

से प्रवाहित होती है। लोक-मंगल के शीष से प्रवाहित होने पर ही रस-भागीरथी कल्याणमय आनन्द का वरदान बन सकती है। भागीरथ के समान दृढ़ और दीर्घ साधना के द्वारा ही शिव के प्रसाद की विभूति मंगलमयी रस-भागीरथी पृथ्वी पर प्रवाहित होती है।

ब्रह्मा, शिव और भागीरथ के पौराणिक निमित्तों से निर्मित भागीरथी का यह रूपक कविता के स्वरूप उद्गम और अभिव्यक्ति के रहस्यों का एक अद्भुत मार्मिकता के साथ संकेत करता है। कविता का स्वरूप भागीरथी के समान ही रसमय है। यह रस साधारण भावों अथवा जलों के समान विकार-शील नहीं वरन् ब्रह्म-रस के समान अविकार्य है। उपनिषदों में इस रस के आश्रय भूत ब्रह्म को 'कवि' की संज्ञा दी गई है। वह सर्वद्रष्टा कवि अपने स्वरूप-भूत रसतत्व से विश्व की सृष्टि करता है। यह सृष्टि चिन्मय ब्रह्म के स्वभाव की अनायास अभिव्यक्ति है। भामती के मंगलाचरण में 'वीक्षितमेतस्य पंच-भूतानि और 'स्मितमेतस्य चराचरम्' में दिव्य सृष्टि के इस अनायास सौन्दर्य का संकेत मिलता है। ब्रह्मा सृजन के देवता हैं। उन्हें हम ब्रह्म-शक्ति के सृजनात्मक रूप का प्रतीक मान सकते हैं। ब्रह्मा का ऋषि-रूप सांस्कृतिक साधना का सूचक है। साधना का कमण्डलु ही ब्रह्म की रस विभूति का आश्रय और त्रिलोक में उसके प्रवाह का आदि-स्रोत बनता है। सांस्कृतिक जगत में कवि अनन्त रस-लोकों का विधाता है। काव्य-शास्त्र की परम्परा में कवि को 'प्रजापति' माना है, यह उचित ही है। कवि स्रष्टा है। साथ ही वह द्रष्टा भी है। शंकराचार्य ने उपनिषदों के कवि का 'कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक्' भाष्य किया है। चतुर्मुख होने के कारण विश्व के स्रष्टा ब्रह्मा सर्वदर्शी हैं। वेद के विधाता होने के कारण वे सर्वज्ञ भी हैं। अनामिल ज्ञान-दृष्टि विधाता की सृष्टि-क्रिया का आलोक है। उज्ज्वल और अनामिल ज्ञान-दृष्टि से समन्वित होकर ही कवि की सांस्कृतिक सृष्टि भी सफल होती है। अस्तु, ज्ञान-दृष्टि से युक्त सृष्टि ही कविता का रूप है। साधना से युक्त सृजनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति कविता के रूप में होती है।

साधना से सत्व का उत्कर्ष होता है। कैलाश उसी का प्रतीक है। कवि का कैलाश उसका मस्तक है। यह कल्पना योग के प्रतीकवाद के अनुरूप है। तप और शक्ति साधना के सम्बल हैं। तप प्रकृति का मर्यादन तथा वशीकरण है। 'शक्ति' क्रिया की सामर्थ्य है। यों तो यह शक्ति अणु-अणु में व्याप्त है और आज उसके विस्फोट विश्व को प्रलय का द्वार दिखा रहे हैं। निसर्ग प्रकृति की सृजनात्मक क्रिया में शक्ति की अभिव्यक्ति प्रकृति की एक अन्तर्गत नियति बन गई है। शक्ति की कृत्रिम अभिव्यक्तियां मनुष्य-तंत्र हैं। मनुष्य की चेतना में शक्ति का स्वतन्त्र रूप अभिव्यक्त हुआ है। तन्त्रों में इस चिन्मयी शक्ति को 'चिच्छक्ति' की संज्ञा दी गई है। समस्त विश्व इस शक्ति का ही विलास है। विश्व काव्य शक्ति की महाकला का अद्भुत सौन्दर्य है। कविता की सृष्टि भी कवि की शक्ति साधना का फल है। सत्व का उत्कर्ष शक्ति का भी अभ्युदय है। कवि की समर्थ चेतना की विभूति ही कविता बनकर विकसित होती है। जीवन की उष्मा से विद्रवित सत्व का हिमालय ही मानस के मार्ग से कविता की भागीरथी के रूप में प्रवाहित होता है। इस प्रवाह में सत्व की भास्वरता और कांति, शक्ति का वेग और गति, कल्पना का रंजित वीचिविलास तथा सृजन का अद्भुत सौन्दर्य और प्रगति का मन्द्र मधुर संगीत है।

कविता की भागीरथी की मौलिक कांति, वेग, संगीत आदि का परिचय तो उसके उद्गम के ऊर्ध्व लोकों में ही मिलता है, जो दुर्लभ है। समतल भूमि के निवासियों को इन तीनों के मन्द रूप का ही साक्षात्कार होता है। किन्तु वे भी अपनी कल्पना के द्वारा इन मूल रूपों का मानसिक साक्षात्कार प्राप्त

कर सकते हैं। समतल के प्रवाह में भी कान्ति की अद्‌भुत आभा, गति का प्रबल वेग, सृजन की व्यापक विभूति और संगीत का मनोहर माधुर्य है। मन्द होते हुए भी प्रवाह का वेग अविच्छिन्न है और उसका विस्तार अधिक है। प्रवाह की यह अविच्छिन्न परम्परा कविता की वास्तविक गति है। महाभारत, वाल्मीकि रामायण आदि के समान विरले ही काव्यों में प्रवाह की यह परम्परा मिलती है। अधिकांश काव्य भावों के सुन्दर सरोवर हैं जो युग की मान्यता के काल में तो स्वच्छ बने रहते हैं। किन्तु बाद में उपेक्षित होकर सिवार और काई से ढंक जाते हैं। रामचरितमानस के समान विरले ही सरोवर भाव की उस ऊर्ध्व भूमि पर स्थित हैं जहां ये विकार से कलंकित नहीं हो सकते। रवीन्द्रनाथ, जयशंकरप्रसाद, निराला और कुछ आधुनिक कवियों के गीतों में भावना के स्वल्प किन्तु स्वच्छ उत्स हैं जो अधिक दूर तक नहीं जाते फिर भी उनके प्रवाह में कान्ति, गति और संगीत है। कुछ सामयिक प्रबन्ध वर्षा काल की नदियों की भांति अपने आविल प्रवाह में गम्भीरता की भ्रांति उत्पन्न करके लोक की पूजा के पात्र बन जाते हैं। किन्तु शरद् के निर्मल वातावरण में वे दीन हो जाते हैं। जिन स्थायी काव्यों में विकार का कुछ अंश है वे उन अन्य नदियों के समान हैं, जिनका प्रवाह तो निरन्तर है किन्तु उनका उद्‌गम निम्न लोक के पर्वतों की सुगम और सुविदित कन्दराओं में है। कविता का उत्तम रूप तो भागीरथी का पवित्र और अविकारी प्रवाह ही है जो साधना के ऊर्ध्व लोकों से निःसृत होकर सामान्य जीवन की समतल भूमि को श्रेय और सौन्दर्य से निरन्तर संचित करता रहता है और जिसका दीर्घ पथ मनुष्य के सांस्कृतिक तीर्थों का आश्रय है।

भागीरथी का उज्जवल और अमृत प्रवाह ही कविता का उत्तम रूप है। लोकचेतना के गंगासागर में विलीन होकर भी इस प्रवाह की गति विच्छिन्न नहीं होती। जीवन की ऊष्मा से आन्दोलित होकर उसका रस-तत्व करुणामयी मेघमालाओं के रूप में अनन्त के मार्ग से साधना के उसी हिमालय की ओर चल पड़ता है जो कविता की भागीरथी का मूल उद्‌गम बनता है। इस प्रकार अविछिन्न रहकर कविता की भागीरथी का प्रवाह अपनी एकता में अनेकता का समाहार करके मानवीय जीवन के लिए सृजन और सौन्दर्य की मंगलमयी परम्परा की चिरन्तन प्रेरणा बन जाता है।

उद्‌गम की कान्ति, गति और संगीत के अतिरिक्त भागीरथी के प्रवाह की दिशा भी कविता के स्वरूप का मर्म उद्‌घाटित करती है। पौराणिक परम्परा के अनुसार गंगा 'त्रिपथगा' कहलाती है। तीनों लोकों में उसके प्रवाह की गति है। स्वर्ग की गंगा का नाम 'मन्दाकिनी' है। भूलोक की गंगा 'भागीरथी' है उसी प्रकार पाताल के अधोलोक में भी गंगा का प्रवाह है। ये तीनों लोक जीवन के ऊर्ध्व, मध्यम और अधम लोकों के प्रतीक हैं। तीनों ही लोक गंगा के दिव्य प्रवाह के अधिकारी हैं। यद्यपि पुराणों का स्वर्ग अनन्त विलास और अनन्त वैभव की कामना का मूर्त्त रूप है किन्तु देवों में सत्व की प्रधानता की दृष्टि से हम उसे अध्यात्म के ऊर्ध्वलोक का प्रतीक मान सकते हैं। पाताल का अधोलोक विकृतियों और अनीतियों का तामस देश है। भूलोक सत्व और तम से संतुलित राग का लोक है। यही मनुष्य का मुख्य निवास है। सत्व के हिमालय से निःसृत होकर कविता की भागीरथी इसी में प्रवाहित होती है। अध्यात्म के ऊर्ध्व लोक में भी कविता के भागीरथी का प्रवाह हुआ है। अधोलोक भी इसके प्रसाद से वंचित नहीं है। किन्तु मध्यलोक की धारा ही मनुष्यों के कल्याण का मुख्य मार्ग है। भूलोक की भागीरथी का उद्‌गम शिव के साधनामय पीठ हिमालय से है। इससे इसकी मंगलामूलकता स्पष्ट है। इसकी दिशा पूर्व की ओर है।

ज्ञान के सूर्योदय के कारण पूर्व का महत्व अपूर्व है। सूर्य जीवन और ज्योति का स्रोत है। योग में वह आत्मा का भी प्रतीक है। आत्मा का स्वरूप प्रकाश और शक्ति है। उस सूर्य की दीप्त रश्मियों से विगलित होकर ही सत्व का हिमालय भागीरथी के स्रोत में प्रवाहित होता है। उसके प्रवाह की दिशा भी पूर्व की ओर है जो सूर्य के उदय की दिशा है। निरन्तर प्रवाह का श्रेय और सौन्दर्य तो कविता की भागीरथी का लक्षण है ही, किन्तु इसके साथ-साथ ज्योति और जीवन के सूर्योदय की दिशा की निरन्तर व्यंजना करना भी उसकी स्वाभाविक गति है। वस्तुतः इसी व्यंजना के द्वारा कविता की भागीरथी जीवन की उज्ज्वल और रसमयी सृजन परम्परा की चिरन्तन प्रेरणा बन सकती है। भागीरथी की अपार महिमा के कारण गांव-गांव की बरसाती धारा को भी 'गंगा' का नाम मिला। इस प्रकार कविता की प्रवाहिनी की अपार महिमा का साम्य पाकर अनेक रचनायें 'काव्य' पद की भागिनी बनी। किन्तु उसका स्वरूप कविता की भागीरथी से कितना भिन्न है यह दोनों में अवगाहन करने वाले विवेकीजन ही जान सकते हैं। जहां तक जल के प्रवाह का सम्बन्ध है वहां तक ये बरसाती धारायें भी 'पयस्विनी' की परिभाषा के अन्तर्गत ही हैं। उसी प्रकार जहां तक रस के प्रवाह का सम्बन्ध है कविता के नाम से प्रसिद्ध सभी रचनाओं में वह किसी न किसी परिमाण में मिलता है। प्रश्न यह है कि काव्य का सामान्य स्वरूप क्या है और किस आधार पर काव्य के उस सामान्य में विशेष विभेद किये जा सकते हैं? इस विभेद का क्या अधिकार और महत्व है? काव्य की सामान्य परिभाषायें बहुत व्यापक हो जाती है। अतः अनेक रचनायें इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। किन्तु दूसरी ओर काव्य की किसी भी परिभाषा का पूर्णतः निर्वाह दुर्लभ है। पूर्णता बड़ी कठिन कोटि है। अतः वह अत्यन्त दुर्लभ भी है। विरली ही कृतियों में परिभाषा की पूर्णता का आभास मिलेगा। परिभाषाओं के भेद के अतिरिक्त उनके निर्वाह की अनेक कोटियां हैं। इस प्रकार कविता के सामान्य में अनन्त विशेषों का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि अनेक प्रकार से भिन्न प्रतीत होने वाली अनेक कृतियां कविता के अन्तर्गत सम्मिलित होती रही हैं।



शिक्षा का अध्यात्म[1]

सामान्य रूप से शिक्षा बालक के व्यक्तित्व एवं ज्ञान तथा उसकी कुशलता का विकास है। शिक्षा के साथ अध्यात्म के सम्बन्ध की कल्पना से यह आशंका हो सकती है कि शिक्षा के सामान्य रूप को अनावश्यक रूप से गम्भीर और दार्शनिक बनाया जा रहा है। शिक्षा का दर्शन भी मिलता है, जिसमें जीवन के मूल्यों के साथ शिक्षा के सम्बन्ध का विवेचन किया जाता है। ज्ञान और नैतिकता उन मूल्यों में सम्मिलित हैं। विद्या और चरित्र के विकास का शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा के साथ दर्शन की संगति का यही सूत्र है। अध्यात्म का दर्शन से सम्बन्ध है। इस प्रकार अध्यात्म के साथ शिक्षा का सम्बन्ध भी संगत बन जाता है।

किन्तु हमारा प्रयोजन अध्यात्म के साथ शिक्षा के दार्शनिक अथवा सामान्य सम्बन्ध से नहीं है, वरन् अध्यात्म के साथ शिक्षा के विशेष सम्बन्ध से है। विशेष सम्बन्ध से हमारा अभिप्राय यह है कि किस प्रकार अध्यात्म के स्रोत से शिक्षा की साधना सफल होती है अर्थात् किस प्रकार अध्यात्म का प्रभाव ज्ञान को समृद्ध और चरित्र को उन्नत —बनाता है। अध्यात्म के साथ शिक्षा का यह विशेष सम्बन्ध अध्यात्म को नहीं वरन् शिक्षा को ही लक्ष्य मानता है। अध्यात्म शिक्षा का साध्य नहीं है, जैसा कि अध्यात्मवादी शिक्षा-दर्शन मान सकते हैं, वरन् अध्यात्म शिक्षा को समृद्ध बनाने वाला साधन है।

अध्यात्म के साथ शिक्षा के सम्बन्ध को समझने के लिए अध्यात्म का अर्थ स्पष्ट करना होगा। अध्यात्म का सम्बन्ध आत्मा से है। भारतीय दर्शनों में, विशेषकर वेदान्त, में आत्मा को जीवन और जगत का परम तत्व माना गया है। आत्मा को ब्रह्म भी कहते हैं। ब्रह्म का अर्थ 'वर्धनशील' है। ब्रह्म जगत् का कारण है। किन्तु वेदांत के ब्रह्म-कारणवाद से हमारा विशेष प्रयोजन नहीं है। सृष्टि के तत्व दुरूह हैं। उनके सम्बन्ध में कोई भी निर्णय करना कठिन है। यदि चिन्मय ब्रह्म को सृष्टि का कारण मान लिया जाये तो भी शिक्षा का आध्यात्मिक आधार स्वीकार करना होगा। कार्य में कारण का भाव अनुगत रहता है और ब्रह्म के भाव का योग-विद्या के विकास को प्रेरित करता है।

जगत् का कारण मानने के साथ-साथ वेदान्त में ब्रह्म को मनुष्य की अन्तरात्मा भी माना गया है। अन्य दर्शनों के अनुसार यह आत्मा ज्ञान का अधिष्ठान है। यही आत्मा चेतना का स्रोत है। आत्मा की प्रतिभा से ही विद्या का विकास होता है। यह अध्यात्म के साथ शिक्षा के सम्बन्ध का रहस्यमय सूत्र है। आत्मा के स्वरूप का अधिक विवरण करने पर अध्यात्म के साथ विद्या का सम्बन्ध समझ में आ सकता है। आत्मा मनुष्य की सत्ता का अन्तर्तम मर्म है। दर्शनों में उसे इन्द्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि से परे माना गया है। यह अहंकारतीत आत्मा ही विद्या का प्रकाश और उसकी प्रेरणा है। यह आत्मा सच्चिदानन्द है। परम सत् होने के साथ-साथ यह चिन्मन्य तथा आनन्दमय है। मन, बुद्धि और इन्द्रियां आत्मा की शक्ति से ही

---

१. "शिक्षा और संस्कृति" : प्रकाशित, १९७०

प्रेरित होती हैं। आत्मा के निर्विषय चैतन्य की स्फूर्ति से ही वे विषयों के अधिगम में समर्थ होती हैं। यह आत्मा समस्त ज्ञान का आधार है, अतः विषय रूप में इनका ज्ञान कठिन है। वाणी के द्वारा उसका वर्णन भी कठिन है। इसलिये उसे मन, वाणी और इन्द्रियों से परे माना है। इन्द्रियों के धर्मों, मन के विकारों और अहंकार के अवच्छेदों के अतिक्रमण के द्वारा हमें इस आत्मा के स्वरूप का कुछ आभास हो सकता है। अहंकार के अतिक्रमण में आत्मा का आभास सबसे अधिक सरल और स्पष्ट होता है। अहंकार की सीमा को पार करके उसके कठोर अवच्छेदों के विगलित होने पर सम्भावन से युक्त अद्वैत भाव में हमें आत्मा का आभास मिल सकता है। इस आभास के तेज और आलोक से आत्मा की महिमा का संकेत मिल सकता है। वस्तुतः यह आत्मा विद्या का ही नहीं, मनुष्य जीवन और उसकी समस्त सुन्दर सम्भावनाओं का आधार है।

आत्मा के साथ शिक्षा के सम्बन्ध को हमें अनेक संदर्भों में समझना होगा। विज्ञानों और शास्त्रों के विषय की अहंकारातीतता, गुरु और शिष्य दोनों के आत्म-भाव के द्वारा विद्या की समृद्धि, गुरुओं के प्रति शिष्यों की श्रद्धा, गुरुओं का अनुग्रह-भाव, विनय से प्रतिभा का प्रकाश, बुद्धि की सात्विकता, विद्या का शक्ति-भाव तथा सरस्वती के रूप में विद्या की आराधना इन संदर्भों में मुख्य है।

'विद्या' ज्ञान की साधना है। विद्या का मुख्य प्रयोजन ज्ञान का उपार्जन है। ज्ञान चेतना का विकास है। इस प्रकार विद्या चेतना का ही संवर्धन है। चेतना आत्मा का गुण अथवा स्वरूप है। दर्शनों में आत्मा को अनन्त अथवा विभु मानते हैं। आत्मा की अनन्तता तत्वदर्शन की मान्यता अथवा आवश्यकता हो सकती है। किन्तु सामान्यतः मनुष्य के लिए अनन्तता की कल्पना करना कठिन है। अतः मनुष्य की दृष्टि से चेतना अथवा ज्ञान के विकास की बात कर सकते हैं। उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया को निरन्तर मानकर इस बात को अनन्त भी कहा जा सकता है। दार्शनिक दृष्टि से चाहे आत्मा एक अनन्त तत्व हो, किन्तु मनुष्य की दृष्टि से विद्या को चेतना के विकास की अनन्त प्रक्रिया मानना ही उचित है। यह विद्या मनुष्य की एक दिव्य विभूति है। उपनिषदों और धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि श्रद्धा के द्वारा ही विद्या प्राप्त होती है। प्रेम, आदर और आस्था के समन्वित भाव को श्रद्धा कहते हैं। विनय श्रद्धा का ही दूसरा पक्ष है। वह अहंकार तथा अभिमान के विपरीत है। विद्या चेतना का विस्तार है। श्रद्धा और विनय से इस विस्तार के अनुकूल भाव उत्पन्न होता है। इसके विपरीत अहंकार से चेतना का संकोच होता है। यह विद्या के विकास और चेतना के प्रतिकूल है। विद्या के प्रति श्रद्धा के द्वारा ही हम विद्या प्राप्त कर सकते हैं। अहंकार के विपरीत होने के कारण यह श्रद्धा एक प्रकार का आध्यात्मिक भाव ही है। भारतीय परम्परा में विद्या को देवता के समान पवित्र एवं पूज्य मानकर तथा उसे सरस्वती देवी का रूप देकर इस श्रद्धा के आध्यात्मिक भाव को धार्मिक रूप दे दिया गया है। धार्मिक रूप में श्रद्धा का यह आध्यात्मिक भाव अधिक सरल, सुगम और सुदृढ़ बन गया है। दोनों ही रूपों में यह श्रद्धा विद्या का आध्यात्मिक आधार है।

सरस्वती देवी के रूप में विद्या की प्रतिष्ठा विद्या के प्रति हमारी श्रद्धा को धार्मिक बना देती है। धर्म और अध्यात्म में अधिक अन्तर नहीं है। अध्यात्म का आत्मिक भाव धर्म में हार्दिक बन जाता है। हृदय की भावना उसे अधिक सरस और अधिक आस्थापूर्ण बनाती है। अर्चना और उपासना के आधार श्रद्धा एवं आस्था को व्यवहार में भर देते हैं। देवत्व के प्रतीक धार्मिक भावों को साकार रूप देकर

आराधना को सुगम बनाते हैं। सरस्वती के भव्य रूप में कला-समेत विद्या की प्रतिष्ठा की गई है। किन्तु अन्ततः आराधना आध्यात्मिक ही रहती है। अहंकार का अतिक्रमण करके ही देवताओं में श्रद्धा सम्भव होती है। सरस्वती देवी के प्रति धार्मिक एवं सांस्कृतिक भाव से श्रद्धा रखने के लिए तथा सरस्वती की आराधना के द्वारा विद्या के वर्धन के लिए अहंकार का अतिक्रमण करके अध्यात्म की भूमि का स्पर्श करना आवश्यक हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टि से भी बुद्धि को अहंकार से परे माना जाता है। अहंकार एक व्यक्तिगत इकाई है इस इकाई में व्यक्तित्व का संकोच होता है। बुद्धि एक सामान्य, विभु और व्यापक तत्व है। वह सबके लिए समान है। व्यक्तिगत अहंकारों के विषय अलग-अलग होते हैं और उसमें अपनी विशेषतायें होती हैं। किन्तु बुद्धि के विषय सामान्य और एक समान होते हैं। अनेक व्यक्ति उन्हें समान भाव से स्वीकार करते हैं। बुद्धि के इसी लक्षण के द्वारा ज्ञान का आदान-प्रदान एवं शिक्षण सम्भव होता है। बुद्धि में कुछ भेद अवश्य रहता है। इसीलिए वह आत्मा का पर्याय तो नहीं है, फिर भी अहंकार से अतीत होने के कारण वह आत्मा के सबसे निकट है। सांख्य के सर्ग-क्रम का प्रथम चरण बुद्धि ही है और यह अहंकार से पूर्वतर है। समाधि के लय-क्रम में वह अहंकार से परे है। समाधि का विषय-क्रम अहंकार पर समाप्त हो जाता है। बुद्धि सविकल्प समाधि का विषय नहीं है। अहंकार के बाद मानों समाधि का उद्योग समाप्त हो जाता है तथा निर्विकल्प समाधि की गति सहज हो जाती है। इस प्रकार बुद्धि आत्मा के अत्यन्त निकट है। आत्मा को समस्त विषयों का विज्ञाता मानते हैं। किन्तु आत्मा को विषय नहीं बनाया जा सकता। यह आत्मा के साथ बुद्धि की समानता है। वस्तुतः आत्मा विषय ज्ञान का—अधिष्ठान नहीं, आधार है। बुद्धि रूप में ही आत्मा अथवा आत्मा के आधार से बुद्धि विषय-ज्ञान अधिष्ठान बनाती है। अस्तु, अहंकारातीतता, व्यापकता, विषयत्वाभाव आदि अनेक रूपों में आत्मा के साथ बुद्धि की समानता एवं निकटता है। बुद्धि ही विद्या का आधार भी है। शिक्षा का अभिप्राय बुद्धि का विकास है। बुद्धि अहंकारातीत है। अतः विद्या ही श्रेष्ठ साधना के लिए अहंकार का अतिक्रमण आवश्यक है। अहंकार का अतिक्रमण करने पर हमारी गति आत्माभिमुख हो जाती है। इस दृष्टि से विद्या की बौद्धिक साधना भी मूलतः आध्यात्मिक ही है। प्रकृति के गुणों की दृष्टि से बुद्धि में सत्वगुण की प्रचुरता होती है। साधना की दृष्टि से सत्वगुण अध्यात्म का उपकारक है। गीता के अनुसार सत्वगुण से दैवी सम्पदा प्राप्त होती है, जिससे अध्यात्म का पथ प्रशस्त होता है। सत्वगुण प्रकाशक और ज्ञान-वर्धक है। सत्वगुण उदार है। अहंकार के मन्द होने पर ही सत्वगुण का विकास होता है। बुद्धि की अहंकारातीतता और सात्विकता के द्वारा ज्ञान की बौद्धिक साधना भी अध्यात्म के अनुकूल बन जाती है।

विद्या ज्ञान का उपार्जन है। इस ज्ञान के अनेक विषय होते हैं। किन्तु विद्या के इन विषयों में हमारा अपना कोई स्थान नहीं होता। हम अपने अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार विषय की दृष्टि से भी विद्या अहंकारातीत है। इसीलिए विद्या के उपार्जन के लिए विनय अपेक्षित है। विनय ही श्रेष्ठ विद्या का मार्ग खोलता है। अहंकार विद्या के द्वार का अवरोध करता है। किन्तु प्रकृति के अनुरोध से वह अपना मार्ग खोजता है। विषय के रूप में स्थान न मिलने पर वह ज्ञान-सम्पत्ति के स्वामी के रूप में अपना अधिकार प्रकट करता है। इसीलिए प्रायः साहित्यकारों और विद्वानों में अहंकार बढ़ जाता है। किन्तु यह अहंकार विद्या के विकास और साहित्य की साधना में बाधक होता है ज्ञान

के विषय और अधिकरण दोनों ही रूपों में अहंकार का विसर्जन विद्या का अत्यन्त उपकारक है। अपने अतिरिक्त अन्य विषयों का अध्ययन होने के कारण विद्या हमें अहंकार के विसर्जन एवं उदार आत्मिक भाव के अनुशीलन का आमन्त्रण देती है। आत्मा अहंकार और विषयों से अतीत है, किन्तु वही विषयों को प्रकाशित करती है। विषयों के ज्ञान के रूप में विद्या के उपार्जन के लिए निरहंकार और उदार दृष्टिकोण आत्म-भाव के अनुरूप होने के कारण उत्तम विद्या का मार्ग प्रशस्त करता है।

विद्या ज्ञान का उपार्जन है इसके लिए गुरु के अनुग्रह की अपेक्षा होती है। ज्ञान वृद्धि गुरु के सहयोग से ही होती है। गुरु के सहयोग से ही बालक विद्या के मार्ग में आगे बढ़ता है। गुरु का यह सहयोग श्रद्धा और सेवा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा और सेवा का मूल स्रोत विनय ही है। अहंकार के विपरीत होने के कारण विनय का आधार भी अध्यात्म ही है। विनय के भाव में अहंकार की सीमायें विलीन हो जाती हैं और आत्मा का उदार भाव प्रकाशित होता है। आत्मा के इसी प्रकाश में विद्या का विकास होता है। श्रद्धा अपने श्रेष्ठ जनों के प्रति आदर, प्रेम और निष्ठा का मिश्रित भाव है। श्रद्धा से प्रेरित व्यवहार ही सेवा बन जाता है। विनय पर आश्रित श्रद्धा का भाव गुरु के ज्ञान-कोष के द्वार खोलता है। श्रद्धा से प्रसन्न होकर ही गुरू शिष्य को विद्यादान की ओर अभिमुख होता है। गीता, उपनिषद आदि शास्त्रों में इसी आधार पर यह कहा गया है कि 'श्रद्धवान् लभते ज्ञानम्'। शिष्य की श्रद्धा भीतर से गुरु के अनुग्रह को प्रेरित करती है। सेवा का व्यवहार बाहर से उस अनुग्रह की गति को तीव्र बनाता है। विद्या गुरु की ओर से शिष्य के प्रति आत्मदान है। अतः वह अध्यात्म की भूमि पर ही सम्पन्न होता है। विद्या का व्यवसाय नहीं हो सकता। व्यवसाय से शासित विद्या अधिक श्रेष्ठ नहीं हो सकती। वह अत्यन्त साधारण कोटि की और व्यवहारिक ही होगी। शास्त्रों, कलाओं तथा दर्शनों आदि की उत्तम विद्या धन से नहीं प्राप्त हो सकती। इसीलिए कोई धनी केवल धन के बल से न विद्यावान बन सका और न बन सकेगा। विनय और श्रद्धापूर्वक अपनी आत्मा तथा गुरु की आत्मा के द्वार खोलने पर तथा दोनों की आत्माओं का सम्मिलन होने पर विद्या का ज्योतिःस्रोत प्रवाहित होता है। उपनिषदों में वेदों को ब्रह्म का 'निःश्वास' कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि विद्या आत्मा को ही संजीवन शक्ति प्रदान करने वाली है।

किन्तु गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धा, विनय और सेवा का एक दूसरा पक्ष भी है, जिसके संबंध में गुरुओं को सतर्क रहना आवश्यक है। जिस प्रकार शिष्य का अहंकार उसके विद्योपार्जन में बाधक होता है, उसी प्रकार गुरु का अहंकार गुरु की विद्या के विकास और गुरु के विद्यादान में बाधक होता है सभी रूपों में अहंकार विद्या का प्रतिबन्धक है और आत्मा ही विद्या की अनन्य अनुग्राहक है। शिष्य की श्रद्धा का उद्देश्य शिष्य के अहंकार का विगलन करना ही नहीं, वरन् गुरु के अहंकार का संवरण कर गुरु के अध्यात्म को भी दीप्त करना है। विद्या की इस आध्यात्मिक भूमिका में वस्तुतः गुरु शिष्य का भेद भी विलीन हो जाता है। विद्या की ब्रह्ममयी सरस्वती से दोनों ही विद्या प्राप्त करते हैं। अध्यापन के क्रम में गुरु को भी नये-नये तत्वों का ज्ञान होता है। अध्यापन को अपनी ओर से अनुग्रह न मानकर इसी रूप में अपना अनुग्राहक मानने पर ही गुरु का अहंकार संवृत रह सकता है तथा उसका आत्म-भाव सजग रह सकता है। विद्या को अपनी सम्पत्ति मानने पर गुरु का अहंकार विद्या के विकास और प्रदान दोनों का बाधक बन जाता है। अतः शिष्य के साथ-साथ गुरु को भी विनय-शील रहना आवश्यक है। दोनों में से कोई भी अहंकार से पीड़ित होता है तो द्वेष की सम्भावना पैदा हो सकती है, जिससे बचने के लिए

बृहदारण्यक उपनिषद् के शान्ति पाठ में 'मा विद्विषावहै' के द्वारा प्रार्थना की गई है। अहंकार और द्वेष से रहित होने पर गुरु शिष्य दोनों दीप्त अर्थात् तेजस्वी होते हैं। विद्या का यह तेज आत्मा का ही वर्चस्व है।

सरस्वती के रूप में विद्या की आराधना का यही रहस्य है। विद्या की देवी के रूप में प्रतिष्ठित सरस्वती की उपासना गुरु शिष्य दोनों को नम्र बनाती है। विनय और श्रद्धा आराधना के मूल भाव हैं। के प्रति श्रद्धा के द्वारा शिष्य के लिए विनय तथा विनय के द्वारा गुरु के लिए अध्यात्म का उद्घाटन संभव हो सकता है। किन्तु सरस्वती के प्रति श्रद्धा के द्वारा दोनों का विनय और आत्म-भाव सुरक्षित हो सकता है। सरस्वती के देवता-रूप का यही रहस्य है।

उत्तम विद्या का विकास नये-नये तत्वों के उद्घाटन से होता है। इसी को 'प्रतिभा' कहते हैं। 'प्रतिभा' वस्तुतः आत्मा के आलोक का ही विभासन है। वह विनय के द्वारा ही विकसित होती है। अहंकार का दर्प प्रतिभा के द्वार का अवरोध कर देता है। इसीलिए अल्पज्ञानी प्रायः अहंकारी हो जाते हैं और उनकी विद्या एवं प्रतिभा का विकास नहीं होता। महान् विद्वान प्रायः विनय-शील होते हैं। वे विद्या की अनन्त सम्भावनाओं और अपने ज्ञान की अल्पता को जानते हैं। यही ज्ञान उन्हें विनय देता है। विनय से उनकी प्रतिभा के क्षितिज विद्या के अनन्त लोक में उद्घाटित होते हैं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक अपने को समुद्र तट पर शंख-सीप बटोरते हुए शिशुओं के समान समझते हैं। अनेक श्रद्धावान विद्वान तथा कवि अपनी विद्या को किसी अलौकिक शक्ति का वरदान मानते हैं। ये सब अध्यात्म की अभिव्यक्ति के ही रूप हैं। इसी अध्यात्म के द्वारा उत्तम विद्या और श्रेष्ठ प्रतिभा का विकास सम्भव होता है। शिक्षा का यह अध्यात्म आज के व्यवसायी युग में भी उतना ही सत्य है, जितना प्राचीन-काल में था। यह कहा जा सकता है कि आज इस अध्यात्म को समझने की अधिक आवश्यकता है, क्योंकि आज स्वार्थ और अहंकार की बाधायें विद्या के विकास का अधिक अवरोध कर रही हैं।

ऐसी स्थिति में शिक्षा के सन्दर्भ में अध्यात्म के दार्शनिक सूत्र को ग्रहण करना आवश्यक है। शिक्षा को विद्या का पर्याय मानने पर भी उसमें आत्मा के अनुग्रह का महत्व समझना होगा। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की सर्वांगीण सफलता के अर्थ में शिक्षा को समझने पर अध्यात्म शिक्षा का और भी अधिक उपकारक बन जाता है। विद्या के उपार्जन के अर्थ में शिक्षा मुख्यतः एक बौद्धिक साधना है। दार्शनिक क्रम में बुद्धि की स्थिति अहंकार से ऊपर है। अहंकार व्यक्ति की सत्ता का केन्द्र और अधिष्ठान अवश्य है, किन्तु उसके कठोर और सीमित होने पर शिक्षा, संस्कृति, कला, साहित्य, धर्म, अध्यात्म आदि उन लक्ष्यों की साधना कठिन हो जाती है, जिनका क्षेत्र अहंकार से ऊपर है तथा जो अहंकार से शासित नहीं है। सीमित रूप में व्यक्ति का अहंकार न इन लक्ष्यों का अधिष्ठान है और न इसका विषय है। अहंकारों की सीमायें कुछ शिथिल और विस्तृत होने पर तथा उनके बीच एक उदार साम्य विकसित होने पर ही उक्त लक्ष्यों की साधना सम्भव होती है।

यद्यपि शिक्षा का सम्पूर्ण अर्थ बौद्धिक ज्ञान उपार्जन नहीं है, फिर भी उसमें बुद्धि की ही प्रधानता रहती है। ज्ञान स्वतन्त्र और निष्पक्ष है। वह अहंकार से शासित नहीं होता। बुद्धि की स्थिति अहंकार से ऊपर है तथा उसका स्वरूप निर्वैयक्तिक है। अतः अहंकार का अतिक्रमण करके ही बौद्धिक ज्ञान की समुचित साधना सम्भव हो सकती है। जीवन के प्राकृतिक अनुरोध, जीविका की अपेक्षायें तथा राजनीति और शासन की सामाजिक व्यवस्थायें अहंकार को सीमित, रूढ़ एवं कठिन बनाती हैं। इनमें पैदा होने वाले

संघर्ष अहंकार के अनुरोध को दृढ़ करते हैं। किन्तु शिक्षा की साधना के लिए इस अनुरोध का अतिक्रमण करना आवश्यक है। शिक्षा, विद्या, साहित्य, विज्ञान, कला आदि के क्षेत्र में जिन महान् पुरुषों ने कुछ श्रेष्ठ उपलब्धियां की हैं, उनको यह सफलता अहंकार का अतिक्रमण करके ही मिली है।

शिक्षा की व्यवस्था और साधना सामाजिक परिवेश में ही होती है। अत: श्रेष्ठ शिक्षा के अनुकूल परिवेश के निर्माण के लिए समाज की व्यवस्था में स्वार्थ और अहंकार का समुचित समाधान करना होगा। जीविका और व्यवसाय की समस्यायें समाज में स्वार्थ को बढ़ाती हैं। स्वार्थों के संघर्ष से अहंकार बढ़ता है। राजनीति और प्रशासन में यह अहंकार सत्ता का उन्माद बन जाता है। इन सभी रूपों में प्रकट होने वाले अहंकार को सीमित करना होगा। तभी परिवार में बालक को ऐसा पालन और ऐसे संस्कार मिल सकेंगे, जो उसके व्यक्तिगत अहंकार को नम्र बनाये रखने में सहायक हों तथा श्रद्धा एवं उदारता के दृष्टिकोण से श्रेष्ठ शिक्षा के उपार्जन को प्रेरित कर सकें। सामाजिक व्यवस्था और पारिवारिक पालन-पोषण की प्रेरणा से ही बालक का अहंकार आरम्भ से ही नम्र बन सकता है। अहंकार का अतिक्रमण करने के लिए भारतीय अध्यात्म में जो व्यक्तिगत साधनायें बताई गई हैं, वे उपयोगी अवश्य हैं, किन्तु अनुकूल सामाजिक व्यवस्था के सहयोग के बिना उनका सफल होना कठिन है।

शिक्षा की यह सामाजिक भूमिका सभी समाजों में महत्वपूर्ण होती है। किन्तु भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति में वह अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गई है। अधिकांश पश्चिमी देशों ने शताब्दियों में अनेक उपायों के द्वारा अपने समाज में नैतिक आदर्शों का अनुष्ठान किया है। इस अनुष्ठान से ही उन देशों में शिक्षा की उन्नति और सफल लोकतन्त्र का विकास हुआ है। उन समाजों की व्यवस्था में नैतिक और राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति सामूहिक श्रद्धा के द्वारा स्वार्थों का अपेक्षित परिसीमन तथा अहंकारों का वांछित विनमन हुआ है। किन्तु भारतीय समाज में ऐसा सम्भव नहीं हो सका। प्राचीन भारतीय समाज के निर्माताओं ने अनेक उत्तम आदर्शों तथा नैतिक नियमों को समाज में प्रतिष्ठित किया। प्राचीन काल में अनेक लोग इन आदर्शों और नियमों का पालन करते रहे। प्राचीन परम्पराओं का प्रभाव अभी तक बना हुआ है, किन्तु वह निरन्तर शिथिल होता जा रहा है। भारत के राजनैतिक दुर्भाग्य ने आदर्शों की रक्षा को कठिन बना दिया। पराधीन जाति के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ दुर्लभ हो जाते हैं। अत: वे अधिक महत्वपूर्ण बन जाते हैं। पराधीनता के अभावों की स्वाधीनता के बाद ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि स्वतन्त्र भारत के व्यवसाय, शासन और राजनीति सभी प्रबल स्वार्थ एवं घोर अहंकार से आक्रान्त हो गये। स्वार्थ और अहंकार की ऐसी आंधी स्वतन्त्र भारत के वातावरण में उठी कि नैतिक आदर्शों के, जो कुछ कल्पवृक्ष बचे थे, वे भी उन्मूलित हो गए। व्यवसाय के घोर स्वार्थ तथा शासन और राजनीति में छाए हुए सत्ता के दर्प ने सामाजिक वातावरण को ऐसा अभिभूत कर लिया है कि विद्यार्थियों के लिए ही नहीं विद्वानों के लिए भी स्वार्थ और अहंकार का अतिक्रमण करके श्रेष्ठ विद्या की साधना करना कठिन हो गया है। जब तक ऐसी स्थिति रहेगी तब तक शिक्षा और देश की उन्नति सम्भव न हो सकेगी। समाज के नेता और अधिकारी जब तक अपने स्वार्थ, अहंकार और दर्प को त्याग कर नैतिक और राष्ट्रीय आदर्शों की वन्दना नहीं करेंगे, तब तक भारतीय समाज प्रगति के मार्ग पर आगे न बढ़ सकेगा। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति के द्वार स्वार्थ और अहंकार के नमन से ही खुलते हैं तथा उनकी पगडंडियां एवं उनके राजपथ अहंकार से अतीत बुद्धि और आत्मा के लोक में ही फैलते हैं।

शिक्षा के संदर्भ में अध्यात्म की साधना का समस्त भार केवल विद्यार्थियों तथा अध्यापकों पर ही नहीं लादा जा सकता। विद्यार्थियों के माता-पिता, सामान्य समाज, शासन के अधिकारियों तथा राजनीति के नेताओं को भी इसका भार वहन करना होगा। स्वार्थ और अहंकार से छाए हुए वातावरण में विद्यार्थियों, अध्यापकों और विद्वानों के लिए अहंकार से ऊपर उठकर विद्या की साधना करना कठिन है। वे अपने दैनिक जीवन में व्यवसायियों के स्वार्थ, अधिकारियों के दर्प और नेताओं के अहंकार से पीड़ित रहते हैं। सारा वातावरण उनके अहंकार को कुण्ठित और उत्तेजित कर उनकी साधना को चुनौती देता है। माता-पिता, सामान्य समाज तथा अधिकारियों एवं नेताओं की दृष्टि में विद्या का और अध्यापकों एवं विद्वानों का कोई आदर नहीं है। जब तक ये सभी लोग अपने स्वार्थ और अहंकार को कम करके विद्या का तथा अध्यापकों एवं विद्वानों का आदर नहीं करेंगे, तब तक विद्यार्थियों, अध्यापकों और विद्वानों के लिए अहकार से ऊपर उठकर श्रेष्ठ विद्या की साधना करना सम्भव न हो सकेगा।

शिक्षा के अध्यात्म का यह सामाजिक पक्ष ध्यान देने योग्य है। अध्यात्म व्यक्ति की एकान्त साधना नहीं है। आत्मा अहंकार के समान इकाई नहीं है। वह पारस्परिक अद्वैत का भाव है, जो विद्या, योग-साधना, भक्ति आदि किसी भी क्षेत्र में अनुकूल सामाजिक वातावरण की प्रेरणा के बिना अकेले के अध्यवसाय का लक्ष्य नहीं बन सकता। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सहयोग से ही सभी क्षेत्रों में अध्यात्म सफल होता है तथा उन्नति के मार्ग प्रशस्त होते हैं।



संस्कृति की रागिनी[1]

आधुनिक सांस्कृतिक धारणा में प्रायः ग्रामीण और वन्य लोगों की संस्कृति को लोक-संस्कृति माना जाता है। ज्यों-ज्यों नागरिक सभ्यता बढ़ती गई है त्यों-त्यों यह लोक-संस्कृति पीछे छूटती गई है, अथवा नागरिक लोग उससे दूर होते गए हैं। इस प्रकार यह लोक-संस्कृति एक अ-नागरिक संस्कृति है। नागरिक समाज के जीवन में इस लोक-संस्कृति का उतना स्थान और महत्व नहीं है जितना कि उन ग्रामीण लोगों तथा वन्य जातियों के जीवन में है जो इस संस्कृति को अपनी सत्ता का अभिन्न अंग मानते हैं।

पश्चिमी देशों में लोक संस्कृति और नागरिक सभ्यता का यह भेद अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। कदाचित् पश्चिम में ऐसी लोक-संस्कृति अधिक समृद्ध नहीं थी जो समाज के सामान्य जीवन में ओत-प्रोत हो तथा इस कारण जो नागरिक सभ्यता के विकास के बाद नागरिक जीवन में भी सुरक्षित और समादृत बनी रही। किन्तु भारतीय लोक-संस्कृति इतनी समृद्ध और सार्थक रही है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ नागरिक जीवन से उसका विच्छेद नहीं हुआ। वह ग्रामीण और वन्य जीवन में ही सीमित नहीं रह गई है। समाज के सामान्य जीवन से उसका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि नागरिक जीवन में भी उसका महत्व अक्षुण्ण बना हुआ है। यह भारतीय लोक संस्कृति की एक अद्भुत विशेषता है जिसकी ओर संस्कृति के व्याख्याताओं ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। इतना ही नहीं, पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आकर नगरों के निवासी अब अपनी इस लोक-संस्कृति की उपेक्षा कर रहे हैं, यद्यपि अब तक यह लोक-संस्कृति नागरिक जीवन की नीरसता में मधुरता और सौन्दर्य का संचार करती रही है।

हमारी यह अद्भुत लोक-संस्कृति वास्तविक अर्थ में एक लोक-संस्कृति है। लोक का अभिप्राय एक देश के सम्पूर्ण समाज से है। सम्पूर्ण समाज की संस्कृति को ही वास्तविक अर्थ में लोक-संस्कृति कहा जा सकता है। जो संस्कृति सम्पूर्ण समाज में आदर नहीं पाती तथा केवल ग्रामीण और वन्य समाज में ही शेष रह जाती है उसे लोक-संस्कृति न कहकर ग्रामीण संस्कृति अथवा वन्य संस्कृति कहना चाहिए। सामूहिक नृत्य के उदाहरण के द्वारा इस भेद को स्पष्ट किया जा सकता है। सामूहिक नृत्य विशेष रूप से ग्रामीण और वन्य संस्कृति में ही शेष रह गए हैं। नागरिक सभ्यता ने उन्हें त्याग दिया है।

किन्तु सामूहिक नृत्य का यह उदाहरण एक अपवाद जैसा है। इसके अतिरिक्त भारतीय लोक-संस्कृति के ऐसे अनेक रूप हैं, जो ग्रामीण और नागरिक समाज में समान रूप से पाए जाते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि नगरों की अधिक जन-संख्या और अधिक समृद्धि के कारण नागरिक जीवन में इनका रूप अधिक भव्य बन जाता है। होली, दीपावली आदि के पर्व इसके उदाहरण हैं। नगरों में इनकी शोभा ग्रामों की अपेक्षा अधिक होती है।

हमारे तीज, त्यौहार, पर्व, व्रत, उत्सव, संस्कार, मेले, तीर्थ आदि हमारी इस अद्भुत लोक संस्कृति

१. हमारी जीवन्त संस्कृति : प्रकाशित, १९७२

के महत्वपूर्ण अंग हैं। ग्रामीण और नागरिक दोनों प्रकार के समाजों में इनका समान महत्व है। दोनों ही समाज लोक संस्कृति के इन रूपों का समान रूप से निर्वाह करते हैं जैसा कि अभी कहा जा चुका है। अनेक बार लोक संस्कृति के कुछ रूप ग्रामीण समाज की अपेक्षा नागरिक समाज में अधिक जन-संख्या और अधिक समृद्धि के कारण अधिक भव्य रूप में सम्पन्न होते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों की भूमिका मूलतः ग्रामीण कृषक समाज में बनी थी। किन्तु इस भूमिका के ऊपर इस लोक-संस्कृति का विकास ऐसे सुन्दर रूपों में हुआ कि ये नागरिक जीवन में भी सहज भाव से समाहित हो गए।

दीपावली, होली आदि के पर्व हमारी इस अद्भुत लोक संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। संसार की किसी अन्य संस्कृति में ऐसे पर्व देखने को नहीं मिलेंगे। प्रायः कहा जाता है कि संसार के अन्य देशों में भी रंग का पर्व होता है तथा दीपक जलाए जाते हैं। कदाचित् दूसरे देशों की ये प्रथाएं हमारी समृद्ध परम्परा का आंशिक अनुकरण मात्र है। हमारी दीपावली केवल दीपकों का पर्व नहीं है। दीपकों का जलना केवल उसका एक अंग है। कदाचित् अन्यत्र इन दीपकों की माला नहीं बनाई जाती और न दीपोत्सव को 'दीपमालिका' कहते हैं। अन्य देशों में दीपकों के द्वारा लक्ष्मी पूजन नहीं होता। हमारी दीपावली में दीपोत्सव और लक्ष्मी पूजन के अतिरिक्त 'धन्वंतरि-त्रयोदशी', 'नरक चतुर्दशी', 'यम-दीपन', घरों की सफाई-पुताई, भित्ति आलेखन, मिष्टान वितरण, खील-बताशे, नवीन वस्त्र निर्माण, देव-मन्दिरों तथा पड़ौसियों के घरों में दीपदान आदि अनेक प्रथाएं सम्मिलित हैं जो उसे विदेशों के दीपोत्सव की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। दीपावली की प्रतिपदा की गोवर्धन पूजा तथा उसके बाद आने वाली भ्रातृ द्वितीया उसे और अधिक सम्पन्न बनाती है। दीपावली की इन सभी प्रथाओं का पालन ग्रामों और नगरों में समान रूप से होता है।

इसी प्रकार हमारी होली केवल रंग का पर्व नहीं है। यह रंग भी केवल प्राकृतिक रंग नहीं है। इसके पीछे हृदय के भावों का रंग है और श्रीकृष्ण के भावमय जीवन की पवित्र भूमिका है। इसके अतिरिक्त वसंत पंचमी से होली की स्थापना, रंग की एकादशी से होली के गीतों का आरम्भ होना, पूर्णिमा के होलिकादाह के पूर्व कन्याओं द्वारा कई दिन तक नित्य होलिका पूजन, एकादशी का आमलकी पूजन, पूर्णिमा का होलिका-दहन, नवान्न की आहुति, प्रतिपदा का धूलि वन्दन, अतिथियों का आमन्त्रण, अपरिचितों का कण्ठ-मिलन, भ्रातृ द्वितीया आदि ऐसी प्रथाएं हैं जो दीपावली की प्रथाओं की भांति होली के पर्व को भी अत्यन्त सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। ऐसे सम्पन्न और सार्थक पर्वों का उदाहरण संसार के किसी देश की संस्कृति में नहीं मिल सकता।

दीपावली और होली के अतिरिक्त अन्य अनेक तीज, त्यौहार, पर्व आदि भारतीय जीवन को सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। एक प्रकार से हमारा सम्पूर्ण वर्ष ही पर्वों और उत्सवों का निरन्तर क्रम है। कुछ दिन के अन्तराल से नित्य-प्रति नए पर्व और उत्सव आते रहते हैं। संगीत के स्वरों की भांति ये पर्व एवं उत्सव अनेक प्रकार के होते हैं तथा इन्हीं के साथ-साथ समय-समय पर पारिवारिक संस्कारों, मेलों आदि के संवादी वाद्य हमारी जीवन्त लोक-संस्कृति को एक सम्पन्न संगीत का रूप देते हैं। वर्ष के आरंभ में नवरात्र की दुर्गा पूजा, कौमार्य वन्दना, मातृ-पूजा आदि से आरम्भ होकर अक्षय तृतीया, वट-सावित्री, गंगा-दशहरा, व्यास-पूर्णिमा, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, गणेश-चतुर्थी, ऋषि-पंचमी, अनन्त चतुर्दशी, पितृ-पक्ष, शारदीय नवरात्र, दीपावली, गोवर्धन पूजा, मकर संक्रान्ति, वसन्त पंचमी, और शिवरात्रि के स्वर-

सोपानों से होकर होली के लोकपर्व में हमारी लोक संस्कृति की रागिनी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचती है। लोक संस्कृति की इस परम्परा में व्रत, पर्व, उत्सव, त्यौहार आदि संगीत के विभिन्न स्वरों की भांति ऐसे क्रम में संजोए हुए हैं कि लोक संस्कृति की यह योजना लोक जीवन की एक सुन्दर रागिनी बन जाती है।

नवरात्रि की रहस्यमय शक्ति-पूजा के शान्त और मन्द स्वर से लोक-संस्कृति की इस रागिनी का आरम्भ होता है। शक्ति ही जीवन का आधार है। मातृत्व उसका मूल है। कौमार्य के अभिनन्दन से समाज में शक्ति की परम्परा पोषित होती है। अतः इन तीनों के अभिनन्दन से वर्ष का आरम्भ करना अत्यन्त उचित है। गणित की मूल संख्याएं नौ ही होती हैं। अतः नौ दिन की यह शक्ति-पूजा वस्तुतः प्रतिदिन की शक्ति पूजा की प्रतीक है। शक्ति के अनेक रूप हैं। इन अनेक रूपों में शक्ति हमारे जीवन और हमारी संस्कृति का आधार है। नवरात्र के इस व्रत का ग्राम और नगर के लोग समान रूप से पालन करते हैं। देवी के तीर्थों में होने वाले मेले इस व्रत में उत्सव का संपुट देते हैं, और इसकी विभूति को व्यवहारिक जीवन में अन्वित करते हैं।

अक्षय तृतीया भी एक प्रकार से शक्ति की आक्षय परम्परा के प्रस्तार की प्रतीक है। यह परशुराम की जयन्ती के रूप में भी मनाई जाती है। घड़ा, सत्तू, पंखा, ऋतुफल आदि का दान शक्ति परम्परा में दान के महत्व को सूचित करता है और व्रत की विभूति को सामाजिक सम्बन्धों में अन्वित करता है। वट सावित्री का व्रत नारी की संजीवनी महिमा को अमर बनाता है। सत्यवान को यम के पाश से लौटाने वाली सावित्री भारतीय नारी का आदर्श बन गई है। ग्राम और नगर सभी स्थानों की स्त्रियां सावित्री के व्रत का पालन करती हैं। इस अवसर पर कोई भारी मेला या उत्सव तो नहीं होता। जीवन-मरण का गम्भीर अवसर इसके लिए उपयुक्त भी नहीं है। फिर भी घर में इस व्रत के निमित्त से कुछ उत्सव का वातावरण भी बन जाता है।

गंगा दशहरा कोई व्रत न होकर गंगा स्नान का पर्व है। ग्रामीणों के लिए ज्येष्ठ के अवकाश काल में गंगा यात्रा और गंगा स्नान एक धार्मिक पर्व बन जाते हैं। गंगा के निकट के नगर निवासी इस पर्व के पुण्य में भाग लेते हैं। गंगा तट के मेले इस पुण्य पर्व को एक उत्सव भी बना देते हैं, तथा इसे आर्थिक एवं सामाजिक भूमिका में प्रतिष्ठित करते हैं। पिछले तीन व्रतों के बाद गंगा दशहरा के उत्सव में संस्कृति की रागिनी का स्वर बदल जाता है। व्यास पूर्णिमा गुरु-वन्दना का पर्व है। प्राचीन शिक्षा परम्परा में गुरुओं का बड़ा योग रहा है। उन्हीं के तप-त्याग से निरुपयोगी होते हुए भी विद्या की परम्परा पोषित रही। आषाढ़ी पूर्णिमा का यह पर्व उन्हीं गुरुओं की महिमा का स्मारक है। स्वराज्य में इसकी प्रथा मन्द हो चली है। किन्तु इस प्रथा का पुनरुज्जीवन राष्ट्र के पुनरुज्जीवन में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

रक्षा बन्धन का पर्व वर्ष का पहला सामाजिक पर्व है। श्रावणी का उपाकर्म और बहनों की राखी इसके दो पक्ष हैं। ये दोनों क्रमशः धार्मिक और सामाजिक उत्तरदायित्व के सूचक हैं। वैदिक उपाकर्म को तो लोग प्रायः भूल चले हैं, किन्तु बहनों की राखी ग्राम और नगर दोनों के घर-घर में एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि करती है। बहिन का सम्बन्ध एक अत्यन्त मधुर और पवित्र सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति में इसका सबसे अधिक आदर किया जाता है। रक्षा-बन्धन का पर्व विवाहित स्त्रियों के पीहर के साथ सम्बन्ध को प्रतिवर्ष नया कर देता है और उनके शील की मर्यादा को सुरक्षित बनाता है। यह सुदर

पर्व हमारी लोक संस्कृति का भी रक्षा-बन्धन है। झूले के गीत और मधुर व्यंजन इस पर्व के माधुर्य का विस्तार करते हैं।

रक्षा-बन्धन के आठ दिन के बाद जन्माष्टमी का धार्मिक पर्व आता है। इसमें व्रत और उत्सव दोनों का समन्वय होता है। घरों और मन्दिरों में श्रीकृष्ण की झांकियां सजाई जाती हैं, और उत्सव के आनन्द में व्रत का पारण होता है। गणेश चतुर्थी में गणेश की पूजा होती है। महाराष्ट्र में इसकी विशेष महिमा है। किन्तु मंगल के देवता के रूप में गणेश समस्त भारत में पूजे जाते हैं। ऋषि-पंचमी ऋषियों के संस्मरण का पर्व है। इसमें वन्य आहार के द्वारा ऋषियों का स्मरण किया जाता है। अनन्त चतुर्दशी अनन्त परम्परा का व्रत है। ये दोनों व्रत के रूप में भी माने जाते हैं। इनकी सात्विकता के कारण कदाचित् इनमें उत्सव का संगम नहीं हो पाया।

अनन्त चतुर्दशी के दूसरे दिन पितृ-पक्ष का आरम्भ होता है। पितरों का श्रद्धापूर्वक स्मरण भी एक सामाजिक सत्कार और पारिवारिक उत्सव का अवसर बन जाता है। गरीब अमीर सभी घर-घर पितरों का श्राद्धोत्सव करते हैं। यह रक्षाबन्धन के समान ही एक व्यापक और सार्वभौमिक कृत्य है तथा हमारी लोक-संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है।

पितृ पक्ष के बाद शारदीय नवरात्र का आरम्भ हो जाता है जो वासंतिक नवरात्र की आवृत्ति है यह आवृत्ति जीवन में शक्ति के महत्व का समर्थन करती है। शक्ति का तत्व अत्यंत रहस्यमय है किन्तु तान्त्रिक विद्वानों से लेकर ग्रामीण नर-नारियों तक असंख्य लोग नवरात्र व्रत करते हैं। कार्तिक की कृष्ण चतुर्थी से दीपावली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। करवा चतुर्थी सौभाग्य का व्रत है। उसके बाद अहोई अष्टमी वात्सल्य का व्रत है। सौभाग्य और वात्सल्य दोनों का भारतीय संस्कृति में अपार महत्व है। ग्राम और नगर की शिक्षित और अशिक्षित, गरीब और अमीर सभी स्त्रियां इन व्रतों को करती हैं। धन्वन्तरि त्रयोदशी का आयुर्वेदिक पर्व साधारण जनों के लिये नये पात्र खरीदने का पर्व बन गया है। किन्तु अपने इस नये रूप में यह बहुत व्यापक है। नरक चतुर्दशी का यमदीप अमावस्या की दीपावली का सूत्रधार बनता है। अमावस्या की रात में लक्ष्मी पूजन की दीप मालाएं आकाश के नक्षत्रों से स्पर्धा करती हैं। एक वर्ष के बाद लीप-पोतकर स्वच्छ बनाये हुये घर-द्वार दीपकों की ज्योति से जगमगा उठते हैं। श्रम, स्वास्थ्य, स्वच्छता, नियम और प्रकाश की यह महिमा ही लक्ष्मी पूजा का मर्म है। राजमहलों से लेकर झोंपड़ी तक दीपावली का आलोक जीवन में उल्लास भरता है। रक्षा बन्धन के बाद दीपावली दूसरा व्यापक लोक पर्व है। प्रतिपदा की गोवर्धन पूजा कृष्ण युग के गोपालन की स्मृति को हरा कर देती है। घर-घर में गोवर्धन की परिक्रमा का अभिनय होता है। भ्रातृ द्वितीया दीपावली के उल्लास पर्व पर एक सांस्कृतिक मर्यादा का तिलक रचती है। एकादशी के देवोत्थान में भारत के भाग्य-देवता जाग उठते हैं और वर्ष की महत्वपूर्ण फसल के संरक्षण में लग जाते हैं।

दीपावली के पर्व में लोक संस्कृति की रागिनी मध्यम सप्तक के पंचम स्वर तक पहुंच जाती है। इसके बाद उसका मन्द्र सप्तक की ओर उतार होता है। ग्रीष्म के साथ विरोध के कारण भारतवासियों के लिये शीतकाल कठोर होता है। ग्रामीण जनों का शीतकाल धूप और आग का सेवन करते बीतता है। इसीलिये दीपावली के बाद दो मास तक कोई विशेष पर्व नहीं आता। मकर संक्रान्ति से सूर्य उत्तरायण होता है। संस्कृति की रागिनी मध्यम से तार की ओर बढ़ती है। माघ स्नान और संक्रान्ति के व्रतदान से

रागिनी का नया आलाप आरम्भ होता है। मकर संक्रान्ति के बाद शिवरात्रि का महान लोक पर्व आता है। कृष्ण के मन्दिर ग्रामों में नहीं हैं। किन्तु शिव मन्दिर गांव-गांव में होने के कारण शिवरात्रि का पुण्य ग्रामीणजनों लिये भी सुलभ हो जाता है। गंगोत्री से लेकर रामेश्वरम् तक शिवार्चन की यात्राएें सम्पूर्ण भारत के धार्मिक मानस को एक पवित्र उल्लास से आन्दोलित कर देती हैं।

वसंत पंचमी से होली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। आमलकी एकादशी से रंग लीला का सूत्र-पात हो जाता है। होली का दहन नवान्न यज्ञ कृषि और धर्म की संगति है। अपरिचितों के कण्ठ मिलन, उन्मुक्त धूलि वन्दन, स्वच्छन्द रंग लीला और विमुक्त लोक गायन में संस्कृति की रागिनी अपने उच्चतम तार स्वर पर पहुंचती है। चैत्र की भ्रातृ द्वितीया पुनः मर्यादा का तिलक देकर उसे सम पर आने का संकेत करती है। वर्ष की रागिनी का अवसान होता है और नव वर्ष के नवरात्र से नये वर्ष की रागिनी आरम्भ हो जाती है।

वर्ष की इस अविच्छिन्न पर्व परम्परा की सांस्कृतिक रागिनी को जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि के संस्कारों तथा मेलों, यात्राओं आदि के उद्योगों की तानें और आलापें और भी सम्पन्न एवं सुंदर बना देती हैं। भारतीय लोक संस्कृति उस प्रकार जीवन का एक अंग मात्र नहीं है जिस प्रकार संस्कृति की आधुनिक धारणा में कला, धर्म, दर्शन आदि को जीवन का अंग माना जाता है। लोक संस्कृति के सभी रूप जीवन में समवेत हैं। पर्व, व्रत, संस्कार आदि सभी जीवन की भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। साक्षात् और वास्तविक जीवन ही इनमें सांस्कृतिक रूप ग्रहण कर लेता है। वर्षारम्भ के नवरात्र से लेकर वर्षान्त के होली तक के सभी पर्व, व्रत और उत्सव साक्षात् जीवन में समाहित होते हैं। उनके निमित्त से समय-समय पर जीवन ही पर्व और उत्सव का रूप ग्रहण कर लेता है। भारतीय लोक संस्कृति की यह एक अद्‌भुत विशेषता है जो उसे संसार की संस्कृतियों में अनुपम बनाती है।

जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि साक्षात् जीवन के संस्कार हैं। इनके सम्बन्ध में होने वाले समारोह व्यक्ति और समाज के जीवन को उत्सव का रूप देते हैं। शास्त्रों में तो गर्भधान से ही संस्कारों का आरम्भ होता है। किन्तु आज भी प्रायः जात कर्म का संस्कार सभी घरों में होता है। जन्म जीवन का आरम्भ है। जात कर्म के द्वारा आरम्भ से ही जीवन को सांस्कृतिक रूप मिलता है। जात कर्म के बाद चूड़ा-कर्म, कर्ण-वेध आदि बढ़ते हुए जीवन के पर्वों में सांस्कृतिक सौन्दर्य का समन्वय करते हैं। उपनयन संस्कार शिक्षा में सांस्कृतिक सौन्दर्य का समन्वय करता है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के लोग इन संस्कारों का निर्वाह करते हैं, यद्यपि सामाजिक उदासीनता के कारण इनका महत्व कम होता जा रहा है। किन्तु अब भी इनका बहुत कुछ सौन्दर्य शेष है। अनेक घरों में जातकर्म, चूड़ा कर्म, कर्ण वेध और उपनयन के संस्कार समारोह के साथ होते हैं। इस समारोह में व्यक्ति का जीवन ही नहीं वरन् परिवार, कुटुम्ब और परिचित समाज का जीवन भी कुछ समय के लिये सांस्कृतिक सौन्दर्य से भर जाता है।

इन संस्कारों में सबसे बड़ा विवाह का संस्कार है। विवाह जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण संबंध है। भारतीय समाज में उसे एक विस्तृत और महत्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित किया गया है। दो व्यक्तियों का विवाह-सम्बन्ध परिवार, कुटुम्ब और समाज के लिये एक अपूर्व उत्सव बन जाता है। विवाह का ऐसा समारोह अन्य किसी देश में नहीं होता। अग्निवेदी पुरोहित, वेद मंत्र सप्तपदी आदि विवाह को पवित्रता प्रदान करते है। दूसरी ओर स्वजनों का सौहार्द, गीत, वाद्य, भोज आदि उसे एक उत्सव का रूप देते हैं।

इस प्रकार विवाह का प्राकृतिक सम्बन्ध एक विशाल सांस्कृतिक उत्सव बन जाता है। अन्त्येष्टि की अधिक चर्चा उचित नहीं है फिर भी इतना विचारणीय है कि जिस रूप में अन्त्येष्टि का संस्कार होता है उस रूप में वह शोकग्रस्त घर से मृत्यु की अपवित्रता और उसकी विभीति का प्रभाव अपने धार्मिक प्रक्रिया के द्वारा बहुत कुछ दूर कर देता है। दूसरी ओर जिस श्रद्धा और सद्भावना के साथ मृतक का अंतिम संस्कार होता है उसकी कल्पना ही प्रत्येक जीवित मनुष्य को अपनी नियति के सम्बन्ध में बहुत कुछ सांत्वना प्रदान करती है। मृत्यु जीवन का अ-निवार्य अन्त है। उसे कोई रोक नहीं सकता। अन्त्येष्टि संस्कार तथा श्रद्धा आदि के रूपों में जिस प्रकार भारतीय परम्परा में मृत्यु की इस अ-निवार्य नियति का समाधान किया गया है तथा उसे सुन्दर और सह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है उससे जितनी अधिक सांत्वना मर्त्य मनुष्य को मिल सकती है उससे अधिक सांत्वना की आशा अन्य किसी समाज में नहीं की जा सकती।

इस प्रकार जात कर्म से लेकर अन्त्येष्टि तक के संस्कार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त जीवन को सुन्दर बनाते हैं। संस्कार का अर्थ परिमार्जन अथवा शोधन है। किन्तु संस्कार संस्कृति का मौलिक बन्धु है अतः इन संस्कारों में परिमार्जन के साथ-साथ सौन्दर्य का सन्निधान भी होता है। पर्व और संस्कार दोनों मिलकर जीवन को द्विगुणित सुन्दर बनाते हैं। पर्वों की गति वर्ष के कालानुक्रम के अनुसार है। संस्कारों की गति व्यक्ति के आयुक्रम के अनुसार होती है। अतः प्रायः दोनों का संगम होता है। गान-वाद्य की संगति की भांति दोनों की संगति जीवन और लोक संस्कृति की रागिनी को मनोहर बनाती है। संस्कार साक्षात् जीवन के पर्व हैं। इनमें सांस्कृतिक सौन्दर्य को जीवन के यथार्थ में अन्वित किया जाता है। पर्वों में सांस्कृतिक सौन्दर्य में जीवन के यथार्थ को द्विविध और पारिपूरक प्रक्रिया के द्वारा जीवन और सौन्दर्य का द्विगुणित समन्वय जीवन को अपार सौन्दर्य प्रदान करता है।

पर्वों और संस्कारों के अतिरिक्त तीर्थ दर्शन, तीर्थ स्नान, यात्रा, मेले आदि भी लोक जीवन को अनेक प्रकार से सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। तीर्थ धर्म के पीठ हैं। भारत में सर्वत्र इतने तीर्थ फैले हुए हैं कि सम्पूर्ण भारत को 'धर्म भूमि' कहा जा सकता है। पुण्य अवसरों पर तीर्थों में मेले भी होते हैं। इस प्रकार तीर्थों में धर्म और अर्थ का संगम होता है। तीर्थ यात्रा, तीर्थ दर्शन और तीर्थ स्नान की प्रथा भारत में बहुत प्रचलित है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के निवासी तीर्थों में श्रद्धा रखते हैं। यह तीर्थ सेवन हमारी लोक संस्कृति का एक धार्मिक अंग है और उतना ही लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण है जितने कि पर्व, उत्सव, संस्कार आदि हैं। यह भारतीय जीवन की पवित्रभावना का द्योतक है। हमारे व्रतों और पर्वों में भी धार्मिक भावना ओत-प्रोत है। तीर्थ सेवन उस भावना की संगति को पूर्ण करता है तथा देश की भूमि के साथ हमारी एकात्मता स्थापित करता है। पर्वों, व्रतों और उत्सवों की भांति तीर्थ सेवन के अवसरों की बहु संख्यकता धार्मिक भावना का जीवन के साथ व्यापक सामंजस्य स्थापित करती है।

तीर्थों के अतिरिक्त भी अनेक स्थानों पर छोटे-बड़े मेले लगते हैं। मूल रूपों में तो ये मेले आर्थिक व्यवसाय के अस्थायी केन्द्र हैं जो समय-समय पर सक्रिय होकर आर्थिक जीवन की गति विधि को संतुलित करते हैं। किन्तु साधारण जनों, विशेषतः बालकों और स्त्रियों के लिये ये मेले आर्थिक व्यवसाय के साथ-साथ विहार और आमोद के केन्द्र भी बन गये हैं। बड़े नगरों का तो दैनिक बाजार ही मेले के समान होता है किन्तु ग्रामों और छोटे नगरों के जीवन में इन मेलों का बड़ा महत्व है। इनके निवासियों के लिये

ये मेले एक नई चहल-पहल और नये उल्लास का अवसर लेकर आते हैं। समय-समय पर आकर ये मेले लोक जीवन में एक नई स्फूर्ति और नवीन प्रसन्नता भर जाते हैं।

इस प्रकार पर्व, उत्सव, व्रत, संस्कार, तीर्थ, मेले आदि के अनेक रूपों से युक्त हमारी लोक संस्कृति इतनी समृद्ध है कि उसकी तुलना कदाचित् ही किसी देश की संस्कृति कर सकेगी। सांस्कृतिक रूपों की विविधता और विपुलता इस समृद्धि का एक लक्षण है। किन्तु संस्कृति की समृद्धि का एक दूसरा लक्षण भी है जिसकी दृष्टि से भी हमारी लोक संस्कृति अनुपम और अतुलनीय है। संस्कृति की समृद्धि के इस दूसरे लक्षण की जटिलता कह सकते हैं। जटिलता का अर्थ उलझन नहीं वरन् अनेक तत्वों और पक्षों का संगम है। जटाओं में अनेक केश तन्तु मिल जाते हैं इसीलिये जटिलता उलझन के अतिरिक्त तत्वों और पक्षों की अनेकता की भी सूचक है। हमारी लोक संस्कृति के अनेक रूपों में देश, काल, मानवीय संबंध, उपकरण, विधि, निमित्त, रंग, संगीत, देवता आदि अनेक विशेष तत्वों एवं पक्षों का संगम रहता है। ये सब मिलकर सांस्कृतिक आचार के प्रत्येक रूप को जटिलता की दृष्टि से सम्पन्न बना देते हैं। यही सम्पन्नता हमारी दीपावली और होली की विदेशों में प्रचलित रंग—लीला और दीपोत्सव से भेदक है। जटिलता की दृष्टि से संस्कृति के ऐसे सम्पन्न रूप कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेंगे। संस्कृति के जटिल रूपों की विपुलता तो और भी अधिक दुर्लभ है।

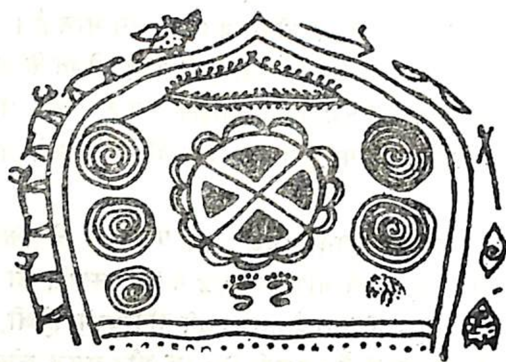
जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, हमारी यह लोक संस्कृति जीवन से समवेत है। यह कहा जा हैं कि यह लोक संस्कृति जीवन का ही सांस्कृतिक रूप है। लोक संस्कृति की परम्परा में संस्कृति का सौन्दर्य जीवन में ही समवेत हो गया है। इस प्रकार हमारी यह लोक संस्कृति उस अभिजात संस्कृति से भिन्न है जिसे पश्चिमी धारणा के अनुसार संस्कृति का एक मात्र रूप समझा जाता है। यह अभिजात संस्कृति जीवन का सांस्कृतिक पर्याय नहीं है वरन् जीवन का एक अंग मात्र है। धर्म, दर्शन, कला आदि इसके पक्ष हैं। ये सम्पूर्ण लोक जीवन के साथ समवेत नहीं होते वरन् जीवन के अंग ही बने रहते हैं। इस प्रकार यह अभिजात संस्कृति जीवन और संस्कृति का आंशिक रूप है। इस धारणा के अनुसार लोक संस्कृति ग्रामीण और वन्य समाज में शेष रह गई है। नागरिक जीवन के लिये वह केवल अध्ययन और कौतूहल की वस्तु है।

किन्तु हमारी भारतीय लोक संस्कृति इतनी समृद्ध और परिष्कृत है कि ग्रामीण और नागरिक समाज उसे समान आदर से अपनाते रहे हैं। नागरिक समाज ने इस संस्कृति का तिरस्कार के स्थान पर इसके अनेक रूपों को अपने वैभव से समृद्ध बनाया है। नगर की दीपावली, होली, नागरिक मेले, नागरिक, तीर्थ, नागरिक विवाह आदि इसके उदाहरण हैं। इतनी विशाल और समृद्ध लोक संस्कृति का नागरिक जीवन के साथ इतना घनिष्ठ सामंजस्य कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। इस दृष्टि से हमारी लोक संस्कृति संसार में अद्भुत और अतुलनीय है।

इस लोक संस्कृति की एक अन्य विशेषता बड़ी महत्वपूर्ण है। चित्रकला, संगीत, साहित्य, धर्म आदि जो अभिजात संस्कृति के अंग माने जाते हैं, वे भी इसके जीवन्त रूप में समवेत हो गये हैं। भित्ति-चित्रण, भूमि आलेखन आदि चित्रकला के साधारण रूप इसमें समन्वित हैं। लोक गीतों के रूप में विपुल काव्य साहित्य इस लोक संस्कृति में समाविष्ट हो गया है। किन्तु इनके अतिरिक्त गीता, रामायण, आल्हा, ढोला जैसे श्रेष्ठ साहित्य के ग्रंथ भी इस लोक संस्कृति की विभूति बन गये हैं। इन ग्रंथों का विद्वानों में

जितना आदर है उतने ही वे जनता में भी लोकप्रिय हैं। ग्रामों और नगरों के लोग समान श्रद्धा के अनुसार इनका पाठ और गायन करते हैं। भारतीय आकाशवाणी से लोक साहित्य का जितना प्रसारण होता है उतना कदाचित् ही किसी अन्य देश की आकाशवाणी से होता होगा। सूर, तुलसी, मीरा आदि की रचनाओं में श्रेष्ठतम साहित्य का जैसा लोकप्रिय रूप मिलता है वैसा कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। धर्म का भी हमारी लोक संस्कृति में अद्भुत समवाय हुआ है।

अस्तु, भारतीय परम्परा में लोक संस्कृति का एक ऐसा श्रेष्ठ और सम्पन्न रूप विकसित हुआ है कि वह नागरिक जीवन में भी लोकप्रिय बनी रही है। नागरिक जीवन में व्याप्त ऐसी समृद्ध लोक संस्कृति का किसी भी अन्य देश में उदाहरण मिलना कठिन है। संस्कृति का निर्माण और प्रचार विराट और महान् संकल्प शक्ति के द्वारा होता है। प्राचीन भारत की जिन आर्ष विभूतियों ने अपने विराट और महान संकल्प के द्वारा इस अद्भुत लोक संस्कृति का निर्माण और प्रचार किया वे हमारे लिये सदैव वन्दनीय रहेंगे।



'SIKANDAR' AN APPRECIATION[1]

SOHRAB MODY'S 'Sikandar' is a landmark in the history of Indian films. The striking success of 'Sikandar' as a piece of art brings Mr. Mody in the first rank of film directors. 'Pukar' brought him money and popularity; 'Sikandar' will bring him prestige and a good name. 'Sikandar' is claimed to be a 'golden leaf from ancient history.'! Sensitive historians may feel frozen to witness its presentation. But there is nothing disappointing in a piece of art being different from history. History is a record of the dead past; art recreates it in the eternal present. History notes the dead facts and colourless events; art enlivens them and gives them significance. The beauty and the value of art lies in its creative element which is denied to history.

'Sikandar' is excellent both as a screen show and as a piece of art. After some recent productions full of heart-choking humour this historical piece comes not only as a relief but also as an encouraging achievement in an atmosphere of doom and depression. Pandit Sudarshan is to be congratulated for the remarkable story, the beautiful songs and the apt dialogues. He has created an Utopia of renascent nationalism out of an obscure past. The introduction of the role of womanhood in the life of a nation is the most salient feature of the theme. Rukhsana is not a beautiful interpolation meant to adorn the screen; she is the very soul of the piece. She pervades the entire picture like the spirit of beauty and love. The conqueror of the world is conquered by the princess of Persia. Anticipating the dangers of this romantic indulgence, Aristotle interferes with the matter. The last word he has to teach Alexander is that 'Woman is the greatest weakness of man. Rukhsana, when told of this, takes it as an impeachment of the integrity of womanhood. She asserts with all her feminine fire that 'Woman is the greatest strength of man.' She completes the incomplete man and is virtually the better half of man. She throws

1. Published in "THE LEADER" Allahabad, 1941

a challenge to the old philosopher and wants to avenge the indignity done to womanhood by him. She lays a trap in his own garden for him. Amidst fountains and flowers she shines like a lily in the silver breeze; amidst plants and birds, she sings the eulogy of youth like a nightingale in the heart of heaven; amidst fancies and ideas, she dreams like a dew drop in the moonlight. Here the entire Iranian glory is brought before our eyes. Her Persian features, her Iranian delicacy, her angelic elegance and her sweet voice virtually transform Vanamala into a dainty damsel of Persia. The tunes of her scintillating song lure the old philosopher off from his study. At a glance he is bewitched by her ethereal beauty. He calls her 'the youthful dream of Beauty'. She claps her hands and invites Alexander to witness his great teacher harnessed as a horse in the reins of feminine charms. She laughs triumphantly and Alexander is mystified. The old philosopher seems to have been made a fool of by the devil, but he is not in the least embarrassed. With his characteristic calm he demonstrates the truth to his beloved pupil; 'If women can make a fool of an old philosopher, what can she not make of a youth ! When sober old age is subject to such lures, what of intoxicated youth ! Age thinks, but youth overflows like a river in flood !' Alexander takes the lesson to his heart and leaves his Love in despair. He marches on to India. Here the magnificent marching tune is an excellent device of film music.

Unaware of the Greek invasion, the people of India are celebrating Shravani. The sylvan splendour of ancient India is most picturesquely presented here. Rukhsana who has come to India in the meantime in the disguise of a soldier and has learnt the significance of Rakhi from a village woman, goes to the royal palace and takes from Porus the word of Alexander's security of life.

With the aid of his brave allies, Porus prepares for the defensive. The clarion call of war rings round the whole kingdom. The entire nation is astir by consternation. The rural revelries turn into a militant mobilization. Prarthana and Sukhia, admirably played by Mina and Sheela, represent the royal and rural aspects of the national spirit of freedom and fortitude. The devoted patriotism of the people is simply inspiring.

The court scene where Alexander presents himself as an ambassador, is a specimen of Greek admiration of greatness and Indian ideal of magnanimity with all its regal splendour. Alexander

on the battle-field is admirable and Porus is magnificent. Prithiraj and Mody set a watermark of male acting. Prithiraj has given up all his irrelevant flourishes and Mody all his extravagant oratories. Prithiraj is the most Greek among Indian actors. His physique would do credit to an athlete. with his majestic gait, magnificent moves and splendid flourishes he is nothing short of the idea of Alexander we have in our mind. Porus is the paragon of Indian regal dignity. Unmoved by the heroic death of his young prince Amar, he fights valiantly with his gallant steelmen against formidable odds. The war scenes must have been the most difficult to enact and photograph. The powerful presentation of the various charges is simply splendid. Porus has to forbear his chance of victory for the words he had given to Rukhsana, and the numerical superiority of the Greek forces prevails in the end. Porus is captured and is brought before Alexander. He has lost the battle but he has not lost his heart. In admiration of his bravery Alexander extends to him the hand of friendship and liberates his country. But the mortification of defeat rankles the king's heart. Yet he has lived up to his ideal. His only regret is that history does not record what happens behind the screen. Rukhsana is mortified to see the consequences of her conduct. She determines to mend matters to her utmost. She inspires the reluctant Greeks to revolt and go home. That the Greeks were afraid of Indian might and refused to advance is a historical fact. While Alexander stood by the statue of Jupiter amidst the Greeks anxious for the divine decision of their lot, she appears on the scene. On the words of the oracle, he admits her as his queen. The Persian princess ties India with a sororal bond and unites Greece by a wedlock. Like a celestial nymph with her hair flowing on her flying apron she sails for Greece with Alexander carrying the musical message of love and liberty from India to his country.

A nation is not great for what it has, but for what it is. It is glorious to be a conqueror, but to be invincible in spirit is to be really great. With a beautiful harmony of romance and love, heroism and courage, patriotism and pathos, 'Sikandar' is a magnificent monument to the glory that was Greece and the greatness that was Ind.



MESSAGE OF INDIA[1]

The Miracle of the Message.

India had and still has a message for the world and for her self also. It is a message which could show mankind the way of salvation of life and of enduring happiness in it. It is a message which was contemplated by the seers of India in the earliest stages of civilization. The vision of life which is contained in this message is a miracle of insight into the secrets of life. It is a miracle to have entertained such a vision in the twilight of human history and civilization, though it is a misfortune to have failed to appreciate the great importance of the message and to deliver that to the uncivilized world of those ancient times. It was a greater misfortune on the part of Indians to have allowed uncivilized invaders to jeopardize the prospects of India and the world, and to cooperate with the upstart snobbery of the west in distorting the import of that message and also to have gradually advanced in the direction of neglecting and forgetting that great message.

But with all these misfortunes the miracle of the message stands undoubted and the value of the great message remains undiminished. It is a great fortune for India and the world that the original message is not completely forgotten by India, nor is its glory entirely eclipsed by the distortions of western judgment. It is a message of life and it was largely embodied in the living tradition of Indian society. Hence by the force of life it has preserved itself to the present day. The atrocities of the invaders and the impact of west have not been able to obstruct completely the dynamics of that living tradition, though they have deeply damaged and densely clouded it. But it can be discovered even in the most of the distortion that message by western distortions and indian delusions effected by the former. What is not apparent in the outer form of tradition can be discovered within it by insight and imagination. Philosophical and literary works which have been

1. Message of Indian, Unpublished, 1967

saved from the fanatic foully of invaders can be of great help in understanding the meaning and in appreciating the value of that great message of India.

The antiquity of that message is a great miracle. It is remarkable for Indian seers to have visualized these beautiful forms of culture and these eternal meanings of life. No other ancient country could imagine of such a from of culture and such a conception of life. If any of the ancient countries seem to have had glimpses of scantily similar form of culture and life, those glimpses were enlightened by the oriental illumination of India which reached up to them in the dusk of its glorious life. Culture is the most remarkable aspect of this great message of India. Culture is also the most valuable achievement of man, as it requires a transcendence of nature and an exercise of spiritual will. Biological nature occupied and overwhelmed most of the ancient people. The glorious west of today was under its sway till the middle of the second millenium of the christian era. It was most remarkable for Indians to have conceived of and translated into life an extremely rich form of culture which appends the highest fulfilment of life and the like of which was not imaginable to any other people.

The philosophy and religion of India are no less remarkable. The quest and discovery of the spirit is the most unique philosophical achievement of India. The infusion of philosophical spiritualism make also the religion of India distinguished in its humanity and liberality. The ethical message of India is also inspired with this spirituality and its inspiration also elevates the social, domestic and personal life to the altitudes of divinity. The discovery of such depths of life was a miracle of ancient Indian quest for the secrets of it. The organization of values according to the principle of spirit and visions about life after death in the light of spirit are amazing extensions of this marvellous message into the sphere of Axilogy and Eschatology.

Retaining that great message for such a long time in such adverse vicissitudes of history is also a miracle of human endurance It will be a miracle of miracles, if India can recover, revive and relearn this great message and help the the world in adopting it in modern milieu of civilization fore boding the doom of mankind.

High Lights of the Message.

The message of India for the salvation and fulfilment of human life is highly complete though for this very reason it is highly complex also. It covers almost all the important aspects of life. It also places these aspects in due order of priority. Culture is the most important phenomenon of life. It deserves our immediate and deep attention after the minimum natural requirements of life have been met. Instead of being a pre-condition of culture, these requirements can even be incorporated into the pattern of culture. That is exactly what has been done in India. It integrates life with culture and makes culture the transformation of whole life into a cultural pattern. This cultural pattern of life is the most important and the most remarkable message of India. It is to be first headed by India and the world. The other aspects of the message of India are in fact only implications and off-shoots of the cultural message.

Culture is generally understood as a conglomeration of religion, philosophy, art, literature etc. These are undoubtedly cultural persuits of man, as all of them involve spiritual will in some measure. But these pertain to aspects of life and not to the whole of it. Moreover, these treat life as a subject or the content of the form which constitutes their cardinal character. For example, art is the pursuit of beauty. Beauty consists in the excess of form some aspects of life are kaken as contents of this form in art and literature.

The mode of culture which constitutes the most important feature of the message of India is not this form of culture for which life is secondary. It is that form of culture for which life is primary. This form of culture does not, like art and literature, take aspects of life to give the form of beauty as concrete content. Its primary concern is with life as a whole and it integrates form of beauty with it. We can call it living culture to distinguish it from the other kind of culture which can be described as historical. Historical culture relegates present creations to past and continues in the new creations. Living culture constantly revives the past creations in the present. It is a sort of a constant re-creation. It is not a creation of new forms but an adoration of old forms in the social tradition.

India has to its credit the richest living culture. No other

country has evolved such a rich and complex living culture. Living culture of India invests all important events, aspects and features of life with immense beauty and with abundant joy. It transforms whole life into a symphony of beauty and joy. Such transformation of life is the greatest achievement of man and the highest fulfilment of life.

This living culture of India is embodied in the symbols which signify deepest meaning of life in their simple form and in the festivities which are celebrated all the year round on various occasions of the year and of man's life. The chain of festivities makes life a panorama of beauty and joy; in which modes and occasions of natural life assume the glory of cultural beauty and even of divine excellence.

This cultural pattern of life created as a miracle by ancient Indians is inspired by the reality of spirit, which is a remarkable discovery of Indian philosphy. Spirit is a transcendent reality which pervades all existence and which sustains it. It is revealed in non-dualistic experiences of life in which individuality and ego are transcended. It is distinguished from entities of nature which tend to maintain their individuality. This non-dualistic experience is the source of all joy in life. The patterns of living culture of India are in consanance with this non-dualistic spirit and therefore they are occasions of abundant joy and abiding happiness.

The discovery of spirit is the greatest contribution of Indian Philosophy. The philosophical message of spirit is the greatest need of mankind when materialism and intellectualism of modern civilization are eclipsing spirit and depriving life of joy. Philosophical understanding of spirit affords a reinforcement to culture and the two combined form a sound basis of a happy and fruitful life.

Besides being embodied in the pattern of living culture, the spiritualism of ancient India, formed its expression and embodiment in other commoner forms of conduct also. Religion and ethics of India are influenced both by culture and spiritualism. Thus they also have an important message for mankind. Indian religion is not a prophetic and dogmatic creed more enthusiastic about propagation, conquest and conversion than about realization of God. It is a spiritual and consequently, liberal religion. It is also cultural unlike the prophetic creeds. As a cultural religion

it is integrated into the cultural pattern of life and infuses divine excellence in it. Indian ethics also is spiritual and is treated largely as a spiritual discipline. Moral virtues are fruit of spirit, as well as the flower of it. Morality is replete with the fragrance of spirit.

Social, domestic, personal and even political life is desired to be lived under the influence and guidance of spirit reflecting in culture, philosophy, religion and ethics. The Indian nation of social and domestic relations is governed by spiritualism and is concretized by culture. Hence it is highly satisfying. Social relations afford a variety, beauty and joy to life. Domestic relations form the nucleus of life. The personal discipline of Yoga. provides a very sound foundation to life.

The influence of spirituality is to be seen even in the Indian view of politics.. Even the war was fought according to rules and for the righteous cause. It was called *Dharma Yuddha,* which means a righteous war and not a war for religion like the crusades. Gandhi attempted to purify the dirty game of politics and to make it a fair activity necessary for improvement of society. The eschatological thought of India looks like a fanciful imagination. But it also has some scientific basis. The phenomenon of rebirth and idea of immortality can afford due satisfaction to human curiosity about life after death and the ultimate destiny of man.



AXIOLOGY OF THE GITA[1]

The Gita, like the Upanishads is a gospel of Spirituality. Spirit is the supreme Reality according to both the Upanishads and the Gita. Spirit is also the Supreme Value according to both. It is the Value of Values. All other values become valuable by its grace. The value of other values is secure only in their integration with spirit. Sundered (by ignorance and illusion) from Spirit, they lose all value and meaning in life. Spirit sustains all existence, all life and all activities and values of life.

The Upanishads have asserted the spirit as the fundamental and comprehensive Reality. The Gita has elucidated the principle of the Upanishads in such an elaborate from as it is not done, perhaps, in any other treatise of the Vedanta. The Upanishads affirm that all this (objective existence) is (ultimately) the spirit. (सर्वं खलु इदं ब्रह्म). All that exists emanates from the Spirit. The Taittiriya Upanishads declares that" all beings are born of the spirit, they live by it and are ultimately absorbed, in its being, after their death." The Katha Upanishad also confirms that "beings do not live by vital principle, breath or any other principle; they live by spirit. "The Brahma Sutras contain this contention of the Upanishads in a condensed form. The opening sutra of the Brahma Sutras declares that "the appearance, existence etc. of the world are on account of spirit."

The Gita is a popular and practical treatise of the Vedantic tradtion. It presents the Spiritual philosophy of the Upanishads in a more appealing, a more understandable and a more practical form. It elucidates the Spiritual origin of existence in a concrete way by giving copious illustrations from cosmic, human and heavenly existence. The Gita declare God (or Shri Krishana as the incarnation of God declares Himself) to be the source and sustenance of all existence. "All emanates from me" say Shri Krishna. The physical earthly, astral and heavenly objects are mentioned in

1. Secular Social and Ethical Values in the Gita Published, 1980

Gita as representative examples of spiritual creation. The Supreme spirit it self assumes the form of earth, water, air, light, heat, ether etc. and affords elemental sustenance to universal existence. Excellent physical, human and divine beings like the sun, the moon, the Himalayas, the Ganga, Arjuna. Airavata, Shri Krishna, Shukracharya, Bhrigu etc. represent the excellence of spirit in cosmic modes, and indicate the principle of degrees of Reality. The Spiritual source of sex, knowledge, memory intellect etc. affirms that the spirit is the deepest secret of existence and life. The philosophical significance of these specific developments of the Vedanta in the Gita has not been worked out. An attempt is made in the present work to expound the philosophical implications of the Gita.

The spirit which is the Supreme Reality according to the Upanishads and the Gita is a transcendental Reality, though it is also immanent in the universe. Transcendence does not mean negation of reality of empirical modes of existence, but that supreme Spiritual Reality is not exhausted in its immanence in empirical modes. Empirical modes of existence are sustained by one dimension of Reality and the other dimensions are In Heaven i. e. they exist in their intrinsic infinity. The Spirit implies integrality of Being consciousness and Bliss. Empirical modes of existence are sustained by the dimension of being. Living modes reflect an aspect of consciousness in the form of cognition. The Dimension of Delight is most intimate to the Being of Spirit. It is not intrinsic to the being of empirical modes. It is expressed in them only in so far as they partake of the integral Being of spirit. Delight is a transcendental form of consciousness which is integral in the sense that it is not dualistic like cognitive consciousness. Empirical pleasures are a ray of spiritual Delight and are supported by it.

The integrality of Being, Consciousness and Delight in the spirit implies non-duality. Non duality is itself a transcendental character of spirit, as empirical existence involves duality in the form of diversity of objects and duality of subject and object in cognitive consciousness. Negative description of spirit as non-dualistic distinguishes it form empirical modes, but integrality of Being, Consciousness and Bliss indicates its positive character and its intrinsic nature.

Causation, determination, egoism, individuality. desire, etc. are also modes of duality. Hence the transcendent Being of Spirit

implies transcendence of these modes also. Freedom is dynamic counterpart of Delight in the integral being of the Spirit. This Freedom is more akin to spontaneity than to self-determination of ethical philosophies. The dynamics of spirit and divine activity is characterzed by spontaneity. The Spirit is infinite being and infinite delight and Infinite Energy which expresees in transcendental activity.

The Supreme Spiritual Reality comprehends and sustains all empirical modes of being. Its transcendent character does not suggest negation or devaluation of empirical modes of being, but only inadequacy of their being. The have no existence and value in themselves. Their existence and value depend on their integral relation with the spirit. The Vedantic metaphysics of the Spiritual foundation of empirical existence reveals the basis of it and the spiritualistic axiology and ethics of the Upanishads and the Gita indicates the goal of human endeavours. The meaning and value of life consists in recognition of empirical modes of existence and in realizing their integration with ultimate Spiritual Being. This integration not only secures the reality of empirical values, but also enhances their axiological significance. It also confirms the supreme reality of Spirit and the metaphysical ultimacy of Spirit as source and sustenance of all values.

Among the secular values recognised in the Gita the physical objects (earthly, astral and celestial), physical powers, food, sex, strength, psychological modes of mind, knowledge, memory and intellect can be enumerated as important. The spiritual origin of the world and life is more graphically depicted in the Gita than in the Upanishads or in any other work of Vedanta. The graphic beauty and metaphysical truth of it become impressing and more convincing by the dramatic directness of the grammatical first person used by Shri Krishna for Himself as the incarnation of God and as the embodiment of the Spirit that creates the universe and pervades in it. The declaration of excellent physical objects like the sun the moon, the fire, the Ganga, the Himalyas etc. as representations of divine excellence affirms the graded expression of God in the universe. It also reveals Supreme Spirit as the Source of all existence as well as of all excellence.

A remarkable feature of the Gita is that it reveals the dynamic reality of Spirit in such elemental operations of nature as are of

supreme importance for cosmic existence, biological being and human life. God is the essence of everything. The existence of cosmic objects has its source in the Divine Nature governed by God, but the essential attributes of these objects are a direct expression of divinity. Five fundamental physical elements and three elemental constituents of man's psychic being are manifestations of Divine Nature. These are creations of lower Nature and the higher Nature expresses in the conscious being of man.

The divine Spirit is the nourishing liquidity in the water light in sun and moon, sound in ether and smell in the Earth. It is also masculine power in males and life in all living beings. It is also energy in energetic objects and persons. It is intellect and understanding in intelligent persons. It is power in the powerful. It is sexual energy such as is not against humanistic considerations. In short all modes of existence and life have their source in Divine Spirit. But it is to be remembered that Divine Spirit is Infinite and transcedent. It is not exhausted in the cosmic and human modes. It is in them, but it is in reality beyond them also.

The axiology of the Gita is remarkable for its emphatic divinity of sex, knowledge, memory and understanding. The Upanishads have assimilated sex to spirituality, but they have not identified it with spirituality with such clarity and candour. The Upanishads have numerous references to sex. The have also likened ecstasy of embrace of a romantic couple to the ecstasy of spiritual realization. But they have not clearly and candidly confirmed the intrinsic spirituality of sex as the Gita has done. The gita has affirmed at more than one places the original spirituality of sex, but it has taken care to quality it. Natural and compathetic sex is divine and spiritual. But unnatural or uncompathetic sex is not. It is violation of divinity and spirituality of sex. sexual perversion is a contingent human phenomenon of life.

The spiritual source of knowledge, memory and understanding is also a most remarkable principle of the axiology and epistemology of the Gita. The brief suggestions of the Gita in this context have not been deeply understood and seriously worked out. But when expounded in their full significance, the spiritual epistemology of the Gita will revolutionize the entire philosophy of understanding, particularly in regard to its fundamental and a priori principles. It will not only complement the spiritual episte-

mology of the Kena Upanishad but completes it. The spirituality of memory and understanding will be found astonishingly remarkable in this context.

The social values seem to be recognised in the Gita only in the first chapter which concerns with Arjuna's despondency before the commencement of fighting. Arjuna's lament over the domestic disaster which the battle forbodes, reflects deep domestic affections. The message of Shri Krishna embodied in the Gita contains the fundamental and general spiritual principle of social or human relations, but the social values are not dealt with in detail in it. Nor are they dealt with in the Upanishads. They are to be deduced from the general principle of social values which is found in the Isha Upanishad and in some statements of the Gita. The social schema of spirituality is also not expressly recognised in the Gita.

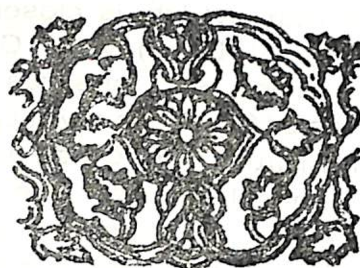
The ethical values are elaborately described in the Gita. It makes Gita largely a treatise of spiritual ethics. Numerous moral virtues are mentioned in the Gita. They are considered to be conducive to spiritual realization. In terms of three components of Nature, moral virtues are Sattvic. i. e. facilitated by refined and noble element of Nature (sat) which is closer to spiritual Reality. The etymological identity of Being with Good, signified by the double meaning of the word 'sat' ensures the kinship of Good with Reality. Shri Krishna affirms the divinity of moral virtues and declares His love for the faithful devotees and for devotees who are endowed with noble moral virtues. The Gita regards sattva, which signifies moral nobility, as elevating in the spiritual course of life. Ethical schematism of spirituality which is not so evident in the Upanishads is elaborately affirmed in the Gita.

The important feature of the axiology the Gita is not merely the recognition of secular and ethical values but affirmation of their metaphysical spirituality and the functional value of ethical virtues in serving as schema of spiritual realization.

The spiritualization of action through what is popularly known as Karma Yoga is the most remarkable principle of the Gita. As life is largely activity and as activity is inevitable, spiritualization of action is the most concrete mode of spiritualization in life. This spiritualization of action and life by integrating them with spiritual transcendence which implies transcendence of egoism, individuality and agentship. Such integration divests action and life of

egoistic and dualisfic limitations without reducing the zeal of action in any way.

Thus recognition of secular and ethical values, affirmation of their metaphysical splrituality and exhortation for their spiritualization are the cardinal principles of the axiology of the Gita. These principles are of great importance in Indian axiology. They must be deeply considered in comparision to and in contrast with western axiology which generally take secular values as natural and does not recognise transcendental spiritual Reality as the basis of them and with western ethics which regards individuality, egoism and agentship as essential and ultimate moral concepts.



VALUE OF INDIAN VIEW OF LIFE[1]

The beauty of the Indian view of life consists in the artistic synthesis and harmony of various aspects of life, which is embodied in the ancient cultural tradition of the country. The value of the Indian view of life is contained in certain features and characters which are prominent in it, and which signify the principles of the highest value in the spiritual and cultural life of man. The artistic synthesis of art, religion, philosophy, culture and nature in the Indian view of life manifests certain features which are prominent in their importance and value. Art is a creative function of life. The artistic activity itself is an excess from the point of view of natural utility of life. The forms of its expressions are an excess in contrast with the adequacy of form and content. The beauty of art consists in this excess of form. In much of the art like poetry the excess of spirit enriches this beauty of the excess of form, The creative activity of art is free and spontaneous. Though it is an activity of will and it may be facilitated by the environment of the society and the experience of the individual, it is not determined by them. No determination can lead to the creative activity of art. The activity as well as the excellence of art is accomplished in accordance with the free and spontaneous exercise of the will of the artist. This freedom and spontaneity is the central feature of most of the art. But it is not easy to integrate this spirit of art with life, as life is largely comprised of natural necessity and utility. Usually art remained only a part of the life of a few individuals. Most of the people in modern society rarely participate in artistic activity. Wide participation of the common people in artistic activities was the distinguished character of the ancient societies which are considered as primitive, sometimes, even uncivilized. The Indian tradition of life is remarkable for its prominently artistic character. This artistic character finds expression in the tradition of life in many ways. The excesses of form and spirit endow the modes of life with beauty and invest them with cultural grace.

1. Indian Philosophy of life Unpublished, 1958-60

Creative freedom and spontaneity infused the inner spirit of art into the common modes of life. The harmony of various aspects of life also bears resemblance to the rythm of art and creates artistic beauty in common life.

This artistic and cultural freedom constitutes the most outstanding feature of the view of life embodied in the ancient tradition of India. This freedom is very wide in its scope and meaning. It is embodied in the Indian tradition in a very wide and comprehensive form. It expresses itself in the spontaneous character of cultural and religious activities. Freedom is the general principle of non-determination by any external authority. Spontaneity is the expression of freedom in the course and conduct of life. As will is the force behind human actions, freedom is to be regarded as the freedom of will, and spontaneity is the expression of will without the external determination in the activities of life. Volition is the basis of artistic beauty and cultural joy in life. Determination of nature is not contradictory to freedom and spontaniety of will but is rather complementary to it. It is the determination or rather the self-determination of physical and biological nature which makes the exercise of volition possible in life. The social and political order also can facilitate the exercise of will in the sphere of artistic, religious and cultural life, though it can also hinder it. Much of the modern civilization is of such a character that it has reduced life to a mechanical routine without much scope for human will. Anything different from the uniform course of civilization requires so much exertion will as is not normally possible for the people. Freedom of will loses all its value if there is no spontaneity in it and its exercise requires much deliberation and exertion. The beauty of the Indian tradition of life consists in its artistic harmony of freedom and spontaneity with social facilitation of will, and also in affording ample scope for the exercise of will with social and cultural facility. The free and spontaneous exercise of will enriches life with artistic beauty and cultural joy.

This freedom and spontaneity is found as the prominent feature of religious, cultural and secular life in its various forms. The absence of authority and institutional organization in the Indian tradition of religion and culture is the negative condition which makes the expression of freedom and spontaneity possible, and it also promotes it. The convenient exercise of will in the modes

of worship and forms of culture is the positive form of freedom and spontaniety which abound in the Indian tradition of life. This exercise of will is favoured by an environment characterized by the absence of authority and institution and is facilitated by a common tradition. The festivals and sacraments are examples of freedom and spontaniety in the cultural scope of life. The fasts and pilgrimages are examples of it in the realm of religion. The fairs and many other modes of everyday life are examples of it in the sphere of secular and natural life. All these are celebrated or observed by the spontaneous freewill of the people, not by the impact of any authority exercising itself through the agency of institutions and organizations operating through the agency of persons representing the original authority. The secret and the source of beauty and joy of these forms of the Indian life lie in this freedom and spontaniety. Such country wide festivals as the Deepawali and the Holi are celebrated with complete spontaniety and the absence of external determination or authority. The Indian festivals are the freest and the most jubilant forms of culture that can be conceived in human society. The sacraments are also originally the forms of cultural festivities later supported by the sanction of the Dharmshastras. The fasts and prilgrimages, though sanctioned by the scriptures are also observed by the free-will of the people. The Indian fairs are remarkable for their freedom and spontaniety expressed in secular life on so numerous occasions and on such a wide scale. Besides the fasts and pilgrimages, the forms of the individual and everyday worship also are characterized by freedom and spontaniety. The institutional forms of religion which later developed in India are also influenced by the original freedom and spontaniety which characterized the Indian culture. The absence of organized forces of industrial civilization left much scope for freedom and spontaniety in natural, secular and everyday life of the people.

The variety of cultural and religious forms is another main characteristic of the Indian tradition of life. It is a consequence of freedom and spontaniety which is the basic spirit of the Indian culture, and is expressed in the numerous modes of culture, religion and secular life. Variety of forms makes for beauty and richness of culture. It affords a large scope for the realization of the joy of life in the changing forms of culture. As culture is a conserv-

ative tradition of the society, this change of form does not mean a modification of individual forms though the advancing course of time, but a change appears in the provision of large number of forms for various occasions in life. The variety of forms does not mean the variation in the mode of individual forms but a numerical diversity of forms which are to be observed on various occasions in life. The whole course of the year and of the life of the people is marked with frequent successions of such occasions and every occasion is celebrated with an observance of a number of forms. This variety of forms makes for the richness and beauty of the individual as well as the social life. Uniformity of the course of life is the basic cause of monotony and dullness in life. Uniformity makes the course of life identical with the form of time. Time is a continuous and constant course of moments. In the uniform course of life the form of life becomes commensurate with the form of time. This commensurability of the forms of life and time reduces life to a routine without any spirit of romance. Romance is the spirit of adventure and change which breaks the monotony of this routine and introduces into it a rythm of beauty and joy. Varying excesses of forms makes this rythm a melody of joy. This variety of forms is made richer by the complexity of elements which compose it. Every form is a complex design composed of several elements. This variety is further enriched by the diversity of forms observed in different groups of the same society, and on the same occasions. People who observe one mode of a form participate in the observance of another observed by their friends, relations, etc. This participation enriches the life of both of them. The complex character of this variety of forms is further manifested in the specific forms to be observed in particular social relations.

This variety and diversity of forms is expressed in various aspects in life. The religious, cultural and secular aspects of life are characterized by this variety. The festivals of the Indian tradition are perhaps more numerous than those of any other tradition of life. The variety in the character of these festivals is particularly notable. The festival of sisters in the green back ground of rainy season reverberating with the gay music on swings, the festivals of lights in the dark background of Kartika Amavasya, and the festival of colourful background of the spring present a

remarkable rythm of the cultural beauty of life. Other minor festivals, Fasts, etc. extend the range and increase the beauty of this rythm. This variety of forms is not confined to cultural life. It extends to religion and secular life also. In fact it is an important secret of the beauty of life as it expresses itself in the Indian tradition. and extends to all spheres of life. The expression of variety and diversity in the sphere of religion is most remarkable as most of the prophetic and institutional religions seek to impose a uniformity of faith and practice. The source of variety and diversity in the sphere of religion lies in the fact that a rich culture characterized by variety was the original and dominant feature of the Indian tradition, and it influenced religion too. This influence is traceable evėn in the institutional religions which grew in India during later times. The basically religious forms of fasts and pilgrimages exhibit a variety of associations, observances, etc. The variety of Gods and that of the ways of worship in several respects adds further to the richness of cultural life in the Indian tradition. The variety of the same Gods is an example of the extent to which this variety goes in the sphere of religion. The immense diversity of the religious texts is also a notable aspect of this variety prevailing in the sphere of religion. The secular and natural life also inherits this variety from the cultural tradition of the country. To a certain extent it may be true that the variety in the natural conditions of life provides a natural background or environment of the variety found in the cultural and religious life of India. The uniformity of the natural conditions of the land where the main prophetic religions of the world originated is notable in this connection. The land and the nature of India present a natural rythm in harmony with the rythm of culture and rellgion and complete the symphony of life. The seasons in India present not only a variety but a contrast with one another. The rains, the winter, the spring and the summer are chiefly notable. The vegetation also presents a variety. The variety of plants, herbs and fruits is almost infinite. Eatables of infinite kinds are prepared from food stuffs. The variety of food constitutes an important part of the variety which characterizes the Indian culture. The forms of culture afford a fulfilment and enhancement of the beauty of the variety of these natural conditions.

Complexity is the third notable feature of the Indian tradition

of life. Added to variety, it greatly enhanced the beauty of life. In a way, variety of forms also can be regarded as the complexity of the whole pattern of cultural life. The diversity of forms represents the complexity of the composition of the whole scheme of life. Various forms can be treated as the elements of this complex composition of cultural life. But these elements themselves are considerably complex. Each of them is composed of several elements. Almost every form of culture and even of secular life mostly complex in its character. This complexity makes for richness and depth in the beauty of life. The variety of forms can be regarded as the length of life and the diversity in regard to alternative forms observed in different groups of society can be treated as its breadth. The former runs along the course of time and the latter is conducive to what is idiomatically called the breadth of view or spirit of life. This complexity of the Indian view of life is not an unnecessary complication, but is a vital principle of the beauty of life. Even as the variety of forms can be considered as the complexity of the whole pattern of life, so also the complexity of these forms can be regarded as a kind of variety. As a variety this complexity makes for beauty of life. But it is a variety not of different or diverse forms. It is a variety of the elements which compose a single form. Thus, this complexity is a harmony of elements. The harmony and synthesis which characterize this complexity introduce beauty into the forms of life. Though all complexity does not make for beauty, but as much of the complexity of Indian forms of life is an excess, it does infuse beauty into life. Most of the complexity belongs to the form of culture and religion; but much of it lends beauty to common and secular life. This complexity alongwith variety maintains the beauty and joy of mundane life which tends to be reduced by uniformity to a monotony. The complex forms of Indian life are the modes of harmony of elements which composes it. This harmony creates beauty in life. It is a character of beauty and is a component of the wider harmony which we have regarded as the primary secret of the beauty of the Indian life. The wider harmony is composed of narrower harmonies. Beauty, when composed of beauties, is further enhanced and enriched, varieties within varieties, complexities within complexities harmonies within harmonies and beauties within beauties are the wonderful secrets of the richness of traditional Indian life.

Like freedom and variety, this complexity of constitution is also evident in all aspects of Indian life. The simplest cultural forms are considerably complex in their character. A number of articles, actions, etc. are required to observe them. Many of the cultural forms like the Deepawali. Holi, Upanayana, marriage, etc, are not the observances completed on a single occasion, but are accomplished in a considerably long course of time and activities. They are varitable dramas or epics of life comprising of several acts or cantos. They have the dynamics of a drama and the grandeur of an epic combined in a single but complex poem of life. The elements which compose these complex forms of culture are so various in their nature that they make them a work of rich and varied beauty. The complexity of these forms necessitates the cooperation of several persons in their observance and creates a scope for the expression and realization of company which is the essence of culture. The religious forms also are as complex in their character as the cultural forms them selves. The obvert forms of worship and prayer are influenced by culture and are, therefore, characterized by complexity. A number of articles and actions are required to complete such religious observances. The external complexity of religious forms is not essential for religion which is in itself a simple experience but it introduces cultural beauty into religion ond correlates it to secular life. The traditional Indian life is considerably complex in some of its aspects. The traditional Indian dress, except for the ceremonial dress of women is comparatively simple. But the form of food in the traditional Indian view of life is highly complex. The details and complexity of spices used in preparing edibles is particularly notable. Even the daily Indian food is considerably complex in its composition. The variety and complexity of eatables on ceremonious occasions is not only remarkable, but often surprising. Even the ordinary forms of Indian culture are considerably complex, but some exra-ordinary forms will astound us by their infinite complexity. Khyal and Thumri are the examples of complexity and variety in Indian music. The paraphernalia of a sacrifice or ceremony indicates the complexity of cultural and religious performances. The young king was given a sacred bath with the water collected from all the sacred rivers of the country at the time of his coronation. Indian medicines and eatables are of a high complex character. Dozens of

articles are used in their preparation. The greater the complexity, tne greater is the value and beauty of the preparation. The decoction which is usually given to mothers immediately after the delivery is prepared from thirty two articles, Specialization in complexity is considered a great achievement and honour in our country. Professor Kunj Behari Lal Gupta of our College prepares a sauce out of thirtysix articles and all his friends remember him for it, particularly because he rarely entertains them with it.

The artistic harmony, variety and complexity of Indian traditional forms of life is blended into the dynamics of Secular, Social, Religious and Cultural life of the people. In a way all life is dynamic in so far as some form of activity is necessary and natural in life. But this necessary and natural activity does not make the cultural dynamics of life. Culture is not antagonistic to Nature, but it is not a natural necessity. Therefore, whereas there is much uniformity in the sphere of natural life among the people of the world, there is a great difference among them in regard to the dimensions of culture achieved by them. Culture consists in the excesses of forms cultivated in a society by the voluntary inspiration and effort of the spirit. The greater the complexity and variety of forms and the greater the dimensions of culture in regard to the spheres of life it covers in its scope, the greater is the effort of will required to create and maintain it. Hardly any other tradition of culture in the world can compare with the Indian tradition in regard to variety, complexity and scope. The dynamic character of the Indian tradition of life is particularly remarkable in view of its variety, complexity and scope. The basic freedom and spontaniety of the Indian tradition has been pointed out above. But the creation of a complex cultural tradition and its maintenance is not easier but all the more difficult on the basis of freedom and spontaniety. No natural motives or vested interests of egoism or any other advantage available from the institutional agencies help in the maintenance of such a free tradition of culture and life. A greater exercise of will on the part of the people is required for it. Besides freedom of will, greater exercise of will by the people is a notable feature of the Indian tradition of life, and it makes the Indian tradition of cultural life more dynamic in its nature. Secular and religious iife is characterized by this dynamics. Instead of priestly authorities and institutional agencies securing the religious salva-

tion of the people, it is the people who work it out for themselves and make use of institutions for the purpose as they please. Much of the dynamics of the secular life also is notable for its voluntary character. The dynamic nature of the Indian culture is so vital that no amount of intellectualism, indifference and inactivism preached by the academic systems of philosophy could discourage or depress it

The dynamic character of the Indian tradition of cultural life is maintained by virtue of its coordination with common and normal life. Though the dynamics of culture is largely based on the spontaneous exercise of will by the people, their volition is much facilitated by the environmental effect of a social tradition and the coordination of cultural activities with normal life. A half of the beauty of Indian culture depends on the spontaniety of volition which maintains the dynamics and the other half depends on the facility with which this volition is allowed or expected to work. No imposition of authority suppresses the inspiration of this volition. Moreover, it is not expected to accomplish such distant or extra-ordinary things as may irritate it or dissuade it into withdrawal from expression. The extra-ordinary forms of cultural life are accomplished with ordinary equipment of life and in existing environment and relations of it. Some difficult and distant objects, for example, in pilgrimages and fairs, fulfil the function of affording an artistic rythm to cultural life. Varying degrees of the effort of will and of the difficulty and distance of objects coordinate the cultural tradition with the realities of life in such a manner as to create a rythm of life expressing themselves in beautiful symphonies of cultural life.

This coordination of life with culture along with the spontaniety, freedom and variety indicated above make the character of the Indian cultural tradition highly human and democratic, and also considerably comprehensive. The secret of its human and democratic character consists in freedom and variety which constitute its essence. Imposition of authority on will of the people is a social phenomenon which is most detrimental to the spirit of democracy. Limitation of freedom reduces humanity and narrows the scope of life in many ways. Development of democracy in the west could be possible there only after the decline of the ecclesiastical authority. Monarchy continued longer in the countries in

which the authority was more strongly established and even in the swings of recent politics these countries could change over only to military dictatorship which differs from monarchy mainly on the point of heredity. Freedom implies equality which is the essence of democracy. Humanity is an indefinite and complex idea which can be analysed into some important aspects. Freedom and equality are its essential conditions. They also constitute the spirit of humanity. Equality implies utmost regard for man, and freedom affords him due scope for the realization of the values of his life. The essential humanity of the Indian cultural tradition consists, besides its being based on freedom, variety and democracy, in its coordination with the common and normal life of the people. Besides the absence of authority, the absence of aristocracy in it is particularly notable. Most of its forms are not only closely coordinated with the common modes of people's life, but are of such a character that the common people can easily and conveniently observe them. The beauty of these forms does not consist in the richness of the articles, but in the richness of spirit in which the poor people are richer than the wealthy persons. The scanty lights and meagre colours of the common people afford them greater joy than the abundance of them does to the rich. This does not imply that economic poverty is conducive to the spiritual richness of culture. It only indicates that the latter can be maintained and should be maintained even in the conditions of of the former. Humanity is a spiritual attitude which is easily eclipsed by the glamour of wealth, the moment it attains primacy over the spirit and life of man.



